स्वाध्याय स्वमन्थन स्वावलम्बन

उ० प्र० राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

(उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा निर्गत अधिनियम संख्या 10, 1999 द्वारा स्थापित)

MAHY-03
इतिहास दर्शन

प्रथम खण्ड : ऐतिहासिक चिन्तन-1
द्वितीय खण्ड : ऐतिहासिक चिन्तन-2
तृतीय खण्ड : ऐतिहासिक चिन्तन-3
चतुर्थ खण्ड : ऐतिहासिक चिन्तन-4
पंचम खण्ड : ऐतिहासिक चिन्तन-5

वर्धमान महावीर
खुला विश्वविद्यालय, कोटा

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

शान्तिपुरम् (सेक्टर-एफ), फाफामऊ, इलाहाबाद - 211013

MAHY-03

उ० प्र० राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

एम.ए.पाठ्यक्रम
(इतिहास)

खण्ड–1

इकाई संख्या	पृष्ठ संख्या
इकाई 1	
इतिहास का स्वरूप तथा क्षेत्र	3-16
इकाई 2	
इतिहास प्रगति के समरूप	17-38
इकाई 3	
इतिहास, विज्ञान और नैतिकता	39-74
इकाई 4	
इतिहास और समाज विज्ञान निश्चयात्मक अभिगम	75-89

इकाई - 1

इतिहास का स्वरूप तथा क्षेत्र

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 इतिहास एवं प्रकृति

1.3 इतिहास एवं समाज

1.4 राजनीतिक इतिहास

1.5 संवैधानिक इतिहास

1.6 आर्थिक इतिहास

1.7 सामाजिक इतिहास

1.8 राजनयिक इतिहास

1.9 सांस्कृतिक इतिहास

1.10 धार्मिक इतिहास

1.11 औपनिवेशिक इतिहास

1.12 संसदीय इतिहास

1.13 सैनिक इतिहास

1.14 कामनवेल्थ का इतिहास

1.15 विचारों का इतिहास

1.16 इतिहास दर्शन

1.17 मानव स्वतंत्रता तथा मानव प्रगति का इतिहास

1.18 प्रगति का इतिहास

1.19 विश्व इतिहास

1.20 निष्कर्ष

1.21 अभ्यासार्थ प्रश्न

1.22 संदर्भ ग्रंथ

1.0 उद्देश्य :

इस इकाई का उद्देश्य इतिहास के स्वरूप तथा क्षेत्र की व्याख्या करना है। इसके अध्ययन से हमें ज्ञात होगा कि इतिहास का स्वरूप क्या है, जिससे हम इतिहास की वैज्ञानिक समझ प्राप्त करने में सफल होंगे। यह भी स्पष्ट हो सकेगा कि इतिहास समाज विज्ञान के अन्य विषयों से किस प्रकार भिन्न है। इतिहास के क्षेत्र से यहां तात्पर्य यह है कि इतिहास विद्या के कितने प्रकार है तथा विभिन्न इतिहासों की विषय सामग्री एवं विधि क्या है? अतः यह इकाई इतिहास अध्ययन की पहली सीढ़ी है।

1.1 प्रस्तावना :

आदि काल से आधुनिक युग तक इतिहास क्षेत्र का स्वरूप निरन्तर परिवर्तनशील रहा है, इसके विकसित स्वरूप का एकमात्र आधार विभिन्न युगों की सामाजिक आवश्यकताएं रही हैं, प्रारम्भ में इतिहास चिन्तन का उद्गम अतृप्त ज्ञान तृष्णा को तृप्त करने के उद्देश्य से हुआ था। इस उद्देश्य से प्रेरित होकर प्राचीन इतिहासकारों ने इतिहास का अध्ययन किया। इतिहास के जनक हेरोडोटस ने अतीत के मानवीय कार्यों को वर्तमान तथा भविष्य के लिए सुरक्षित करने के उद्देश्य से अध्ययन किया। इस प्रकार उसने मानवीय कृत्यों तथा उपलब्धियों की कहानी प्रस्तुत की। रेनियर ने उचित ही कहा है कि प्रत्येक युग में समाज इतिहासकारों से कुछ प्रश्न करता है और इतिहासकार नवीन साक्ष्यों के आलोक में अतीत से उनका उत्तर प्राप्त कर समाज के समक्ष प्रस्तुत करता है। इसीलिए कालिंक वुड ने इतिहास को प्रश्नोत्तर माना है। सभी इतिहासकारों ने प्रत्येक युग में इतिहास लेखन की आवश्यकता को स्वीकार किया है। उनका एकमात्र तात्पर्य सामाजिक मूल्यों तथा आवश्यकता के अनुसार इतिहास का प्रस्तुतीकरण था। हेरोडोटस ने महाकाव्य युग में इतिहास की सामाजिक आवश्यकता को कहानी मात्र समझा था। वैज्ञानिक युग की सामाजिक आवश्यकता ने, व्यूरी को, "इतिहास विज्ञान है, न कम और न अधिक" के रूप में प्रस्तुत करने के लिए बाध्य किया। मध्य युग में जब "धर्म" की प्रधानता स्वीकार की गई, सेंट आगस्टाइन ने सम्पूर्ण विश्व को ईश्वर का नगर कहा।

मानव समाज में विकास की प्रक्रिया निरन्तर रही है। इस विकास प्रक्रिया के साथ-साथ सामाजिक आवश्यकताएं भी विकसित होती रही हैं। समाज से संबंधित इन्हीं प्रश्नों का उत्तर इतिहास ने दिया है। आदिकाल से मानवीय प्रक्रिया का स्वरूप संघर्षमय रहा है। यह उत्थान विकास तथा पतन की वक्ररेखीय गति ही इतिहास गति मानी गई है। इतिहास क्षेत्र के अन्तर्गत जब इतिहासकार किसी घटना का क्रमबद्ध विवरण प्रस्तुत करता है तो उसके समक्ष तीन प्रश्न प्रमुख होते है — घटना क्या है; वह कैसे घटी तथा क्यों घटी? इतिहासकार इसी का

विश्लेषण प्रस्तुत करता है। इतिहासकार के दो कार्य प्रमुख हैं - तथ्यों का संकलन तथा उसका विश्लेषण। एक का स्वरूप, विषयनिष्ठ और मानवतावादी है तथा दूसरे का वैज्ञानिक एवं वस्तुनिष्ठ है। ट्रैवेलियन के अनुसार इतिहासकार अपने इतिहास के प्रस्तुतीकरण में तीन प्रमुख उपादानों का प्रयोग करता है - वैज्ञानिक, परिकल्पनात्मक तथा साहित्यिक; यद्यपि मानवीय कार्यों तथा उपलब्धियों पर प्रकृत्ति का अध्ययन इतिहासकार के क्षेत्र के बाहर है। इतिहास क्षेत्र के अन्तर्गत मनुष्य के एक साधारण कार्य से लेकर उसकी विविध उपलब्धियों का वर्णन होता है।

1.2 इतिहास एवं प्रकृति :

यद्यपि प्रकृति का अध्ययन इतिहास क्षेत्र से बाहर है। फिर भी इतिहास में प्रकृति की पूर्ण उपेक्षा सम्भव नहीं जब कालिंगवुड ने इतिहास को विचार का इतिहास स्वीकार किया तो प्रो० वाल्श ने सबसे पहले इसका विरोध किया। उन्होंने कहा है कि मनुष्य के कार्यों तथा उपलब्धियों पर प्रकृति अथवा प्राकृतिक घटनाओं का सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है। भूकम्प, बाढ़, अकाल, अतिवृष्टि तथा अनावृष्टि प्रायः मानवीय कार्यों एवं उपलब्धियों को नियन्त्रित करती है। पर्वत, नदी, झील तथा समुद्र ने मानवीय समाज के भाग्य को निर्धारित किया है। मध्य एशिया की पठारी तथा अनुपजाऊ भूमि ने मंगोलों को लड़ाकू तथा लुटेरा बना दिया। यूनान के द्वीप समूहों ने उनके हृदय में उपनिवेश स्थापना की प्रवृत्ति को जन्म दिया। भारतवर्ष में सिंधु, गंगा, यमुना तथा हिमालय की भूमिका इतिहास में महत्वपूर्ण रही है। वाटरलू, प्लासी तथा पानीपत का महत्व नहीं होता, यदि नैपोलियन, क्लाइव तथा बाबर से इन स्थानों का सम्बन्ध नहीं होता। कावेरी नदी का महत्व कर्नाटक के इतिहास में महत्वपूर्ण रहा है। अतः हम कह सकते हैं कि प्रकृति तथा भौगोलिक परिस्थिति के परिवेश में ही मानवीय कार्यों एवं उपलब्धियों का अध्ययन इतिहास क्षेत्र के अन्तर्गत होना चाहिए।

1.3 इतिहास एवं समाज :

इस प्रकार इतिहास क्षेत्र का स्वरूप सामाजिक आवश्यकताओं अनुसार सदैव विकसित होता रहा है। हेरोडोटस से दवायनवी तक यदि इतिहास लेखन की विवेचना की जाय तो इसके निरन्तर परिवर्तित स्वरूप का अनुमान हो सकता है। जैसे प्रत्येक कवि अपने युग का कवि होता है, उसी प्रकार प्रत्येक इतिहासकार अपने युग का इतिहासकार होता है। कवि की ही भांति इतिहासकार की वाणी युग की वाणी होती है।

अतीतकालीन समाज का पूर्ण चित्रण ही इतिहास का प्रमुख उद्देश्य होता है। किसी भी समाज से संबंधित भौगोलिक दशा, वातावरण, राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, प्रशासनिक, संवैधानिक कानून,

न्याय व्यवस्था, सुरक्षा व्यवस्था आदि का विवरण आवश्यक हो जाता है। समाज से संबंधित सभी प्रश्न महत्वपूर्ण है। इतिहासकार से अपेक्षा की जाती है कि इन सभी विषयों का उचित विवरण समाज के समक्ष प्रस्तुत करें। यदि समाज का क्षेत्र विस्तृत है, तो एक इतिहासकार के लिए इन सभी प्रश्नों का उत्तर देना सम्भव नहीं है। प्रत्येक प्रश्न का उत्तर देने के लिए विशिष्ट ज्ञान की आवश्यकता होती है। आज का इतिहासकार इतिहास के किसी विशिष्ट विषय का विशिष्ट ज्ञान रखता है। वह अपने ज्ञान से संबंधित सामाजिक, आर्थिक आदि विषय का उत्तर देता है। इतिहास क्षेत्र का वर्गीकरण वैज्ञानिक युग की देन है। ऐतिहासिक गवेषणा की आधुनिक विद्याओं ने इतिहास के सामान्य ज्ञान की अपेक्षा विशिष्ट ज्ञान की उपादेयता को सिद्ध किया है। परिणामस्वरूप इतिहास का विभाजन न केवल प्राचीन, मध्ययुगीन तथा आधुनिक काल में किया गया है, बल्कि इसके अन्तर्गत अनेक छोटी से छोटी शाखाओं पर शोध करके इतिहासकारों ने विशिष्ट ज्ञान को प्राप्त किया है। इस प्रकार इतिहास का क्षेत्र निरन्तर विकसित होता जा रहा है।

डेवी के अनुसार, इतिहास का वर्गीकरण उपयोगी तथा स्वाभाविक है। इसका एकमात्र उद्देश्य विशेष तथा परिवर्तित घटनाओं का ज्ञान प्राप्त करना है। शिलर ने भी इतिहास क्षेत्र के वर्गीकरण के संबंध में कहा है कि विस्तृत वर्गीकरण दुर्लभ है। फिर भी इतिहासकारों ने अतीतकालिक घटनाओं के आधार पर सामाजिक प्रश्नों का उत्तर देने के लिए इतिहास क्षेत्र का वर्गीकरण किया है।

1.4 राजनीतिक इतिहास :

राजनीतिक संस्थाएं समाज की रंगमंच है, जहां महापुरूष अपने कार्यों को प्रदर्शित करते हैं। समाज के जीवन में इसका अधिक महत्व है। ए.एल.राउज ने इसे इतिहास की रीढ़ माना है। जनसाधारण की इस संस्था में युग पुरुष तत्कालीन घटनाओं को नियन्त्रित करने के लिए अपनी इच्छाओं की अभिव्यक्ति करता है। सम्राट अशोक, अकबर महान, महात्मा गांधी तथा जवाहरलाल नेहरू के कार्यों एवं उपलब्धियों का प्रदर्शन राजनीतिक रंगमंच पर ही हुआ है। इन जननायकों ने अपने कार्यों के परिवेश में तत्कालीन समाज के भाग्य का निर्माण किया। इनमें प्रायः युद्ध, सन्धियां तथा क्रान्ति के नेतृत्व का वर्णन मिलता है, परन्तु ये घटनाएं इतनी महत्वपूर्ण होती हैं कि इसमें तत्कालीन मानवीय समाज की इच्छा निहित रहती है तथा मानवीय कार्यों पर इसका व्यापक प्रभाव देखा गया है। अतीत संबंधी महापुरूषों के कार्यों, उपलब्धियों, सफलता तथा असफलता से युग पुरूष शिक्षा ग्रहण करते हैं तथा वर्तमान एवं भावी कार्यों के लिए समाज का पथ प्रदर्शन करते हैं। इस प्रकार राजनीतिक रंगमंच पर महापुरूषों की जीवनी, कार्य तथा उपलब्धियां वर्तमान को प्रकाशित करती है तथा भविष्य के लिए मार्ग प्रदर्शन का

कार्य करती है। लेनिन की जीवनी रूसी राज्य क्रान्ति की एक महत्वपूर्ण भूमिका है। इसी प्रकार इंग्लैण्ड के 17वीं सदी के गृह युद्ध तथा क्रान्ति के अध्ययन के लिए क्रामवेल की जीवनी का अध्ययन अत्यन्त उपयोगी है। भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम का अध्ययन महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू, बाल गंगाधर तिलक तथा गोपाल कृष्ण गोखले की जीवन गाथा के अभाव में अधूरा रहेगा। इन महापुरूषों ने राजनीति के रंगमंच पर ही अपने कार्यों को प्रदर्शित किया है। थ्यूसिडिडीज़, गिबन तथा मैकाले की महत्वपूर्ण रचनाओं का आधार राजनीतिक इतिहास ही रहा है। प्रारम्भिक इतिहासकारों ने राजनीतिक इतिहास को ही महत्वपूर्ण समझकर इतिहास लेखन किया हैं, क्योंकि इसका विवरण तत्कालीन सामाजिक आवश्यकता थी। यह इतिहास की एक महत्वपूर्ण शाखा है।

बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में इतिहासकारों ने यह अनुभव किया कि महापुरूषों की जीवनी के साथ सर्वसाधारण मानव समाज के योगदान का भी अध्ययन आवश्क है। क्योंकि जनसाधारण ही महापुरूषों की शक्ति होते हैं। उनके सहयोग से ही महान विभूतियों ने सफलता प्राप्त की। अतः राजनीतिक इतिहास में उनके कार्यों का अध्ययन आवश्यक प्रतीत होता है। एक चीनी कहावत है कि किसी युग के महापुरूष समाज के लिए कलंक तथा दुर्भाग्यपूर्ण होते हैं। उनकी कृतियों तथा उपलब्धियों में जनसामान्य का महत्वपूर्ण योगदान होता है। नैपोलियन के शासन काल में जनसामान्य ने अपना खून बहाया और अपना बलिदान दिया, परन्तु ख्याति उन्हें न मिलकर नैपोलियन को प्राप्त हुई। मिस्र के पिरामिड़ों से लेकर अमेरिका की अन्तरिक्ष उपलब्धियों तक राष्ट्र को उन्नति के शिखर पर पहुंचाने में सर्वसाधारण का योगदान है। भारतवर्ष की स्वतन्त्रता केवल जननायकों के प्रयास का ही परिणाम नहीं है, बल्कि असंख्य भारतवासियों ने इस गौरवपूर्ण उपलब्धि में अपने बलिदान से, अपने बल से, अपने त्याग से योगदान किया है। किसी महापुरूष के उत्थान तथा क्रूर और निर्दयी शासक के प्रतिरोध के पीछे जनसाधारण वर्ग की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। यही कारण है कि वर्तमान युग में ऐतिहासिक शोध का विषय दरबारी जीवन तथा शासकों का जीवन न होकर ग्रामीण अंचलों से संबद्ध सर्वसाधारण की जीवनी तथा उनका कार्य महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त करता जा रहा है। अब समय आ गया है कि राजनीतिक इतिहास में जनसामान्य की भूमिका का अध्ययन किया जाय। आधुनिक युग में उसको सूक्ष्म इतिहास की संज्ञा दी गयी है।

1.5 संवैधानिक इतिहास :

जी. एन. क्लार्क के अनुसार, संस्थाओं का इतिहास अध्ययन का केन्द्र बिन्दु है। इसका राजनीतिक इतिहास से गहरा सम्बन्ध है। इसके अध्ययन का स्वरूप वस्तुनिष्ठ है, जबकि राजनीतिक इतिहास विषयनिष्ठ होता है। सामाजिक जीवन में इसका स्थान महत्वपूर्ण होता हैं क्योंकि

यह सामाजिक जीवन का आधार है। आज बीसवीं सदी में कुछ इतिहासकारों ने संवैधानिक इतिहास तथा प्रशासकीय इतिहास में अन्तर को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। हैलम, कार्निवाल लेविस, अर्सकोन में, तथा मेटलैण्ड ने संवैधानिक इतिहास लिखकर इतिहास क्षेत्र को विकसित करने का प्रयास किया है। इन विद्वानों ने उसके अध्ययन की आवश्यकता अनुभव की, क्योंकि इसने जनसामान्य को प्रभावित किया है। मनुस्मृति, हमुराबी का कोड, जस्टिस निपन कोड, कोड ऑफ नैपोलियन, मैकाले का इण्डियन पेनल कोड का प्रभाव जनसामान्य पर पड़ा है। ब्लैकस्टोन कृत कमेन्ट्रीज ऑफ लॉ ऑफ इंग्लैण्ड तथा पी. वी. काणे का "धर्मशास्त्र का इतिहास" उस वर्ग की महान उपलब्धियां है।

1.6 आर्थिक इतिहास :

आर्थिक इतिहास को महत्वपूर्ण बनाने में कोंदरसे, कोम्ते, बर्कले तथा कार्ल मार्क्स का सर्वाधिक योगदान रहा है। कार्ल मार्क्स द्वारा इतिहास की आर्थिक व्याख्या ने अनेक इतिहासकारों को उस विषय पर सोचने के लिए बाध्य कर दिया। समाज के प्रारम्भ के साथ ही आर्थिक इतिहास का उदय होता है। समाज ने अपनी आजीविका के साधनों को किस प्रकार उत्पन्न किया, इसका ज्ञान आर्थिक इतिहास प्रदान करना है। इंग्लैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात इसकी महत्ता अत्यधिक बढ़ गयी है। आर. एच. टानी तथा एलीन पावर ने सबसे पहले आर्थिक इतिहास लिखा है। जी. एन. क्लार्क के अनुसार आधुनिक युग में आर्थिक इतिहास ने इतिहास क्षेत्र के अन्तर्गत एक उच्च स्थान प्राप्त कर लिया है।

आर्थिक इतिहास के माध्यम से वर्तमान समाज इतिहासकारों से आर्थिक प्रश्न पूछता है। सर विलियम ऐश्ले के अनुसार आर्थिक विचार स्वयमेव ऐतिहासिक तथ्य होते हैं। एन. एस. बी. ग्रास के अनुसार आर्थिक इतिहास का तात्पर्य मानवीय आजीविका के साधनों से है। आजीविका के साधनों के उत्पादन में मनुष्य किस प्रकार प्रयास करके अधिकतम संतोष प्राप्त करता है; वे आर्थिक इतिहास के प्रमुख तत्व होते हैं। आर्थिक इतिहास के क्षेत्र में मनुष्य के कार्यों को प्रभावित करने वाले विचार, समाज का उद्देश्य, विभिन्न सामाजिक वर्गों का पारस्परिक सम्बन्ध तथा व्यवहार का अध्ययन आर्थिक इतिहास का विषय होता है। इतिहासकारों का प्रयास यह देखना है कि आर्थिक परिस्थितियों के परिणामस्वरूप किस प्रकार सामाजिक संबंधों तथा मानवीय व्यवहार में परिवर्तन होते रहे हैं, क्योंकि इतिहासकार का अध्ययन मानवीय व्यवहार तथा कार्यों के परिवेश में सामाजिक परिवर्तन है। यह इतिहास भी आर्थिक कहानी है। ए. एल. राउज ने लिखा है कि इतिहास की रोचकता को सजीव रखने के लिए उस विषय को ग्राफ, रेखांकित चित्रों तथा मानत्रित से युक्त नहीं करना चाहिए। सर विलियम ऐश्ले ने आर्थिक इतिहास के स्वरूप

के संबंध में लिखा है - मनुष्य ने आजीविका के साधनों के उत्पादन में अधिकतम संतोष प्राप्त करने के लिए क्या किया, यही आर्थिक इतिहास है, मनुष्य के रूप में वह आदि काल से एकाकी या व्यक्तिवादी नहीं रहा है, किसी न किसी रूप में संगठन तथा सामूहिकता के तथ्य इसकी गतिविधियों में संचालित हैं। जी. एन. क्लार्क के अनुसार तकनीकी यंत्र तथा कारखानों द्वारा उत्पादित पदार्थों से यह स्पष्ट हो जाता है - पदार्थ का अन्तिम स्वरूप सामूहिकता तथा संगठन का परिणाम होता है। श्रम, अभियन्ताओं, भूगर्भशास्त्रियों तथा पूंजीपतियों के सहयोग से किसी वस्तु का उत्पादन सम्भव है। वस्त्र उत्पादन में किसान, कोयला, मशीन, श्रम तथा पूंजीपति के पारस्परिक सहयोग की अपेक्षा होती है। इतिहासकार का कर्तव्य हो जाता है कि इन सभी पक्षों पर विचार करे। आजकल व्यावसायिक इतिहास का प्रचलन बढ़ता जा रहा है। पूंजीपतियों के विकास का भी इतिहास होता है। टाटा, बिड़ला तथा डालमिया परिवारों का विकास आर्थिक इतिहास का रोचक विषय हो सकता है।

बैंकों का विकास इतिहास क्षेत्र के अन्तर्गत आता है। सर जान क्लेफम ने बैंक ऑफ इंग्लैण्ड तथा ई. टी. मैकडर मोर ने वेस्टर्न रेलवे का इतिहास लिखा है। मिस सदरलैण्ड ने अठारवीं सदी का व्यापारी तथा रिचर्ड पेरीज़ ने वेस्ट इण्डिया फारचून लिखकर आर्थिक इतिहास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है।

आर्थिक इतिहास के अन्तर्गत आजीविका के साधन, कृषि, यातायात के साधन, उद्योग, व्यापार, भू-राजस्व आदि विषयों का अध्ययन होता है। इरविन ने आर्थिक इतिहास के अस्तित्व के लिए संघर्ष तथा कार्ल मार्क्स ने आर्थिक नियतिवाद के सिद्धान्तों का प्रतिपादन करके विषय को रोचक एवं आकर्षक बनाने का प्रयास किया है। 1917 की रूसी राज्य क्रान्ति के बाद आर्थिक इतिहास का महत्व द्रुतगति से बढ़ा है। मार्क्सवादी विचारों से प्रभावित अनेक भारतीय विद्वानों ने आर्थिक इतिहास की विभिन्न शाखाओं का अध्ययन किया है। हिरेन मुखर्जी, रजनी पामदत्त, कोसाम्बी तथा उरफान हबीब ने आर्थिक इतिहास लेखन को एक नवीन दिशा प्रदान की है।

आधुनिक आर्थिक सिद्धान्त का आधार गणित तथा सांख्यिकी है। इतिहास में इन सिद्धान्तों का प्रयोग इतिहास को अरूचिकर बना देगा। इतिहास को अर्थपूर्ण बनाने के लिए इनका कम से कम उपयोग आवश्यक है। गणित तथा सांख्यिकी का अधिक प्रयोग इतिहासकार को कैंची तथा गोंद शैली के लिए विवश कर देगा। सम्भावना है कि इतिहास अपना अस्तित्व खो बैठेगा। वैज्ञानिक इतिहासकारों ने भी प्रतिरोध की आवश्यकता की अनुभूति की है। आर्थिक इतिहास साक्ष्यों के आधार पर उपयोगी तथा बोधगम्य होना चाहिए। इतिहासकारों से यही अपेक्षा की जाती है।

1.7 सामाजिक इतिहास

कोम्से के अनुसार इतिहास सामाजिक भौतिकशास्त्र है। इसके अन्तर्गत मानवीय व्यवहार के सामान्य नियमों का अध्ययन किया जाता है। टायन्बी ने लिखा है कि इतिहास का निर्माण सामाजिक अणुतत्वों से हुआ है। इतिहास का विकास व्यक्तियों तथा राष्ट्रों से नहीं बल्कि विभिन्न युगीन समाजों से हुआ है। अतः इतिहास की आधारशिला समाज है। सामाजिक इतिहास को सर्वाधिक लोकप्रिय बनाने का श्रेय ट्रेवेलियन को है। उनके सामाजिक इतिहास का स्थान अत्यधिक महत्वपूर्ण है। सामाजिक इतिहास की परिभाषा में ट्रेवेलियन का विचार अधिक ग्राह्य है। अतीत में मनुष्यों का दैनिक जीवन, विभिन्न वर्गो का पारस्परिक आर्थिक सम्बन्ध, परिवार का स्वरूप, गृहस्थ जीवन, श्रमिकों की दशा, प्रकृति के प्रति मानवीय दृष्टिकोण, सांस्कृतिक जीवन तथा सामान्य परिस्थितियों से उत्पन्न धर्म, साहित्य, संगीत, वास्तुकला, शिक्षा तथा साहित्य है। रेनियर के अनुसार सामाजिक इतिहास के अभाव में आर्थिक इतिहास की पृष्ठभूमि तथा राजनैतिक इतिहास की कसौटी है। ट्रेवेलियन की दृष्टि में सामाजिक इतिहास के अभाव में आर्थिक इतिहास मरूस्थल तथा राजनीतिक इतिहास अवर्णनीय हैं।

बीसवीं सदी के अधिकांश इतिहासकारों का ध्यान सामाजिक इतिहास ने आकृष्ट किया। सामाजिक समस्याओं के प्रति चेतना ने इतिहास के क्षेत्र में क्रान्तिकारी रूचि पैदा कर दी है। समाजशास्त्र का विकास सामाजिक इतिहास के परिवेश में हुआ है। सामाजिक विकास तथा परिवर्तन की गतियों का अध्ययन समाजशास्त्र के माध्यम से प्रारम्भ हुआ है।

सामाजिक इतिहास की अपनी समस्याएं है। इसका अध्ययन रोचक है। परन्तु निरंतरता, मंदगति तथा परिवर्तन का अध्ययन अत्यन्त जटिल है। राजनैतिक परिवर्तन जीवन के सतह पर दृष्टिगोचर है; सामाजिक परिवर्तन भूमिगत अगोचर जलस्रोत के समान है। सामाजिक परिवर्तन का ही परिणाम राजनैतिक परिवर्तन होता है। एक नवीन सम्राट, प्रधानमंत्री, नवीन संसद, राजनीतिक क्षेत्र में क्रान्तिकारी परिवर्तन करते हैं। परन्तु सामाजिक जीवन में इस परिवर्तन का प्रभाव प्रायः नगण्य होता है।

भारतीय इतिहास में राजनीतिक उथल-पुथल के कारण अनेक राजवंशों का उत्थान तथा पतन हुआ है। राजपूतों के पतन के बाद तुर्की सुल्तानों, मुगलों तथा अंग्रेजों का शासन हुआ परन्तु परिवर्तनों ने सामाजिक जीवन को प्रायः प्रभावित नहीं किया। परिणामस्वरूप भारतीय समाज का मूलस्वरूप आज भी वही है जैसा गौतम बुद्ध तथा महावीर स्वामी के समय में था। भक्ति आन्दोलन के समाज सुधारक रामानन्द, कबीर, नानक तथा चैतन्य ने समाज सुधार के लिए अथक प्रयास किया। राजाराम मोहन राय, महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू ने भी समाज

सुधार का प्रयास किया। संसद तथा विधान सभाओं ने अनेक नियम पारित किए, इतने प्रयास के बावजूद भी सामाजिक स्वरूप में किसी प्रकार का क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं हुआ है। यदि सामाजिक परिवर्तन को स्वीकार भी किया जाय तो भूमिगत जलस्रोत की भांति इसकी गति इतनी मन्द और अगोचर रही है कि उसका सूक्ष्म निरूपण कठिन प्रतीत होता है। समाजशास्त्रियों ने इस परिवर्तन की गति का विश्लेषण करने का प्रयास किया है। सामाजिक इतिहास में उनका महत्वपूर्ण योग है।

1.8 राजनयिक इतिहास

19वीं सदी के प्रारम्भ में इतिहासकारों ने राजनयिक इतिहास लेखन की आवश्यकता की अनुभूति की। इसमें राष्ट्रों के पारस्परिक संबंधों का वर्णन रहता है। इसमें समस्या संबंधी आन्तरिक तथा बाह्य परिस्थितियों का उल्लेख नहीं रहता। इसके अन्तर्गत समस्याओं के समाधान के लिए विभिन्न राष्ट्रों के प्रयास तथा आदान-प्रदान के पत्रों का वर्णन रहता है। इस प्रकार का इतिहास कई दृष्टि से दोषपूर्ण रहता है। राजनयिक इतिहास का अध्ययन विश्वविद्यालय स्तर के छात्रों को आलोचनात्मक विधि से करना चाहिए।

1.9 सांस्कृतिक इतिहास

सांस्कृतिक इतिहास सामाजिक इतिहास का अभिन्न अंग है। इसके अन्तर्गत रीति-रिवाज, संस्कार, शिक्षा, साहित्य, वास्तुकला, चित्रकला, संगीत तथा अमोद-प्रमोद के साधनों का विवरण रहता है। सांस्कृतिक इतिहास के अध्ययन को सरल तथा सुबोध बनाने के लिए इतिहासकारों ने इतिहास क्षेत्र को प्राचीन, मध्ययुगीन तथा आधुनिक काल में विभक्त किया है। किसी महान सम्राट के शासन काल को सांस्कृतिक इतिहास का विषय बनाया जाता है। वैदिककाल, मौर्यकालीन, गुप्तकालीन, हर्षकालीन, अकबरकालीन सांस्कृतिक विकास का अध्ययन इतिहासकारों ने किया है।

1.10 धार्मिक इतिहास

इतिहास का यह अत्यन्त रोचक विषय है। अधिकांश इतिहासकारों ने धार्मिक भावना से प्रेरित होकर उस विषय पर अधिकाधिक चर्चा की है। बौद्धधम, जैनधर्म, इस्लामधर्म, ईसाधर्म का इतिहास विभिन्न युगों में लिखा गया है। यूरोप में पुनर्जागरण तथा धर्म सुधार काल, धार्मिक इतिहास लेखन की दृष्टि से स्वर्णकाल माना जाता है। धार्मिक विषयों की चर्चा प्रोटेस्टेंट तथा कैथोलिक इतिहासकारों ने किया है।

1.11 औपनिवेशिक इतिहास

औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात यूरोप के शक्तिशाली राष्ट्रों ने कच्चे माल की प्राप्ति के लिए एशिया, अफ्रीका, दक्षिण अमेरिका तथा उत्तरी

अमेरिका में उपनिवेश स्थापित किए। प्रारम्भ में स्पेन, पुर्तगाल तथा बाद में इंग्लैण्ड, फ्रांस तथा जर्मन के बीच उपनिवेश विस्तार के लिए प्रतिस्पर्धा होने लगी। इन राष्ट्रों के बीच पारस्परिक प्रतिन्द्विता के परिणामस्परूप अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति तनावपूर्ण हो गई। फशोडा संकट, मोरक्को संकट तथा इतिहासकारों का ध्यान आकृष्ट किया। परिणामस्वरूप औपनिवेशिक इतिहास लेखन प्रारम्भ हुआ। इस इतिहास ने इतिहास क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त किया।

1.12 संसदीय इतिहास

लंदन विश्वविद्यालय के शोध प्रोफेसर डा. ए. जे. टायन्बी ने उन इतिहासकारों की कटु आलोचना की हैं जिन लोगों ने राष्ट्रीयता की भावना से प्रेरित होकर राज्य प्रभुसत्ता के सिद्धान्तों का समर्थन किया है। फासीवाद तथा साम्यवाद के प्रतिरोध में अनेक इतिहासकारों ने संसदीय व्यवस्था की उपादेयता को सिद्ध करने के लिए संसदीय इतिहास लिखना प्रारम्भ किया। उन लोगों ने अपनी रचना के माध्यम से राजा, अभिजातवर्ग राजा तथा संसद के बीच संघर्ष पर विशेष प्रकाश डाला है। यही नहीं बल्कि उन लोगों ने विश्वव्यापी मानवीय समाज के कल्याण के लिए संसदीय व्यवस्था की उपादेयता को सिद्ध किया है।

1.13 सैनिक इतिहास

अनेक राज्यों के उत्थान तथा पतन के पीछे सैनिक कारण निर्णायक रहे हैं। नैपोलियन, हिटलर, मुसोलिनी का उत्थान तथा पतन सैनिक गतिविधियों के कारण हुआ। इसके अन्तर्गत स्थल सेना, जल सेना और वायु सेना के लिए अस्त्र-शस्त्र का निर्माण और उसके प्रयोग का अध्ययन किया जाता है। आजकल अणुबम, न्यूक्लीन अस्त्र, प्रक्षेपास्त्र तथा रासायनिक अस्त्रों का निर्माण मानव जाति के विनाश के लिए किया जा रहा है। रेनियर के अनुसार - आधुनिक इतिहासकारों का पुनीत कर्तव्य है कि नैतिकता के माध्यम से उन नवीन अस्त्रों के निर्माण पर प्रतिबन्ध लगाने, मानवता के विरूद्ध परमाणु अस्त्रों के प्रयोग की सर्वत्र निन्दा की जानी चाहिए। हिरोशिमा, नागासाकी तथा वियतनाम में अमेरिका द्वारा परमाणु अस्त्रों का प्रयोग मानव समाज के लिए कलंक है। सन 1939 के प्रारम्भ में सर डेनिसन रॉस ने कहा था कि "वे दूसरे विश्व युद्ध के लिए अग्रसर हो रहे हैं। वे कोटि-कोटि नवयुवकों से बलिदान मांग रहे हैं और वे उनके आदेश को स्वीकार भी करेंगे।" सर डनिसन रास की दृष्टि में भावी पीढ़ी के लिए इन नवयुवकों के बलिदान का कोई औचित्य नहीं है।

1.14 कामनवेल्थ का इतिहास

इतिहास क्षेत्र में कामनवेल्थ का इतिहास ब्रिटिश साम्राज्य की देन है। डा० जे. ए. विलियम्सन ने ब्रिटिश साम्राज्य के विकास, समुद्री व्यापार

तथा ट्यूडर कालीन नाविक आदि रचनाएं की है। कामनवेल्थ इतिहास का एकमात्र उद्देश्य ब्रिटिश उपनिवेशों की स्वतन्त्रता के बाद उन्हें राजनीतिक दृष्टि से एकता के सूत्र में बांधने के लिए कामनवेल्थ की स्थापना की गई है। आज भी इस माध्यम से ब्रिटेन तथा स्वतन्त्र राष्ट्रों का सम्बन्ध बना हुआ है। सर कीथ हैंकाक ने सर्वे ऑफ ब्रिटिश कामनवेल्थ अफेयर्स नामक पुस्तक लिखी है।

1.15 विचारों का इतिहास

इतिहास के क्षेत्र में विचारों का स्वतन्त्र अस्तित्व है। डेवी के अनुसार "Ideas belong to human beings who have bodies and theme is no seperation between the structure and process of the part of body that entintain ideas and the part that performs act."

कालिंग वुड ने समस्त इतिहास को विचार का इतिहास स्वीकार किया है। क्योंकि मानवीय कार्यों का यह उद्गम स्थल है और मनुष्य को कार्य करने के लिए प्रेरित, प्रोत्साहित तथा बाध्य करता है। परिणामस्वरूप समस्त इतिहास विचार प्रधान होता है। ऐतिहासिक ज्ञान अतीत में मानवीय मस्तिष्क का ज्ञान है। यह मानवीय अनुभव का क्रमबद्ध ज्ञान है। इतिहासकार के मस्तिष्क में पुनरावृत्ति होती है। इसी को कालिंगवुड ने मानवीय मस्तिष्क की प्रक्रिया कहा है।

1.16 इतिहास का दर्शन

इतिहास दर्शन का सर्वप्रथम प्रयोग करने वाले वाल्तेयर थे। उनका एक मात्र उद्देश्य इतिहास अध्ययन को आलोचनात्मक तथा वैज्ञानिक बनाना था। इतिहासकार से अपेक्षा की जाती है कि ऐतिहासिक तथ्यों की पुनरावृत्ति की अपेक्षा अपने मस्तिष्क को विकसित करें, दर्शन का अर्थ ज्ञान के प्रति प्रेम है। इसका संकेत क्रमबद्ध ज्ञान से है, जिसका निरीक्षण या प्रत्यक्षीकरण वैज्ञानिक विधियों से भी सम्भव नहीं है। 18वीं सदी के उत्तरार्ध में जब हीगेल ने इतिहास दर्शन का प्रयोग किया तो उसका तात्पर्य सार्वभौमिक मानवीय इतिहास से था। 19वीं सदी के अन्त में दार्शनिक इतिहासकारों ने घटना विशेष के ज्ञान के लिए सामान्य नियमों का प्रतिपादन किया। इन दार्शनिक इतिहासकारों की दृष्टि में इतिहास के माध्यम से मानवीय समस्याओं का ज्ञान प्राप्त होता है; और यह उनके समाधान के लिए मार्ग दर्शन करता है। यदि विज्ञान बाह्य ज्ञान का अध्ययन है तो दर्शन अन्तर्ज्ञान का अध्ययन है।

इतिहास दर्शन के जन्मदाता वाल्तेयर का उद्देश्य इतिहास का आलोचनात्मक तथा वैज्ञानिक अध्ययन है। हीगेल का उद्देश्य सार्वभौमिक इतिहास से है। कोम्ते ने मानवीय ज्ञान संबंधी सामान्य नियमों के अन्वेषण के लिए लिया। कालिंग वुड ने अतीत की घटना तथा इतिहासकार के मस्तिष्क के पारस्परिक सम्बन्ध की विवेचना को इतिहास दर्शन का प्रमुख

उद्देश्य माना है। वटरफील्ड के अनुसार - इतिहास एक निरन्तर अग्रसरित होने वाली शक्ति है। व्यूरी, ब्लैक बेकर तथा वियर्ड की दृष्टि में ऐतिहासिक दर्शन युग के अनुकूल साम्य स्थापना का एक प्रयास है। मार्क्स ने आर्थिक नियतवाद के रूप में तथा टायन्वी युगीन समाजों के विश्लेषण में ऐतिहासिक दर्शन को प्रतिरोपित किया है। क्रोचे के अनुसार - इतिहास दर्शन एक बौद्धिक संस्था है।

इतिहास दर्शन के दो स्वरूप हैं - आलोचनात्मक इतिहास दर्शन तथा परिकल्पनात्मक इतिहास दर्शन। आलोचनात्मक इतिहास दर्शन विश्लेषणात्मक हैं, परिकल्पनात्मक इतिहास दर्शन औपचारिक तथा अर्थवादी है। पहले का उद्देश्य इतिहास विज्ञान का विश्लेषण तथा तार्किक खोज है। दूसरे का उद्देश्य इतिहास की घटनाओं में विशेष महत्वपूर्ण अर्थ का अन्वेषण होता है।

1.17 मानव स्वतन्त्रता तथा मानव प्रगति का इतिहास

आदि काल से आधुनिक काल तक यदि इतिहास का सर्वेक्षण किया जाय तो इसका स्वरूप मानवीय स्वतन्त्रता के निरन्तर प्रयास में परिलक्षित होता है। लार्ड ऐक्टन ने कहा है कि "इतिहास मानवीय स्वतन्त्रता की विकसित कहानी है।" इतिहास के महान आन्दोलन का उद्देश्य साम्राज्यों का निर्माण नहीं अपितु मानवीय इच्छा की स्वतन्त्रता का निरन्तर प्रयास रहा है। उद्देश्यपरक इतिहास में मनुष्य ने अपनी शक्ति का उपयोग स्वतन्त्रता प्रगति के लिए लिया है। स्वतन्त्रता के अभाव में मानवीय शक्ति को विकसित होने का अवसर नहीं प्राप्त हुआ है। गिबन ने रोमन साम्राज्य के पतन का विश्लेषण करते हुए मानवीय स्वतन्त्रता के अभाव को पतन का प्रमुख कारण माना है। फ्रांस के इतिहास में 1789, 1830, 1848 की राज्य क्रान्तियों के नवीन अध्यायों की प्रमुख उद्घोषणा में स्वतन्त्रता का व्यापक प्रभाव देखा गया है। स्वतन्त्र मानवीय इच्छा ने मानवीय मस्तिष्क की प्रक्रिया को सक्रिय बनाया है। जबकि अनिवार्यता ने मानवीय शक्ति पर प्रतिबन्ध लगाया। बौद्धिकता का विकास स्वतन्त्रता का परिचायक है। क्रियाशक्ति चेतना ने ऐतिहासिक घटनाओं को सर्वाधिक प्रभावित किया है। अतः सम्पूर्ण इतिहास मानवीय स्वतन्त्रता की इच्छा से ओत-प्रोत है। इसीलिए दार्शनिक इतिहासकारों ने इतिहास को मानवीय स्वतन्त्रता का इतिहास कहा है।

1.18 प्रगति का इतिहास :

तुर्गो तथा कोंदरसे ने मानव प्रगति के इतिहास से ही इतिहास का प्रारम्भ माना है। इस तत्व ने इतिहास को एकता तथा साम्यता प्रदान किया है। प्रगति की अवधारणा ने अतीत, वर्तमान तथा भविष्य निरन्तरता को स्थापित किया है। इतिहास की पुनरावृत्ति नहीं होती है। यह सिद्धान्त प्रगति की अवधारणा को गति प्रदान करता है। अतीत कालीन दास

प्रथा से आधुनिक सभ्यताओं का सर्वेक्षण इस तथ्य का स्पष्ट प्रगतिवादी रहा है। इतिहास मानवीय प्रगति को मापने का एक यन्त्र है। मनुष्य की क्रियात्मक गतिविधियों ने किस प्रकार प्रकृति, पशु, पक्षी, पृथ्वी की शक्तियों पर विजय प्राप्त कर अन्तरिक्ष यात्रा के माध्यम से चन्द्रमा के धरातल पर अवतरण में सहायक सिद्ध हुआ है। मानवीय प्रगति ने ब्यूरीं जैसे इतिहासकार को यह कहने को बाध्य कर दिया कि इतिहास विज्ञान है न कम न अधिक। अन्त में हम यह कह सकते है कि समस्त मानवीय इतिहास प्रगति का इतिहास है।

कालिंगवुड के अनुसार प्रगति का सम्बन्ध प्रकृति तथा इतिहास से है। प्रकृति में प्रगति नहीं अपितु विकास होता है। परन्तु मानवीय इतिहास का स्वरूप प्रगतिशील रहा है। इतिहास में समस्त मानवीय उपलब्धियों के पीछे एक प्रगति का इतिहास होता है। चन्द्रमा पर मनुष्य ने कई बार प्रयास किया है। इतिहासवाद के सिद्धान्त के आधार पर अन्तिम उपलब्धि के परिवेश में सभी प्रयासों का क्रमबद्ध अध्ययन करना है। आज जब हम जीवन सम्बन्धी नवीन तथ्यों को स्वीकार करते हैं तो उसकी उपादेयता को इतिहास के पृष्ठों में ढूंढते हैं।

1.19 विश्व इतिहास

प्रथम विश्वयुद्ध उग्र राष्ट्रीयता की भावनाओं का परिणाम था। मानव समाज की रक्षा के लिए विश्व संस्थाओं की आवश्यकता की अनुभूति की गई। हेग न्यायालय, राष्ट्रसंघ तथा राष्ट्रसंघ की स्थापना के उद्देश्य से की गई विश्व भ्रातृत्ववाद की भावना को जागृत करने में इतिहासकारों की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। सबसे पहले सर वाल्टर रेले ने विश्व इतिहास लिखा। इस दिशा में एच. जी. वेल्स तथा टायन्वी का योगदान अधिक महत्वपूर्ण है। परिणामस्वरूप आज राष्ट्र विशेष की समस्या विश्व समस्या के रूप में देखा जाता है।

1.20 निष्कर्ष

इन विभाजनों का कोई अन्तिम स्वरूप नहीं है। इतिहास का कालिक विभाजन यद्यपि महत्वपूर्ण है, परन्तु इतिहासकारों को विशिष्ट दक्षता के परिवेश में अपने को बन्दी नहीं बनाना चाहिए। प्रो० बुशमेकर ने लिखा है "a foolish exaggerated specialization brought about the terror of appearing scientific and delettante".

आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के भाषण में एक जर्मन इतिहासकार ने कहा है कि मैं जर्मनी के इतिहास 1925-30 ई० का विशेषज्ञ हूँ, तो श्रोताओं ने इसका उपहास किया, क्योंकि उनकी दृष्टि में विशेषज्ञता के साथ-साथ इतिहास के सामान्य ज्ञान की भी आवश्यकता होती है। रेनियर ने स्पष्ट लिखा है कि किसी क्षेत्र की ऐतिहासिक दक्षता इतिहास का शत्रु है।

यदि पेशेवर इतिहासकार सामान्य तथा सर्वकालिक इतिहास नहीं लिखेंगे, तो इतिहास लेखन इतिहासकारों के हाथों से निकल जाएगा। परिणामस्वरूप इतिहास की विशिष्ट दक्षता के साथ-साथ सामान्य इतिहास का अध्ययन तथा लेखन करना चाहिए। वर्तमान समाज इतिहासकारों से यही अपेक्षा करता है।

1.21 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. इतिहास के स्वरूप का विवेचन कीजिये?
2. इतिहास की विषय वस्तु क्या है?
3. इतिहास की विभिन्न शाखाओं का संक्षिप्त विवरण दीजिये?

1.22 संदर्भ ग्रंथ

1. E.H. Carr : what is History? (Also in Hindi)
2. R.G. Collingwood : Idia of History.
3. D. Goel : Philosophy of History
4. गोल्डन चाइल्ड : इतिहास का इतिहास
5. गोविन्द चन्द पाण्डे : इतिहास : स्वरूप एवं सिद्धांत

इकाई - 2

इतिहास प्रगति के समरूप

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 प्रगति की परिभाषा

2.3 मानव इतिहास की संरचना

2.3.1 इतिहास और मानव संकल्प

2.3.2 मानवीय समाज के विभिन्न आयाम

2.4 ऐतिहासिक प्रगति के निर्णायक तत्व

2.4.1 मार्क्स की प्रगति की नियतिवादी व्याख्या

2.4.2 इतिहास निर्माता का आत्म-बोध और मानसिकता

2.5 संक्रान्ति के वस्तुनिष्ठ एवं वैयक्तिक कारक

2.5.1 ऐतिहासिक अवमूर्त्तनों के वस्तुनिष्ठ आदर्श और इतिहास के नायकों की अभिलाषा

2.6 क्या सम्पूर्ण मानव जाति के विकास का कोई एक सुस्पष्ट प्रारूप है?

2.6.1 समकालीन सार्वभौम इतिहास में अराजक विशिष्टों की समस्या

2.7 जातीय नानात्व एवं विशिष्ट परम्पराएं।

2.8 क्या सम्पूर्ण मानवीय इतिहास किसी केन्द्रीय लक्ष्य को प्राप्त कर रहा है?

2.8.1 नाना जातीय सांस्कृतिक परम्पराएं अन्योन्य विशिष्ट मूल्य परिप्रेक्ष्य व्यक्त करती हैं।

2.9 इकाई का सारांश

2.10 अभ्यास के प्रश्न

2.11 संदर्भ ग्रंथ

2.0 उद्देश्य

हमारी इस इकाई का उद्देश्य इतिहास प्रक्रिया का विश्लेषण और उसके उत्तरोत्तर चरणों में प्रगति के प्रारूप का रेखांकन करना है। समकालीन इतिहास विचारणा की पृष्ठभूमि में यहां हम उन सभी धुरी प्रश्नों की चर्चा संक्षिप्त आकार में प्रस्तुत करने में दत्तचित्त होंगे, जो मुखर होकर पिछले कुछ विचारकों ने इतिहास की सर्वांगीण विवेचना के लिए उपलब्ध कराए हैं। इस इकाई में हमें मार्क्स, हीगेल, बूरी, फ्रेंच विचारकों (कोम्त, काण्डिलोक, काण्डारसे, वाल्तेयर, सेन सिमोन, आदि) ने पूर्ण जागतिक इतिहास पर जैसी जैसी परम्पर अनमिल पर सदैव ओजस्वी अवधारणाएं पीछे कुछ पीढ़ियों में दी है, उनका निरूपण, व्याख्या, समीक्षा और तदुपरांत उनकी प्रामाणिक उपलब्धियों का हम मूल्यांकन भी देंगे। इसी इकाई में हम इस सतत् एक-रेखीय प्रगति को अस्वीकारने वाले इतिहास विचारकों, जिनमें आज्वल्ड स्पैगलर अग्रणी हैं की सुतीक्षण-युक्तियों और दावों का परिचय और उनकी परख भी करेंगे। मूलभूत प्रश्न इस संदर्भ में मात्र यह होगा कि क्या विभिन्न देशों काल-खण्डों में बंटे हुए मानव मात्र का समष्टिगत जीवन किसी सीमा तक एक सार्थक लक्ष्य की ओर अग्रसर होता देखा जा सकता है? अथवा विभिन्न क्षेत्रों, युगों, समाजों और जातियों के केवल पृथक-पृथक इतिहास है, जिनमें किसी तारतम्य की खोज सार्थक ऐतिहासिक प्रश्न नहीं है। हम इस इकाई में इस प्रश्न पर पुनर्विचार के लिए कुछ युक्तियां प्रस्तुत करेंगे, और इसी से संलग्न एक दूसरे प्रश्न कि क्या हम मानवीय इतिहास, संस्कृति एवं व्यक्तिगत संकल्पों की असंदिग्ध, सार्वभौम और काल-निरपेक्ष व्याख्या करने के लिए कोई सुनिश्चित अपरिवर्तनीय प्रारूप गढ़ सकते है? पर भी कुछ मुद्दे उठाकर कुछ स्पष्ट निष्कर्ष निकालने में यत्नशील होंगे। इस प्रकार इतिहास की अपरिवर्तनीय प्रगति की ओर अजस्र धारा की गतिशीलता की अवधारणा का कुछ विश्लेषण यहां उपस्थित करेंगे।

2.1 प्रस्तावना

केवल मानव ही मूल्य-सृष्टा है और उसकी आप बीती 'इतिहास'। सामूहिक सामाजिक संस्कृति और उसकी उत्पत्ति केवल जैविक-संतुलन अथवा प्राकृतिक नियमों के अनुसरण में अपना मर्म अभिव्यक्त नहीं करती। इसका यह अर्थ भी नहीं है कि कोई मानव या संस्कृति किसी भी प्रकार प्रकृति के भौगोलिक, प्राकृतिक, जैविक कायिक निर्धारकों की अनदेखी करके इतिहास के रचयिता बनने की स्थिति तक पहुंचकर ही इतिहास में अपनी विशिष्ट भूमिका निभा सकने में समर्थ हो सकती है। इसके विपरीत यह स्पष्ट करना महत्वपूर्ण है कि किसी भी मानव कर्म द्वारा सार्थक अर्थवत्ता उपलब्ध करने के लिए उस यौक्तिक कर्त्ता में वास्तविक जगत की नियमशीलताओं का पूरा सचेत एवं त्रुटिहीन संज्ञान हो, अदम्य आकांक्षा, स्फूर्ति एवं दुर्धर्ष इच्छा-शक्ति द्वारा किसी भी रागविह्वल इतिहास निर्माता को अन्ततोगत्वा केवल अपार निराशा और आत्म निवर्सन करने

वाला मोहभंग ही मिलेगा। हमारी अभिलाषाओं और लालसाओं का समाज के व्यापक तन्त्र में व्याप्त व्यक्ति-निरपेक्ष साक्ष्यों के विवेचन से उपलब्ध दृष्टिकोण और वस्तुनिष्ठ सम्भावनाओं की लगाम से अनुचालित करके ही कोई सफल समाज का संचालन करके उसका निर्देशक बन सकता है। इसी बात में यह भी स्पष्ट रूप से पहचाना जाना चाहिए कि इतिहास की नियतिवादी व्याख्या मानव की युक्तिशील, मानसिकता और उसकी आत्म अनुशासन की मेधावी शक्तियों को पहचानने में असफल होकर मानवीय इतिहास को केवल मानवेतर निर्धारकों का खेल समझने में भूल करती है। मानव सचेत रूप से प्रत्येक ऐतिहासिक संदर्भ में अपनी सचेतन रूप से क्षमताओं और 'अवधारणात्मक आत्म स्वतंत्र' के वैकल्पिक प्रयोगों द्वारा सतत एक मुक्त संकल्प द्वारा प्रामाणिक एवं सार्थक ऐतिहासिक-मूल्य गढ़ने में चिर-स्थायी है, जिसका यह अर्थ कदापि नहीं समझा जाना चाहिए कि इतिहास में बहुत सारी अत्यंत कुत्सित, क्लेशदायी नकारात्मक, विमूढताएं नहीं होती। इस प्रकार की अटूट त्रासदियों को झेलते रहकर मानव कृतिकार अपने युग, समाज के बीते अतीत की स्मृति अवशेषों और अनखिले भविष्य के प्रतिमूर्त्तन में अपने चिन्त्य आदर्शों को सामने रखकर 'युक्तिसंगत' निर्णय लेता है, और आशा करता है कि उसकी परख, पकड़ और कर्मठता उसे मात्र दृष्टिहीन दुस्साहसी ही नहीं बनने देगी। वस्तुतः किसी अवसर पर वह बखूबी जानते हुए जोखिम उठाता है, और विस्मयकारी नवोन्मेष कर जाता है, जबकि किन्हीं अन्य दृष्टांतों में मानव जिविषा अपनी बनी बनाई आश्वस्त लीकों पर चलते चलते अप्रत्याशित रूप से मुंह के बल उलट जाती है। इतिहास की इस विस्मयकारी अनिश्चितता की व्याख्या करना इतिहास पर किसी भी प्रकार की विवेचना करने वाला का प्रथम दायित्व है। इस इकाई में कुछ केन्द्रीय विचारणीय मुद्दे हम इस इतिहास के सतत परिवर्तित परिवर्द्धित सम्भाव्यों और सोपानों के बारे में संक्षिप्त आकार में प्रस्तुत करेंगे।

2.2 प्रगति की परिभाषा

आधुनिक जगत के विचारवेत्ताओं ने समूची जागतिक मानव आपबीती को आशावादी दृष्टि से स्वीकार किया है। इसके विरोध में प्रायः परम्परावादी मध्ययुगीन धार्मिक और अनुदारवादी विचारक स्वर्णयुग को अतीत के कुहासे में मानने पर जोर देते थे। स्वयं भारतीय विश्वदृष्टि इसी के समान विचार युगों के सत, त्रेता, द्वापर और कलि युगों द्वारा क्रमशः ह्रासोन्मुख इतिहास की चर्चा करते हैं। इसी दृष्टि के समानान्तर इतिहास में किसी भी एक विशिष्ट लक्ष्य की ओर सतत् अग्रसर होते रहने की प्रमुख प्रवृत्ति को रेखांकित करने की भी हिमायत की गई है। इस विचार प्रणाली को प्रगतिवादी विचारधारा कहा जाता है। यह 'लक्ष्य' अलग-अलग दृष्टि रखने वाले विश्लेषकों द्वारा स्पष्टतया भिन्न-भिन्न रूपायित किए गए हैं। यह सामाजिक, बौद्धिक, आर्थिक और धार्मिक अथवा नैतिक आयामों पर स्थित माने गए हैं। इस प्रकार समूची मानव

जाति की सारी कठिन दुरूहता, कटुता, भटकावों, और विरूपताओं का पूरा लेखा, जोखा लेते हुए भी मेधावी व्याख्याता यह निर्विवाद निरूपण करते हैं कि मानव मात्र काल के अविरल संक्रमण में उत्तरोत्तर अधिक सभ्य, मानववादी, सत्यनिष्ठ, पटु और न्यायसंगत, सामाजिक तन्त्र परिपक्व संस्कृति मार्मिक सांस्कृतिक चेतना और अटूट सुख और मानवीय मूल्यों को इतिहास में चरितार्थ कराता पाया जाता है। दास वृत्ति, क्रूरता, हिंसा, युद्ध, बर्बरता, शोषण, अन्याय समय के परिवर्तन के साथ क्रान्तियों और मानव के नवबोध के युग की नवीन मनोरचना के सहचर्य से कम होते जा रहे हैं। विज्ञान, प्रौद्योगिकी, भेषज और कृषि की नव उपलब्ध क्षमताओं से मानव जीवन का मध्यकालीन कुत्सित एवं अन्यायपूर्ण जीवन परिधि को पीछे छोड़ता मानव अपने नवीन बोध से अपने सम-सामयिक राज्य, अर्थ-संरचना, संस्कृति एवं सहयोग का युक्तिशील रचियता बनने के मार्ग पर बढ़ता चला आया है। मौटे तौर पर युक्ति, न्याय, स्वातंत्र्य, सौहार्द्र, समानता, शान्ति, सहयोग यदि मानव समाज में सतत प्रामाणिक स्तर पर उपलब्ध हो जाएं तो इस दृष्टि से इसे सामाजिक ऐतिहासिक 'प्रगति' माना जाना चाहिए। जरूरी नहीं है कि ऐसे सामाजिक तन्त्र में भी होड़, गैर-बराबरी, रोग, अपराध एवं व्यक्तिगत क्लेश, आत्म-निर्वसनता और कुछ सीमा तक परतन्त्रता बनी रहे, किन्तु आशावादी मानववादी दृष्टि इस विषम स्थिति से भी भविष्य में समूची मानव जाति को इन त्रासदायक परिस्थितियों से उबरता हुआ देखती है।

'प्रगति' की अवधारणा की उपर्युक्त सामान्य लाक्षणिक चर्चा काफी नहीं है। इस प्रगति के लक्ष्य को इतना प्रसार मूलक बना देने पर इस अवधारणा की इतिहास की चर्चा में उपयोगिता क्षीण हो जायेगी। चूंकि यह लक्ष्य यदि काफी विभिन्न स्तर के हैं, तो सम्भवतया हम किसी न किसी विशेष स्तर तक कुछ न कुछ विशेष लोगों में कोई समूर्तन कुछ लाक्षणिक प्रगति के सूचकांक के रूप में प्रतिपादित कर ही सकेंगे। फलस्वरूप किसी भी मानवीय समाज को इस आधार पर प्रगति मार्ग का अवरोधक समाज नहीं सिद्ध कर सकेंगे। युक्ति के द्वारा यह निष्कर्ष प्रगतिवादी चिन्तन का विरोधी होगा। यह जरूरी है कि 'प्रगति' की चर्चा और अधिक स्पष्ट मानदण्डों के वस्तुनिष्ठ प्रयोग द्वारा की जाए।

प्रायः 'प्रगति' के मूर्त्त लक्षण समाज और सांस्कृतिक जीवन के इतिहास में रूचि रखने वाले समीक्षक कुछ मूल-भूत मानवीय जीवन की प्राथमिक वरीयताओं के एक समुच्चय में अधिक विश्वसनीय चरितार्थ न पाने के साक्ष्यों द्वारा अवलोकित करना चाहते हैं। इस चर्चा में वह सार्वभौम युक्ति द्वारा अकाट्य एवं प्रामाणिक मानवीय वरीयताओं की कसौटी को सभी समाजों, जातियों और युगों के लिए अविभाज्य मानने की दावेदारी करते हैं। कठिनाई इस आरोप की स्वयं इन 'वरियताओं' के भी—वस्तुतः युग निरपेक्ष अथवा समाज और संस्कृति निरपेक्ष होने के विश्वास को लेकर हैं। चूंकि सम-सामयिक 'आस्थाएं' और 'सांस्कृतिक

दृष्टि' इतिहास के पूर्व उद्घाटित परिप्रेक्ष्यों को उनके स्वतंत्र प्रारूपों में अनावृत्त करने के बजाय उनको संस्कृति के नवबोध से गढ़े गए मानदण्डों पर मूल्यांकन करके उन्हें 'असफल' अथवा 'हेय' ठहरा देती है। हमारी सम-सामयिक युक्ति इसी संदर्भ में हमें सावधान करेगी कि क्या यह मूल्य अवधारणाएं विभिन्न समाजों और किसी एक ही समाज के अन्योन्य युगों और तत्कालीन मानव जीवन के स्वरूप को एक जकड़े हुए जड़ सांचें में ढालने की त्रुटि नहीं कर रहे हैं? यदि यह हमारे 'सम-सामयिक बोध' की अनिवार्य पूर्वापेक्षाएं हैं, तो कैसे पूर्वगामी, अन्य समाज के विचारकों और इस वर्तमान के अवसान के बाद आने वाले भविष्य के गर्भ से अभी अनुपजी 'मूल्य दृष्टियों' को भी यही मूल्यांकन हमारी 'यहां-अभी' की 'सम-सामयिक दृष्टि' पर आरोपित करने के युक्तिशील अधिकार को हम कैसे नकार सकते हैं? निष्कर्षतयः, आत्म-तोष और अहंपोषण के कुरूप तथ्य से मुक्त क्या समसामयिक दृष्टि पर सधा हुआ अन्वेषक समूचे पृथक-पृथक समाजों के सतत् परिवर्तनशील मूल्य परामर्शों और उनके आधारों पर बनाए गए विभिन्न सामाजिक तन्त्रों, संस्थाओं, जीवन वृत्तों और उनकी उपलब्धियो को मात्र समकालीन मूल्य मानकों के आधार पर किस प्रकार खोटा, अपरिपक्व अथवा पाश्विक ठहरा सकते हैं? क्या मानव के सभी पूर्ण आदर्श सहज केवल सुदूर भविष्य में ही विचारणीय हैं, जबकि हम देख चुके हैं, हमारे समकालीन इतिहास पर विचार करने वाले अनेकों समकालीन व्याख्याता इस एक रेखीय उत्तरोत्तर प्रगति के प्रारूप के भ्रामक और इतिहास के अन्योन्य वृत्तों, अनुकम्पनों अथवा चक्र को और लयों को भी गम्भीरता से चर्चा की मांग करते रहे हैं। हीगेल, क्रोचे, मार्क्स, काम्ते जो समकालीन योरोपीय युक्ति के पक्षधर होकर समस्त जागतिक इतिहास को एक पूर्वनिर्दिष्ट प्रगति की ओर अग्रसर होने की दावेदारी करते रहे हैं, उन्हें नीत्शे, स्पैंगलर, टायनबी, वीको, सारोकिन की व्याख्याओं में कई अन्य पराकाष्टाओं, नैतिक और सांस्कृतिक विपरितताओं अन्योन्य लक्ष्यों की अवधारणाओं को चुनौती स्वीकार करनी पड़ रही है। आज नृतत्त्व और समाज वैज्ञानिकों ने इस एक आदर्श समान लक्षीय भविष्य को विभिन्न 'मूल्य-दृष्टियों' की स्वायताओं द्वारा भी निष्कासित किया है।

इस सारी बहस में हमें बार-बार संस्कृति की विशिष्ट युगीन परम्पराओं और उनके द्वारा विकसित वैकल्पिक सांस्कृतिक धरोहरों के तुलनात्मक विश्लेषणों पर ध्यान देना होगा। इस प्रकार का सामाजिक रचनाओं का मूल्यांकन किस सीमा तक विशिष्ट युग, दृष्टि, संस्कृति और जातीयता के निष्कर्षों की सापेक्षताओं से ऊपर उठता हैं, हमारी 'प्रगति की अवधारणा में समाहित है, इस संदर्भ में नीचे हम प्रगति के लिए अपरिहार्य पूर्वापेक्षाओं का निरूपण करेंगे। क्या विभिन्न मूल्य-परिप्रेक्ष्यों में हमें कोई आधारभूत साम्य, मौलिक सार्वभौम निकष अथवा अवमूल्यन और तुलना के सर्वमान्य सूत्र इतिहास द्वारा मिलेंगे? इस प्रश्न का उत्तर देना किसी भी प्रगति सिद्धांत के विकास के लिए महत्वपूर्ण है।

जैसा हम मानते हैं कि मानव इतिहास मानव प्रकृति की मूलभूत क्षमताओं का ही प्रस्फुटन हैं। सामाजिकता, रचनाशीलता, यौक्तिक संज्ञान, न्याय, समता, प्रभावोत्पादक नवोन्मेष एवं उसकी सतत सम्प्रेषण और इन रेखांकों के सामंजस्यपूर्ण संघात हमारी बौद्धिक समीक्षा के लिए 'सामाजिक प्रगति' के प्रतिपादन में आधारभूत निर्णायक कसौटी प्रायः माने जाते हैं। किन्तु इसमें भी एक अति कठिन और न सुलझने वाली गुत्थी का सामना हर सचेत विचारक को करना पड़ सकता है। क्या इन विभिन्न आयामी निकषों को हम सहज यौगिक संरचना के द्वारा परस्पर एक जुट सूचकांक में परिवर्द्धित कर सकते हैं? इतिहास और मानवीय अनुभूतियां इस सपाट आकलन को प्रायः असिद्ध करती लगती हैं। यह बात इससे स्पष्ट है कि उपभोग की सतत बुद्धि हमारी पारस्परिक सहयोग और सामाजिकता के साथ समानान्तर विकसित नहीं होती। अपेक्षाकृत सरल समाजों में जैविक उपभोग के साधन नागर बोधी औद्योगिक समाज से कहीं न्यून स्तर के थे, और इन न्यून स्तरीय सुविधाओं का विभिन्न वर्गों के उपभोक्ताओं में परस्पर वितरण भी आपत्तिजनक स्तर तक गैर बराबर था। उसके सरल समाजों में आदान-प्रदान, सम्प्रेषण और एकात्मता स्मृद्ध उपभोक्ता औद्योगिक समाज से कहीं अधिक प्रबल थी। सरल समाजों में प्रकृति के प्रति सम्मान एवं आस्था का भाव भी औद्योगिक शोषण के शनैः-शनै विस्तार के साथ दोहन और अधिशासन अधिकार में बदला जाता पाते हैं। क्या ऐसा सामाजिक संक्रमण पूर्ण रूप से निर्विवाद एक पिछड़ी बर्बर स्तर की सामाजिक रचना का 'प्रगतिशील आधुनिक समाज रचना' की ओर परिवर्तन ठहराया जाना चाहिए?

इस संदर्भ में सभी समाज समीक्षक एक सी दृष्टि सम्भवतया बना पाने में समर्थ न होंगे। इस दृष्टि से अति समसामयिक चिंतन ने इतिहास के विभिन्न युगों सुनिश्चित, आदिम, मध्यकालीन आधुनिक युगों की निर्विवाद संरचनाओं पर भी कई नए प्रश्नचिन्ह लगाए है। इन प्रश्नों की सही पडताल करने के पहले निम्न खण्ड में कुछ संक्षिप्त परिचय मानव इतिहास और उसकी संरचनाओं से होना उपयोगी पाया जायेगा।

2.3 मानव इतिहास की संरचना

प्राणी जगत के विभिन्न स्वरूप केवल ब्रह्मांड भर में केवल इस अत्यंत लघु ग्रह पर करोड़ों वर्षों से विकसित होते रहे हैं। प्राणी मात्र के विविध जैविक व्यापारों का लेखा ब्यौरा जीव विज्ञान के वर्गीकरण एवं सर्वेक्षण का अंग भले हों, किन्तु सम-सामयिक मुहावरे में उसे मानवीय इतिहास की अवधारणा के क्षेत्र से बाहर का विषय प्रायः सभी लोगों द्वारा सहज मान लिया जायेगा। इसी प्रकार समूची निहारिकाओं, तारा समूहों, उल्काओं और भिन्न तारों से संलग्न सौर मण्डलों ग्रहों और उनके माण्डलिकों के संघात, जन्म संहार और पृथक-पृथक कालखण्डों में होने वाले संश्लिष्ट घटना क्रम को ब्रह्मांड की सृष्टि, उत्पत्ति, उत्तरोत्तर

विकास अथवा विसर्जन के अविभाज्य तथ्य होते हुए भी मानव इतिहास की स्पष्ट काया का अंग नहीं माना जा सकता। स्वयं पृथ्वी की संरचना का एक विपुल काल खण्ड प्राणी हीन (पशु, वनस्पति) मात्र रासायनिक और भूगर्भीय अथवा भूवैज्ञानिक संरचनाओं के लम्बे परिवर्तनों से महायुगों तक स्थापित हुआ है। यह सारी प्रक्रियाएं मानव के ऐतिहासिक संरचनाओं की ब्रह्मांड की पृष्ठभूमि मात्र तो जरूर हैं, पर इनके द्वारा मूर्त्त ऐतिहासिक विवेचन में कोई योगदान सम्भवतया विचारणीय नहीं है। इसी प्रकार जीव विज्ञान और वांशकीय विज्ञान द्वारा नाना युगों में परिवर्द्धित और तन्त्रमूलक विकासों द्वारा अन्योन्य प्राणी जातियों के विकास की व्याख्याएं जीव विज्ञान की परम महत्वपूर्ण जानकारी होकर भी मानव इतिहास की संरचनाओं को विश्लेषित करने में कोई सार्थक भूमिका नहीं निभा पायेंगी।

मानव इतिहास की अवधारणाएं केवल कायिक परिवर्तनों और जैविक विभाजनों से ऊपर मानव के समाजीकरण और भाषा द्वारा संगठित विशेष संस्थाओं और उनके द्वारा उपलब्ध कृत्तियों, विचारधाराओं, आदर्शों, तन्त्रमूलक मूर्त्त और अमूर्त्त रचनाओं के परस्पर अन्तर मंथन, संशोधन, विकास, विघटन और पुनर्नियोजन तक ही सीमित हैं। अत्यंत स्पष्ट रूप से इतिहास कलेवर को आदिम जातियों के प्रकृति साध्य जीवन यापन, अनवरत सामाजिक प्रारूपों और अपरिवर्तनीय संस्कृति और उपलब्धियों अथवा संरचनाओं से भी दूर रखना जरूरी समझा जाता है। इतिहास में केवल वे मानवीय कृतियां स्थान बना पाती , जिन्हें मानव अपने संकल्प, मानसिक चैतन्य और साध्य-साधन योजना के क्रियान्वयन द्वारा सार्वजनिक आयाम में मूर्त्त करता है। कई बार इस सीमांकन में यह भी सिफारिश की जाती है कि इतिहास जिन मानवीय संरचनाओं को अपनी विषयवस्तु स्वीकार करता है, उनके संबंध में लिखित मूर्त्त दस्तावेज भी साक्ष्य रूप से विद्यमान मिलने चाहिए। यदि इस किस्म के उपलब्ध नहीं है तो हमारी उन पौराणिक वार्त्ताओं और किंवदतियों से घपला कर जायेगी, जिनको हम सरल आदिम संस्कृतियों के अध्ययन में प्रायः प्रयोग करते है। लम्बे मानवीय कथानक का अत्यंत संक्षिप्त परावर्ती अंश ही ऐतिहासिक संरचनाओं का काल ठहरता है। मानवीय संस्कृतियां तो लगभग लाखों वर्ष से पृथ्वी पर विद्यमान रहीं होंगी। परन्तु पूर्व कथित व्याख्याओं के आधार पर निष्कर्षतया ऐतिहासिक संरचनाएं अधिक से अधिक केवल ईसा पूर्व 5000 वर्ष पूर्व तक ही विद्यमान मानी जा सकती है।

इस संक्षिप्त ऐतिहासिक काल खण्ड को भी हम पूर्ण रूप से समानधर्मी ऐतिहासिक संरचनाओं का एक जुट अविभाज्य क्षेत्र मानने का दावा नहीं कर सकते। इन पिछले 7000 वर्षों में भी विभिन्न युगों में विभिन्न ऐतिहासिक संरचनाओं की काया, आन्तरिक संयोजनाओं और उनकी परस्पर अन्तर्क्रियाओं और रचना विधानों में खासे विभाजन दिखाई

पड़ते हैं। प्रायः राजनीतिक, आर्थिक, प्रशासनिक, सैनिक क्रियाओं और परिवर्तनों की इतिहास विश्लेषण में राजपुरूषों, सम्भ्रांत अधिकार प्राप्त श्रेष्ठ व्यक्तियों के स्थान पर सामान्य कर्मियों सर्वहारा उत्पीड़ित और शोधित वर्गों की भूमिका, उनके द्वारा रचित जन सामान्य विचारवीथियों, कला प्रयासों और विचार खण्डों को ऐतिहासिक संरचनाओं के गठन में अधिक महत्वपूर्ण ठहराया जाने लगा है। इस दृष्टिकोण में यह आस्था निहित है कि ऐतिहासिक औपचारिक दस्तावेजों में पिरोये मन्तव्य सामाजिक संरचना के निर्धारण में वह बहुश्रुत भूमिका नहीं निभाते जो अपेक्षाकृत नजर अंदाज इतिहास के उपेक्षित सामान्यकर्ता चरितार्थ करते हैं। यह अट्टालिकाएं, भग्नाववेष, कलाकृतियां, आलेख, प्रशस्ति पत्र, शिला लेख, स्वर्ण मुद्राओं पर उत्कीर्ण अभिजात्य गर्वोक्तियां वास्तविक ऐतिहासिक प्रक्रिया को गुमराह करने में अधिक सफल है, इसके विपरीत खेतिहर मजदूरों के श्रम और उनके द्वारा कालजयी मानवीय हुनर सतत बदलते पर्यावरण को किस प्रकार मानव जीवन की अपरिवर्तनीय मांगों को किस सीमा तक पूरा करते हैं। अनायास ही हमें अतीत की वस्तुनिष्ठ रागात्मक मुखौटा को उतार कर देखी ठोस और यथार्थ पूर्ण छवि दिखलायेंगे। जनश्रुतियां मौखिक जन-परम्पराएं भी वस्तुनिष्ठ ऐतिहासिक संरचनाओं को रेखांकित करती हैं।

जब भी ऐतिहासिक संरचना की स्वरूपात्मक प्राथमिकता की चर्चा की जाती है कि सार्थक मौलिक इतिहास की व्याख्या के लिए किस इकाई को ठहराया जाए? सम्पूर्ण मानवता? सार्वभौम सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य, भौगोलिक राजनैतिक इकाई, आर्थिक संरचनाएं सामंतवाद, उपनिवेशवाद, पूंजीवाद, सम्भ्रांतवाद, समाजवाद आदि।

इसके विरोधी विचारधारा के अनुयायी सभी 'व्यक्ति' से भिन्न ऐतिहासिक संरचनाओं को अमूर्त्त अन्वेषकों के अमूर्त्त मंतव्य तक ठहराने से नहीं कतराते। ऐसे अराजक ऐतिहासिक विशिष्टों के व्याख्याता, ऐतिहासिक इकाई को केवल मात्र मानव व्यक्तित्व और उसके विविध मंतव्यों को ही प्रथम मध्य और अन्त तक एक मात्र इतिहास के कारक और मानव इतिहास की प्रक्रिया का एक मात्र स्रोत ठहराते हैं। वास्तव में न तो राजनीतिक दृष्टियां, न आर्थिक नीतियां अथवा नैतिक या धार्मिक विचार प्रणालियां इतिहास, वर्ग-संघर्ष या उत्पादन के साधनों का संघात अथवा उन पर एकाधिकार पैदा करती है। इन सभी संरचनाओं और अनुष्ठानों के मूल में सहज मानवकर्त्ता उसके संकल्प आवेश राग-द्वेष, उदात्त एवं कुत्सित प्रवृत्तियां ही प्रायः क्रियाशील होती है। यह छद्मकर्त्ता दोहरे आयामों में ऐतिहासिक यथार्थ में उद्घाटित होते हैं, एक बार स्वयं ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में इतिहास के सर्जक अपनी मानसिकता को मूर्त्त सामाजिक शक्तियों का पयार्य समझाने में अपने संकल्पों को सहज परिपूर्णता देने के लिए उपयोग करते हैं, वहीं दूसरी ओर मानव इतिहास के विश्लेषक अपने असंख्य परस्पर अनमिल कभी-कभी भयावह स्तर तक

परस्पर असाध्य लक्ष्यों को सरलीकृत प्रारूप में नियोजित करने के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए इस प्रकार के बौद्धिक अवधारणामूलक निर्धारकों की परिकल्पना अपनी व्याख्या के सफल होने के लिए आवश्यक पाते हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त विश्लेषण को हम 'प्रगति' अवधारणा की समीक्षा में स्मरण रखने की सिफारिश करेंगे। किन्तु इस इकाई को सुचारू रूप से निखारने में निम्न भाग में इतिहास संरचना में मानव संकल्प की भूमिका रेखांकित करना जरूरी समझते हैं।

2.3.1 इतिहास और मानव संकल्प

घटनाओं के घटाटोप और विभिन्न व्याख्याओं के जमघट प्रायः विभिन्न स्तरीय निर्धारकों के सौष्ठव द्वारा अभिव्यंजित किए जाते हैं। किन्तु इतिहास की स्वरूप रचना प्रारम्भ, मध्य और अन्त तक विशेष इतिहासकर्मी के संकल्प द्वारा ही उत्पादित होती है। इतिहासकर्मी को अपनी परिस्थितियों का विवेक और उसके अपने सभी सम्भव तथ्यों की जानकारी इस विशेष व्यक्ति के निजी मूल्यों की कसौटी पर जांचे जाने के बाद भविष्य में कृति सम्पादित करने की योजना का रूप ही सुविचारित संकल्प होता है, फिर यह संकल्प चाहे किसी गुमनाम श्रमिक का हो या किसी विशेष अनुष्ठान, संगठन, संस्था या व्यवस्था के पदाधिकारी का हो, इस प्रकार के प्रतिनिधित्व की भूमिका ही संस्थाओं को मूर्त्त ऐतिहासिक कारक बनाने में सफल होती है। वस्तुतः केवल 'व्यष्टि' और इस प्रकार की व्याख्या के 'प्रतिनिधि' के बीच किसी न किसी स्तर पर कुछ दूरी बनी रहती है, परन्तु कोई भी वर्ग, परिषद, समिति, कार्यकारिणी अपने समूचे छद्म एकात्मकता और स्वतंत्र एवं चिर मुक्त संकल्प करने के दावों के होते हुए मूलतया सभी प्रकार के सुनियोजित संकल्पों में एक प्रभावशाली संकल्पशील कर्मठ कर्त्ता होता है, दूसरे उससे या तो प्रभावित होकर उसका अनुसरण करते हैं, अथवा प्रमाद आतंक या लोभ के कारण अपनी दृष्टि को समर्थ एवं शक्तिशाली व्यक्तित्व आदर्श का प्रतीक मानकर शिरोधार्य करने को बाध्य है। अन्ततोगत्वा इतिहास की रचना मेधावी इच्छा-शक्ति और समकालीन परिस्थितियों की सम्भावनाओं की स्पष्ट परख द्वारा विशिष्ट मानव संकल्प करता है। स्मरण रहे कि अपनी परिस्थितियों की समझ किसी भी युग के इतिहास निर्माता के विवेक में किस स्तर की है, और किस सीमा तक अपने सम्भव विरोधियों को वह परास्त करने के लिए अपने अनुयायियों को कितना प्रतिबद्ध कर पाता है, और उनकी प्रतिक्रियाओं को अपनी प्रस्तावित योजना के साथ तालमेल कहां तक रख पाता है, यदि ऐसे निर्धारक हैं जिनका सामूहिक प्रभाव वास्तव में घटित होने वाली सम्भावना का निर्णायक सिद्ध होता है। ऐसे संक्रमण की पार्श्वगामी व्याख्या

बहुत से अमूर्त्त तत्वों, विचारवीथियों, प्रवृतियों, संस्थागत पूर्वाग्रहों आदि को इसका जिम्मेदार ठहराती है, इनके दावों को सिद्ध भी नहीं किया जा सकता। सम्यक विश्लेषण, फिर भी मानव संकल्प की सम्मत केन्द्रीयता इस संदर्भ में रेखांकित करेगा।

2.3.2 मानवीय समाज के विभिन्न आयाम

मानव संकल्प और ऐतिहासिक संक्रमण के ऊपर की चर्चा में हमने स्पष्ट रूप से मानव बोध और उसकी सचेत केन्द्रीयता को सारभूत निर्णायक कारक ठहराया है। इसके साथ ही यह भी अनिवार्य है कि यह भी पहचाना जाए कि स्वयं एकाकी इतिहास कर्त्ता कई विभिन्न आयामों में अपनी इतिहास की भूमिका का गठन करता है। वह समानान्तर कई अमूर्त आयामों से 'निजी-मंतव्य' विशेष सम्प्रेषणों द्वारा बना सकने की स्थिति तक पहुंचता है। परिवार, परिवेश, परम्परा, जातिगत मिथक, सामुहिक स्मृति, समाज की तत्कालीन संप्रभुता, व्यवस्था और सामान्य जीवन यापन में क्रियाशील आर्थिक तन्त्र उसको अपना व्यक्तिगत दृष्टिकोण ढालने में सार्थक विषयवस्तु प्रदान करते हैं। कुछ चर्चा इस दृष्टि से निम्न सामाजिक आयामों को ऐतिहासिक संक्रमण की सही व्याख्या प्राप्त करने के लिए जरूरी समझा जाना चाहिए। किसी भी युग में उपलब्ध जीवन मूल्य, मिथक, साहित्य, विचारधारा, विभिन्न आर्थिक जैविक और सामान्य अपरिहार्य साधनों की संरचनाएं और उनकी पटु-अपटु व्यवस्थाएं, विभिन्न वर्गों और सामाजिक स्तरों की परस्पर विश्वसनीयता, सहकारिता सम्प्रेषण और न्याय संगत होने या उसके विरोधी होने का व्यापक बोध। समाज की शासन व्यवस्था और संचालन की दक्षता, कुशलता/अकुशलता तथा शासकवर्ग में उक्त व्यवस्था को दृढ़ता, चारुता, न्यायशीलता, स्थिर रखने के लिए सभी अशासक वर्गों की प्रशासन के निर्देशन पर प्रतिक्रियाओं का कैसा सतत अवलोकन एवं मूल्यांकन शासक वर्ग करने में सक्षम है। यह सभी आयाम स्पष्ट और भिन्न स्तरीय हैं, और इतिहास के निर्धारकों की चर्चा करते समय इनको जागतिक द्रव्य अथवा वस्तुपरक ठोस राशियों से घपलाना मानव संरचनाओं के विभिन्न धर्मों आयामों को एक छद्म मूर्त्तता में स्थानांतरित करने की भूल करना होगा। मानव जीवन पदार्थ और प्रकृति प्रदत्त द्रव्यों की अनिवार्य उपलब्धियों की पूर्वापेक्षा करता है, परन्तु जीवन की पूर्ण रचना में अनेकों अमूर्त्त परानिर्धारकों को या तो न पहचान पाना या उनको नकारना भ्रामक/विश्लेषण होगा। इस दृष्टि से पदार्थवादी चिंतन प्रायः समाज के मूल्यात्मक, विचार, आदर्श, नियामक तत्वों को दूसरे नम्बर के केवल पदार्थ सम्मत तत्व ठहराने की पक्षधरता प्रायः करता है। यह विश्लेषण इस दृष्टि से निसंगत है। समग्र इतिहास की सही

समझ पाने के लिए यहां इस बात को पुनः दोहराना जरूरी लगता है कि मूल्य, मिथक, आदर्श स्वप्न, सम्प्रेषण, सामाजिक सहयोग और विश्वयनीयता के आयाम हर युग, जाति, देश और मानव समूहों के संयोजन में उतनी ही केन्द्रीय भूमिका निभाते हैं, जितने की उत्पादन की क्षमताएं, मूर्त्त साधन, उनके विनिमय के स्वरूप और उत्पादन संबंध।

2.4 ऐतिहासिक प्रगति के निर्णायक तत्व

ऊपर की चर्चा स्पष्ट कर देती है कि सम्पूर्ण इतिहास की संरचना में केवल किसी एक विशेष विचारक द्वारा मुखरित दावेदारी केवल किसी विशेष स्तर की संरचना को मानवीय प्रगति का एक मात्र विशिष्ट कारक, उद्दीपक अथवा उत्प्रेक्षक ठहराना तथ्यशः सही नहीं है। इस दृष्टि से विभिन्न युगों और विचारकों ने कई अत्योन्य-कारकों को यह महत्वपूर्ण भूमिका सौंपी है। हीगेल और उसके पूर्ववर्ती आदर्शवादी विचारक प्रायः सार्वभौम युक्ति, आत्मा अथवा परमात्मा को ही इतिहास का रचयिता सूत्रधार अथवा संचालक ठहराते रहे हैं। तदुपरांत अन्य विश्लेषकों ने मानव की समृद्धि, भूख, आधिपत्य अथवा सत्ता की संप्रभुता की कुछ अन्य विचारकों ने मानव मुक्ति से अथवा सतत् मानवीय देवत्व की उपलब्धि (टायनबी) को विराट ऐतिहासिक सभ्यताओं की असंख्य घटनाओं का मूल आधार एवं लक्ष्य ठहराया है। मार्क्स द्वारा उत्पादन के सम्बन्धों और उत्पादन शक्तियों के परस्पर तनावों से उत्पन्न वर्ग संघर्षों को इतिहास का एक मात्र प्रेरक ठहराया है। इसी प्रकार के कई प्रकृतिपरक अथवा आदर्श एवं संस्कृति परक तत्वों को भिन्न-भिन्न विचारकों ने इतिहास प्रक्रिया का मूल कारक सिद्ध करने के यत्न किए हैं। इनमें से कई विश्लेषण नियतिवाद अथवा आध्यात्मिक आदर्शों के निर्धारणों पर विशेष बल देते हैं। उदाहरणार्थ स्पैंगलर, वीको जातीय चेतना और शिलर भाषा में मूर्त्त आत्मा को विधायक ठहराते हैं। कुछ समकालीन विचारक ज्ञान, न्याय समानता के अमूर्त्त आदर्शों को भी इतिहास का निर्णायक स्रोत और मूल्य खोज के लक्ष्य के आधार पर उसके विकास एवं विधान का निर्णायक आंकते है। मार्क्सवादी और उदारवादी समाज विश्लेषक समानतया मूल्यों की इस नियामक भूमिका की सिफारिश करते है। यह सतत् संशोधनवादी विश्लेषण कुछ दूसरे व्याख्याता नकारात्मक तत्वों, मिथों, ईर्ष्या, भय, युद्ध, महामारी, झूंठ, भुखमरी, अज्ञान और सतत अराजकता की स्थायी प्रवृत्तियों को मानव इतिहास का मूल निर्धारक ठहराते है। (देखें; सारोकिन, स्पैंगलर, कालिंग वुड, बर्कहाडट, गुस्ताव ले बॉ, मोस्का, नीतरो)

निष्कर्षतया यथार्थ मानवीय संरचनाओं का एक विहंगम सर्वेक्षण स्पष्ट करेगा किसी एक स्तर के भावात्मक अथवा नकारात्मक कारकों को सम्पूर्ण निर्धारक ठहरा कर यह चिंतन सीमित तथ्यों पर सार्वभौम निष्कर्ष स्थापित करने की सामान्य यौक्तिक त्रुटि करता है, सभी इतिहास

में रूचि रखने वाले जिज्ञासुओं को ऐसी एकांगी विचारधारा से मुक्त हो सकने का मार्ग ढूंढना चाहिए।

2.4.1 मार्क्स की प्रगति की नियतिवादी व्याख्या

इतिहास और मानव श्रम के विभिन्न विधानों द्वारा समूची सामाजिक संरचनाओं का निर्धारण होता है। यह इतिहास किन्ही विशेष महत्वपूर्ण व्यक्तियों या उनके अभीष्ट संकल्पों द्वारा विकसित नहीं होता, हालांकि सतही सर्वेक्षण हमें प्रायः समस्त इतिहास को आकस्मिक घटनाओं अथवा उनके विधाताओं के अराजक मन्तव्यों का फलन ठहराते हैं। मार्क्स के विरोधी फिशर या प्रसिद्ध लेखक ट्रैवेल्यिन जो मार्क्स के नियतिवादी दृष्टि कोण को निराधार एवं तथ्यों द्वारा असिद्ध दर्शाने को उत्सुक हैं, निम्न कथन करते है : "मेरे अधिक जानकार दोस्त इतिहास में लय, छंद और सुनिश्चित तन्त्र ढूंढने में प्रायः दत्तचित्त लगते हैं, मुझे इतिहास की सारी की सारी घटनाएं मात्र असम्बद्ध, व्यवस्थित तथ्य ही प्रतीत हुई" (यूरोप का इतिहास, एच. एल. ए. फ़िशर) इसी प्रकार ट्रैविल्यन अपने बहुचर्चित लेख "यदि क्लियोपैट्रा की नाक टेढी होती" में मार्क्स अथवा अन्य किसी भी नियतिवादी व्याख्या अथवा समूचे दृष्टिकोण को त्रुटिपूर्ण कहते हैं। उनके अनुसार जो कुछ भी वस्तुतः ऐतिहासिक जगत में हम अवलोकित पाते हैं, उसमें अन्यथा भी संभाव्यों के न होने का कोई पूर्व चिन्त्य आधार नहीं है। 'वह नहीं हुए', से हम कदापि यह निष्कर्ष नहीं सिद्ध कर सकते कि ये हो ही नहीं सकते थे। इसी यौक्तिक दृष्टि का प्रसार मार्क्स के समकालीन समीक्षक इसाहा बर्लिन अपनी बहुचर्चित पुस्तक "ऐतिहासिक अपरिहार्यता" में पुनः स्थापित करते हैं। मार्क्स के द्वंद्वात्मक पदार्थवाद की मार्मिक आलोचना प्रमुख इतिहासविद ई. एच. कार ने अपनी सूझ द्वारा इतिहास की सपाट पूर्व नियति की परिकल्पना को मानव चिंतन में विपरीत स्थितियों को अवलोकन करने की क्षमता से असंगत बैठता बतलाया है। मानव चैतन्य किन्ही भी संदर्भों में जो अभी उपस्थित नही हो सका और जो अतीत के कूड़ेदान में पहुंच चुका है, भी विचार के लिए अनुपयुक्त नहीं पाता, और इस प्रकार जो हो रहा है और जो नहीं है के बीच तनावपूर्ण अनुभूतियों के केन्द्र में स्थित रहता है और यह तनाव उसके कई अचिन्त्य परामर्शों और विलक्षण संकल्पों के स्रोत होंगें। मार्क्स या और कोई अन्य पूर्ण रूपेण अपरिहार्यवादी ऐतिहासिक पूर्व-निर्धारणवादी व्याख्या ऐसे व्यक्ति स्वानुभूत बहु-स्तरीय आत्म-द्वंद्व की कोई प्रामाणिक समीक्षा देने में असफल होगें। ऐतिहासिक विकास मानव क्रियाओं द्वारा सयत्न किया हुआ सपिण्डित फल है। इस दृष्टि से मार्क्स की धारणा रोचक परामर्श होते हुए भी मानवीय इतिहास की बहुआयामी छवि की अति सीमित प्रतिछाया ही पकड़ सकी है।

2.4.2 इतिहास निर्माता का आत्मबोध एवं मानसिकता

हम सामूहिक बाह्य विश्लेषण द्वारा पूर्व उपलब्ध घटनाओं को किसी विशिष्ट विधान का क्रमशः प्रस्फुटन भी समझा सकते हैं। यह स्थिति सुदूर चोटी पर स्थित पर्यवेक्षक द्वारा किसी तलहटी में भाग-दौड़ करते विभिन्न व्यक्तियों के कलापों को अनूठे विन्यासों में अभिव्यक्त कर सकने से तुलनीय है, पर ऐसे छायाकार, चित्रकार या बिम्ब रचयिता कम से जूझते प्राणियों के अंतस्थल में होने वाले संघर्ष और संकल्पों को सारमूल पकड़ सकने की दावेदारी तो नहीं करते। सार्वभौम प्रगति, हास्र, संस्कृति या सभ्यताओं को निरूपित करने वाले विद्वान प्रायः अपने सार्वभौम इतिहास प्रारूपों में इन व्यक्तियों के नाना आत्मबोधों और उनसे संलग्न मानसिकताओं को केवल अर्थहीन कथा-सामग्री ठहराने का प्रायः दुस्साहस करते पाए जाते हैं। ऐसा किए बगैर वे अपने तीव्रगामी चिन्तन के वाहन पर सवार होकर पूर्ण काल क्रम की कोई योजना स्थापित न कर सकेंगे। तदनुसार सभी सार्वभौम विचारक, एक अकेले व्यक्ति को इतिहास में केवल हेय और अपेक्षा योग्य निरर्थकता सिद्ध करने पर सदा तुले रहते हैं। इसका सबसे सटीक दृष्टांत स्पैंगलर का सांस्कृतिक नियतिवाद है, जिससे गणित, कला, विज्ञान और कोई भी मानवीय आयाम मुक्त नहीं हो सकता; वह चाहे या न चाहे यह समूची शक्ति प्रत्येक मानवीय बोध को अनजाने ही पूर्व निर्धारित कर देती है। फ्रायड के समकालीन चिंतन ने अचेतन मन की पूर्वाभिव्यक्तियों की चर्चा करके मानव स्थित स्वायत्तकर्त्ता को भारी सीमा तक क्षत किया है। हीगेल, मार्क्स, टायनबी अपने-अपने दृष्टिकोणों द्वारा इतिहास में व्यक्ति की छद्म-अस्मिता की चर्चा करते हैं, उनका स्पष्ट सिद्धांत है कि व्यक्ति की अपनी दृष्टि केवल छलावा है, इतिहास का गुरू विराट आन्दोलित सागर उसे स्वयं अपने संकल्पों के विरूद्ध वह करने को विवश करता है, जिसका उसे कुछ भी अंदेशा नहीं होता। इसी सिद्धांत को मार्क्स 'असत्य-चेतना' अथवा हीगेल 'युक्ति की प्रवंचना' कहता है। टायनबी और स्पैंगलर भी ऐसे व्यक्ति से ऊपर की सांस्कृतिक शक्तियों को वास्तविक को समझने के लिए अनिवार्य साधन ठहराते रहे हैं। समकालीन दर्शन ने इस संदर्भ में जो हल प्रथम-पुरूष की सचेतन अनुभूतियों को अपेक्षाकृत पदार्थपूरक तृतीय पुरूषीय वार्त्ता में सुनियोजित किए जाने के लिए उपयोगी पाए हैं, यहां भी प्रयोग हो सकते हैं। किन्तु इतिहास की परख और समझ के दायरे में प्रथम पुरूष ही महत्वपूर्ण है, उसे निष्कासित करके अमूर्त्त प्रत्ययों का खिलवाड रचना बौद्धिक व्यायाम हो सकता है, फिर यह इतिहास की पहली शर्त अर्थात मानव संकल्प को ही अपदस्थ करेगा।

2.5 संक्रान्ति के वस्तुनिष्ठ एवं वैयक्तिक कारक

ऐतिहासिक क्रान्तियां मानव प्रगति की मील का पत्थर मानी जाती हैं। सपाट और अपेक्षाकृत नीरव माहौल, जिसे सामान्य तौर पर निर्बाध आवृत्तियों में स्वस्फूर्त्त सामाजिक ताना-बाना मानव समाज महसूस करता रहा है। विशेष परिस्थितियों में एकाएक ढह जाता है, सभी सामाजिक परम्परागत रूढियों को धक्का लगता है, लीकें और जाने पहचाने शासन तन्त्र की पूर्व-चालित व्यवस्था के कलपुर्जे एकाएक स्तब्ध हो जाते हैं। सुविधा और वर्चस्व भोगी सम्भ्रान्त वर्गों में भय और दुविधा घर करती है, सम्भव और वास्तविक हिंसा उथल-पुथल अनुशासन और सुरक्षा का पलायन विस्फोटन स्तर तक समूचे जीवन में अराजकता का व्यापक प्रभाव मुखर करता है। साथ ही साथ नए शक्तिशाली नेतृत्व असंतुष्ट, उपेक्षित एवं पददलित सर्वहारा वर्गों के नए उद्‌बोधन और आमूल चूल परिवर्तन की मांगों को मूर्त्त कर सकने योग्य नई संस्थाओं और व्यवस्थाओं को स्थापित करनें में दत्तचित्त होते हैं। इतिहास का निरपेक्ष विश्लेषण इस संजीदा सच्चाई को अकाट्य प्रदर्शित करता है कि मानव क्रान्तियों के अवलोकनों से आज तक विभिन्न क्रान्तिकारी हरावल दस्ते अपनी अक्षमताओं के शिकार न हो जाए, ऐसा कोई स्वर्णिम पथ प्रशस्त नहीं कर पाए हैं। प्रायः क्रान्तियां अपने जनकों और चहेती संतानों को ही निगल जाती है। केवल वह क्रान्तिया ही प्रभावशाली दूरगामी परिवर्तन छोड़ सकी हैं, जो जन मानस की घुमड़ती पीड़ा, क्षोभ, मत्सर और विस्फोटक तोड़-फोड़ की तीव्र लालसा पर संयम, युक्ति और व्यवस्था द्वारा लगाम लगा सकी हैं, और उफनी रक्त लौलुपता को खत्म करके सामान्य मानव की चैन और 'आश्वस्त-सामाजिकता' की भूख को उसके पूर्व-स्थित आक्रोश के ठण्डा पड़ने के पहले ही नई गढ़ी व्यवस्था की विश्वसनीयता मूर्त्त कर सकी है।

क्रान्तियों का अध्ययन प्रायः उनके हो जाने के बाद ही सिंहावलोकन के रूप में विचारकों द्वारा होता है। इतिहास के पास स्पष्ट कारणों का पता लगा सकने का कोई असंदिग्ध पैमाना नहीं होता। क्रान्तियां सामूहिक विस्फोट के रूप में अप्रत्याशित घटनाएं हैं, जिन्हें किन्हीं पूर्व संज्ञान द्वारा निवारण कर पाना या मूर्त्त कर पाना प्रायः असम्भव होता है। एक ओर कुशल सुविधा भोगी प्रशासक स्वयं अपने चक्रव्यूहों के बाहर झांक सके उनकी समग्र कुशाग्रता के बावजूद उनकी निजी पूर्वाग्रहों और अप्रिय तथ्यों के प्रति उपेक्षा उनको इतिहास के कूड़ेदान में फेंके जाने को विवश होने में देखी जा सकती है। इसी के साथ-साथ उत्कृष्ट क्रान्तिकारी नेतृत्व भी प्रायः अपने निजी भाववेगों से सामूहिक त्रास, एवं लोक हित के दावों को घपलाए जाने से नहीं बच पाते, तदनुसार उनकी क्रान्तिकारी गतिविधियां जिस सीमा तक क्रान्ति की सफलता के लिए सामान्य नागरिकों द्वारा चलाई जाये और उनके लिए अनेकों व्यक्तिगत

हितों का बलिदान किया जाए, प्रायः असमंय में धूल चाटती हैं, और अनेकों क्रान्तिकारी लालसाएं दुष्कर मरीचिका बनने के लिए विवश होती है। क्रान्ति के आधार सिंहावलोकन द्वारा अकाट्य प्रायः आंके जाते हैं, किन्तु इतिहास का बेबाक अध्ययन उन सभी पर्याप्त आधारों अथवा निर्धारकों की उपस्थिति ऐसे कई अन्य उदाहरणों में ढूंढ कर संकेत कर सकता है जहां उस समाज में कोई परिवर्तन नहीं उपजता। इसी के विपरीत ऐसे कई अन्य दृष्टांत भी दिखाई पड़ते हैं, जहां बिना किसी अत्यधिक सीमा तक विस्तृत रोष, त्रास या उत्पीडन के भी मेधावी क्रान्तिकारी विराट एवं व्यापक उथल-पुथल शुरू करके स्वयं उस पुथल-पुथल के कंधों पर बैठकर, अगुआ बनकर दूरगामी प्रभावी सामाजिक पुनर्रचना करने में सफल हो जाते हैं। निष्कर्ष तथा वस्तुनिष्ठ जागतिक स्थितियां यदि एक सीमा तक जन मानस में आक्रोश एवं उत्पीड़न का बोध न बैठा पाई हो तो न तो अदूरदर्शी शासक (जैसी विख्यात सम्राज्ञी मेरी अन्तवाइन्ते जो अपनी भूखी प्रजा को रोटी के अभाव में केक खाने की सलाह देती थी) और न कुशल राजद्रोही जैसे मादाम दाफ्रागे (देखें : डिकंस का बहुश्रुत उपन्यास "दो नगरों की कथा") जो अपना कसीदा काढ़ती रहती है जबकि भीड़ बच्चे के मासिंगनर की बग्घी से कुचले जाने पर सिक्की बग्घी के फर्श पर ठुक से वापस पहुंचा देती है, चूंकि अभी वह समुचित क्षण दूर है, जब नृशंस सम्राटों और राजपुरूषों की समिधा क्रान्ति यज्ञ में होगी। क्रान्तियां बाह्य विषम परिस्थितियों के संघात या उत्पादन संबंधों के आन्तरिक अन्तर्विरोधों मात्र से नहीं उपजती, यह अनिवार्य कारण हो सकते हैं, किन्तु पर्याप्त नहीं। क्रान्ति में उप-निर्धारकों की भी मूलभूत भूमिका होती है। सारी की सारी आग पर बैठी क्रान्तियां अपने अग्रदूत वर का वरण करने की बाट में न मालूम कितनी वरमालाएं काल कवलित करती रहती हैं, रो-रो कर आंखे फोड लेती है। कुछ नहीं होता। केवल अमावस की कालस और उत्पीड़न का कालकूट जनमानस पीढ़ीयों पीता है। फिर अनायास किसी एक मानव-संकल्प में इस्पाती तैवर घर करता है, क्यों? यह ही तो इतिहास निर्माता की भूमिका का कर्म है जो विचारक और विद्वान ऐसा होने के उपरान्त महान पोथियों में चर्चा करते हैं, पर होने के पहले केवल मानव के अदृष्ट संकल्प और अस्तित्व का सार-रूप है। जिसके कोई पूर्व निर्धारक चिन्त्य नहीं है। क्या पोरबंदर की मिट्टी में कहीं लौह चूर्ण भी था? क्या पीटर मारित्ज़बर्ग रेलवे-स्टेशन पर पिटकर गाड़ी से धकेले जाने वाले कुली बैरिस्टर मोहनदास गांधी को भी स्वयं यह मान था कि यह तिरस्कार उस क्रान्ति की पहली थाप थी, जो उस साम्राज्यशाही का अन्त करेगी, जिस पर कभी सूरज अस्त नहीं होता था? कब कहां एक चिंगारी धधकता दावानल बनेगी, राम जाने। पर चिंगारी जरूर-जरूर चाहिए, यह वही मानव रीढगत संकल्प होता है जो गांधी में था, माओ में था। और बालक लेनिन की रूंधी भर्राई आवाज और अनवरत बहते

आंसुओं में था, जो उस अभागे दिन उसने अपने गांव में अपने शहीद भाई एलैक्जैंडर की जारवादी साम्राज्यशाही द्वारा दी गई फांसी के बाद कुछ पडोसियों और बेबस विधवा मां के साथ कब्रगाह में गिराए थे। स्मरण रहे कि महान क्रान्ति-नायक लेनिन अपने सारे संताप को अंदर ही पी गया था, अनेकों जिल्दों में प्रकाशित उसके लेखन में इनका कोई हवाला नहीं, उस दिन और क्षण के बाद कुली बैरिस्टर, महात्मा ऋषि, अंजेय, अघोरी ताण्डव रचियता हो गया, अविचल, धीर, सर्वमान्य। तो लेनिन सर्वहारा गुलामों का साक्षात मसीहा। सत्याग्रह, अक्टूबर क्रान्ति, लांग मार्च इन आत्माओं में उपजे वज्र संकल्पों की शनैः शनै अवमूर्त्तन की गौचर अवस्थाएं मात्र हैं। यह सब वस्तुनिष्ठ तथ्यों और उनके समूहों में पारिभाषित करने की कटुमुल्लई इतिहास के मर्म से छूट जाना है।

2.5.1 ऐतिहासिक अवमूर्त्तनों के वस्तुनिष्ठ आदर्श और इतिहास के नायकों की अभिलाषाएं

चूंकि वास्तविक घटनाओं के निरंतर जुड़ते जाने के फलस्वरूप हम ऐतिहासिक कालक्रम में इतिहास नायकों के मंतव्यों को केवल उनके द्वारा अर्जित प्रभावों को श्रृंखला द्वारा जानते हैं। हमें यह जानकर काफी विस्मय होता है कि मानव समाज में घटित अनेकों नए अनुष्ठान जिस रूप में हमें परावर्ती युगों में दिखते हैं, उनके प्रथम सर्जनकर्त्ताओं की अभिलाषा उनसे कभी-कभी खासी भिन्न थी। इसका अच्छा दृष्टांत अमरीका की खोज है। दोनों विख्यात नाविक वास्कोडिगामा और क्रिस्टोफर कोलम्बस केवल अत्यधिक उल्लसित भाव से 'सोने की चिड़िया' जलमार्ग से भारत में रह कर वहां से सम्पत्तिवान बन कर लौटना चाहते थे। जबकि कोलम्बस ने एक नया महाद्वीप ढूंढा और समूचे यूरोप को अपरिमित सीमा तक अपने देशों में अनुपयोगी, अपराधी, बागी एवं भारस्वरूप आबादी को अन्यथा भेजने का अवसर दिया। यह दूसरी बात है कि इसी नए उपनिवेश में कहीं अधिक मुखर जनतांत्रिक व्यवस्था एवं टैक्नॉलाजी की तीव्र प्रगति हुई और कालांतर में यूरोपीय समाज की कुण्ठाग्रस्त समाज रचना को नव-मानववादी नए लक्ष्य इस नवोदित उपनिवेशवादी दृष्टि से मिले। ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा काल कवलित मुगल साम्राज्य शाही के अस्तगामी सूरज से फरमान मांगने वाले अंग्रेज डाईरेक्टरों को क्या अभिलाषा हो सकती थी कि एक दिन वे ब्रिटिश सम्राट के सरताज में सबसे बहुमूल्य कोहिनूर हीरा हिन्दुस्तान को बनायेंगे। अथवा इस बीहड़, टूटे, कबीलों में भटके पुराने देश को नया जनतंत्र, औद्योगिक समाज बनाने के अनजान कारक होंगे। सांस्कृतिक इतिहास में इस तथ्य का और भी स्पष्ट निखार सामने देखा जाता है। भारतीय धर्मशास्त्रियों ने वर्णाश्रम की परिकल्पना आध्यात्मिक साधना और मोक्ष केन्द्रित मूल्यों

के सतत् चरितार्थ के लिए बनाई थी। पर मानवीय कुत्सित लोभ, प्रमाद एवं सुविधाभोग की ललक ने क्या अधोगति भारतीय समाज की कालांतर में नहीं कराई। देवदासी प्रथा, छुआछूत, पंडागिरी, निट्ठल्ले साधु सम्प्रदायों की आपाधापी क्या भारतीय मनीषा के उन्नायकों की पुरूषार्थ और आध्यात्मवाद की अभिलाषाओं के अनुरूप ढाली जा सकीं। भ्रूण हत्या, सती, नारी उत्पीडन मनु के विधान की विरूप परिणतियां है। ऐसे विद्रूप और भी हैं।

वस्तुतः आदर्श और अभिलाषाएं चाहकर भी अलग-अलग परावर्ती युगों और वर्गो के निजी प्रमाद, मत्सर, कुत्सित आपाधापी और विसंगति पूर्ण रूपायनों द्वारा कभी भी अवमूर्त्तन की प्रक्रियाओं के दीर्घ कालिक क्रमिक विकास में अनिवार्य संयम और मूल्य-प्रयोग के वांछित आयामों को उजागर न करके इतिहास के नायकों की खिल्ली ही उड़ाती है। भारत के समकालीन युग में हमारे विधान में चर्चित विधायकों की निजी वर्चस्व की न मिटने वाली भूख हमारे जननायक गांधी की अच्छी मट्टी पलीद करा रही है।

2.6 क्या सम्पूर्ण मानव जाति के विकास का कोई एक सुस्पष्ट प्रारूप है

अत्यंत संक्षिप्त आधार पर इस प्रश्न का उत्तर देना हो तो यह ही कहा जा सकता है कि पूर्ण, सर्वसम्मत प्रारूप तो निश्चित ही नहीं माना जा सकता, क्योंकि अन्तर-सांस्कृतिक अध्ययन बीहड़ विषमताओं और वैभिन्न्यों को हर पद, अवस्था एवं क्षेत्र में बार-बार हमें पहचानने को मजबूर करते हैं। सारी सम-सामाजिक सार्वभौम संस्कृति, साधनों और औद्योगिक पहलों के बावजूद आज भी काले, पीले, भूरे, श्वेत मानव समूहों के बीच न पट सकनें वाली खाईं ज्यों की त्यों बनी हुई है। इसका स्पष्ट रेखांकन प्राथमिक अनिवार्यता है, इसे कर चुकने के बाद यह कहा जाना भी सही है कि पिछड़ी और स्तब्ध सामाजिक इकाईयां जैसी ही जीवन शैली, स्तर और सुविधा प्राप्त करने की स्थिति में आ पाती हैं, अपनी सारी विशिष्ट सांस्कृतिक धरोहर को ताक पर रखकर उपभोक्ता प्रतिमानों, बाजारू जीवन पद्धति की ओर लम्बे डग से बढ़ती है। जापान, चीन, रूस, भारत, ईरान, अरब देश, तुर्की या अफ्रीकी राष्ट्र इस संदर्भ में सम-सामयिक यूरो-केन्द्रित व्यवस्था के अनुगामी स्वेच्छा से बनते देखे जाते हैं। जहां इन सभी कबीलीवादी प्रदेशों में परस्पर स्पर्धा, असहिष्णुता और कटुता बदस्तूर बढ़ रही है। वहीं इन सभी देशों में पाश्चात्य जन जीवन की बेअक्ली नकल भी उतनी ही तेजी से बढ़ती देखी जा सकती है, इस संदर्भ में सारी सांस्कृतिक नानात्व की जन-दुहाईयों को पूरी तरह कर चुकने के तुरंत बाद सभी इन समाजों के जन-प्रतिनिधि अपनी सांस्कृतिक विरासतों को डालर हाट में नीलाम करना चाहते हैं। यह प्रारूप शायद बीसवीं सदी से पहले मानव समाज में पहले कभी

इतना नहीं उभरा, हालांकि स्पैंगलर और टायनबी का अध्ययन स्पष्ट करता है कि रोमन जगत, मिस्र, ग्रीक, सुमेर, चीन, भारत ने भी अन्योन्य कालों में किन्ही सार्वभौम प्रारूपों की परिकल्पना क्रियान्वित करनी चाही थी, आज यह प्रारूप ज्यादा विश्वसनीय बनता दिखता है। क्या यह तथ्य मानवता की एक अनूठी प्रगति का द्योतक है?

2.6.1 समकालीन सार्वभौम इतिहास में अराजक विशिष्टों की समस्या

क्या यूरोपीय औद्योगिकरण का शीर्षस्थ समसामाजिक प्रारूप समकालीन सार्वभौम इतिहास का शिरोमणि लक्ष्य है? क्या चीन और भारत जैसे 5000 वर्ष पुराने सतत् सांस्कृतिक आयाम केवल इस प्रकार के सामान्य लक्ष्य के अपवाद से ऊपर कोई समस्या इस तथाकथित इतिहास की सार्वभौम व्याख्या के लिए उत्पन्न नहीं करते। क्या समूची मानवता का एक और केवल एक केन्द्रीय धुरी लक्ष्य है, जिसकी ओर चाहे अनचाहे सभी देश, संस्कृतियां, समाज आगे पीछे पहुंचने का प्रयत्न करेंगे? इसके विरोध में यह स्पष्ट पहचाना जा सकता है कि संसार के कई महाद्वीपों में सैकड़ों सरल समाज इतिहास की बनावट और लक्ष्यों से पूरी तरह अप्रभावित कांगों, नाइजर, नील, अमेजन, कोलरेडो, दैन्युब, जैम्बिसी, ब्रह्मपुत्र, इरावदी, सिंधु और गंगा की कंदराओं और प्रशान्त और हिन्द महासागरों के अनगिनत द्वीपों में अपनी अनूठी अनैतिहासिक कालातीत सातत्य की सामाजिकता में आज भी ऐसे धुरी सार्वभौम लक्ष्यों की मखौड़ उड़ाते जिंदा है। इनकी उपेक्षा करना उचित न होकर एक प्रतिस्पर्धी कबीला परस्ती से ज्यादा कुछ नहीं है। इस दृष्टि से मार्क्स द्वारा भारतीय समाज की अधोगति का 19वीं सदी के उपनिवेशवादी साम्राज्यवाद के समक्ष पददलित हो जाना, जिसे उसका विश्लेषण आर्थिक भाग्य न होकर राजनीतिक पतन था, जिसे उसका विश्लेषण पहचान सकने में असमर्थ रहा। उसकी एशियाई उत्पादन तन्त्र की धारणा भी व्यर्थ है।

2.7 जातीय नानात्व एवं विशिष्ट परम्पराएं

यह तो इतना ठोस तथ्य है कि इसे अस्वीकार नहीं किया जाना चाहिए। स्पैंगलर और अनगिनत नृतत्व शास्त्रियों ने अपने मूर्त्त संस्कृतियों के विश्लेषणों द्वारा 'परम्पराओं' के नानात्व की धारणा को स्पष्ट कर दिया है। 'मानव' प्राणी विज्ञान की अवधारणा है। शारीरिक और काया के साथ मानवीय बोध और चिंतन के विशिष्टों को झुठला नहीं सकते। प्रकृति पर आधिपत्य, औद्योगिक क्षमताओं के निरन्तर उन्नय और विज्ञान की निस्सीम प्रगति के फलस्वरूप समकालीन पाश्चात्य की सामरिक विजय की कीर्ति पताका के समस्त संसार पर गाढ़े जाने के बाद 20वीं सदी में ऐसी परम्पराओं की समानता की बातें कुछ अत्यधिक आदर्शवादी

लग सकती है। फिर भी, मूल्यों के आधार पर जातीय परम्पराओं को विशिष्ट माना जाना चाहिए और उनकी परस्पर सामरिक क्षमताओं या औद्योगिक उत्पादन सामर्थ्य को इस तराजू के पलड़े पर नहीं लादा जाना चाहिए। माना जाता है तो फिर किसी पोलीनेशियन, जुलू, लामा, भील या संथाल संस्कृति को लंदन, पारी, नई दिल्ली, बैजिंग या टोक्यो, न्यूयार्क या सिडनी की नागर छटा से कैसे कम अर्थपूर्ण हैं, इतिहासकार के पास इसे जानने का कोई पैमाना नहीं है। प्रारम्भ, मध्य से अन्त तक शोषित, सर्वहारा, निरक्षर, पददलित, कमजोर, भूखे, नंगे, बेसहारा कोटि-कोटि काले, भूरे, पीले बच्चें भी क्या किसी आज अपदस्थ परमेश्वर की संतान नहीं हैं, उनके गानों और आहों में क्या उगते चांद और गोधूलि के गहराते अंधेरे ध्वनित प्रतिध्वनित नहीं होते, क्या उनमें किसी तीस्ता, गंगा, जमुना, महानदी, गोदावरी, कावेरी, अमेजान, नील, दान्युब, ब्रह्मपुत्र, नर्मदा, सिंधु या चिनाव की कलकल नहीं उमड़ती, घुमड़ती वे भी क्या उतनी है। मनमोहक अर्थपूर्ण मानव प्रतिमाएं नहीं हैं जितनी किसी सिस्तनि चैपल में माईकेल एंजेलों ने उकेरी थी, या किसी गुमनाम हिन्दुस्तानी वास्तुकार ने कोनार्क या चिदाम्बरम् की मन्दिर वीथियों पर तराशी हैं। क्या पिकासो के चित्र अजन्ता के गुमनाम चित्तेरों को हरा सकते हैं? झुठला सकते हैं? उन्हें शक्ति संतुलन की तलवार की धार पर आंकना संस्कृति का विद्रूप और परम्परा का निरादर करने जैसी असंगति हैं। प्रगति पार्थिव प्रतिमानों तक ही सीमित नहीं मानी जानी चाहिए। आयाम बंदूक की गोली के अलावा भी हैं।

2.8 क्या सम्पूर्ण मानवीय इतिहास किसी केन्द्रीय लक्ष्य को प्राप्त कर रहा है?

हमारी अभी तक की चर्चा इस इकाई में साफ तौर पर यह सिफारिश करती रही है कि स्वयं मानवीय संस्कृति के लिए उन्मुक्त लक्ष्यों का निर्माण प्रत्येक सामाजिक दौर में पूर्व निर्धारित नहीं होता। परम्परा, चिंतन, सर्जनशीलता, सम्प्रेषण, अनुभूति और इन सभी तत्वों के परस्पर मिश्रण से विभिन्न अवसरों पर इतिहास के नवोन्मेष सामने आते हैं और नई मानवीय मूल्यधारणाएं गढ़ी जाती है। इस प्रकार सम्पूर्ण ऐतिहासिक संक्रमण को किसी एक मक्का केन्द्रीय लक्ष्य से सम्पृक्त केवल मानव के इतिहास के समाप्त होने के बाद उसके पूरे विश्लेषण करके ही रेखांकित किया जा सकता है। जब तक मानव मूल्यान्वेषण का सतत प्रवाह पूर्ण रूप से अवरूद्ध नहीं हुआ है, किसी भी परम्परागत दैवी, आर्थिक अथवा मानवीय व्यवस्था या आदर्श का पुनर्मूल्यांकन और परिवर्तन मानव का इतिहास निर्माण की क्षमता का द्योतक होकर चिन्त्य है, सम्भव है। यह ही एक प्रश्न का उत्तर यहां हमें सही समझना चाहिए। मानव संस्कृति की आन्तरिक योजना में मौलिक लक्ष्यों का पुनःपरीक्षण एवं नवीनीकरण मानव की स्वायत्तता का सहज तथ्य है। किसी भी केन्द्रीय पूर्व प्रत्याशित आदर्श को बदला जा सकता है।

2.8.1 नाना जातीय परम्पराएं अन्योन्य विशिष्ट मूल्य परिप्रेक्ष्य व्यक्त करती है

अभी जो चर्चा पिछले खण्ड में पूरी हुई उसका यह निष्कर्ष कदापि नहीं निकाला जाना चाहिए कि संस्कृति के विभिन्न अवमूर्त्तन परस्पर पूर्ण रूप से अबोधगम्य है। उन्हें किसी भी प्रकार के संवाद से जोड़ना भूल है। कभी-कभी स्पैंगलर की अतिशयोक्तियों से ऐसी ध्वनि मिलती है, पर यह भी इतना ही सच है कि बाहरी संस्कृति का प्राणी भी सायास चिन्तन द्वारा यदि पूरी तरह नहीं तो कुछ भेद के साथ अन्यथा उपार्जित सांस्कृतिक उपलब्धियों को अपने मंतव्यों में कमोबेशी स्थान दे सकता है।

मानव जाति की एकात्मता और उसके सह-अस्तित्व की आकांक्षा और इस मानव की रचित स्वायत्तता आश्रित मूल्य उपलब्धियों के सातत्य की आकांक्षा सारी स्थानीय विशेष मूल्याभिव्यक्तियों की परस्पर खाईयों के रहते हुए भी सर्वमान्य है। कहीं न्याय एवं समता पर अधिक बल होगा, तो कहीं स्वायत्तता पर, तो कहीं परस्पर समन्वय और परस्पर सहयोग और सामाजिक दक्षता पर। कहीं एकांगी रचनाधर्मी-कृतित्वशीलता और परानुमसिक आध्यात्मिकता को सर्वोपरि आकांक्षा या परमार्थ ठहराया जाता है। किन्तु यह सारी मूल्यात्मक वैविध्य परस्पर असम्प्रेषित नहीं हैं, और न इन्हें पूरी तरह से कोई भी संस्कृति अपने विशेष दृष्टि बिन्दु को मूल आग्रह मानते हुए भी पूरी तरह अस्वीकार कर देगी। इनको संवाद और परस्पर परिबोधन सम-सामायिक टूटी चेतना और एकाएक समानान्तर आमुख होने के संदर्भ में अत्यंत अनिवार्य है, यदि मानवता युद्ध, मत्सर और क्रूर संस्कृति घाती सामूहिक आत्म हत्या के लिए बहुत उत्तेजित नहीं है तो। इन सारे विपरीत मूल्यान्वेषणों की परस्पर टक्कर और प्रतिस्पर्धा के बीच ही सम-सामयिक सांस्कृतिक संक्रमण को अपना ओजस्वी नवविधान ढूंढना है। इन मूल्य वैविध्यों का परिमार्जन और संगति की पहचान समकालीन जगत के भविष्य की कार्य सूची है।

2.9 इकाई का सारांश

इस इकाई के माध्यम से हमने इतिहास संक्रमण के वैविध्यों और उनमें जन्मी मूल्याभिव्यक्तियों की परस्पर टक्करों और प्रभावशाली प्रवृत्तियों की स्वरूप रचना स्पष्ट की। हमने इस तथ्य पर खासा जोर डाला कि प्रगति केवल एक सूत्रीय मापदण्ड द्वारा नहीं आंकी जा सकती। प्राचीन और अविकसित समाज जो आज औद्योगिक समाजों की लकधक से पीछे धकियाएं जाकर कुछ सहमें कुछ भयभीत होकर अपनी मूल्याभिव्यक्तियों के प्रति शंकाकुल दिख रहे हैं। ऐसा कुछ पिछली तीन शताब्दियों के

औद्योगिक क्रान्ति के बाद पाश्चात्य के उपनिवेशवाद का समूची धरती पर सामाजिक और राजनीतिक वर्चस्व जम जाने के कारण हुआ है। किन्तु यदि प्रगति के प्रतिमान मात्र उपभोक्ता को सतत् व्यापक मांगों की पूर्ति न होकर चिंतन, नैतिकता, सामाजिकता, स्वायत्तता और सहयोग भी ठहराये जाएं तो काल में सभी परावर्ती समाज परिभाषेय रूप से पूर्वगामी तथाकथित सरल और कृषि आधारित संस्कृतियों से अधिक प्रगति की आधारशिला पर बैठे नजर नहीं आयेंगे। मानव अपनी संभावनाओं में चिरमुक्त रह कर प्रत्येक युग, देश संस्कृति में पैदा होकर नवोन्मेष से मूल्याभिव्यक्तियां करता रहा है। काल की असमता से मूल्यों का महत्व निर्धारण नहीं होना चाहिए।

2.10 अभ्यास के प्रश्न

1. मार्क्स के नियतिवादी इतिहास सिद्धांत की व्याख्या करो?
2. क्या प्रगति का एक सूचकांक पर्याप्त है?
3. इतिहास निर्माता किस सीमा तक इतिहास की सृष्टि के लिए मुक्त है?
4. जो एक युग में मूल्य समझा जाता है क्या वह अन्य युगों में असंगत दोष भी ठहर सकता है? क्या इस प्रकार हम सारे प्रगति के प्रतिमानों को भी युग सापेक्ष ठहरा सकते हैं?
5. क्या सभी समाज युगीन अवस्थाओं द्वारा मानव स्वायत्तता की ओर सतत् बढ़ते पाए जाते हैं?

2.11 संदर्भ ग्रंथ

1.	Bury J.B.	Idea of Progress
2.	Berlin Isaiah	Historal Inevitability
3.	Bloch Marc	Feudalism
4.	Braudel Ferdiand	Capitalism and Material Life.
5.	Carr E.H.	What is History? (Also in Hindi)
6.	Collingwood R.G.	Idea of history.
7.	Croce B.	History as story of liberty
8.	Daya Krishna	Consideration Towards A theory of Social Change

9.	Goel D.	(a) Philosophy of History
10.	Goel D. (Edit)	(b) Philosophy & Social Change
11.	Hegel GWF	Lectures on Philosophy of History
12.	Jaspers Karl	Origin and Goal of History
13.	Koh. A. R.H.	Wheels of History
14.	Marx K.	(a) Communist Manifesto (b) Grundrcrs (c) Economic
15.	Spenger O.	Decline of the West 2 Vols.
16.	Sri Aurobindo	The Human Cycle
17.	Toynbee A.J.	(a) A study of History XII Vols. (b) Civilization of Trial (c) A Historian's approach to religion
18.	Travelyan G.M.	Autobiography and other essays

इकाई 3

इतिहास, विज्ञान और नैतिकता

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य।

3.1 प्रस्तावना।

3.2 इतिहास क्या है?

- 3.2.1 इतिहास के स्रोत और साधन।
- 3.2.2 इतिहासवार्ता में व्यक्तित्व का सवाल।
- 3.2.3 इतिहास और नियतिवाद।
- 3.2.3.1 इतिहास वृतांत और इतिहासकार की परिकल्पनाएँ।
- 3.2.4 इतिहासकार के मूल्यांकन और मानव मूल्य।

3.3 विज्ञान, नीति, भावोन्मेष।

- 3.3.1 विज्ञान और समाज विज्ञान।
- 3.3.2 विज्ञान का इतिहास और समाज विज्ञान।

3.4 नैतिकता।

- 3.4.1 नैतिक मूल्यों की सापेक्षता का इतिहास।

3.5 नैतिकता, विज्ञान और इतिहास।

- 3.5.1 मानवीय अस्तित्व एवं मूल्य।
- 3.5.2 सर्वकालिक आधार मूल्य।

3.6 इतिहास की सीख। निष्कर्ष।

3.7 सारांश।

3.8 अभ्यासार्थ प्रश्न।

3.9 संदर्भ ग्रन्थ

3.0 उद्देश्य

इस ईकाई द्वारा समूचे इतिहास के स्वरूप का स्पष्टीकरण करने का प्रयत्न किया जायेगा। क्या इतिहास केवल व्यतीत जीवन वृत का अवलोकन मात्र है? क्या जो भी हुआ था केवल होने मात्र से इतिहास का विषय बन जाता है? तो फिर मानवेतर प्राणियों के जीवन के तथ्यों और उनके परिवर्तनों को भी इतिहास अपने अध्ययन का विषय क्यों नहीं बनाता? जो कुछ कोई भी मानव अपने जैविक निर्वाह के लिए करता है और जिससे मानव व्यवहार का निर्धारण एवं परिवर्तन हुआ है, जैसे खाद्य, विकास, पाचन, रोग, महामारी, अकाल, अर्थ-संरचनाएँ, विधान, राज्य, धर्म, कला आदि सभी कुछ अनिवार्यतया इतिहास के अध्ययन क्षेत्र में घर नहीं कर सकता। यह तो प्रायः निर्विवाद सहज उचित मानना चाहिए कि इतिहास केवल उन प्रक्रियाओं, घटनाओं और सार्वजनिक विषयों को अपने अध्ययन का विषय मानता है, जो मानव संस्कृति के उत्तरोत्तर गठन पर प्रभाव डालते हैं। यहाँ हमारा उद्देश्य इतिहास के ज्ञान की यथा सम्भव प्रामाणिक व्याख्या देना और इसका तदर्थ समाज विज्ञानों से अन्तर तथा मानव को नैतिकता की खोज से इसके रिश्ते का निरूपण करना है। क्यों इतिहास भी एक समाज विज्ञान है, क्यों इतिहास अमूर्त विकास और परिवर्तन के नियमों की खोज नहीं करता? इस इकाई के पाठ से यह आशा की जा सकती है कि **इतिहास** और **विज्ञान** के मूलभूत भेद को हम अभिव्यक्त कर सकें। इतिहास में प्रारम्भ से अन्त तक केवल विशिष्ट घटना, चरित्र, कृति और प्रक्रिया की पूर्ण संवदेनशील पुनर्रचना अपेक्षित होती है, इसके विपरीत विज्ञान सम्भव अमूर्त्त चरों और उनके विन्यासों को पुरस्कृत करके समस्त समाज को एक आदर्श खाका या प्रारूप प्रतिपादित करने का यत्न है, फिर वह तन्त्र एक समकालीन कालयोजना में हो, या विभिन्न संक्रमणों द्वारा काल श्रृंखला में प्रस्फुटित हो। यहाँ हम नैतिकता के मूल स्वरूप पर भी विचार करेंगे। इतिहास और नैतिकता के द्वारा प्रतिपादित मूल्य किन रिश्तों का संकेत करती है? साथ ही इतिहास संज्ञान और विज्ञान अपनी रचना। और उपयोगिता में शाश्वत सत्यों की संकलन विद्या में खासे परस्पर विरोधी हो सकते हैं, हम उन्हें जानने का यत्न करेंगे।

इस ईकाई में सर्वप्रथम **इतिहास, विज्ञान** और **नैतिकता** की अवधारणाओं की व्याख्या की जायेगी, तदुपरांत इन विभिन्न अवधारणाओं के परस्पर संबंधों को रेखांकन दिया जायेगा। क्या नैतिक आदेश इतिहास और वैज्ञानिक खोजों के अपने क्षेत्र में संज्ञानात्मक प्रयासों पर अधिकारी अनुशासन लागू कर सकते हैं? क्या विज्ञान और सम-सामयिक कला के अनुरूप इतिहासकर्मी भी पूर्ण रूप से मूल्य-निर्पेक्ष हो सकता है? अथवा कुछ असमाजिक विषयों को इतिहास में भी उसी सीमा तक आपत्तिजनक पाया जायेगा, जैसे यौन विकृतियों, उन्माद, हिंसा, क्रूरता, मतांधता, धार्मिक विद्वेष आदि को नैतिक दृष्टि से काव्य, कला, नाटक या कथा साहित्य

में अभिव्यक्त करना अथवा उद्दीपन देना आत्यंतिक रूप से हेय एवं कलुषित ठहराया जाता है? इस ईकाई में इतिहास की बौद्धिक संरचना का वैशिष्ट्य निरूपण पर केन्द्रित होना ओर उससे सम्बद्ध विज्ञान की सार्वभौम दृष्टि और नैतिक मूल्यों के गरिमामय अन्वेषण कैसे अन्तरबिद्ध हैं, यहाँ हम स्पष्ट करने में प्रवृत्त होंगे।

3.1 प्रस्तावना

'इतिहास' की समझ भी गहराई से पकड़ी जानी जरूरी है। सामान्यतया राजनीति के पूर्ववर्ती चरण जो भावी और सम-सामयिक सामाजिक संरचनाओं और आर्थिक-राजनीतिक प्रक्रियाओं के संधान में कोई महत्त्वपूर्ण प्रभाव एवं दिशा बोध देने वाले वृतांत सिद्ध हों उन्हें इतिहास की धुरी चर्चा माना जाता है। इस रस्मी परिभाषा की कुछ नई रद्दोबदल की जरूरत पिछली पीढ़ी के इतिहास चिन्तन में अनुभव की गई है। पिछली पीढ़ियों ने लीक-चालित काल खण्डों, राजनीति के वर्चस्व और एक रेखीय सार्वभौम मानव जाति के विकास में अदुविधाजनक आस्था पर अनेकों प्रश्नचिह्न लगा दिये हैं। जहाँ की एक ओर परम्परागत सामाजिक एकता पर आज अनेको संदेह उठ रहे हैं, वहीं एक ही समाज के अन्तर्गत विभिन्न अवयवों की परस्पर निर्वसनता आंचलिक संस्कृतियों की सतत् परस्पर खींचतान, शासक और शासितों की परस्पर अनबूझी लड़ाई और विरोध आज बिना मुलम्मे के पहचाने जाने के लिए आतुर है। गौरवान्वित राष्ट्रीय परम्पराओं के मुखौटों का खोखलापन और अपेक्षाकृत लोक स्मृति एवं लोक-कथा की मौखिक अजस्रधारा को भी इतिहास की अधिकारी शासकों के औपचारिक विवरणों के समानान्तर चुनौती के तेवर के साथ समझे जाने की सिफारिश आज के इतिहास की अपनी नई दिशा ढूंढ़ने का प्रतीक समझा जाना चाहिए।

आज का इतिहासकार केवल शासकों के अहं, उनकी कीर्ति, अपकीर्ति, अपने विवरण का मूल विषय नहीं मानता। मार्क्स की इतिहास बोध की अवधारणा का गहरा प्रभाव समकालीन दशाब्दियों में इतिहास के विभिन्न रचना आयामों को देखा जा सकता है। मार्क्स द्वारा उत्पादन प्रक्रिया, उत्पादन संबंधों द्वारा जनित सामूहिक वर्गों में निरन्तर चलने वाले संघर्ष को समाज और संस्कृति के सभी फलकों का मूल कारक ठहराया जाना एक लम्बी बहस की शुरूआत थी, जो अभी भी समाप्त नहीं हुई है कि क्या मानव व्यवहार और संस्कृति आर्थिक वर्ग-संघर्ष के प्रतिफलन पूर्णरूप से पूर्वनिर्धारित भौतिक और आर्थिक तत्वों के आधार कर्णों पर ही इतिहास वृतांत में समाहित किये जाने चाहिए? इस बहस ने कुछ और किया हो न किया हो, समकालीन इतिहास को अपने वृतांत में व्यतीत सत्तशाहों की अन्धी राजनीति की जुगाली से तो निश्चय ही उबारा है।

इस नव-इतिहास बोध ने सम-सामयिक राजनीति के भौगोलिक विन्यासों और समीकरणों द्वारा उत्पन्न देशों, जातियों, राष्ट्रीयताओं में परिभाषित ईकाईयों को अपने वृतांत का सहज बांधने वाला आकार मानने से इन्कार कर दिया है। इन क्षण-भंगुर राजनीति के बुलबुलों को इतिहासकार अपने वृतांत द्वारा चिर-स्थायी सातत्य देने की हिमाकत नहीं करना चाहता। इतिहास के अध्ययन का वास्तविक आधार विषय क्या है? वे सभी उत्तर जैसे प्रचलित चिन्तन में उभरे हैं, पूर्णतया पर्याप्त नहीं लगते। उदाहरणार्थ, क्या इतिहास सत्ता, राज्य, प्रभुता, शासन, जाति, राष्ट्र के विभिन्न काल-खण्डों अथवा संस्कृति और उसके स्वरूप, वर्ग संघर्ष, उत्पादन-साधन और संबंधों उनके सतत बदलते और विकसित होते विन्यासों और प्रारूपों या इनमें जन्मते, संघर्ष करते, महान चरित्रों जैसे जन-नायक उनकी उपलब्धियों, अन्य संतों, विभूतियों, धर्म गुरूओं, युग-पुरूषों के गौरवपूर्ण निर्देशन की चर्चा, व्याख्या क्यों नाकाफ़ी पाई जायेगी? हम देखेंगे कि इतिहास में जहाँ आक्रामक विजेताओं, महान मसीहाओं, सम्राटों, संतों, जन-नायकों और मानव जाति के उद्धारकों की लम्बी भूमिका पहचानी जानी चाहिए, उनको समझी जाना जरूरी है, वही उनकी चारण सरीखी प्रशस्ति करना त्याज्य होना चाहिए। अब इतिहास के स्वरूप पर यह पुनर्विचार स्पष्ट करता है कि सामान्य जन ही इतिहास के वास्तविक निर्माता की भूमिका निभाते हैं। बिल्कुल गुमनाम और अनजाने। वे, जो हर समय धकियाए जाने को मज़बूर पीछे भुलाए गए अनगिनती छुटभय्ये, कारीगर, किसान, श्रमजीवी, कारकून, लिपिक, घरेलू चक्की में पिसती घरवालियाँ भी इतिहासकार की निगाह से अब सामने आने लगीं हैं, इनको अब पूर्णतया भुलाया जाना नामुमकिन हो गया है, यह इतिहासकार को लोकधर्मी तेवर अपनाने को मज़बूर करेंगी। यथार्थ भोगा जन-जीवन, उसकी बदनसीबी अब तिरस्कृत उपेक्षा द्वारा इतिहास वृतांत छोड़ना नहीं चाहता।

प्रायः इतिहासकार अपने वृतांत को रोमांचक नाटकीयता देने का जानबूझकर यत्न करता है। पाठक के कोतूहल और किस्सागोई की भूख को अपनी चर्चा द्वारा पूरा करना चाहता है, उनके मनोरंजन की जुगत और नसीहत की सम्भावना भी तलाश करता है। यह भी हमें देखना है कि क्या इतिहासकार परावर्त्ती युग की व्यास पीठ पर बैठकर व्यतीत मानव अनुभूत यथार्थों पर किसी भी प्रकार नैतिकता के फतवे इन्द्राज करके किसी भी सीमा तक मानवधर्म की कोई सेवा या पैगम्बरी कर सकने में समर्थ है? क्या इतिहासकार वास्तव में जो कुछ हुआ था, उससे अन्यथा कुछ भी अपने वृतांत में जोड़ने के लिए युक्तिशः मुक्त है?

इसके साथ ही साथ यह भी विचारणीय है, कि किसी भी व्यतीत कालखण्ड में जो हुआ होगा (?) क्या उसे कोई भी परावर्ती इतिहासकार का वृतांत समेट सकता है? या उसे समेटने में यत्नशील होना चाहिए? इस समस्या को पकड़ भी पाने के लिए हमें मानवीय व्यापारों की

बहु-आयामी सापेक्ष-पूरकता का कुछ जायज़ा लेना ज़रूरी लगता है। किसी भी मानवीय संकल्प, भोगे यथार्थ, सामाजिक घटना, सार्वजनिक तथ्य और उसके औपचारिक निरूपण की विभिन्न परतों को समकालीनों द्वारा भी कहां कभी किस सीमा तक इकसार पाया जाता है? विचारणीय होना चाहिए। इस संदर्भ में प्रथम पुरूषीय वार्त्ता में लिखे गए संस्मरण, स्मृति चित्र, की तुलना यदि उन्हीं कालखण्डों में प्रचलित लोकचर्चाओं, (अख़बार, माध्यम में छपी रिपोर्त्ताज़) अथवा प्रशासकीय व्यवस्था (पुलिस, न्यायालय, जन-गणना के दस्तावेज) द्वारा प्रस्तावित अभिलेखों से की जाये तो उनमें कितना पूर्ण-साम्य मिलेगा? यह छानबीन, परीक्षण, पुनर्परीक्षण साक्ष्य युक्तिशः तर्क-वितर्क इन तीनों स्रोतों के ऊपर कर सकने के बाद भी क्या हमें केवल एक मात्र प्रामाणिक वृतांत अभी आज की मानवीय घटित स्थितियों का मिल पाता है? निस्संदेह नहीं।

इससे केवल मात्र यह स्पष्ट निष्कर्ष निकलता है, कि इतिहास के वार्ताकार का जहाँ यह प्रारम्भ, मध्य और अन्त तक सहज, सतत् दायित्व ही नहीं बल्कि एक मात्र लक्ष्य और सफल आदर्श है कि वह वस्तुनिष्ठ वृतांत में **जो तथ्यशः हुआ था** को निरूपित करें, वहीं यह भी दो टूक यथार्थ है, कि इस आदर्श का यान्त्रिक चरितार्थ सम्भव ही नहीं है। क्योंकि प्रथम पुरूषीय अनुभूति तथा उसकी निजी परावर्ती स्मृति जो संस्मरणों में प्रस्तुत होती है, में भारी अन्तर होता है, इनमें कितना सच है, और कितना हमारी आत्म विस्मृतियों, अतिसंरचनाओं कपोल कल्पित आरोपणों, रति, इर्ष्या, विद्वेषों, स्पर्धा, छद्म लिप्सा, छिपी चिपकी, यगी, घुली, रसी होती है पहचाना जाने लगा है। मनोविश्लेषण ने आज स्पष्ट कर दिया है कि कायाधर्मी मानव के लिए पूर्ण रूप से तटस्थ आत्म जीवनी और आप बीती लिख पाना दुस्साध्य है। हमारे मनो मालिन्य, झूठी आत्मरति, आत्म प्रतिभा की आरती का सम्मोहन सत्यान्वेषण का सदा पीछे ढ़केले जाने को हमारी कमज़ोरी बनाता है। बिरले आत्म साक्षात्कार के क्षण ही हमें स्वयं निजी के झूठे ओढे नकाबों और स्वप्नवत् लोरियों से हमारे अहं को यदा-कदा ही मुक्त कर पाते हैं। सामान्यतया, झूठ का मुखौटा हम सभी आकर्षक पाते हैं।

इसीलिए इतिहास जहाँ मानव की मानवीय कमज़ोरियों का कच्चा चिट्ठा लिखता है, स्वयं इतिहासकार की अपनी कितनी अंधी भटकनों और संकीर्ण राग-द्वेषों में रची पगी उसके वृतांत की खींचतान की अभिव्यक्ति संवेदनशील पाठक को सदैव होती है। यह एक लम्बी खोज, इतिहास उसे शोध के औजारों की जांच और अनेकों प्रयोगों का परिचय और उनके दुरूपयोगों के जायजे स्पष्ट करते हैं। प्रायः निराशा और कटुता की भंगिमा की उपेक्षा करते हुये यह निम्न उक्ति एक सत्य का अनावरण करती पहचानी जानी चाहिएः कि सम्भवतया स्वयं परमात्मा भी मानव जीवन प्रवाह को बदल नहीं सकता, जिसे इतिहासकार अपनी गलत बयानी परावर्ती पीढ़ियों के लिए बदलने में सक्षम है। वृतांत की

काँट-छांट, सम्पादन, अति-रंजना, कतर-बौंत, उपेक्षा, चुप्पी, जोड़-बाकी, संक्षेपण और अति-विशदीकरण इतिहास के वृतांत में भी आते ही हैं, उतने ही जितने कि एक अकेले व्यक्ति के आत्मचरित लिखने में वस्तुतः आपबीती से पृथक पाए जाते हैं। इस दृष्टि से परिवार की वंशावली के चारण हों, या मिथक, लोक कथाकार, किवंदतियों के जनक गुमनाम रचनाकार अथवा किसी कालखण्ड के तटस्थ इतिहासकार यह चयन धर्मी-प्रयोग सभी में उपस्थित दिखेंगे।

फिर भी इतिहासकार यह बात अच्छी तरह जानता है कि जब व्यतीत की धूल पर समय की लम्बी रात गुजर चुकी हो, वह, उन बहुत पहले गढ़े हुए मुर्दों को पुनर्जीवित नही कर सकता, और न अपनी कालम की नोक से लिखी निन्दा को अपने वृतांत में जोड़कर उन अतीत के कसूरवारों को न कोई प्रताड़ना देकर दण्डित कर सकता है, न मिटा सकता है, और न किसी तरह अनुमोदन, प्रशंसा स्तुति, पूजा द्वारा पुरस्कृत अथवा सम्मानित कर पाता है। जो कुछ भी अतीत अपने आप में था, वह अपने युगीन यथार्थ की सारी तेजस्विता खाक और कालस, अच्छाई बुराई के साथ-साथ कभी न लौट सकने वाले 'कल' में स्वयं इतिहासकार के 'आज' के बहुत पहले समा चुका है। उसे तिरस्कृत करने, नैवेद्य चढ़ाने, या उसे अपने सम-सामयिक भावोन्मादों का विषय समझना बौद्धिक स्तर पर उस निम्नतम बौद्धिक तटस्थता और भावात्मक संजीदगी का अभाव प्रदर्शन है, जिसके अनुपस्थित रहने पर व्यक्ति न सुहृद, सहज सामाजिक रसिक, न्यायाधीश, नीतिकार, वैज्ञानिक, कला-पारखी या समीक्षक कुछ भी नहीं बन सकता। मैं ऐसा नहीं मानता, यह सच है, कि इन सभी विशिष्ट भूमिकाओं पर खरा उतरने के बाद ही इतिहासकार इन अग्निपरीक्षाओं से गुज़र कर अपनी व्यासपीठ पर बैठने का अधिकारी होता है। इतिहासकार मेरे मतानुसार इसके विपरीत, साधारण व्यक्ति के समानही अपने सम-सामयिक राग-द्वेषों, मनायोगों, मानसिक ग्रंथियों और पूर्वाग्रहों के बीच उच्छवासित होता है, और ऐसा जीवन जीते-जीते अपने स्ववरित इतिहास गढ़ने के दायित्व का भी निर्वाह करता हे। सम्भवतया, इसीलिए केवल वे इतिहास रचनाएँ रोचक सम्प्रेषण अपने पाठक को देने में प्रायः सफल होती हैं, जो केवल जड़ जैविक, निष्प्राण गतियों, क्रियाओं प्रतिक्रियाओं का मात्र वृतांत बन कर न रह जायें। कथा लालित्य भी इस वृत्तांत का एक लाक्षणिक गुण है।

मानवोचित पात्रों की मूर्त्त संकल्पनाएँ, उल्लसित भाव, आत्मानुभूत पीड़ा का पुट, उनकी उद्विग्नताओं और आशंका के खारे आंसू की अद्वितीय अभिव्यक्त नाटकीयता कायिक रूपायण एवं विश्वसनीयता पाठक को आकर्षित करती है। इतिहास वृत्तांत में यह मानवोचित भाव-जगत सतत् प्रतिलक्षित करना इतिहासकार का दायित्त्व है।

नीचे हमारी चर्चा इतिहास के कलेवर की स्पष्ट व्याख्या देने में संलग्न होगी। इन विविध प्रश्नों का विश्लेषण करने का हमें पर्याप्त अवसर।

मिलेगा। इनमें स्थित निहितार्थों को भी यथा सम्भव निखारने की कोशिश ज़रूरी पाई जायेगी। हमारा इतिहास की वार्ता का रेखांकन जहाँ एक ओर तथ्यमूलक सूचना धर्मी विज्ञान से जुड़ा पाया जायेगा, वहीं उसके मानवीय गुणों वाले चेहरे को उसकी संरचनाओं में साहित्य और नाटक का भी समावेश स्पष्ट करेगा। इसी रस्सा कसी के बीच गुजरते-गुजरते इतिहासकार और उसकी वार्त्ता नीति, आदर्श मानवीय मूल्यान्वेषण से भी अपने बहु-पटलीय रिश्ते कैसे जोड़ते हैं, हम जानेंगे। आगे पढ़ें।

3.2 इतिहास क्या है?

सर्वप्रथम, एक संक्षिप्त स्पष्टीकरण 'इतिहास' पद को लेकर ज़रूरी है। साधारणतया यह पद परावर्ती लेखक द्वारा अपने अध्ययन के मूर्त्त आधारों पर किसी काल खण्ड में घटित मानवीय व्यवहार के **पुनर्निर्मित-वृत्तांत** अथवा **आख्यान** को इंगित करने के लिए प्रयोग किया जाता है। तदनुसार स्वयं अतीत में घटित **घटनाक्रम** को इस पद से **अभिव्यक्त** अवधारणा के साथ घपलाना नहीं चाहिए। किन्तु प्रायः इस 'इतिहास' पद के प्रयोगों में जरूरी सावधानी न बरते जाने के फलस्वरूप कई अविचारित अनर्थ सामने आते हैं। जैसे, इतिहासकार स्वयं अपने वृत्तांत में चर्चित तथ्यों, घटनाओं, और प्रक्रियाओं के सम्मिलित समूह को 'इतिहास की दिशा' या 'इतिहास के मूल चालकों' अथवा ऐतिहासिक प्रगति, ह्रास, विघटन, आदि प्रत्ययों का अनचीन्हा प्रयोग करता पाया जाता है। इनसे यदि बचा जाए तो 'इतिहास' की सही अवधारणा की सही अभिव्यक्ति मिल सकेगी।

इतिहास की रचना अतीत के कालगर्त में विलीन होने के बाद ही अनिवार्यतया की जाती है। सम-सामयिक मानवीय-व्यापारों, क्रियाओं, सामाजिक संगठन और उसके परिवर्तनों की चर्चा इतिहास नहीं मानी जाती। यह निर्विवाद है। किन्तु ऐसा क्यों होता है? अथवा क्यों समकालीन लेखक अपने समकालीन पात्रों की चर्चा, व्याख्या, विश्लेषण करने से कतराते हैं? संभवतया इसका मूल कारण अपने लेखन को समकालीन राग-द्वेषों, कलह, पक्षधरता और समकालीन समाज के न्यस्त स्वार्थों द्वारा जनित पूर्वाग्रहों और संवेदनशीलताओं से अछूता रखने की इतिहासकार की कामना होती होगी। साथ ही इन क्रिया और प्रतिक्रियाओं से भयभीत इतिहासकार अपनी स्वायत्तता पर आंच आने का खतरा भी मोल नहीं लेना चाहता। इस दृष्टि से सभी पत्रकार भी सम-सामयिकों पर अपने उद्‌गार निश्चित संयम और सावधानी से ही व्यक्त करते हैं। किन्तु इसके विपरीत दृष्टिकोण से इतिहासकार को समकालीन तथ्यों की परिभाषतया अधिक जानकारी, सुगम, सुलभ और विश्वसनीय विस्तार तक उपलब्ध होगी, और इस विपुल साक्ष्य-सामग्री को अपने विषय की सम्भवतया अधिक सुचारू, और प्रामाणिक व्याख्या इतिहासकार की निष्पक्ष एवं अधिकारी लेखनी देगी। तो फिर भी क्यों इतिहास लेखक प्रायः समकालीन

घटनाओं, आंदोलनों और तत्कालीन प्रक्रियाओं से अपने वृतांत को इतना अछूता रखना चाहता है?

इसका एक सम्भव कारण यह हो सकता है, कि मानवीय और सामूहिक जीवन की क्रियाएँ-प्रतिक्रियाएं प्रायः किसी भी सीमित अवधि में अधूरी और अन्तराल मात्र अपूर्ण बन जाती है, उनका पूर्ण अवमूर्त्तन किसी एक समकालीन पीढ़ी तक ही सीमित नहीं होता, वृतांत की समग्रता और उसकी विश्वसनीयता को पाने के लिए उक्त घटनाक्रम के सभी सम्भव प्रभावों के सहजन प्रगटन के पहले उनके अध्ययन में पहल किसी इतिहासकार के मन्तव्यों के सफल करने के स्थान पर उसे केवल पत्रकार, किस्सागो या राजनीति से ओत-प्रोत होने की आलोचना से भयभीत करेगा।

इस युक्ति को ध्यान में रखते हुए दो बातें ध्यान में रखनी चाहिए। पहली कि इतिहासकार अपनी चर्चित कालखण्ड की लक्ष्मण-रेखा किसी पूर्वनिर्धारित परिभाषा द्वारा स्थिर नहीं कर सकता। इसके कालखण्ड के निर्धारण तदर्थ प्रक्रियाओं, अवधियों, साक्ष्यों और उन प्रक्रियाओं के समस्त प्रभावों के सर्वेक्षण ही बना पायेंगे। यही बात इतिहास के क्षेत्र ओर देश के निर्धारण पर भी लागू है। इतिहासकार अपने विशेष विषय के अध्ययन के लिए अपनी स्पष्ट इकाई का मुक्त स्थापन ज़रूरी पायेगा। उदाहरणार्थ, यदि हम कृषि के विकास का किसी युग में अध्ययन कर रहे हैं, तो वह विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं अथवा जाति विशेष के प्रभाव प्रसार क्षेत्र से पहले से ही न तो बंधी होती है, न बांधी जानी चाहिए। यह ज़रूरी नहीं है, कि जो भी देशीय सीमाएँ हम उपर्युक्त प्रक्रिया के लिए निर्धारित करें वह ही किसी दूसरी मानवीय प्रक्रिया जैसे 'धर्म' या 'कला' के वृतांत या चित्रण के लिए भी समीचीन पाई जाये। इतिहासकार अपने हर वृतांत को केवल मात्र राजनीतिक वार्त्ता और उसके वृतांत का अनुदास नहीं बना सकता। यह भी एक दूसरा विचारणीय मुद्दा है कि क्या राज्य, राष्ट्र, क्षेत्र, प्रदेश के अपने समकालीन युग के विभाजकों से बाधंकार ही इतिहासकार अपनी परिवर्तनशील इकाई को खूंटे से बांधकर अपना वृतांत विकसित करें?

यह तो सहज स्पष्ट ही पहचाना जा सकता है कि स्वयं राजनीति का इतिहास भी सम-सामयिक भारत में नेपाल, बांगलादेश, अफगानिस्तान, मन्त्रमार, श्रीलंका, या पाकिस्तान, तिब्बत, भूटान में विभाजित करके सफलता से नहीं लिखा जा सकता। सम्पूर्ण दक्षिण-पूर्व एशिया में पिछले सौ वर्षों में कई राजनीतिक रद्दोबदल के बावजूद, आज के स्वयंभू प्रभुसत्ताशील राज्यों के अवतरण के बाद भी, इस क्षेत्र में यूरोप और मध्य-एशिया के सार्थक हस्तक्षेप (आक्रमण, वाणिज्य, उपनिवेशवाद) की भूमिका सदा प्रमुख स्थान रखेगी। इस वृत्तांत में इन सुदूर प्रदेशों का अध्ययन भारतीय इतिहास वार्त्ता का भाग होगा।

3.2.1 इतिहास के स्रोत और साधन

इस चर्चा के लिए इतिहास के स्रोतों, साधनों और औज़ारों की परिभाषा या पहचान मुफ़ीद पाई जायेगी। यह हम एक पूर्व-माण्यता ठहरा कर चर्चा कर रहे हैं कि इतिहास का वृत्तांत कभी भी व्यतीत युग पूरी पुनर्रचना न कर सकने में दिलचस्पी रखता है, और न ऐसा करना सम्भव है। इतिहासकार प्रकृति अथवा यांत्रिकी के परिवर्तनों तक की भूमिका उन परिवर्तनों के मानवीय संकल्प और व्यवहार समाज उसकी विधि, चिन्तन और संस्कृति विभिन्न फलकीय संरचनाओं की निर्मिति को समझने के लिए करता है। ऐसे संश्लिष्ट अन्तर व्यापारों का स्पष्टीकरण इतिहास के औतुस्कय की सीमा है। उन सभी तथ्यों की जानकारी एवं अधिकारी संकलन प्राप्त करना जिनसे बाह्य वस्तुगत, भौतिक वस्तुओं, शिल्प उत्पादित सामग्री, (सिक्के, कलाकृतियों, औजार या इनको बनाने ढ़ालने वाले विन्यास) नागर प्रासाद, अवशेष 'साक्ष्यों' के मूर्त्त स्वरूप इतिहासकार के लिए प्रारम्भिक स्रोत है। पुरातत्व की रिपोर्त्ताज़, कालगणना के विभिन्न तकनीकी आंकड़े इतिहास वृत्तांत के स्रोत और उक्त वृत्तांत का सुनिश्चित चौखटा इतिहास को देते हैं। स्वयं व्यतीत युग की सामाजिक संरचनाओं द्वारा कितने ही अति सम्पादित और स्फुट अभिलेख इतिहास के स्रोत बनते हैं। यह कई वर्गों के पहचाने जाने चाहिएः (1) प्रशासकीय आदेश, राजनीतिक उद्घोष, सरकारी दफ्तरों में एकत्रित सूचनाएँ, इन्दराज़, अभिलेख, सन्धिपत्र आदि। (2) शिलालेख, सरकारी सनदें, विभिन्न राजकीय प्रशासनों को संचालित करने के लिए स्थायी नियमावलियाँ एवं उन नियमों को क्रियान्वयन में उतारने वाले प्रशासनिक निर्णयों और आदेशों के विभिन्न अभिलेख (3) व्यक्ति, परिवार एवं संस्थाओं की निजी सनदें, राजाज्ञाएं, संस्मरण, सम्पदा और वाणिज्य के ब्यौरे, आदि।

स्पष्ट ही, इतिहासकार की अपनी वृतांत रचना प्रक्रिया पुरातत्व विद्या द्वारा मूल प्रस्तावित मूल चौखटे (प्रदेश और काल निर्धारण) पर अपना कथानक गढ़ने के लिए उपर्युक्त प्रशासकीय, औपचारिक एवं गैर प्रशासकीय स्रोतों से सम्पूर्ण उलब्ध सामग्री का संकलन, सम्पादन (चयन और पुनर्गठन) विवेचन द्वारा सतत् सुलभ एकीकरण करने से प्रारम्भ होती है। इस कच्चे कथानक को शनैः शनैः एक लम्बी शोध यात्रा से गुज़रना होता है, इसमें अनेकों संशोधन, परिवर्धन और विशदीकरण अनिवार्यतया आते हैं। यह सारी प्रक्रिया सतत् चलती है, अभिनूतन साक्ष्यों और खोजों के द्वारा इसे बदलने में इतिहासकार कोई अनावश्यक हठ नहीं दिखलाता। इस स्तर पर उसका दृष्टिकोण वैज्ञानिक अन्वेषक का समानधर्मी ही होना चाहिए, जो अपने सभी मतों को केवल साक्ष्यों को सर्वाधिक सुपटु एवं समन्वय दे सकने वाले सिद्धान्त के पक्ष में अपनी सभी स्थित पूर्व संज्ञान की संरचना को छोड़ देने में किसी भी प्रकार

का मोह अथवा क्लेश अनुभव नहीं करता। इस प्रकार इतिहास वत्तांत भी सतत् शोध, नवखोज, चर्चा, समीक्षा और साक्ष्यों की सतत् संशोधित वृत्तांत से तुलना से युक्तिसंगतता की ओर आमुख होता है। इन दावों और प्रतिदावों का इतिहास के वृतांत में सदा स्वागत होना चाहिए, यौक्तिक प्रयोग और साक्ष्यों के सुचारू प्रयोग किसी भी मतांधता का खण्डन आसानी से कर सकते हैं। यह इतिहासकार की सतत् तलाश है कि छिपे मुंदे युगों के उत्तरोत्तर नए साक्ष्य खोजे जाएँ और इस प्रकार श्रम-साध्य अनुसंधान कर्त्ताओं द्वारा एकत्रित नव-साक्ष्यों की पूर्ववर्ती कथानक के स्वरूप का सत्यापन, पुनर्पुष्टि अथवा संशोधन, परिवर्धन वस्तुनिष्ठ व्याख्या और इन 'नव साक्ष्यों' के निहितार्थों के संतुलित विश्लेषण द्वारा तटस्थ वृत्ति से किया जाए। यहाँ किसी भी इतिहासकार को अपने निजी दृष्टिकोण अथवा प्रश्रय को इस प्रारम्भिक तथ्य आधार पर खड़े होने के फलस्वरूप इतिहास वृत्तांत में रूचि सापेक्ष बनाने की कोई भी अनुमति नहीं दी जा सकती। यहाँ अति अनुशासित और वस्तुनिष्ठ उपादानों की सर्वोच्चता इतिहासकार की विधि और समाजविज्ञान की विधि में समानधर्मी होती है, निस्संदेह।

इस चर्चा को आगे बढ़ाते हुए जहाँ यह बात ज़ोर देकर फिर कही जा रही है कि इतिहासकार अपनी तथ्यगत सामग्री के एकत्रण, विवेचन और व्याख्या में कई स्तरों पर विभिन्न विज्ञानों की सुविधाओं, साधनों और सार्वभौम संरचनाओं, तकनीकों को उपयोगी पाता है, (जैसे रेडियो कार्बन काल गणना, सांख्यकीय आंकलन, आनुवंशकीय नियम, वंशावली वृक्ष-शास्त्र, इतिहासकार के साक्ष्यों की समीक्षा और निहितार्थों का स्पष्ट अवलोकन देने में प्रयोग किए जाते हैं) सतत् उनके प्रयोगों द्वारा अपनी खोज़ को अधिक प्रामाणिक बनाने को उत्सुक रहता हैं। वह अपने वृतांत को सामान्य विज्ञान की मूल प्रवृत्ति सामान्यवर्गीकृत कारकों, चरों ओर उनको अनुबंधित करने योग्य संकल्पनाओं की रचना से सदा दूर रखता है, और उसे ऐसे पुष्टिकरणों और खण्डनों की प्रायोगिक विधि पर कार्य करना असम्भव है।

इतिहास वृत्तांत सदा ही एक विशेष युग, चरित्र, संकल्प, घटना के अति वैशिष्ट्य मूलक व्यवहार अथवा संरचना सज्य और संस्कृति की विशिष्ट स्थिति का सम्भवतया सर्वथा मौलिक और पूर्ण ज्ञान प्राप्त कराना अपना लक्ष्य मानता है, वह केवल मात्र उनमें उपस्थित नियम सामान्य सत्यों अथवा आदर्श की अभिव्यक्ति से कहीं अधिक मूर्त्तता प्राप्त कराने का लक्ष्य साधता है। इसके अलावा दूसरी बात इतिहासकार चूंकि मानव संकल्प की स्वायत्ता की पूर्व मान्यता को स्वीकार करता है, और अपने विषय को इस स्वायत्त संकल्प द्वारा जनित कार्यों तक ही सीमित रखता है, इतिहासकार के बौद्धिक विश्लेषण किन्हीं पूर्वाभासों (जैसेः प्रायः प्राकृतिक और जैविक विज्ञानों द्वारा हमें बाह्य जगत के संबंध में सहज उपलब्ध होते हैं) को कभी उपलब्ध नहीं कराता, न कराना चाहता है। तीसरा

इतिहास का वृत्तांत नियामक कारकों के आधार पर किसी भी प्रायोगिक विधि को अपने अध्ययन में समाहित नहीं करना चाहता। इन तीन युक्तियों के स्वरूप को समझ सकने से इतिहास के साधनों की विशेष वृत्ति का स्पष्ट निरुपण प्राप्त होगा, ऐसा यहाँ ज़ोर देकर कहा जा रहा है। यह स्पष्ट ही है कि इतिहास, समाज विज्ञान की अपरिपक्व प्रारम्भिक अवस्था न होकर कल्पना-धर्मी आख्यानात्मक संरचना है।

इतिहास का वृत्तांत हमने ऊपर स्पष्ट किया है, कि केवल वर्णहीन खाका या ढ़ांचा नहीं है, चाहे वह कितना ही व्यावहारिक प्रयोजनों के लिए उपयोगी क्यों न हो। कोई एक्सरे के चित्रों या ब्लू प्रिंटों का कला दीर्घा में अभी टांगने की सिफारिश नहीं करता। वहाँ व्यक्ति के चित्र या दृश्य चाहे किसी भी अमूर्त्त शैली में बनाए गये हों ही स्वागत पा सकते हैं। इसी प्रकार इतिहास वृत्तांत में सामान्य सार्वजनिक अवधारणाएँ केवल पूर्व सुनिश्चित विषय को अभिव्यक्त करने में साधन बनने के लिए ही प्रयोग की जा सकती है, स्वयं उन मूल चरित्रों, संकल्पों, घटनाओं और निर्णयों को अपदस्थ करने के लिए इनका आश्रय लेना इतिहास वृत्तांत के स्वरूप से विश्वासघात ही माना जायेगा।

यहाँ साधनों की चर्चा करते हुए हमें दो संक्षिप्त कथन लोक गाथाओं, जनश्रुति, किवंदतियों और मौखिक सामूहिक स्मृति की लोक प्रचलित परम्पराओं का इतिहास में वैध समावेश के बारे में करना जरूरी लगता है। साधारणतया इतिहासकार अपने साधन परीक्षणों को यूरोपीय इतिहास के रूढ़िबद्ध पैमानों तक सीमित रखने के फलस्वरूप ऐशियाई मौखिक परम्पराओं का कोई सुपटु प्रयोग इतिहास वृतांत को मानवीय अनुभूतियों के निकट लाने में अभी तक नहीं कर सके हैं। प्रायः यह शिकायत पाश्चात्य इतिहासकारों और उनकी वार्त्ता के प्रारूप के आधार पर पौर्वात्य विशेषतया भारतीय मनीषा के अनैतिहासिक स्वर और मिथकों में गढ़े जाने की जाती है, क्योंकि हमारी सांस्कृतिक परम्परा में वस्तुनिष्ठ घटनाक्रम, तिथि, ब्यौरेवार दो टूक अभिलेखों को क्रमबद्ध रूप में नहीं रखे गये, प्रायः मिथक, गाथा किवंदति और लोक स्मृति इन्हें आपस में घुलामिलाकर अपने चैतन्य में सर्वकालिक अहसास का सामाजिक यथार्थ तक बना डालती है। यही कारण है कि रामायण और महाभारत इतिहास की पोथी न होकर सामूहिक भारतीय चित्त की धरोहर तक बनते जा रहे हैं। एक दूसरी संक्षिप्त टिप्पणी इसी बात पर सामान्य इतिहास वार्त्ता के स्वरूप का विश्लेषण करते हुएजरूरी लगती है, कि जिस इतिहास वृत्तांत की चर्चा हम वांछनीय मानते हैं, क्या वह कर्त्ता, भोक्ता के परिप्रेक्ष्य से पूरी तरह काटी जाकर केवल शुद्ध तृतीय पुरूषीय वार्त्ता जिसे तथ्यात्मक रिपोर्ताज़ की निर्वैयक्तिक दृष्टि कही जाए में सर्वथा सफल होगी? यह वृत्ति मनोचिकित्सक की अपनी रोगी के उपचार में या, न्यायालय में किसी अभियोग में उठाए गए मुद्दों का छान-बीन, बहस और आदेशों के लिए सम्भवतया स्वाभाविक एवं सहज ही उचित हो

सकती है, किन्तु इतिहास वृतांत इस प्रकार दृश्य और बाह्य विवरण से अपने अतीत के सार्थक संवाद के लक्ष्य तक पहुंच पाने में बहुत पीछे छूट जायेगा। नीचे हम कुछ गहराई तक जाकर इतिहास की वार्ता और इतिहास में कर्त्ता के संवाद के स्वरूप को सही तरीके से समझने का प्रयास करेंगे।

3.2.2 इतिहास वार्त्ता में व्यक्तित्व का सवाल

इतिहास वार्त्ता की इस चर्चा को सुनिश्चित करने के लिए यह अत्यंत जरूरी है कि इसके मानक स्वरूप के निरूपण में मानव कर्त्ता, दृष्टा भोक्ता के त्रिपाक्षिक स्वरूप को पूर्ण पूरकता से अपनाएं और इतिहासकर्मी को सतही रिपोर्ताज की खानापूरी को इतिहास का पर्याप न ठहरा देने की त्रुटि करें। इतिहासकार परावर्ती युग की न्यायपीठ पर अधिष्ठित न्यायपति, धर्माचार्य, शासक अथवा जननायक नहीं होता, जो अपने सम्मुख प्रस्तुत विषय से संबंधित पात्रों को किन्ही अपनी सहज पूर्व-उपलब्ध मूल्य दृष्टियों से तौले और आंके। न वह उन पात्रों की व्यतीत जीवन धारा को अपनी कल्पना संसार में दुबारा जीने का यत्न कर सकता है, नहीं कोई विशेष परामर्श किसी वांछित दिशाबोध द्वारा कुछ अधिक अर्थपूर्ण और सफल जीवन जीने के लिए कोई व्यावहारिक मार्ग-दर्शन कर सकता है। इतिहासकार का वार्तालाप यदि किसी ऐतिहासिक पात्र के साथ होता भी है तो वह मात्र परोक्ष और तृतीय पुरुष की वार्ता में ही चिन्त्य है। वैसा संवाद जिसे हम अपने समकालीनों के साथ करते हैं, इतिहासकार अपने पात्रों के साथ करने की किसी भी स्थिति में नहीं होता। किन्तु इतिहासकार अपने पात्रों के साथ करने की किसी भी स्थित में नहीं होता। किन्तु इतिहासकार समय की दूरी युगीन अन्तरालों की विभाजन सीमाओं के रहते हुए भी तृतीय पुरुषीय वस्तुनिष्ठ तेवर की श्रेष्ठता को मानकर सावधान शब्दावली के ही प्रयोग करने की सिफरिश करेगा। किन्तु उसका विश्लेषण निष्प्राण तत्त्वों, स्थितियों, प्रक्रियाओं और संवेदन शून्य आरोपणों, संस्थागत व्यवस्थाओं और अनगिनती नियमावलियों और उनके द्वारा सिद्ध निर्देशों और उनके पालन दृष्टांतों के विराट जमघटों मात्र को संकलित कर देने को मात्र इतिहास वृत्तांत का कच्चा माल बनाने लायक घटनाचक्र, रोज़नामचा, ही मानेगा। इतिहास वृत्तांत को ऐसी संवेदन शून्य तटस्थ घटनाक्रम की फेहरिश्तों से सदा अलग करना ज़रूरी है। इतिहास चाहे वह किसी विशेष **व्यक्ति** का हो, **कार्य** का हो, **अनुभव** की व्याख्या या किसी **परिस्थिति** का विश्लेषण, किसी सम्पूर्ण युगबोध की चर्चा इसकी भौतिक विशिष्ट वैयक्तिकता को हमें ध्यान से अनावरण करना पड़ेगा। यह विशिष्ट इकाई किसी अमूर्त चर, शक्ति, प्रवृति, अथवा विस्थापित निर्वैयक्तिक 'भावनाओं' अथवा 'दृष्टिकोणों' द्वारा परिभाषित नहीं की जा सकती। न की

जानी चाहिए। 'दृष्टि', 'भावनाएं', 'विचारधाराएं' सदैव ऐतिहासिक मूर्त्त व्यक्तियों के गुण हैं, जिन्हें किसी भी प्रकार वायवी एवं आधारच्युत अमूर्तताओं द्वारा अपदस्थ करने का प्रयास करना। इतिहास वृत्तांतविधि के साथ नाज़ायज़ छेड़खानी भर होगी। इतिहास वृत्तांत प्रारम्भ, मध्य और अन्त तक केवल मात्र विशिष्ट व्यक्ति को ही पुरस्कृत करता है। सारी विचारधाराएं संस्थाएं, भावनाएं, लक्ष्य, प्रतिक्रियाएं, मन्तव्य, दायित्व, भी प्रायः व्यक्ति का प्रतिबिम्ब मात्र है, या अनुगूंज द्वारा सुनिश्चित होती है, और स्वयं व्यक्तित्व की अस्मिता इन दुहरी तिहरी अनगुंजों द्वारा ही गढ़ी जाती है, जो भी हो इतिहास वृत्तांत इस विस्तृत अर्थ में 'व्यक्तित्व' का विश्वसनीय एवं विशिष्टतम रेखाकंन है।

3.2.3इतिहास और नियतिवाद :

उपर्युक्त विश्लेषण में दो टूक व्यक्तित्व की सिफारिश यह सम्भव निहितार्थ प्रस्तुत कर सकती है, कि इतिहास के वृत्तांत में 'विचार धारा', 'जीवन दृष्टि', और 'आर्थिक व्यवस्था' या 'सामाजिक संस्थागत संगठन' तथा उनमें उपस्थित प्रवृतियाँ शक्तियाँ या आदर्श एवं लक्ष्यों की दिशाओं को अध्ययन या विश्लेषण करना इतिहास का प्राथमिक दायित्व नहीं है, चूंकि इतिहास विशिष्टताओं और सम्भवतया मानव के अराजक कृतित्व को केन्द्र करके गढ़ा जाता है, जिसमें निम्न अमूर्त्तकारकों जैसे **वर्ग-संघर्ष, उत्पादन शक्तियां और संबंध, सामूहिक चेतना** और राष्ट्रवाद इत्यादि केवल अमूर्त्त व्यवस्थाओं के आरोपणों और व्याख्या द्वारा वार्ता में जोड़े जाते हैं, वे केवल मूर्त्त सदस्यों को युक्तिसंगत तन्त्र में ढालने के बौद्धिक सोपान या योजनाएं ही ठहराई /जानी चाहिए। किन्तु इस प्रकार की आरोपित अवधारणाओं (चर, शक्ति, प्रवृत्ति) को इतिहास के मूलवृत्तांत का प्राथमिक विषय समझना एक यौक्तिक विसंगति होगी, और आपत्तिजनक अमूर्तिकरण भी। यहां इस प्रश्न की कुछ विस्तार से परीक्षा वांछनीय है। पहली बात यह है, कि 'शक्ति' और 'विशिष्ट' को समानार्थक नहीं माना जा सकता। सभी विशिष्ट घटनाक्रमों और मानव व्यवहार में एक विलक्षणता सतत् विद्यमान होती है, जो उसे किसी भी सामान्य सतहे सामान्यीकरणों में पचाए जाने का पूरी तरह अवरोध करती है, इतिहास वृत्तांत इस विशिष्ट तत्व का संवेदनशील निरूपण भी करना जरूरी मानता है, जितना उक्त विशिष्ट चरितार्थन में भी सामान्य अवधारणाओं का प्रतिपादन। यह विचारणीय है कि इतिहास का वृत्तांत मानव व्यवहार के रूपायन और अवमूर्तन के स्वरूप का वस्तुनिष्ठ क्रम अनावृत करने में तत्पर होता है, इस दायित्व के चरितार्थन में भी हमें सामान्य अवधारणाओं की सार्वजनिकता का सहारा लेना पड़ता है, किन्तु इस चरितार्थन को पूर्वविचरित सामान्य नियम का दृष्टांत हम कभी भी नहीं ठहराना चाहेंगे।

इतिहास व्याख्या मानव अस्तित्व को मूलतया नियतिवाद से ऊपर समझती है, प्रत्येक मानव सहज रूप से अपनी संकल्प शक्ति में मुक्त और अबाधित पाया जाता है, यह इतिहासकार का स्पष्ट मानव व्यवहार के प्रति दृष्टिकोण होता है। जिसके विपरीत प्रायः सामाजिक विश्लेषण सतत् सामाजिक वर्गीय गुणों और उनके सार्वभौम समीकरणों की उत्पत्ति में अपनी खोज चलाते हैं, पिछली कुछ पीढ़ीयों द्वारा समाज के अध्ययन को विज्ञान विधि, गणितीय सांख्यिकी और हाल में आकलन के नए संयंत्रों के अत्यंत प्रभावशाली पहलों के साथ आमूलचूल प्रकृति और भौतिक विज्ञानों के समकक्ष ही ठहराया जाने लगा है। यह तथ्य है, कि किसी भी प्रकृति की संरचना की पूर्ण निर्मिति के उपस्थित प्रारूप भी व्यवस्थित एवं विश्वसनीय सफल भविष्योक्ति किसी भी आगामी घटना के बारे में अभी तक पूर्णतया प्रमाणिक स्तर पर कर सकने में काफी पीछे हैं। किन्तु हमारी वैज्ञानिक और प्रौद्योगिक क्षमता के लिए जरूरी मोटे नियंत्रणशील निर्णय इस सूक्ष्म स्तर की विस्तृत क्षमता के अभाव में भी व्यवहारिक जीवन के लिए उपयोगी पाए जाते हैं। यदि इतिहास वृतांत मानव व्यवहार के लिए इस प्रकार के सीमित पूर्वकथन न भी कर पाएं तो भी इतिहास का ज्ञान अवैज्ञानिक नहीं आंका जाना चाहिए। किन्तु इसके अतिरिक्त क्या ऐतिहासिक संज्ञान समाज विज्ञान के मूल प्रारूप से समरूप है? इतिहासकार विशिष्ट ऐकिक की समग्र घटना, तथ्य और संरचना को अपनी विलक्षणता की पूर्णता में किस सीमा तक प्रभावी एवं विश्वसनीय प्रस्तुति दे पाता है, उक्त इतिहासकार को रचना के अवमूल्यन का एक मात्र स्वीकृत मानदण्ड है। यह हमारा निष्कर्ष है कि, इतिहास एक मानवीय पात्रों की सहज कल्पनाशील प्रस्तुति मात्र है, उसे विज्ञान की तटस्थ तृतीय पुरुषीय संकलित नियमशीलताओं और संवेदन शून्य शल्य-क्रिया से सदा पृथक समझा जाना चाहिए। उसे स्वयं अतीत के पात्र की निजता के बोध और अद्वितीय संकल्प विकल्प को भी अपने पाठक तक सम्प्रेषण करने का जटिल दायित्व निभाना जरूरी पाया जाता है। यह मानसिक व्यवहार चित्त की आन्तरिक प्रतीतियाँ भी मूर्त्त बाह्य साक्ष्यों के आधारों पर इतिहासकार प्रस्तुत करने के लिए बाध्य है, उस युग, वर्ग, व्यक्ति की पूरी संचेतना को मूर्त्त करना भी उसकी जिम्मेदारी है। स्पष्ट ही इतिहासकार यह दायित्व केवल साक्ष्यों और इनकी यौक्तिक कतर बातों से पूरा नहीं कर सकता। वह ऐसा करके केवल इतिहास वृत्तांत का अत्यधिक उथला एवं असंतुलित प्रत्यय ही रच सकेगा। अतीत के संकल्प आकांक्षाओं, क्षोभ, उल्लास, क्रियाओं, विभीषिकाओं और बोध जैसी अमूर्त मानवीय मानसिक वैयक्तिक वृतियों को इतिहासकार पुनर्जीवन देकर अपने कथानक में जोड़ने में सतत् दत्तचित्त होगा।

3.2.3.1 इतिहास वृत्तांत और इतिहासकार की परिकल्पनाएं:

हम ऊपर देख चुके हैं, कि इतिहासकार का प्राथमिक दायित्व यथार्थ एवं मूर्त्त स्तर पर अपने सम्बद्ध विषय के विहंगम साक्ष्यों, पाठ्य

सामग्री, सिक्के, भग्नावशेषों की पुरातत्त्व की रपटें, अभिलेख, आलेख, सरकारी दस्तावेज़ नियमावलियों, कलाकृतियों, औज़ारों की वीथियों का जायज़ा और अन्य संस्मरणों को एक जुट करके इस पूर्ण मसविदे का सरलतम, संगत और परस्पर युक्तिशील अभिव्यक्ति गढ़ना माना जाता है। स्वयं इतिहासकार इन मूर्त्त एवं शाब्दिक साक्ष्यों को परस्पर समन्वित करके अपनी प्रस्तुति को नियोजित करता है, इन्हें तालमेल देता है, और ऐसे बोधगम्य कथ्य को जो 'वास्तव में अतीत में घटा था' का दावा करके अपना वृत्तांत अपने सम-सामयिकों के लिए प्रतिपादित कर देता है। इस प्रकार उसकी शैली एक निरीक्षक लेखागार के परीक्षक और तथ्यान्वेषक (भूत के पर्यपेक्षक) से आगे नहीं बढ़ पाती। क्या वह वहीं रूक भी जाती है? एक विशिष्ट जर्मन इतिहासकार (लियोपालु फान राके) इस तथ्यांवषेण विधि के चरम सिरमौर प्रतिनिधि थे। उनके अनुसार किसी भी प्रकार का भावनात्मक लगाव, विषयासक्ति, आक्रोश, वैमनस्य, उहापोह, अनुराग विराग, सम्मोहन इतिहासकार के कार्य को क्षीण ही करेगा। निःसंदेह राके के आदर्श को इतिहास वृत्तांत अलिप्त एवं तटस्थ विवेचन द्वारा कथ्य की रचना करें, यह उसकी पहली जरूरत है, सभी मानेंगे। किन्तु क्या इतना मात्र कर चुकने के बाद (पुरानी साक्ष्यों की उपलब्ध पुनर्रचनाओं का नवीन साक्ष्यों के साथ तालमेल) इतिहासकार का दायित्व पूरा हो जाता है? इस प्रश्न पर चर्चा करना कि 'इतिहास क्या है'? जानने के लिए यह ज़रूरी है कि हम सम-सामयिक इतिहास विदों ने जो उत्तर इन सम्बद्ध प्रश्नों पर पिछली पीढ़ियों में दिए हैं कि क्या 'अतीत में हुआ'? कैसे हुआ? क्यों हुआ? को स्वयं इतिहासकार की सम-सामयिक चेतना-बिन्दु के द्वारा उठाए गए प्रश्नों को पृष्ठभूमि में ही गत जीवन के अवशेषों के साक्ष्यों, पाठ्य-सामग्री की समीक्षा, व्याख्या, पुनर्रचना के बाद प्रतिपादन प्रस्तुत करते हैं। जानें। अपने आप में यह सामग्री मूक निर्वाक होती है। निरी राशि। इसमें प्राण-प्रतिष्ठा स्वयं इतिहासकार की सोच इन्हें कांट, छांट, तोड़-मरोड़, और बहु-आयामी अवगुणनों द्वारा एक योजना और आकार-बद्ध जीवनवृत में अवतरित करती है। यह पुनर्रचना कितनी कल्पनाजन्य है, और कितनी मूल देश-काल में स्थित वास्तविक घटना चक्र का प्रतिबिम्ब, अभी भी विवादास्पद विषय है। यह एक सतत् संवाद है जो इतिहासकार के मनस और अब अनुपस्थित अतीत के कार्यों के बीच चलता है, पहचाना जाना चाहिए। यह निर्विवाद ऐतिहासिक संकल्पना का सार्वभौम स्वरूप है। इतिहास वृत्त के रचयिता की सक्रिय रचनाशील भूमिका को यह तथ्य बलपूर्वक रेखांकित करता है।

इन साक्ष्यों, तथ्यों, घटनाओं, रोज़नामचों के इन्द्राज और उनके विभिन्न चयन, सूचीकरण, पुनर्कथनों को क्या इतिहास वृत्तांत नहीं माना जा सकता? यह इस वृत्तांत का प्रथम चरण मात्र ठहरेगा, इनका

कौशलपूर्ण सम्पादन, समन्वय, वृत्तांत की बुनावट का प्रारम्भ है, समापन या लक्ष्य नहीं, कभी नहीं। विख्यात इतिहासवेत्ता एवं चिन्तक प्रोफेसर कालिंगवुड ने अपनी बहुचर्चित रचना 'इतिहास की अवधारणा' में इस वर्ग के इतिहासकारों को केवल कैंची और गोंद के विशेषज्ञ ठहराकर उनकी भर्त्सना की है। उनके मतानुसार इसके विपरीत सही इतिहास वृत्तांत सशक्त संवाद की शनैः शनैः परिणति है जिसे सम-सामयिक इतिहासकार अपने सम्पूर्ण संयम द्वारा स्वयं की चेतना और बोध में उपलब्ध साक्ष्यों के पुनर्गठन करते करते अनुपस्थित अतीत के मानवकर्मी की आन्तरिक मानसिकता, उद्वग्निता, आकांक्षा, दृष्टि, संकल्प, हर्षोल्लास, अपेक्षाओं, और अन्य भावों का पुनरुद्धार अपने वृत्तांत द्वारा अभिव्यक्त कर सकने में सफल होता है। यह काल के सभी अन्तरालों पर विजयी संवाद संस्कृतियों के परस्पर भेदों, कालखण्डों के विभाजनों, युगीन सापेक्षताओं और विभिन्न परस्पर प्रतिस्पर्धी जूझती आस्थाओं के कोलाहल से जितना सिक्त होगा, उतना ही निर्लिप्त भी।

इस दृष्टि से वह इतिहास वृत्तांत श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता जिसमें इतिहास का बनाने वाला अनुपस्थित कर दिया जाये। केवल मात्र तृतीय पुरुष की वार्ता के अचेतन कारकों अथवा पदार्थ मूलक चरों को ही समाहित किया जाये। बल्कि वह वृतांत जिसमें इतिहास के निर्माता अपनी वांछनीय आत्मानुभुतियों, दावेदारियों, प्रवृत्तियों, आकांक्षाओं और पूर्वाग्रही आस्थाओं का स्पष्ट चेतन आभास रखते हुए भी अनुपस्थित दूसरे आदमी (विषय) की अन्यथा युगीन बोध, मनोवृत्ति, राजनीतिक प्रतिबद्धता, संकल्प विमर्ष और उसकी भीतरी सोच आदि को गढ़ने में आज का इतिहासकार दत्तचित्त होता है, और कभी-कभी इस मार्मिक काल्पनिक संवाद के माध्यम से अतीत की व्यतीत गति को अपने आज के रचित वृत्तांत में पुनर्जीवित करने में सफल होता है। इसी दृष्टि को ऐतिहासिक आदर्शवाद अथवा मनसतत्व निरूपणवाद भी कहा जा सकता है। यह परम्परा इतिहास की सम-सामयिक सापेक्षतावादी दृष्टि है, जिसे विख्यात वेनिदित्तों क्रोचे ने इतिहास पर अपने कालजयीचिन्तन द्वारा निम्न सूत्र द्वारा अभिव्यक्त किया था : "कि सारा इतिहास सम-सामयिक इतिहास होता है"। इतिहासकार यथा-शक्ति अपने निजी आवेगों, रुचियों, ओर भावनाओं पर संयम एवं अंकुश रखने में यत्नशील होगा, गरन्तु फिर भी अपनी प्रतीतियों और जागतिक आरोपित संस्कारों की पूर्वमान्यताओं का अनजाने में अपने अध्ययन विषय पर आरोपण करेगा, इस आरोपण से बंधा होने मात्र के होते हुए भी, इतिहासकार का यह दायित्व है कि जो उसे अपने विभाजित, संपूर्ण खण्डित और बिखरे साक्ष्यों को अपनी कल्पना द्वारा अतीत के पात्रों और उनकी अन्तरंग मानसिकता ऊपर चर्चित काल्पनिक संवाद के सेतू द्वारा बांधे।

इतिहास वृत्तांत इस प्रकार स्वयं के सम-सामयिक बोध द्वारा ही व्यतीत युगों के इतिहास की पुनर्रचना करता है। इन नए वृतातों में

नवीन इतिहासकार के नूतनबोध के फल-स्वरूप प्राचीन युग को सांस्कृतिक एवं सामाजिक घटनाओं में नए मानदण्डों वाली वार्ता के प्रयोग से नए पहलू निखारे जाते हैं। इसका एक समुचित दृष्टांत सम-सामयिक इतिहासकरों में नवीन लोकधर्मी दृष्टि के अपनाने के फल-स्वरूप भारतीय जीवन के ऊषाकाल से ही उसके विकस में अब खेतिहर मज़दूरों, श्रमिकों, शिल्पियों, नारी, शूद्रों और कबीलों की जीवन शैली, वृत्त एवं दाय पर अधिक बल दिये जाने में पाया जा सकता है, तथा-कथित नैतिक आदर्श, सवर्ण बोध, वर्ण-व्यवस्था, कर्मवाद, पुरूषार्थ आदि की सवर्ण मानसिकता पर केन्द्रित व्याख्याओं को मूर्त्त भारतीय समाज और उससे सम्बद्ध वार्ता में निष्फल एवं निरर्थक तक ठहराया जाने लगा है। एक दूसरे ऐसे ही सम-सामयिक बोध द्वारा इतिहास की व्याख्या के लिए निर्धारक परिकल्पना उत्पन्न करने का उदाहरण हम कबीली संवेदना, दृष्टि ओर सामाजिक मूल्यों की भूमिका को एक बार फिर अतीत और समकालीन जगत को समझ सकने योग्य दृष्टि गढ़ने का अपरिहार्य साधन स्वीकृत किए जाने में पाते हैं। इस नवीन दृष्टि का वास्तविक पूर्ण पुनरुज्जीवन पिछली पीढ़ियों पर हावी मार्क्सवादी मूल्य-पर्यप्रेक्ष्य का सम-सामयिक बोध में व्यापक विघटन होने के साथ प्रभावी हुआ है। इतिहास के इंजन को अब केवल उत्पादन-सबंध और शक्तियाँ प्रेरित करती हैं, प्रायः कट्ठमुल्लई की मिसाल माना जाने लगा है। अब धर्म, कला, सामाजिकता और अन्य आधार केवल मात्र मूल उत्पादन संबंधों के प्रतिबिम्ब नहीं ठहराए जा सकते। राष्ट्रीय और सांस्कृतिक सम्वेदना की स्वायत्ता की यह नूतनतम वकालत इतिहास की दृष्टि को सम-सामययिक इतिहासकार की अपनी मनोवृत्तियों का प्रतिबिम्ब दर्शाती है। चिरन्तन सत्य युक्ति हो, पर मानवीय अनुभूति नहीं हो सकती। इतिहासकार के सम्मुख प्रकृति मूलक चिरंतन तथ्य या साक्ष्य नहीं होते। और जो निष्प्राण, अचेतन तत्व अपरिवर्त्तनीय रूप में विद्यमान होते हैं, उनको भी हमारी समीक्षा सतत नए आधारों पर व्याख्यायित करती है। इतिहासकार की निजी संवेदनाएं, अपने युग-सापेक्ष दृष्टिकोण और विचारधारा समूची तटस्थता और वस्तुनिष्ठ साक्ष्यों की सार्वजनीय पुनर्रचना के आदर्श पर टिके रहने के बावजूद अपने इस अतीत के साथ किए गए संवाद और स्वयं निजी सचेत आकांक्षाओं की सावधानी के विरुद्ध अवश्यमेव बैठेगी। ऐसे काल्पनिक संवाद से परहेज इतिहास वृत्तांत को मात्र गणितीय बीजक नाम सूची और प्रदेशों को ख़ाकों और कालगणना की तारीखों में शून्य धर्मी बना डालेगा। यह संवाद प्रारम्भ से अन्त तक इतिहास वृत्तांत की जीवन शक्ति है। यहाँ वृत्तांत की दुविधा है कि एक और इस संवाद से कटकर यह एक लुंज-पुंज अपाहिज कथानक व्यर्थता की अनुभूति देगा, यह फिर स्वयं इतिहासकार की सम-सामयिक संवेदना की अभिव्यक्ति भी वृत्तांत में अनिवार्यतया जुड़ी पाई जायेगी।

यह बात अत्यंत विचारणीय है कि जैसे साहित्य मनीषी स्वर्गीय आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी प्रायः कहते थे कि एक मूक इतिहास की

रचना में प्रायः नाम और तारीखें शायद अतीतवत होती हो, बाकी सब कल्पना ही होती है, जिसके विपरीत एक सफल उपन्यास में नाम तारीख, स्थान प्रायः सही नहीं होते, पर बाकी तो सारा उपन्यासकार और उसके सम-कालीनों का सहज देखा, किया, भोगा सत्य, तथ्य, यथार्थ और केवल यथार्थ होता है।

3.2.4 इतिहासकार के मूल्यांकन और मानव मूल्य :

इतिहास वृत्तांत के स्वरूप की पूर्ण चर्चा में इतिहासकार द्वारा प्रस्तुत मूल्यांकनों की बात करने की जरूरत स्पष्ट ही है। यहां इस मूल्यांकन की बात करने के साथ-साथ स्वयं मूल्यों के स्वरूप और हमारे जीवन में इन मूल्यों की भूमिका को भी स्पष्ट पहचानना आवश्यक किया जायेगा। सर्वप्रथम हम देखेंगे कि मानव व्यवहार के सुचारू निर्देशन के लिए मानव बुद्धि उन सभी कार्यों और निर्णयों का मूल्यांकन शाश्वत अथवा शाश्वत प्रतीत होने वाले सम-सामयिक मानदण्डों के आधार पर मनुष्य के जीवन को सही आदर्श एवं मार्ग-दर्शन देने के लिए करते हैं। समाज, राज्य, विद्यालय, धर्माचार्य, जनमत, न्यायाधीश विशिष्ट एवं अन्योन्य आदर्शों, नियमों, मूल्यों और मानदण्डों को मुक्त एवं निर्विवाद मानकर उनसे सम्बद्ध आचरण के विपरीत या विश्वासों के विरोध की ताड़ना अथवा निन्दा करने की ज़िम्मेदारी निभाते हैं, ताकि समाज, राज्य, मानव समूह इन त्रुटियों के हानिकारक प्रभावों से बचाए जा सकें। ऐसी त्रुटियों के तीन स्तर आसानी से पहचाने जा सकते हैं। एक व्यक्ति जो दैवी शाश्वत मूल्यों की अवहेलना करता है, वह पाप करता है, और उसे देवद्रोह की ताड़ना धर्माधिपति देने की भूमिका निभाते हैं राज्य विधान कालांतर में परिवर्तनशील हैं, और उनके अन्तर्गत बने नियमों का उल्लंघन दण्डनीय अपराध है, जो न्यायालय और प्रशासन विधान और नियमों की रखवाली और उसके सम्मान की रक्षा करने के लिए सभी समाजों में संस्थागत रूप से करते हैं। किन्तु यदि कोई व्यक्ति अमानवोचित व्यवहार करता है, तो उसे विक्षिप्त एवं रूग्ण मानसिकता का शिकार मानकर उसको सामान्य शाश्वत मानवीय प्रकृत स्थिति में लाने के लिए उपचार करना मनोचिकित्सक का दायित्व माना जाता है। ऐसे मनोरोगी के स्वस्थ होने के पहले समाज से उसका बहिष्कार आवश्यक पाया जाता है। समाज की सामान्य मूल्य-रचनाओं, और उनकी सुरक्षा और गरिमा को उसके व्यवहार से अप्रभावित रखने के लिए उसे पृथक निगरानी, प्रहरी और अभिभावकों के नियंत्रण में रखना आवश्यक माना जाता है। इन सभी व्यवस्था के प्रहरियों की सामान्य आस्था है कि ऐसे नियंत्रणों की अनुपस्थिति में समाज, मानव संस्कृति, की नींव ही खतरे में पड़ सकती है। इस प्रकार ऐसे **मूल्य-अभिभावक** (धर्माचार्य, न्यायाधीश, मनोचिकित्सक) क्रमशः दुष्टमना

पापी, समाज विरोधी अपराधी और मनोरोग से पीड़ित, विक्षिप्त व्यक्ति पर मूल्यों के मुस्तैद निर्देशन को लागू करते हैं 'मूल्य', इस प्रकार केवल अमूर्त्त आकांक्षा, आदर्श, और वायवी मानसिक विलास नही है।

उपर्युक्त मूल्यों के स्वरूप को स्पष्ट रूप से जान चुकने के बाद यह ज़ाहिर है कि अतीत के व्यतीत पात्रों को इतिहासकार की स्तुति निन्दा अब न तो कोई अलंकरण और न कोई दण्ड दे सक़ने में समर्थ है। विख्यात रोमन् इतिहासकार पालिब्यूस का वक्तव्य इस संदर्भ में सार्थक पहचानने की जरूरत है, वह कहता है, कि 'इतिहासकार अपनी मृत्योपरान्त निन्दा के भय द्वारा व्यय मानव व्यवहार के अशुभ और अपराधी प्रकारों को कभी भी परिसीमित नहीं कर सकता'।

इस विचार का एक प्रविधि संबंधी स्पष्ट आदेश है कि इतिहासकार नैतिकता का पक्षधर बनकर केवल अपने बौद्धिक व्यवसाय से अपदस्थ हो सकता है, जिसे निर्वाह करना भी किसी युक्तिशील व्यक्ति की मानसिक और नैतिक ज़िम्मेदारी है। इतिहासकार नैतिक वार्त्ता को अपने असंयम से कोई मूल्य प्रवर्तन में कोई योगदान नहीं दे पायेगा।

इस संदर्भ में इतिहासकार के व्यवसाय में मूल्यांकन की चर्चा में निम्न वर्जना सर्वप्रथम विचारणीय है कि वह अपने विषय पर न केवल व्यक्तिगत नैतिक रूचि बल्कि अपने सम-सामयिक बोध के मूल्य परिप्रेक्ष्य और प्रतिमानों को भी न लादे। उन व्यतीत जगत की संरचना, संस्थाओं और आस्थाओं को परावर्ती मूल्यान्वेषणों के प्रकाश में न आंके। ऐसा करना कालक्रम के साथ अनावश्यक छेड़खानी होगी। यह आज प्रायः सामान्य ऐतिहासिक विधि की निर्विवाद आस्था मानी जाती है। मूल्यों की इस प्रकार की युग, जाति, संस्कृति सापेक्ष अवधारणा और व्याख्या को मानने की भी अपनी दूसरी कठिनाईयां हैं, इन्हें आपत्तिजनक विसंगति तक सिद्ध किया जाता है, जिसे इतिहासवाद कहा जाता है। क्या सभी मूल्याकांक्षाएं समान स्तर और सीमा तक युग सापेक्ष होती है? यह छद्म मूल्यांकन सार्वभौमता की विसंगति है कि हम अपने समकालीन आदर्शों को अन्य समाज व्यवस्थाओं के मूल्यांकन के लिए मानदण्ड की तरह प्रयोग करने में नहीं हिचकिचाते। किन्तु क्या मानव अनुभूत मूल्यान्वेषण में कोई सर्वकालिक साम्य परिभाषतेय रूप से अमान्य होता है?

यह इतिहास के सर्वेक्षण स्पष्ट करते हैं कि मानव अतीत के विभिन्न युगों में परस्पर विरोधी नैतिक मूल्य धारणाएँ शाश्वत एवं चिरन्तन ठहराई जाती रही हैं, उदाहरणार्थ 'जौहर', 'सती', 'साका' आत्मबलि सामंती समाज के आत्यंतिक मूल्य का प्रतीक मानी गई थी, जबकि परावर्ती मानववादी नैतिकता उसे झूंठी अहमन्यता और क्रूरता का प्रतीक ठहराने लगी है। पितृ सत्ता-मूलक समाज के मध्यकालीन दौर में सम-सामयिक नारी समता ओर मुक्ति के आन्दोलन ठेठ अनैतिक मूल्यहीनता का संकट

दिखाई पड़ते, उसी तरह जैसे की मध्यकालीन धर्मयुद्ध, अथवा धर्मपातकियों का पोपवाद के द्वारा मारे जाना आज के वैज्ञानिक मानववाद को मूल्यहीनता अन्ध-कट्टमुल्लई और बुद्धि शून्यता की काली रात दिखाई पड़ती है। युगीन बोध के इस प्रकार आमूलचूल बदल जाने के बाद हमारे अदुविधाहीन मूल्य परामर्श विवादास्पद हो उठते हैं। शायद आगे आने वाले समाज में यौन जीवन और उसको संचालित करने वाले नियमों में भी अनेकों क्रांतिकारी रद्दोबदल हमारे समकालीन आदर्शों (विवाह, परिवार, बच्चों का लालन पालन) को उखाड़ फेंके।

यह युक्ति मूल्यों की सतत् सार्वभौम आभासों की सम-सामयिक सापेक्षता और इनकी अन्योन्याश्रयता को इतिहास के विराट कूड़ेदान में फेंके जाने के अनेकों दृष्टांतों से हमारा साक्षात्कार कराती है, निस्संदेह। इतिहास का चित्त केवल संदेह और प्रश्न चिन्हों के ही नैतिक मूल्यों के आधारों के संबंध में उजागर करता है, यह प्रत्येक मूल्य-आस्था की भयावह असुरक्षा, अनास्था, क्षोभ और उनसे जनित आक्रोश का कारण बनेगा। इस अग्नि-परीक्षा से गुज़र कर कोई भी व्यावसायिक इतिहासविद अपनी चर्चा को सापेक्ष सम-सामयिक फतवेबाज़ी से उबारना अवश्य ही चाहेगा। दुविधा इस इतिहासवाद की यहीं केन्द्रित है कि चूंकि सभी मूल्य विवेक युग सापेक्ष पाए जाते हैं, क्या इतिहास किसी भी मानवोचित गरिमा के किसी भी चिरकालीन प्रतिमान को सतत् अपदस्थ करने के लिए बाध्य है? क्या इतिहास का सर्वेक्षण अपने ऐतिहासिक वृतांत में मनुष्य की बर्बर, पाश्विक निरंकुश, कबीली, हिंसक, क्रूर, गुलामी से निकलकर विधि समता, स्वतंत्रता, भ्रातृत्व, सौहार्द और शिष्ट मतभेद, बहस और संवाद और सहनशीलता के संयम के किसी अंकुर को नहीं देख पाता या पूरी तरह नकार सकता है? या ऐसा विश्वास भी हमारी सम-सामयिक ऐतिहासिक प्रगतिवाद की जीवन दृष्टि का छलावा मात्र है? क्या वह यह मानने के लिए मज़बूर हैं, कि इतिहासकार का दायित्व साक्ष्यों की युक्तिसंगत व्यवस्था देकर कथानक लिख देने मात्र से पूरा हो जाता है, और उन मानवीय व्यापारों में अभिव्यक्त कौन प्रतिमान, मूल्य, वहाँ चरितार्थ हुए या कोई अन्य आदर्श उभरे कोई मानवोचित गरिमा और रचनात्मकता के चरण आगे बढ़ें पहचाने जाएं या नही इतिहास वृत्तांत के बनाने वाले के व्यवसाय से बाहर नैतिकता के प्रश्न है, ऐसा मत, वस्तुतः इतिहास वृतांत का विद्रुप सा लगता है, यह उचित दृष्टि नहीं स्वीकार की जा सकती। हमने पूर्ववर्त्ती (3.231) चर्चा में यही पाया कि इतिहासकार का व्यवसायिक संवाद जो अतीत के जीवन के साथ किया जाता है उसमें उन पात्रों की अन्तस प्रेरणाएं निजी महत्त्वाकांक्षाएं, भय, रूचियाँ, वरीयताएँ पहचानने और रेखांकन की लाज़िमी ज़िम्मेदारी अपने वृतांत की रचना के लिए अनिवार्य हैं, हाँ उसे स्वयं अपने सम-सामयिक मूल्य परिप्रेक्ष्यों से इन चरित्रों के मूल्यों को परस्पर न घपलाना और न टकराने देना चाहिए। उसके सत्यान्वेषण की यही मौलिक मांग सदा होती है। इस प्रकार का मूल्य संयम उस इतिहास

वृतांत की सफलता का बहुमूल्य मानदण्ड भी है। पर यह बात आदर्श में जहाँ इतनी आकर्षक लगती है, क्रियान्वयन में उतनी ही दुरूह पाई जाती है, हमारे वृतांत इतिहास की बातें करते-करते स्वयं इतिहासकार के मन्तव्यों की अनजाने में ही अभिव्यक्ति करने में फिसलते रहते हैं। उसका वृतांत सचेत और सायास रूप से सम-सामयिक मूल्य परिप्रेक्ष्यों की मुहर अनजाने ही ताने बाने पर छोड़ने के लिए प्रारम्भ से अन्तिम निरूपण तक प्रायः मज़बूर पाया जाता है। चूंकि मूल्यांकन केवल संकल्प, चरित्र अथवा संस्थाओं का ही नहीं होता, बल्कि किन विशेष आदर्शों और मानव लक्ष्यों को अपने जागतिक परिप्रेक्ष्य में महत्त्वपूर्ण पाता है, उसके विषयगत चयन, निर्णय, जो केवल किसी एक नीति घटना अथवा संस्था को विषय बनाने मात्र में केवल तथ्य मूलक साक्ष्यों द्वारा कभी पूर्व-निर्धारित नहीं होते, वे इतिहासकार के अनकहे मानव मूल्यों के आधार द्वारा नियोजित होते हैं। यह पूरा तथाकथित वृतांत प्रारम्भ से अन्त तक उर्त्त चेतन/अचेतन दृष्टि की मूल्याभिव्यक्ति होगी, निस्संदेह।

इतिहासकार उन सतत् विश्वसनीयता, सार्वभौमता के प्रति-स्पर्धी दावों को निरूपित करता है जो उसके विषय में उभरते हैं, और बार बार सापेक्षता की कसौटी पर केवल युगीन मूल्य ही ठहर पाते हैं, उन सभी साझीदार युगीन बोधों के अजस्र मूल्यशीलता के दावों के बावजूद। इसीलिए मूल्यों की वस्तुनिष्ठ धारणा के प्रति इतिहासकार के शंकालु वृत्ति एवं खीझ को समझा जाना ज़रूरी है, इस शंकालु वृति से दो बातें साफ हैं कि इतिहासकार को अपनी सम-सामयिक मूल्य प्रतिबद्धताओं को अत्याधिक नियंत्रण में रखना अपने वृतांत रचने के बौद्धिक कार्य को सम्पन्न करने की अपरिहार्य शर्त्त है, उसके विषय में दृष्ट मूल्य, विवेक द्वारा उसकी निजी मूल्य वृतियों से सदा बचाए जाने चाहिए, परस्पर गड्डमड्ड नहीं होने चाहिएं। दूसरी कि समस्त साक्ष्यों को इतिहासकार किसी एक युग में ही प्रायः कई प्रतिस्पर्धी मूल्यानुभूतियों को अभिव्यक्त करते पाए जाते हैं, यह अनिवार्यतया विरोधी नहीं होते। जैसा हमने पहले (3.2.3) में देखा है कि एक और केवल एक मूल्य परिप्रेक्ष्य मात्र किसी एक देश-काल में अवतरित नहीं होते, ये परस्पर पूरक मूल्य दृष्टियाँ समान साक्ष्यों द्वारा इतिहास वृतांत निरूपितकर सकता है। इस प्रकार एक रेखीय अदुविधाजनक एक ही मूल्य-व्यवस्था सम्पूर्ण इतिहास वृतांत में नहीं उभरती। स्वयं इतिहास के निर्माता मानव संकल्प के ही अनुरूप इन संकल्पों का वृतांत भी इतिहासकार के लिए सतत् विकल्पमय ही बना रहता है। यह बौद्धिक स्वायत्तता, युक्तिशीलता और रचनात्मकता अन्य मानव संकल्प के अनुरूप इतिहास वृतांत के रचनाकार को भी सम्भवतया बराबर उपलब्ध है।

3.3 विज्ञान (दृष्टा, नीति, भावोन्मेष) :

'तथ्य' और 'साक्ष्यों' के वर्गीकृत अभिधामूलक कथन और उनसे सिद्ध सार्वभौम नियम और उनके संयोजन विज्ञान माने जाते हैं। इस

योजना का आधार हमारे सामान्य साक्ष्य होते हैं, इनकी परीक्षा, समीक्षा सतत् को जा सकती है, तदनुसार विज्ञान की वैधता पूर्ण रूप से अविवादी बन जाती है। वैज्ञानिक संज्ञानात्मक प्रयास स्वयं अपने प्रस्तावित संयोजनों को अपदस्थ करने वाले परिमाणात्मक प्रयोगों से आमुख करता है, और केवल वे अपराजित प्रस्ताव ही विज्ञान के कलेवर में मानव बनते हैं, जो इन सारे परीक्षणों में खड़े रह सकते हैं। विज्ञान तथ्यों का सर्वाधिक मान्य प्रारूप मात्र माना जाता है, उनकी पूर्ण अभिव्यक्ति एवं मूर्त्त तथ्य मूलकता नहीं। किन्तु इस असंदिग्ध प्रारूप में भविष्योक्ति (निश्चित त्रुटि सीमा के भीतर) और संकेताको और चरों के उपलब्ध हो सकने के उपरान्त पूर्ववांछित स्थितियों को सचेत नियंत्रण द्वारा प्राप्त करा सकने की अचरज भरी क्षमता होती है।

यह 'प्रारूप' मूर्त्त ऐकिको और उनकी अनुभूतियों को प्रायः निरर्थक सापेक्षताएँ मानकर व्यर्थ मानते हैं, और उत्तरोत्तर 'प्रारूपों' के स्वयं अन्य गणितीय आकार और सांख्यकीय समीकरण विन्यास प्रस्तावित करते चलते हैं। इस वैज्ञानिक प्रगति के साथ हमारी जगत दृष्टि से सुदूर निकल जाती है। यह एक साधारण विज्ञान के इतिहास का सत्य है कि जैसे जैसे किसी क्षेत्र के वैज्ञानिक संज्ञान में मार्मिक प्रगति होती है, उक्त विज्ञान के प्रारूप मानव के सीधे प्रत्यक्षों से उतने ही दूर निकल जाते हैं।

विज्ञान मूर्त्त ऐकिक के स्थान पर पुनरूक्ति, पुनर्परीक्षण सार्वभौम परिभाषा, मापन, वर्गीकरण, प्रयोग, भविष्योक्ति नियम और प्रारूप द्वारा मानव संकल्प की शक्ति को प्रकृति और मूर्त्त घटनाओं पर अपनी आकांक्षाओं के अनुरूप नियंत्रण ज़ारी करने का औज़ार है। वह तदनुसार जागतिक विषयों में दो टूक परिमाणमूलक अपरिहार्य समीकरण उद्घाटित करने में संलग्न रहता है, और उनके सामूहिक प्रयोग से कृषि, उद्योग, संस्कृति, व्यापार, औद्योगिक उत्पादन के उत्तरोत्तर विकसित साधनों द्वारा मानव जीवन को सुविधा-मूलक और सुखद बनाने का गुरूतर दायित्व निभाता है। इन प्रभावों को ध्यान में रखते हुए, युद्ध और शान्ति दोनों आयामों में विज्ञान का वर्चस्व आज सम-सामयिक जीवन में अत्यंत केन्द्रीय बन चुका है। विज्ञान मूलतया सार्वभौम प्रारूपों को सार्वकालिक तन्त्र में प्रस्थापित करने की मान्यता पर बल देता है। यह निर्विवाद है कि विज्ञान का पिछला इतिहास सम्भवतया पूरी तरह इस दावे से मेल न खाये, किन्तु समूचे विज्ञान तंत्र में यह प्रवृत्ति बड़ी सीमा तक विद्यमान अवश्य रहती है। इस दक्षता और नियंत्रण द्वारा विज्ञान मानव नीति और संगठन और सामान्य जीवन में श्रम की उत्पादकता को सतत् बढ़ाता जा रहा है, जिससे उसके अमूर्त्त प्रारूपों की यथेष्टता पर कोई प्रश्न चिन्ह नहीं लगाए जा सकते। विज्ञान प्रायः पूर्ण संज्ञान का ही पर्याय माना जा रहा है।

इस संदर्भ में विज्ञान के विभिन्न वर्गीकरणों की चर्चा करना भी सुविधाजनक होगा। प्राकृतिक, जैविक, सामाजिक और मूल्यात्मक विज्ञान प्रायः विज्ञान विषयों की भिन्नता का संकेत करते हैं। विधि और तकनीक में इन विभिन्न क्षेत्रों में खासी दूरियाँ हैं। मापन प्रयोग और परीक्षण और पुनर्परीक्षण की सूक्ष्मता में भी गहरी असमानताएँ पाई जायेंगी। प्राकृतिक खगोल विज्ञान में प्रयोग सम्भव नहीं हैं, और जीव विज्ञानों में विशिष्ट प्रक्रियाओं (अणुजीवी, अथवा अवयवी) के पुनर्परीक्षण निर्बाध नहीं होते। मापन और पुनर्रचना भी सम्बद्ध स्तरों पर संतोषजनक नहीं होती, तदनुसार, परिमाणात्मक भविष्योक्तियाँ, नियंत्रण और नियम प्रारूप भी इन विज्ञानों में प्राकृतिक विज्ञानों के समानान्तर सार्वभौम नहीं ठहरते।

किन्तु इस इतिहास सम्बंधी इकाई के लिए निम्न वर्गीकरण अधिक उपयोगी सिद्ध होगा। वे विज्ञान जो गणितीय प्रत्ययों और परिभाषाओं द्वारा केवल मात्र यौक्तिक पुनरिक्तियाँ स्थापित करते हैं, और अपरिहार्य नियम प्रतिपादित करते हैं, दूसरे वे जो विभिन्न चरों के प्रारूपों के मापन पुनर्संयोजन, नियंत्रण एवं भविष्योक्तियों द्वारा परिक्षणीय और सत्यान्वेषित नियम विभिन्न क्षेत्रों में संकलित करते हैं। तीसरे वे जो स्वयं मानवीय अस्तित्व और प्रक्रियाओं का विश्लेषण एवं संज्ञान अमूर्त्त तत्त्वों का उनकी व्यवहारिक अभिव्यंजनाओं के सारूप्यों में जानना चाहते हैं। इस क्षेत्र में मनोविज्ञान, समाजविज्ञान, राजनीति, अर्थशास्त्र काफी आगे बढ़े हैं। इनसे भिन्न एक और प्रकार के विज्ञान भी चिन्त्य हैं। जैसेः विधि-विज्ञान, नीति विज्ञान, सौन्दर्य-विज्ञान एवं मानवीय व्यक्तित्व-विज्ञान। यहां हम 'मूल्यों' की नियामक, तथ्यात्मक एवं विधिमूलक भूमिकाएं समानान्तर क्रियाशील पाते हैं। इन सभी स्तरों पर 'वस्तुनिष्ठता' और 'मूर्त्तता' का विभेद मार्मिक रूप से सामने आता है। वह भली प्रकार समझा जाना बाकी है।

इसी संदर्भ में, व्यक्ति की मशीनी पुनरूक्ति की सम्भावनाएँ भी संकेत चाहती हैं। मनोविज्ञान अन्तर्मुखी व्यवहार को बाह्य साक्ष्यों द्वारा समझने में कई पीढ़ियों से संलग्न रहा है, किन्तु अभी हाल में कम्प्यूटर पुनर्रचनाओं द्वारा मनुष्य की वैयक्तिक वैशिष्टता की पुनर्गठन की कई आश्चर्यजनक सफलताएँ देखने में आई हैं, स्मृति, आकांक्षा, प्रवृत्ति, दक्षता और इनके संयोगों का विश्लेषण करके आज का उद्योगपति, जनमानस का निर्माता, विज्ञापन विशेषज्ञ और मनोविश्लेषक अपने विषयों को अनजाने ही उनके स्वभाव और वृत्ति के नियंत्रण द्वारा किसी भी इच्छित दिशा में तोड़ मरोड़ सकने में सफल होता लगता है। यहाँ तक की व्यक्ति के मुक्त रास-रंग, आकर्षक विकर्षण, संकल्प और निर्णय भी सुदूर निर्धारकों के परिसीमनों से नियंत्रित करने लायक सक्षम कम्प्यूटर बनाए जा चुके हैं। क्या स्वयं मानव अपने द्वारा बनाए यन्त्रों द्वारा एक कठपुतली बन चुका है? यह प्रश्न आज केवल विद्या-विलास नहीं रहा है।

3.3.1 विज्ञान और समाज-विज्ञान

समाज विज्ञान सामाजिक यथार्थ का संज्ञान इकट्ठा करते हैं। किन्तु सर्वप्रथम यह बात जानना अनिवार्य है कि इन विषयों की उपलब्धि जैविक प्रक्रियाओं और कायिक अव्यवों के मूर्त्त स्वरूप से भिन्न होती है। 'व्यक्तित्व', 'धन', 'संविधान', 'नियम', 'परम्परा', 'संगठन', संस्थागत तथ्य हैं, इन्हें संकेतित और उपलब्ध कराने के लिए समाज वैज्ञानिक, बौद्धिक परिभाषाओं और वैंचारिक नियमों द्वारा प्रक्षेपण एवं चेतन सीमांकनों द्वारा एक विषय सामग्री का संज्ञापन प्राप्त कराता है, यह प्रक्रिया स्वयं सामाजिक संस्था, भाषा और उसके नियम सम्मत आकारों को प्रयोग द्वारा ही सम्भव है, इस प्रकार समाज विज्ञान जिन 'तथ्यों' और मूर्त्त 'तत्त्वों' को ऐंकिक और व्याख्या के आधार के रूप में मुक्त चर ठहराता है वे स्वयं सामाजिक प्रक्रियाओं ('नियम-पालन', 'नियम-परिभाषा', 'नियम अनुमति') द्वारा उत्पादित होते हैं, (देखें : पीटर विच की पुस्तक समाज-विज्ञान का विचार राउतलेज, 1964) इस प्रकार यहाँ विज्ञान की खोज के सोपानों और उसके विश्लेषण द्वारा उपलब्ध 'सामान्य-प्रारूपों' में सम्मिश्रण उक्त विज्ञान की पारदर्शी युक्तिशीलता पर प्रश्न चिन्ह लगाता है।

हम अपने इतिहास के स्वरूप के अध्ययन में (3.21) यह बात रेखांकित कर चुके हैं कि इतिहास विज्ञान नहीं बन सकता क्योंकि मानवीय चिन्तन अपनी चिन्तन वीथियों द्वारा अपने सामाजिक यथार्थ को मुक्त रूप से पुनर्रचित करके किसी भी पूर्व-कथनों को व्यर्थ करता रहेगा मूर्त्त विज्ञानों सरीखे नियंत्रित प्रयोग मानवीय गरिमा के प्रतिकूल पाए जायेंगे, जिनके अभाव में इस प्रकार के विज्ञान केवल सर्वेक्षण और विश्लेषण द्वारा मात्र सांख्यकीय सहचर्य प्रतिपादित कर सकेंगे, जो वैज्ञानिक भविष्योक्ति न दे पायेंगे, इनके द्वारा पूर्ण नियंत्रक समाज प्रक्रिया के प्रारूप उपलब्ध न हो सकेंगे। और ऐसे सुदृढ़ निष्कर्षों के अनुपलब्ध होने पर समाज वैज्ञानिक किसी भी वैज्ञानिक कार्य विधि द्वारा सामाजिक प्रौद्योगिकी के लिए सक्षम सिद्धांत अथवा मार्ग-दर्शन देने में सिद्धांततया अक्षम होंगे। इस प्रकार मानव व्यक्तित्व का वर्चस्व समाजविज्ञान की आकांक्षाओं को विफल करता रहेगा, और यह ही तर्क हमें इतिहास की व्यक्ति केन्द्रित पद्धति अपनाने का औचित्य भी स्पष्ट करता है। पुनः समाज विज्ञानों में मानव चैतन्य, नियम अनुसरण और बौद्धिक पूर्वाभासों की सहज सार्वभौमता उसके चरों और उनकी परस्पर अन्तर-क्रियाओं का स्वयं उसके द्वारा उपार्जित सत्यांवेषणों द्वारा ग्रसित होने से इन विज्ञानों की उपलब्धियों को प्रामाणिक अथवा आत्मघाती बनने से नहीं बचाया जा सकता। उदाहरण के लिए यदि हमें यह मालूम हो कि पेट्रोल की कमी होने वाली है, तो हम उसे और अधिक छिपा देंगे। कीमतों में गिरावट

या स्फीत, बैंकों का दिवाला निकलना और उसके व्यवहारिक नियंत्रण समाज में उसके संज्ञान की प्रक्रिया का हस्तक्षेप स्पष्ट दर्शाते हैं।

चूंकि समाज विज्ञान प्रायः समता, न्याय, वर्ग स्वार्थ, सम्पत्ति वर्ग-हितों का निरूपण करताहै, और समाज-रचना स्वयं इन मानकों के सुचारू क्रियान्वयनों द्वारा गढ़ी जाती है, इन परिभाषाओं और अवधारणाओं का वस्तुतः चेतन/अचेतन पूर्वाग्रहों, रागद्वेषों और विभिन्न वर्गों के प्रचार और अन्य स्वार्थ सिद्धि के सोपानों से मुक्त रखना असम्भव है। इस प्रकार तटस्थ सत्यान्वेषण में समाज-विज्ञान पदार्थ-विज्ञानों से बहुत पीछे है। यह केवल निष्प्राण अमूर्त्त साधारणीकरणों और सांख्यकीय सहचर्य की खोज कर सकते हैं, वह भी वैज्ञानिक स्वेच्छाचारी पूर्वाग्रह लिप्त विकल्प पूर्ण अवधारणाओं के आधार पर ही। समाज पदार्थ न होकर संकल्प है।

3.3.2विज्ञान का इतिहास और समाज-विज्ञान

क्या विज्ञान के विकास की भी कोई समाज शास्त्रीय योजना ढूंढी जा सकती है? प्रायः विज्ञान एक अराजक संक्रमण माना जाता रहा है, जो विभिन्न सत्यान्वेषियों की सम्मिलित उपलब्धियों द्वारा प्रगति मार्ग पर सतत् अग्रसर होता पहचाना गया है। इसी प्रकार समाज विज्ञान भी अन्योन्य विभूतियों के चिन्तन, सर्वेक्षण और समीक्षाओं को नवनीत समझा जाता रहा था। किन्तु इधर कार्ल मार्क्स द्वारा 'विचारधारा' और कार्ल मान्हाइम की 'संज्ञान के प्रतिमान' की गहरी सोच ने परम्परागत वैज्ञानिक-मुक्तता और अकाव्य सार्वजनीन स्वरूप पर पुनर्विचार की मांग को सशक्त स्वरों में उठाया है। इस दृष्टि से, यह पूर्वाग्रह एक युगीन जीवन दृष्टि में संकलित पाए जाते हैं, जो समाज और उस परम्परा के मेरूदण्ड की भूमिका अदा करते हैं, सभी साधारण अवधारणात्मक कलाप, खोजें, परिभाषाएँ, सत्यान्वेषण इस केन्द्रीय दृष्टिकोण के इर्द-गिर्द अपनी जगह बनाते हैं, और अपनी विशिष्ट सम्भावनाओं का चरितार्थन प्राप्त करने में यत्नशील रहते हैं। कोई भी वैज्ञानिक प्रयोग, कार्यक्रम, संकल्पना, और सिद्धान्त ऐसे अपने धारक और बुनियादी प्रारूप को सामान्य अवसरों पर कोई चुनौती नहीं देता और न दे सकता है, चूंकि यह दृष्टि उनके कार्यान्वयन की पूर्व-मान्यता है। यह सभी सत्यान्वेषणों में पूरी तरह रचे बिंधे होते हैं। कुहन (टी.एस. कुहनः **'वैज्ञानिक क्रान्तियों का तन्त्र'**, शिकागो 1956) के अध्ययन ने विज्ञान के इतिहास में क्रान्तियों का स्वरूप ढूंढा है। उसके अनुसार एक युग प्रवर्त्तक नवीन दृष्टि के उद्भव से पूर्वकालिक वैज्ञानिक सत्यान्वेषणों का पूर्ण कायाकल्प हो जाता है। इसके अति सूत्रीकृत दृष्टांत पिछले चार सौ साल के विज्ञान में यहां संकेत के लिए उद्धृत करते हैं। पहला कोपर्निकस और गेलिलियों द्वारा टाल्मी के पृथ्वी केन्द्रीय खगोल को सौर खगोल द्वारा अपदस्था, और उसकी प्रतिक्रियावादी

पोपवाद के हिंसक भर्त्सना, द्वारा अपदस्था, और उसकी प्रतिक्रयावादी पोपवाद की हिंसक भर्त्सना, दूसरा 19वीं सदी में डार्विन का विकासवादी प्राणिशास्त्र, जिसने स्वयं मानव के दैवी स्रोत को क्षत विक्षत कर दिया, और तीसरा बीसवीं सदी का आइंस्टाइन का देश-काल की चतुर्आयामी सममिति का नया पदार्थ विज्ञान जिसने सम्पूर्ण सार्वजनीन वस्तुओं के न्युटोनियन क्रिया तन्त्र को सापेक्षता के नए प्रारूप में परिवर्तित कर दिया। गति ओर भार का सपिंडन इसका एक दूसरा क्रान्तिकारी आधार बना, नाभिकीय अणुविज्ञान के दूरगामी प्रभाव अणु शास्त्रों के प्रयोग में उभरे, यह नाटकीय मोड़ विज्ञान द्वारा प्रारम्भ जरूर हुए, किन्तु इनके विस्तृत प्रभाव, कला, साहित्य, व्यापार, धर्म, प्रशासन और अर्थ-व्यवस्था पर भी बहुत गहरे पाए गये। इसी प्रकार का नया क्रान्तिकारी परिच्छेद स्वयं मानव संरचनाओं के कम्प्यूटरीकरण में अत्याधिक समकालीन विज्ञान और इक्कीसवीं सदी के पहले चरणों में भावी क्रान्ति की आशंका उजागर कर रही है। इन क्रान्तिकारी विज्ञानों ने हमारी सहज एक रेखीय विज्ञान के इतिहास के सर्व समावेशन पर गहरी आपत्तियाँ उठाई हैं। विज्ञान का कालातीत सम्यक सत्यान्वेषण, इस दृष्टि से अब उचित विचार नहीं बचा है। वहाँ भी 'दृष्टि सापेक्ष्य' तथ्य, साक्ष्य, मापन, परिभाषाओं की भूमिकाएँ रेखांकित की जा रही हैं। यह पूर्वापेक्षाएँ युगीन प्रारूपों में क्रान्ति होने से अपरिहार्यतया रूपान्तरित होंगी।

यदि यह स्थिति स्वयं मूर्त्त विज्ञानों की है, तो निश्चय ही समाज विषयक विज्ञानों के निष्कर्ष और संबंधित प्रारूप समाज की तत्कालीन रूचियों, आकांक्षाओं, मूल्य परिप्रेक्ष्यों और विचारधाराओं के अनुरूप अपने सत्यान्वेषणों द्वारा की गई सर्वकालिक दावेदारियों के बावजूद पूर्ण रूप से आच्छादित होंगे। निहित स्वार्थ, वर्ग-बोध दृष्टि सापेक्षता और इनसे उत्पादित पक्षधरताओं की वकालत और सम-सामयिक रूझानों और प्रवृत्तियों से दामन बचाकर समाज-विज्ञान, प्रसारित माध्यम की सतत् मांगों को बीच गुज़रते किस उत्पादित सत्य को आज मण्डी में उतारेंगे, और वह किस सीमा तक फैशन और पत्रकारिता की मांगों से ऊपर उठ सकेगा कह पाना कठिन लगता है। इस चिंतन के फलस्वरूप समूचे विज्ञान के सत्यान्वेषण के सार्वकालिक दावों के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को पुनर्विचार के लिए उभारा गया है। स्वयं काल निर्पेक्षता के दावों की ऐतिहासिक व्याख्या जरूरी लगती है। विज्ञान का ऐतिहासिक वृत्तांत स्वयं इतिहास वृत्तांत का एक सार्थक उपांग उभर कर सामने आया है।

3.4 नैतिकता

इस आयाम का अत्यंत सीमित संकेत ही यहां किया जायेगा। इतिहास में मूल्यांकन (3.24) की चर्चा ही इसका केन्द्र होगी, और इस विषय पर निरूपण हम पहले कर चुके हैं, उनकी पुनरावृत्ति से यहाँ

हम बचेंगे। मानव जीवन के लिये व्यावहारिक निर्देशन सदा नियामक आधारों (आदर्श, लक्ष्य, गुण, प्रतिमान) पर दायित्व, सदाचार और प्रतिबद्धता का अन्वेषण और उनके द्वारा विशेष कार्यों का सद्/असद् अवमूल्यन किया जाता है। समाज, शासन, विधान, राजनीति, अर्थ-व्यवस्था, शिक्षा, परिवार या अन्य सामाजिक व्यवहार के सभी नियोजन, नियंत्रण, क्रियान्वयन एवं उनके मूल्यांकन के लिए हमें ऐसे स्पष्ट व्यापक मूलभूत प्रतिमान और उनके विनियोग योग्य प्रारूप निरूपित करने पड़ते हैं। यह नैतिक अवधारणाएँ मानव जीवन और व्यवहार की अपरिहार्य पूर्वापेक्षाएँ उसी प्रकार सार्वभौम हैं, जैसे प्राणी मात्र के लिए रक्त अथवा श्वास का प्रवाह। जीवन मात्र के लिए खाद्य सामग्री की उपलब्धि और प्रजनन द्वारा नए सदस्यों का अवतरण जिस प्रकार अनिवार्य पूर्व-दशाएँ हैं, उसी स्तर पर मानव जीवन की यह संरचनात्मक पूर्वमान्यता है कि वह केवल अबोध जीवधारियों से भिन्न स्तर की चेतन मानसिकता का स्वामी है और स्वरचित नैतिक आदर्शों द्वारा अपनी जैविक और कायिक क्रियाओं को इन आदर्शों के प्रकाश में सुदक्ष निर्देशन देने में सदैव यत्नशील होता है। इन मूल्य चरितार्थों की यदि समस्त सम्भावनाएं ही किसी युग में विलुप्त पाई जाए तो उक्त घटना-संघात को अमानवीय दौर ठहराया जायेगा, जिससे मानव इतिहास को कोई सरोकार नहीं होगा।

3.4.1 नैतिक मूल्यों की सापेक्षता का इतिहास।

नैतिक सिद्धांत, इतिहास वृत्तांत बतलाता है कि संस्कृति के अनेकों परिवर्तनों के साथ सहज ही बदलते रहे हैं। विभिन्न युगों की संस्कृतियों का सर्वेक्षण विभिन्न युगीन नैतिक मूल्यों की मान्यता के साक्ष्य बलपूर्वक स्पष्ट करते हैं, कि यह सदा एक ही नहीं रहे हैं, और परस्पर असिद्ध और विरोधी भी पाए जाते हैं। इस परिप्रेक्ष्य में यह नाना प्रतिस्पर्धी नैतिकताएं यदा-कदा परस्पर विपरीत आदेश भी देती हैं, इनका सहज चरितार्थन उन दशाओं में असम्भव होता है। विश्व के सार्वभौम प्रवाह में हमें अनेकों नैतिकताओं का साक्ष्य मिलता है, बर्बर, सामंतशाही, धर्माधीशों द्वारा स्थापित, धर्म निरपेक्ष यौक्तिक नैतिक आदर्श विज्ञान सम्मत अनेकों युगीन दृष्टियां और आदर्शों का निरूपण इतिहासकार अपने वृतांत में करता है। यह रोचक सत्य है कि यह सारी सम-सामयिक नैतिकताएँ अपने तदर्थ कालों में समान रूप से निर्विवाद, सर्वोच्च, एवं आत्यंतिक प्रतिमान विश्वसनीय पाई गई। दुर्भाग्यवश, इतिहासवार्त्ता का यह संजीदा निष्कर्ष है कि किसी एक युग के नैतिक बोध की संगति काल परिवर्तन के बाद अधिकतर जाने वाले परावर्ती युगों के मानव व्यवहार के लिए केवल बोझ, रूढ़िवाद, और मात्र परम्परागत प्रतिक्रियावादी लीक सम्मोहन रह जाती है। यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक है, क्या इस कालखण्ड की मूल्य संवदेनाओं से

भिन्न किसी अन्य सार्वकालिक मूल्यों की भी कोई निशानी इतिहास वार्त्ता दे सकने में सफल होती है? प्रायः इतिहास वार्त्ता इन सरल कालजयी मूल्यों की वकालत के प्रति संशय शील होती है, वह इन सभी सदाचार और नीति के प्रहरियों को व्यवस्था के पैरोकार, निहित अविवेक, अज्ञान और अनजाने सत्ताशाहों की गुलामी करने वालों की जमात के अवसरवादी दलाल ठहराती है। इनकी लपेट से प्रायः इस शोषण के आखेट भी अपनी मानसिक क्षीणता के फलस्वरूप प्रायः बंधे रहते हैं। मार्क्स की छद्म मानसिकता की अवधारणा इसी तथ्य का निरूपण है। रूसी, लेनिन, और माओ ने क्रमशः फ्रांसिसी, रूसी और चीनी क्रान्तियों की वकालत में इसी भयावह महामारी को मिटाने का आह्वान किया था। सर्वहारा की नैतिक चेतना की बौद्धिक गुलामी का वर्णाश्रम धर्म और कर्म सिद्धांत का अनुमोदन एक मार्मिक भारतीय इतिहास-वृत्तांत का साक्ष्य है।

बीसवीं सदी के सार्वभौम विज्ञापनों और संचार साधनोंकी भयावह चपेट में आया आज हमारा सम-सामयिक जीवन निपट मूल्यहीनता की ओर उछाले मारता बढ़ रहा है। सभी नैतिक दृष्टियाँ आज बेमानी होती लगती हैं, केवल मात्र पाशिवक वृत्तियाँ (मैथुन, भय, आहार) आज के प्रवृत्तिमूलक सतत् सर्व उपलब्ध माध्यमों द्वारा मानव की मानसिकता पर जमती जा रही है, आत्म संयम, संकल्प, विवेक केवल आदिम प्राचीनों की रूढ़ियाँ मात्र लगती हैं, जो इन नियोन प्रतीकों के कौंधते चकाचौंध में सदा के लिए ख़त्म हो जायेंगी। क्या इक्कीसवीं सदी पुनः कोई नए नैतिक मूल्य चिन्तन को जन्म देगी? ऐसा प्रश्न है, जिसे हम अनुत्तरित ही छोड़ना चाहेंगे।

यहाँ यह संक्षिप्त रूप से विचारणीय है कि नैतिक सापेक्षतावाद की जैसी पैरवी समकालीन पत्रकारिता, इतिहास वृत्तांत, और समाज-विज्ञान मानवता को सिखाने में पिछले कुछ दशकों में मुखर रहा है, उसके विरोध में क्या कोई युक्ति सार्वकालिक नैतिकता के पक्ष में भी प्रस्तुत की जा सकती है? व्यक्तित्व सापेक्ष, वर्ग-सापेक्ष, राष्ट्र एवं युग सापेक्ष मूल्य और नैतिक सापेक्षतावादी व्याख्याओं का बोलबाला पिछले कुछ वर्षों से अत्याधिक मुखर रहा है, सामान्यतया इसने नैतिक विसंगतियों और सांस्कृतिक अराजकता को प्रोत्साहन दिया है, इसे इतिहास और वैज्ञानिक वार्त्ताकार दोनों समानरूप से मानने के लिए आज मज़बूर हैं। किन्तु ऐसी निर्विवाद सापेक्षतावाद की वकालत के पीछे क्या कहीं कोई दृष्टि, निष्कर्ष, साम्य, मूल्य, चिरंतन मानवीय आस्था भी हम ढूंढ पायेंगे? यह इतिहास वार्त्ता, और समाज-विज्ञान की वार्त्ता और उसमें निहित मूल्य-सादृश्यों की गहरी समीक्षा और पुनः उक्त समीक्षा की किन मूल आधारों पर छान-बीन हो सकती है, जानना हमें सम्मिलित रूप से नैतिक चिन्तन से जोड़ने के लिए बाध्य करेगा। यह दायित्व प्रायः निभाया नहीं

गया है, कोरी मूल्यात्मक नानात्व की वकालत जैसी अनगढ़ इतिहास वृतांत जैसे अपने खण्डित विषय संबंधी साक्ष्यों के सर्वेक्षण द्वारा व्यक्त करते हैं, समकालीन संदर्भ में किसी यौक्तिक नैतिकता के लिए विश्वसनीय आधार देने में असफल हैं। सांख्यकीय सहचर्यों को स्थापित करने वाली व्याख्या किसी भी नीति का औचित्य सिद्ध नहीं कर सकती।

3.5 नैतिक, विज्ञान और इतिहास

अभी तक हमने पृथक रूप से क्रमशः इतिहास, विज्ञान और नैतिकता की चर्चा की है। यहाँ इस खण्ड में उनकी परस्पर अन्तर-व्याप्ति की संक्षिप्त चर्चा करेंगे। यह तीनों प्रत्ययन प्रक्रिया परस्पर मुक्त एवं विभिन्न स्तर पर स्थित असम्बद्ध बौद्धिक परामर्श हैं, यहाँ हम स्पष्ट रूप से कह देना ज़रूरी समझते हैं कि इनके संयोजन की बात उक्त मूल्यात्मक निर्णय की घटना और इस मूल्य-चैतन्य का परिस्थिति और शुद्ध अनुभूति द्वारा संरचना ध्यान देने से परस्पर जोड़े जा सकते हैं। मूल्य मानकों, मुक्त अनुभूतियों और भाव-प्रवणताओं और आदर्श अन्वेषणों में सहज ही योजनाबद्ध समरूपता पहचान पाना बहुत मुश्किल नहीं है। इतिहास वृत्तांत अपने दायित्वों के निर्वाह द्वारा अपने व्यवसायिक बोध को नैतिक चिन्तन का आधार प्रायः नहीं बनाता। किन्तु विस्तृत असंदिग्ध मानवीय घटनाओं का संज्ञान, उनमें निस्सृत मानव आकांक्षाओं के मूल आधारों की नैतिक सर्वकालिक चर्चा की अपेक्षाकृत वायवी एवं कल्पनाजन्य व्याख्या को तथ्यमूलक साक्ष्य और वैज्ञानिक सार्वभौमता प्रदान करने में सहायक हो सकता है। इस प्रकार मानव चित्त की अधिकारी अवधारणा यथार्थ समाज़ की जानी सूचना पर ही बनाई जाए तो प्रामाणिक होगी। यह इतिहास, समाज-विज्ञान और नैतिक चिन्तन का संगम बन सकता है। इसी प्रकार नैतिक चिन्तन भी सम-सामयिक मूल्य परिप्रेक्ष्य को शाश्वत मूल्य मानने की भ्रान्ति से इतिहास और समाज विज्ञान के सत्यान्वेषणों को देखने से अपने को बचाया जा सकेगा।

3.5.1 मानवीय अस्तित्व एवं मूल्य

इस प्रगतिवाद एवं क्रान्तिकारी राजनीति तथा सतत् विकासशीलता के स्वप्न के टूटने से उपलब्ध त्रास एवं निर्वसनता के संदर्भ में सम-सामयिक मानव चेतना मोह भंग की पीड़ा झेलने को मज़बूर है। तदनुसार समकालीन नैतिक चिन्तन 'तथ्य' और 'मूल्य' के बीच गहरी खाई देख रहा है। मानव अस्तित्व और उसकी ऐतिहासिक नियति उसे इतिहास वार्त्ता की कई विसंगतियों और चेतना शून्य प्रकृति के लिए सभी नैतिक आदर्श मात्र मानव आकांक्षाओं के छलावे एवं दिवास्वप्न मानने को मज़बूर करते दिखलाई पड़ते हैं। जागतिक-भौतिक योजना में जैसा कीरज़ के संलाप में तत्कालीन भौतिकी की दृष्टि सीमा संकेत की गई थी जब उसने अपनी अनुभूति का यह स्पष्ट मूल्य रेखांकित किया था, कि 'मेरा इन्द्रधनुष

केवल प्रकाश रश्मियों का शंकुवर्त्तन मात्र नहीं है' — अर्थात मानवीय संवेदनाओं का संतुलन एवं उनमें समाहित मूर्त्त मूल्य स्खलित प्रकृति के निस्सपंद होने मात्र से निराधार प्रलाप नहीं बन जाते। 'मूल्य', मानव की सर्जनशील सम्भावनाएँ हैं, और इस प्रकार उसके अपने अस्तित्व की संवेदनशील नियति भी। यह उसकी मानसिकता के अविभाज्य अंग हैं। गुरूवर रविन्द्र नाथ टैगोर ने इस विषय पर अपने उदात्त सम्मोहक चिन्तन को निम्न मार्मिक शब्दों में व्यक्त किया है: 'पद्मा पर डोलती पूर्ण चांद की रात की निहारती झिलमिल क्यों दरिद्र नाविक को केवल पाई रत्ती के मिट्टी के तेल की बचत का अहसास भर ही दे पाती है?' मानव बोध की अत्यंत सशक्त भावना का संकेत कराती है, कि हम स्वयं प्रकृति के अधीन प्रारम्भ ज़रूर करते हैं, यह हमारी नियति का प्रथम चरण है, किन्तु हम इस स्थिति से जूझते जूझते कहीं न कहीं अपने संवेदनशील भावों द्वारा एक सार्थक भाव जगत रचकर अपनी नियति को मुक्त परिणति भी देते हैं। रौरव विसंगतियों से प्रतिदिन क्षत विक्षत काल रात की अमावस में विगलित होता मानव चित्त इस नारकीय त्रास को भोगता, हारा थका, आशा की किरण, मुक्त शिशु की किलकारी सुनने और एक नई सुबह के स्वप्न सजाने के लिए ही सोता है। सम्भवतया, इसी दृष्टि का मर्म जॉन कीट्ज़ ने अपने जीवित रहते, अपनी समाधिलेख के लिए लिखा था, 'सुन्दर प्रकृति नदी की गोद में यहाँ सोया है, प्रतिभावान जॉन कीटज़, जिसे उसने अपने ललित शब्दों से और भी सुन्दर बनाया'। टैगोर नैतिक भावना की अभिव्यक्ति अपनी निम्न आस्था द्वारा करते हैं 'जब भी कोई नवजात शिशु अपनी पहली किलकारी के साथ इस संसार में नई अनगूंज भरता है, तो पुनः हमें यह अहसास होता है कि परमेश्वर ने मानवता से अपनी आस्था अभी खोई नहीं है'।

3.5.2सर्वकालिक आधार मूल्य

मानव जीवन का ऐतिहासिक और वैज्ञानिक विश्लेषण प्रायः मूर्त्त वैशिष्ट्यों और साधारणीकृत प्रत्यय उपकरणों के विरोधी पैमानों द्वारा उपलब्ध किया जाता है। हमने यह अपनी चर्चा के पिछले खण्डों (3.23, 3.3) में स्पष्ट तरह पहचाना है। किन्तु नैतिकता का भी एक स्व प्रकाशित अहसास होता है, जो उसके मर्म स्थान में इस समूची बौद्धिक व्यवसाय की चरम परिणति है, जिसे हमने अभी (3.51) ऊपर काव्य बोध की शब्दावली और वार्त्ता में प्रगट किया था। यह अहसास भी निजीतौर पर उतना ही ग्राह्य है, जितना साक्ष्यों द्वारा अनुमोदित तथ्यों का वृतांत अथवा समाज वैज्ञानिकों के वैध साधरणीकरण। किन्तु इन सभी बौद्धिक संरचनाओं की गहराई तक पहुंच द्वारा की गई व्याख्या स्पष्ट करेगी कि इन वैविध्यपूर्ण गुमराह करने वाले तथ्यों के दिशाहीन जमघट के पीछे मानवीय

नैतिकता का निस्संदेह और शाश्वत प्रभावी कलेवर पाया जा सकता है, जिसे प्रायः तथ्य मूलक संज्ञानों में अतिलिप्त विज्ञान कर्मी पा सकने में दुर्भाग्यवश असफल होते हैं। इस कड़ुए तथ्य को पहचानना भी मानव व्यवहार के इतिहास के वृत्तांत के परिचर्चाकार का एक दायित्व है। अबाध मानवीय जीवन के इस समूचे विराट कथानक को निरर्थक और दिशाहीन तथ्यों का विसंगत बाहुल्य मात्र ठहराना विद्या-विलास हो सकता है, पर वस्तुतः जीवन के साक्ष्यों के प्रति गैर-जिम्मेदारी के तेवर का एक दुखद फल भी है। या फिर केवल संकीर्ण, खण्डित घटनाओं को उनके विभाजित और असम्बद्ध रूप से पृथक-पृथक प्रस्तुत करने के बुद्धिघाती चिंतन-पद्धति का मसखरापन।

प्रत्येक संवेदनशील मनस, प्रायः मानव व्यवहार की अनगिनती विभत्सताओं, और पीड़ाओं के अवलोकन को बिना भुलाए देख सकता है, कि मानवीय चेष्टाओं में अनेकों विरोध और तात्कालिक सापेक्षताएँ आयेंगी, होंगी, और विभिन्न संदर्भों में उनमें सदा एक पूर्ण आकारिक संयोजन अथवा ऋजु रेखीय प्रगति का सीधा क्रम भी प्रतिपाठित नहीं किया जा सकता। फिर भी यह भी निर्विवाद है कि निम्न मान्य निष्कर्ष के अकाट्य और सार्वभौम प्रतिमान सर्वकालिक मानव-मूल्य हैं:

(क) जीवन का नैरन्तर्य।

(ख) बुद्धि और मानसिकता का सम्भव सार्व-भौम सम्प्रेषण।

(ग) मानव की निर्बाध स्वायत्तता।

(घ) सर्जनशीलता।

इन मूल्यों की पहचान करा पाना स्वयं इतिहास बोध की मानवीय विरासत की संग्रहित विपुल सामग्री की सही व्याख्या होगी तथा स्वयं इतिहास की जिज्ञासा को अर्थवान दिशा देने के लिए ज़रूरी दिक-सूचक उपकरण।

3.6 निष्कर्षः इतिहास की सीख

कार्लाइल ने एक बार अपनी फ्रांसीसी क्रांति द्वारा जन्य संतप्त दुखद मनः स्थिति में निम्न त्रासमय वाक्य लिखा थाः 'कि इतिहास (वृत) की एक मात्र सीख केवल यह है कि मनुष्य इतिहास से कुछ भी नहीं सीखता'। हम पीछे इस चर्चा में इस तथ्य का स्पष्टीकरण देते रहे हैं कि इतिहासकार को अपने अध्ययन में अपने विषय में उपस्थित चरित्रों या संकल्पों पर नैतिक स्तुति, चारण-धर्मी प्रशस्ति गायन अथवा न्यायाधीश का निर्णय देने की कोई भूमिका नहीं अपनानी चाहिए। वह इस प्रकार की भर्त्सना, उपदेश, फतवे, आक्रोश अथवा साधुवाद से किसी भी प्रकार मानव मूल्यों के उन्नयन अथवा उपलब्धि में सहायक नहीं होगा। उसकी

सत्यनिष्ठा जितनी यथार्थ साक्ष्यों के बारे में राग-द्वेष मुक्त होगी, उपर्युक्त चर्चित सार्वभौम दृष्टि द्वारा सिक्त और युक्ति संगत आधारों द्वारा रचित तटस्थ वृत्तांत अपने पाठक को देगी। यह वृत्तांत जितना किसी भी बाह्य आग्रह से मुक्त बनाया जा सकेगा, उसकी उपयोगिता मानव मानसिकता को सही मानवीय जीवन जीने लायक दृष्टि हासिल कराने में अधिक सफल होगी। इस प्रकार इतिहास वार्त्ता में प्रमुख मूल्य तो केवल मात्र सत्यान्वेषण ही ठहराया जा सकता है, दूसरी ओर उसके व्यवसाय और शिल्प की यह मांग है कि वह अपने मनस में अत्यंत संवेदनशील सहनशीलता और मानव स्वायत्ता के प्रति समर्पण भाव विकसित करें। इतिहास का चिन्तन, मनन, लेखन हमारे सीमित, संकुचित, अविचारित पूर्वाग्रहों से हमें मुक्त करता है। यह तो हमारे मूल्यांकन की प्राथमिक कसौटी है ही। कोई भी इतिहासकार वैविध्य, नानात्व और मूल्य वैशिष्ट्य को किसी विशेष पूर्व-चिन्त्य प्रारूप में ठूंसकर किसी कृत्रिम विचारधारा को केवल छद्म यथार्थ एवं विचार शून्य अनुमोदन ही उपलब्ध करा सकता है। किसी भी मानवहित, कल्याण अथवा जनशक्ति को फूहड़ नारेबाज़ी से नहीं साधा जा सकता। यह इतिहासकार और वैज्ञानिक व्याख्या का सामान्य जाना माना निष्कर्ष है। ऐसा संजीदा मानसिक अहसास है, जो इतिहासकार को निम्न उदात्त दृष्टि देता है कि हमें निकृष्टतम व्यक्ति के भीतर भी मानवीय भावों की आभा ढूंढ पाने की चाह उपजायेगा, और सुविख्यात लोक श्रुत मसीहों, संतों, शहीदों, जन-नायकों और स्वप्रचारित सदाचार के पुतलों के घर के मिट्टी के चूल्हों को भी संकेत देगा। और साक्ष्य मिलने पर इन लोकप्रिय नायकों की सच्ची छवि उबारने में हिचकिचाएगा नहीं। इतिहास पक्षधरता से मुक्त रहकर भी मानवोचित गरिमा को तिलांजलि कभी भी नहीं दे सकता।

मानवता असंख्य माया मृगों की मरीचिकाओं के पीछे भागती है, व्यवधानों में प्रायः उलझती है, फिर भी इस सघन अंधकार की वृत्तियों से सतत् ज्योतिपुंज की ओर बढ़ती है, असद, अशिव, पाश्विक और दासत्व से सतत् मुक्त होती सदाचार और शुभ की ओर अग्रसर रहती है। और मृत्यु की नृशंसता पर इतिहास चिन्तन चिरंतन प्राण के अमरत्व की अवश्यम्भावी जीत का गजर बजाता है। यह निष्पाप, दो टूक, निखालिस सत्य, पूर्ण सत्य, सत्य के अलावा और कुछ नहीं केवल इतिहासकार का निर्द्वन्द्व सत्यान्वेषण ही प्राप्त करा सकता है। क्योंकि इतिहास वार्त्ताकार अब्राहम लिंकन की बहुश्रुत लोकतन्त्रीय आस्था से सहमत है कि : 'आप कुछ लोगों को सभी कालों तक गुमराह रख सकते है, और सभी लोगों को कुछ अवधि तक, पर सम्पूर्ण मानवता को सतत् झूंठ का दोहन कोई भी नहीं छका सकता'। इतिहास, विज्ञान नैतिकता की भांति ही इस अनुपस्थित अदृश्य प्रहरी का बराबरी से दासत्व स्वीकारता है।

कोई सच्चा इतिहासकार अवसरवादी की कायरता, नपुंसकता, भीरूता, चाटुकारिता या घृणा का कभी शिकार नहीं बनता। और न वह

निन्दा-स्तुति (माल्यार्पण अथवा छवि बिगाड़ने की ईर्षालु वृत्ति) को अपने सत्यान्वेषण की गरिमा के अनुकूल पाता है। उसकी नसीहत इस अनिश्चित कालक्रम में स्वयं चेता वृत्ति द्वारा मानवीय नियति का बिना किसी मिथक या मुखौटे के सहज अनावरण मात्र हैं, इस प्रक्रिया में अतीत के जीवंत पात्रों के अनुभवों से सीखने की चाह भी है, और उनकी त्रुटियों से **'अपने आज'** का दामन बचाने की गुज़ारिश भी। और वह यह भी जानता है कि इतिहास कभी पुनरावृत्ति नहीं करता।

इन आयामों को बूझने के आधार पर सभी समकालीनों की अन्धी कामनाओं, प्रतिस्पर्धाओं, पूर्वाग्रहों के थोथे परामर्श और लोकप्रियता की ललक और नुस्खे इतिहास वृतांत के लिए घातक है। इतिहासकार न्यायाधीश की पीठ पीछे टंगी न्याय की देवी जो आंखों पर पट्टी बांधे तराजू के पलड़ों को समान करती है से तुलनीय है, शायद वह इतना उदात्त न हो सके, फिर भी, वह संवेदनशील मानवचित्त का चितेरा तो ज़रूर है, इतिहास का प्रतिपादन चाहे सीधी नसीहत या हिदायत शब्दों द्वारा न भी दे सके, तो भी विश्वसनीय दृष्टांत द्वारा मूल्याभिव्यक्ति तो अनायास इस वृतांत में स्पष्ट उभर ही आती है। वस्तुतः केवल मात्र ऐसी सीख ही इतिहास के वृतांत की देन है।

3.7 सारांश

इस इकाई में इतिहास वृतांत की समीक्षा की गई है। विज्ञान और नैतिकता से इसके संबंध को युक्ति संगत आधार पर समझने का यत्न किया गया है।

सर्व प्रथम इतिहास वृतांत और विज्ञान में क्या मौलिक भेद है, इन दोनों प्रकार के तथ्य मूलक अध्ययनों में स्पष्ट किया गया। इतिहास समकालिक चरों की संरचना के स्थान पर अपने विषय, कालखण्ड के उपस्थित अवशेषों के साक्ष्य और अभिलेखों के आधार अतीत के मानव संकल्प और इनके मूर्त्त वैशिष्ट्यों का प्रामाणिक निरूपण करने में यत्नशील होता है, वह न तो कोई नियंत्रित प्रयोग कर सकता है, और न किसी भी प्रकार के सार्वभौम प्रारूप प्रतिपादित कर सकता है। फलस्वरूप वह कोई अपरिहार्य नियंत्रण का उपकरण नहीं बनता जिसके विपरीत विज्ञान और समाज-विज्ञान भी ऐसे सांख्यकीय सहचर्यों एवं सीमित कार्य कारण आधारों के द्वारा उपलब्ध नियामक प्रारूपों के रेखांकन के आदर्श से अनुप्राणित अवश्य हैं, वे मूर्त्त प्रकृति विज्ञानों से कहीं कम प्रभावी प्रारूप रच पाते हैं। हमने इस सम्बन्ध में विस्तृत आधार पर समीक्षा की और पाया कि मानव संकल्प एवं आरोपणों और प्रक्षेपणों द्वारा निर्मित समाज शास्त्रीय विज्ञान के प्रत्यय उस तरह परिमाणात्मक आधार पर वस्तुनिष्ठ नहीं होते जैसे निर्वाक तत्वों के चर संघात, इस दृष्टि से समाज विज्ञान अपनी आकांक्षाओं में प्रायः गतिरोध का अनुभव करते हैं।

इतिहासकार का दायित्व निष्प्राण साक्ष्यों को मानवीय पात्रों को निजी सोच तक संवाद द्वारा पहुंचने के लिए मार्ग प्राप्त करना है। अपनी परिकल्पनाओं और संवदेनाओं और का भी सोपन इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए इतिहासकार आवश्यक पाता है।

इतिहासकार के मूल्यांकन सम-सामयिक मूल्य परिप्रेक्ष्यों से ग्रस्त नहीं होने चाहिए। इतिहासकार का अपने को अतीत की घटनाओं को सुधारने में दत्तचित्त नहीं होने देना चाहिए। इतिहासकार के अपने सत्यान्वेषण के लिए तटस्थ संवेदना और नानात्व के प्रति सहनशीलता को अपने विषय (व्यक्ति, उनके संकल्प एवं संस्थागत नियमों) में अभिव्यक्त मूल्यों से कोई मिश्रण नहीं होने देना चाहिए। मूल्य पूर्वाग्रहों और सापेक्षता के आकारों से इतिहासकार अपने वृतांत में सभी युगों की मूल्य सार्वभौमता की प्रतिस्पर्धी दावेदारी से कैसे निपटें, हमने विश्लेषण करने का यत्न किया है।

नैतिकता और मूल्य मानव व्यवहार एवं संस्कृति की विभेदक वैशिष्ट्य हैं। क्या सभी नैतिकता सतत् रूपान्तरित होती है? क्या मानव जीवन के लम्बे इतिहास का केवल सापेक्षतावादी मूल्य-विरोधी परिप्रेक्ष्य ही इतिहासकार अपने वृतांत के सत्यान्वेषण के आधार पर स्वीकार कर सकता है? हमने इसके विपरीत युक्तियों से जीवन-नैरन्तर्य, सम्प्रेषणीयता, स्वायत्तता और सर्जनशीलता को मानव जाति के कालमयी सार्व-भौम आधार मूल्यात्मक पूर्वापेक्षाएँ सिद्ध करने का दावा किया है, और हमने यह भी दिखलाया कि प्रायः इतिहासकार इन चार प्रतिमानों द्वारा ही विभिन्न युगीन मानव जीवन की सफलता और विकास का मूल्यांकन करते हैं।

इतिहास की एक मात्र सीख सत्यान्वेषण और नानात्व मूल्यों में परस्पर सहचर्य ढूंढना है, हम इसे निष्कर्षतया उचित मानते हैं।

3.8 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. 'इतिहास' पद के दो स्पष्ट अर्थों की चर्चा करें। आप इनमें से किसको इस पद का वैध धारक मानते हैं? अपने उत्तर के पक्ष में युक्तियाँ दें।

2. क्या इतिहास की पुनर्रचना को अतीत से प्राप्त साक्ष्यों द्वारा पूर्णतया नहीं किया जा सकता? वे कौन से अन्य तत्व हैं जो स्वयं इतिहासकार का मानस इस वृतांत में जोड़ते हैं?

3. साक्ष्यों की काट-छांट से जो 'कैंची गोद' से निर्मित इतिहास वृतांत बनता है, वह क्यों असंतोष जनक पाया जाता है? इस दुविधा का क्या कोई हल चिन्त्य है?

4. इतिहास और विज्ञान में क्या रिश्ता है? उनकी पद्धतियों और विधियों के अन्तर स्पष्ट करें।

5. क्या मूल्य, भावना, विचारधारा, प्रवृति का इतिहास नहीं लिखा जा सकता? नहीं तो क्या मूर्त्त घटनाएं ही मानव संकल्प का सार हैं?

6. मार्क्स और पापर के विवाद पर ध्यान दें, क्या सचमुच हमारी सारी ऐतिहासिक वस्तुनिष्ठता एक छद्म पक्षधरता मात्र है?

7. क्या इतिहासकार को अपने वृतांत में उपदेश, प्रशस्ति, निन्दा या आदेश देने की कोई सार्थकता है? ऐतिहासिक मूल्यांकन और नैतिकता के रिश्ते को रेखांकित करें।

8. क्या इतिहास का विश्लेषण या निरूपण मात्र बाह्य घटनाओं या अतीत के पात्रों के वस्तुगत संकल्पों और लक्ष्यों तक ही सीमित रहना चाहिए? क्या नैतिक मूल्य इतिहासकार के विवेचन से सदा बहिष्कृत किये जाने चाहिए?

9. विज्ञान में मूल्यों की कोई गुंजाइश नहीं, और नैतिकता का विश्लेषण स्पष्ट करता है, कि मात्र घटित तथ्यों द्वारा मूल्य निर्धारण नहीं किया जा सकता। इतिहास का अध्ययन इन दो प्रतिकूल दृष्टियों को किस प्रकार समन्वित करने में रूचि रखता है?

3.9 संदर्भ ग्रंथ

1. Bloch Horc : Historian's Craft, Manchaster Univ. P 1959.
2. Berlin Isaiah : Four lectures on Liberty, Oxford,
3. Croce Benidetto : History as the story of Liberty, London, Aleen & Unwin 1949.
4. Carr E. H. : What is History? Machamillan, London, 1961
5. Collingwood R. G. : The Idea of History, Oxford, 1948
6. Gradiner P. : Nature of Historical Explanation, oxford, 1952.
7. Heller Agnes T. : Theories of History, Rout ledge & Kegan Paul, London, 1982.

8. Gottschalk L. : Generalization in the Waiting of History, Social, Sc. Research Council Chicago Univ. 1963.

9. Kuber T.S. : Structure of Scientific Revolutions Chicago Univ, 1956.

10. Popper K. R. : Poverty of Hitoricism, Beacon Press Boston, 1957.

11. Valery Paul : History And Politics, Routledge & Kegan Paul, London, 1963.

12. Winch Peter : Idea of Social Science, Routledge & Kegan Paul, London, 1964.

इकाई - 4
इतिहास और सामाजिक विज्ञान

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.2 प्रस्तावना

4.2 उन्नीसवीं सदी में इतिहास एवं सामाजिक विज्ञान

- 4.2.1 हेगेल
- 4.2.2 रांके
- 4.2.3 कार्ल मार्क्स
- 4.2.4 डार्विन तथा अन्य वैज्ञानिक
- 4.2.5 डिल्थे
- 4.2.6 वेबर

4.3 बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में इतिहास और सामाजिक विज्ञान

- 4.3.1 ऐक्टन
- 4.3.2 क्रोचे और कालिंगवुड
- 4.3.3 ओसवाल्ड स्पेंगलर और ऑरनल्ड टॉयन बी
- 4.3.4 डी. एच. कार

4.4 बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में इतिहास और सामाजिक विज्ञान

4.5 इतिहास पर सामाजिक विज्ञानों का प्रभाव

- 4.5.1 समाजशास्त्र और मानव-विज्ञान
- 4.5.2 मनोविज्ञान
- 4.5.3 अर्थशास्त्र
- 4.5.4 राजनीति शास्त्र
- 4.5.5 भूगोल

4.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

4.7 संदर्भ ग्रंथ

4.0 उद्देश्य:

(i) इतिहास की उत्पत्ति की जानकारी देना।

(ii) उन्नीसवीं सदी में इतिहास एवं सामाजिक विज्ञान के अन्तसम्बन्धों का विश्लेषण करना

(iii) बीसवीं सदी में इतिहास का सामाजिक विज्ञानों में स्थान निर्धारित करना, तथा

(iv) सामाजिक विज्ञान के विभिन्न विषयों के इतिहास पर प्रभाव का विश्लेषण करना।

4.1 प्रस्तावना:

'हिस्ट्री' शब्द की उत्पत्ति यूनानी शब्द "हिस्टोरिया" से हुई, जिसका अर्थ जांच, पूछताछ आदि होता है। भारतवर्ष में इसी का समानान्तर शब्द "इतिहास" मिलता है।

"हिस्ट्र" विषय की उत्पत्ति छठी शताब्दी ई०पू० में यूनान में हुई। हैरोडोटल इसका जनक माना जाता है। प्राचीन और मध्यकालीन युग में भी अलग-अलग देशों में इतिहास लिखने के प्रयास किये गये। फ्रांस की राज्य-क्रांति की प्रेरणा से आधुनिक इतिहास लेखन का आरम्भ उन्नीसवीं सदी में सर्वप्रथम योरोप में हुआ। इस समय विज्ञान की नई विचारधाराओं तथा औद्योगिक क्रांति के परिणाम-स्वरूप नई समस्याएं उत्पन्न हो गई। इनके समाधान हेतु यद्यपि अनेक सामाजिक विज्ञानों का प्रारम्भ हुआ, किन्तु इनका जनक इतिहास ही माना जाता है। इस समय के इतिहासकारों का योगदान महत्वपूर्ण रहा है। बीसवीं सदी में इतिहास लेखन ने नया रूप ले लिया। 1917 ई० की रूसी क्रांति के प्रभाव के कारण राजनैतिक इतिहास की अपेक्षा आर्थिक एवं सांस्कृतिक इतिहास पर अधिक जोर दिया जाने लगा। फलतः इतिहास की तुलना में अन्य सामाजिक विज्ञानों को स्वतंत्र रूप में अधिक महत्त्व मिलने लगा। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् विज्ञान, प्रौद्योगिकी तथा उद्योग-धंधों ने अद्भुत उन्नति की, जिनका प्रभाव सामाजिक विज्ञानों पर भी पड़ा। नई समस्याओं के समाधान हेतु सामाजिक विज्ञानों की नई शोध-पद्धतियों का प्रयोग इतिहास लिखने के लिए किया जाने लगा।

4.2 उन्नीसवीं सदी में इतिहास एवं सामाजिक विज्ञान:

उन्नीसवीं सदी का काल इतिहास एवं सामाजिक विज्ञानों के अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माना जाता है। विद्वानों ने इतिहास के अर्थ को परिभाषित एवं स्वरूप को निर्धारित करने का प्रयत्न किया। इतिहास को वैज्ञानिक पद्धति से लिखा जाने लगा क्योंकि मानवीय अध्ययनों पर भी विज्ञान के प्रयोग के गम्भीर प्रयास किये जाने लगे थे। इस प्रकार इतिहास को भी सामाजिक विज्ञान माना जाने लगा। इस समय ऐतिहासिक विकासवाद के सिद्धांत ने विज्ञान को भी अछूता नहीं छोड़ा। मनीषियों ने भी अपनी कृतियों में यह बतलाने का प्रयत्न किया कि किस प्रकार आर्थिक, सामाजिक एवं राजनैतिक विचारों ने इतिहास के विकास को

प्रभावित किया? इस समय का इतिहास प्रायः राजनैतिक होने से विवरणात्मक है तथा राज्यों से सम्बन्धित है।

4.2.1हेगेल (1780-1831 ई०)

हेगेल इतिहास-दर्शन का प्रवर्तक माना जाता है। वह इतिहास के प्रवाह में परिवर्तन मात्र न देखकर क्रमिक विकास देखता है, जिसे वह द्वन्द्वात्मक कहता है। वह पूर्वपक्ष, प्रतिपक्ष एवं संश्लेषण की चर्चा करता है। सत्य का ज्ञान उसके विपरीत उपस्थित सम्मुख कारण से होता है। इस विरोधाभास के कारण संश्लेषण अथवा संश्लिष्ट ज्ञान प्राप्त होता है। यह संश्लेषण नया पूर्व-पक्ष बन जाता है जिसको पुनः प्रतिपक्ष के सम्मुख करने से एक अन्य संश्लेषण बनता है। इस प्रकार यह प्रक्रिया चलती रहती है तथा कोई कदम अंतिम नहीं होता। हेगेल इस विकास की प्रक्रिया को इतिहास-दर्शन कहता है।

हेगेल के अनुसार इतिहास जगत् के प्रति ईश्वर की परियोजना से संगति रखते हुए नैतिक उन्नति की ओर प्रगति करता है; किन्तु इस प्रकार की उन्नति मनुष्य के इतिहास के उद्देश्य तथा कार्यविधि की चेतना द्वारा प्राप्त की जाती है। उसके अनुसार सत्य का स्रोत प्रत्यत अथवा ईश्वर में है जोकि प्रकृति में केवल अव्यक्त रूपेण स्थित है तथा स्वयं को इतिहास में चेतना के रूप में अभिव्यक्त करता है। उसके अनुसार इतिहास के ऊपर चिन्तन में प्रवृत्त दार्शनिक का प्रमुख कर्त्तव्य अतीतकाल में घटित घटनाओं में निहित विवेकपूर्णता को ढूँढ़ना है। विवेक अथवा बुद्धि ही विश्व का सार्वभौम शासक है, और इस कारण विश्व हमारे सामने एक विवेकपूर्ण प्रक्रिया प्रस्तुत करता है। हेगेल का दर्शन आदर्शवादी कहलाता है।

4.2.2रांके

रांके इस युग का प्रभावशाली इतिहासकार माना जाता है। उसकी प्रथम महान् ऐतिहासिक कृति 1825 में प्रगट हुई। उसने करीब साठ ग्रंथों की रचना की। उसने जर्मनी, फ्रांस अथवा इंग्लैंड के प्रारंभिक आधुनिक युग के इतिहास-लेखन को विभिन्न शोधों के आधार पर प्रारम्भ किया। इसका 'सार्वदेशिक इतिहास' वृद्धावस्था में पूर्ण हुआ। उस समय के विश्वविद्यालयों पर उसका प्रभाव था। वह गोष्ठियों में इतिहासकार बनाता तथा अभिलेखागारों में इतिहास लिखता था।

रांके ने अपने ग्रंथों को लिखने में जिस आलोचना पद्धति को अपनाया, वह वास्तव में वैज्ञानिक पद्धति थी। वैज्ञानिक पद्धति से अभिप्राय निर्वैयक्तिकता तथा परिवर्तनीय पद्धति से था। रांके ने अपने ग्रंथों में इतिहास के सामान्य सिद्धांतों की भी चर्चा की है। वह भूत के विषय में निर्णय देने तथा वर्तमान को शिक्षा देने का बहाना नहीं करके अपना लक्ष्य अतीत में घटित घटनाओं का उद्‌घाटन करना बताता है। उसका आशय यह था कि इतिहास

की प्रत्येक घटना समान-रूपेण महत्वपूर्ण होती है, उसका अपना अभिप्राय होता है और वह विशिष्ट होती है। रांके इतिहास लेखन का प्रमुख लक्ष्य सार्वभौमिक इतिहास मानता था तथा साधनों के क्रमबद्ध विश्लेषण द्वारा भूत को यथार्थ रूप में देखने की योग्यता तथा उससे अपना महत्त्व स्वतः अभिव्यक्त कराने हेतु युग विशेष के विभिन्न पक्षों को परस्पर सम्बन्धित करने की आवश्यकता को भी मानता था। उसने सार्वभौम की व्याख्या सीमित रूप से की है, क्योंकि उसने अपने लक्ष्य को मूलतः पाश्चात्य दर्शन के परिप्रेक्ष्य में लिखा। योरोपीय राष्ट्रों के अन्तः सम्बन्धत्व का उसने बार-बार उल्लेख किया है। उसके द्वारा वैज्ञानिक पद्धति से लिखा इतिहास एक प्रकार से शैक्षणिक इतिहासकारों के लिए मापदण्ड बन गया एवं इतिहासवाद के दार्शनिक पक्ष का विवेचन अन्य इतिहासविदों के विचार के लिए शेष रह गया।

4.2.3 कार्लमार्क्स:

कार्लमार्क्स ऐतिहासिक समाज विज्ञान का प्रवर्तक कहा जा सकता है। वह हेगेल का प्रमुख उत्तराधिकारी है। यद्यपि उसने उसके द्वन्द्वात्मक विचार की धारणा को बिना किसी संकोच के ज्यों का त्यों स्वीकार किया, किन्तु उसने हेगेल के आदर्शवादी दर्शन के स्थान पर भौतिकवादी दर्शन को प्रतिपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया। कार्लमार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद समाज की नई विश्लेषण पद्धति तथा इतिहास की ओर नई दृष्टि है। उसने इतिहास की कुंजी आर्थिक परिवर्तन में खोजी।

कार्लमार्क्स के अनुसार ऐतिहासिक संदर्भ में मनुष्य को समझने के लिए उत्पादन तथा विनिमय को समझना आवश्यक है। मनुष्य पशु से उत्पादक के रूप में ही भिन्न है। उत्पादन से सब कुछ निश्चित होता है। समाज का ढांचा और विचार इसी पर निर्भर है। इसी भौतिकवादी आधार पर कार्लमार्क्स ने इतिहास लिखना प्राम्भ किया। इसलिए उसे इतिहास विभिन्न वर्गों के संघर्ष के रूप दृष्टिगत हुआ। उसका यह दावा था कि बुर्जुआ पूँजीवादी ढांचा ढहने वाला है और सर्वहारा वर्ग क्रांति के किनारे खड़ा है। सर्वहारा वर्ग की तानाशाही स्थापित होने के बाद एक कल्पित आदर्शवाद की स्थिति आयेगी, जबकि वर्ग-रहित समाज होगा। कार्लमार्क्स के अनुसार इतिहास निश्चित नियमों के अन्तर्गत स्वाभाविक प्रक्रिया तथा मनुष्यों द्वारा रचा हुआ और खेला हुआ नाटक है।

कार्लमार्क्स ने अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्र जैसे सामाजिक विज्ञानों के विकास को भी प्रभावित किया। उसने बताया कि मानव अस्तित्व को विभिन्न वर्गों की समष्टि से निकाल कर अलग-अलग समझा जाता है। जब मनुष्य आर्थिक कारणों से प्रभावित होकर कार्य करता है तो उसका अलग से अध्ययन किया जा सकता है। कार्लमार्क्स ने सुझाव दिया कि मनुष्य के विचारों और क्रियाओं को आर्थिक संदर्भ में समझना चाहिए। इसी तरह

सत्ता के लिए मनुष्य की क्षुधा राजनीति में व्यक्त होती है और उसका अलग से अध्ययन किया जा सकता है। उसने मनुष्य की परिभाषा वर्गों के आधार पर की और यह दावा किया कि मनुष्य वर्ग के सदस्य की तरह सामूहिक रूप से कार्य करते हैं और उसके सामान्य मूल्य होते हैं। मनुष्य का समाज के सदस्य के अध्ययन का यह प्रयत्न एक सीमा तक इतिहासकार भी करते हैं।

4.2.4 डार्विन तथा अन्य वैज्ञानिक :

उन्नीसवीं सदी में योरोप में इतिहासीकरण का एक अन्य पक्ष भी है। 1859 में डार्विन के "ओरिजन ऑफ स्पेसिज़" में प्रतिपादित विकासवाद के सिद्धांत ने विज्ञान अथवा जीवविज्ञान में इतिहास परिवर्तन की अवधारणा को प्रविष्ट करा दिया। आदम-स्मिथ (Adam Smith) और फ्राइड (Frieud) का भी इतिहास को अप्रत्यक्ष रूप से योगदान है।

4.2.5 डिल्थे (1823-1911) :

वास्तव में डिल्थे ने इतिहास को सामाजिक विज्ञान बनाने का प्रयास किया। वह इतिहास को समस्त मानवीय अध्ययनों के रूप में मानता था। उसने सर्वप्रथम प्राकृतिक विज्ञान और मानव विज्ञान में अन्तर स्पष्ट किया। मनुष्य प्रकृति की अपेक्षा मनुष्य तथा उसकी कृतियों का अध्ययन अधिक स्पष्ट तथा अधिक लाभप्रद रूप में कर सकता है। उसकी रूचि मनुष्य के सार्वकालिक कार्य-विचारों तथा कृतियों में थी। इतिहास के द्वारा ही मनुष्य को समझने का सूत्र प्राप्त होता है। उसके अनुसार ज्ञान के दों भाग हैं - प्रकृति के ज्ञान के लिए विज्ञान तथा मानव सम्बन्धी ज्ञान के लिए इतिहास। डिल्थे के अनुसार सम्पूर्ण इतिहास मन की अभिव्यक्तियां हैं या आत्म-प्रकाशकीय है।

4.2.6 वेबर :

वेबर की मुख्य रूचि समाजशास्त्र में थी जिसमें मनुष्य का सामाजिक रूप में अध्ययन किया जाता है। यह मनुष्य को उसके सामाजिक अस्तित्व तथा उसकी सम्पूर्ण अंतःसम्बद्धता में समझने के प्रयास के रूप में इतिहास के सबसे निकट है। इसी कारण जर्मनी में बहुत समय तक इतिहास को ही समाजशास्त्र माना जाता रहा।

4.3 बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में इतिहास और सामाजिक विज्ञानः

प्रथम विश्वयुद्ध तथा रूस की क्रांति के परिणामस्वरूप इतिहास और सामाजिक विज्ञानों का अध्ययन नये ढंग से किया जाने लगा। इतिहास की वैज्ञानिक पद्धति का स्थान शनैः शनैः मानव विज्ञान पद्धति ने ले लिया। राजनैतिक इतिहास की अपेक्षा सांस्कृतिक एवं आर्थिक इतिहास लिखा जाने लगा तथा राजा-महाराजाओं के स्थान पर लोगों का। राज्यों के साथ विश्व इतिहास लिखने के भी प्रयत्न किये गये। विभिन्न सामाजिक विज्ञानों का इतिहास की अपेक्षा स्वतंत्र रूप से अधिक

विकास होने लगा, और उनकी सामग्री का प्रयोग भी इतिहास लिखने हेतु आंशिक रूप से किया गया। इस समय के कुछ इतिहासकारों ने अपने ग्रंथों में इतिहास तथा सामाजिक विज्ञानों के बारे में अपने विचार व्यक्त किये हैं।

4.3.1 ऐक्टन :

रांके ने जिस आलोचना-पद्धति को अपनाया, वह वास्तव में एक वैज्ञानिक पद्धति थी। उसे अपनाने से अतीत का यथार्थ में वर्णन किया जाता था। इंग्लैंड में रांके की पद्धति में विश्वास था। उसने आधुनिक-कैम्ब्रिज इतिहास योजना बनाई, जो 12 भागों में 1902 से 1910 के बीच पूरी हुई। उसका इस योजना का मुख्य उद्देश्य उन्नीसवी सदी में इतिहास में हुई उन्नति पर मोहर लगाना तथा साथ में आने वाली शताब्दी के लिए इतिहास लिखना था। उसके अनुसार इतिहास एक उन्नतशील विज्ञान है तथा इसका मुख्य उद्देश्य यथार्थ ज्ञान की वृद्धि करना था। इतिहास अनुभव से प्रगट सत्य का वृत है। ऐक्टन के पश्चात् व्यूरीजों ने भी वैज्ञानिक इतिहास पर पुनरावलोकन किया।

4.3.2 क्रोचे और कालिंगवुडः

ऐतिहासिक ज्ञान के स्वरूप को परिभाषित करने तथा मानव विज्ञान के लिए एक सुदृढ़ आधार स्थापित करने की सम्भावना का गवेषण करने का प्रयास डिल्थे के पश्चात् दो दार्शनिक इतिहासज्ञों ने किया। वे हैं - इटली के बेनेदित्तो क्रोचे तथा इंग्लैड के आर०जी० कालिंगवुड। दोनों के अनुसार ऐतिहासिक ज्ञान मानव सम्बन्धी ज्ञान का स्रोत हैं।

क्रोचे के अनुसार ऐतिहासिक-ज्ञान मानव-ज्ञान का सर्वश्रेष्ठ रूप है तथा यह दर्शन में विलीन हो जाता है। डिल्थे का अनुसरण करते हुए वह कहता है कि मनुष्य प्रकृति के परिमंडल की अपेक्षा स्वयं अपने परिमंडल को अधिक गहराई से समझ सकता है। इसके अतिरिक्त ऐतिहासिक ज्ञान के सापेक्षवाद तथा इससे वैज्ञानिक ज्ञान के यथार्थवादी स्वरूप के पार्थक्य पर बल देकर वह ऐतिहासिक ज्ञान की विशेषताओं पर प्रकाश डालता है। उसने अनुसार यह एक दुर्बलता न होकर एक शक्ति हैं - उसके अनुसार सम्पूर्ण इतिहास वर्तमान इतिहास है। इससे तात्पर्य यह है कि प्रत्येक वर्तमान, अतीत को अपनी दृष्टि से देखता है तथा अतीत को उस रूप में नहीं देखता, जिसमे वह था। अतीत का निर्माण इतिहासकार के मस्तिष्क में होता है। क्रोचे तथा विज्ञानवादी इतिहासज्ञों के मध्य वैचारिक समन्वय स्थापित की जा सकने की सम्भावना बहुत कम है। जिस वस्तु को डिल्थे ने बनाए रखने का प्रयत्न किया था, उसे क्रोचे ने बड़ी सरलता से त्याग दिया। उसके द्वारा प्रतिपादित इतिवृत तथा इतिहास के मध्य भेद कम से कम इतिहासज्ञ की नई समस्याओं में से एक का स्पष्टीकरण कर देता है।

कालिंगवुड की भी मान्यता है कि इतिहास एक अद्वितीय प्रकार का ज्ञान है तथा वह मानव के सम्पूर्ण ज्ञान का स्रोत है। "दी आइडिया ऑफ हिस्ट्री" नामक उसका महान् ग्रंथ उन्नीसवीं शताब्दी के वैज्ञानिक लक्ष्यों की आलोचना से परिपूर्ण है। उसके अनुसार ऐतिहासिक अध्ययन में जो दोष हैं, वे सब प्राकृतिक विज्ञानों की पद्धतियों के अनुकरण के कारण हैं। कालिंगवुड का कहना है कि सम्पूर्ण इतिहास विचारधाराओं का इतिहास है। वह मानव के अध्ययन की विलक्षता पर बल देता है। मनुष्य के कार्य विचारपूर्ण होते हैं तथा इतिहासकार अभिनेता के विचारों की पुनरावृत्ति पर अतीत का पुननिर्माण करता है। क्रोचे तथा कालिंगवुड दोनों ही इतिहास में वैज्ञानिक विचारधारा के प्रयोग की अवांछनीयता के प्रति इतने अधिक सचेत हैं कि उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में मानवीय अध्ययन के प्रति योगदान को स्वीकार नहीं कर पाते।

4.3.3 ओसवाल्ड स्पेंगलर और ऑरनल्ड टॉयनबी:

बीसवीं शताब्दी में विश्व-इतिहास पर इतिहासकारों द्वारा लिखने का प्रयत्न किया गया है। इनमें ओसवाल्ड स्पेंगलर और ऑरनल्ड टॉयनबी के नाम प्रसिद्ध हैं।

स्पेंगलर ने "डिक्लाइन ऑफ वेस्ट" लिखा। स्पेंगलर के अनुसार इतिहास से तात्पर्य मानव स्वभाव से है न कि प्राकृतिक संसार से। रेखीय विकास का सिद्धांत उसे मान्य नहीं है। वह सम्पूर्ण मानव-इतिहास को आठ प्रमुख संस्कृति सभ्यताओं में विभाजित करता है - मिश्री, चीनी, प्राचीन सामी, भारतीय, ईरानी, यूनानी, रोमन तथा पाश्चात्य। इनमें से प्रत्येक का एक मूलभूत प्रतीक है जिसके माध्यम से उस संस्कृति विशेष के आंतरिक सम्बन्ध को जान सकता है। कोई संस्कृति अन्य संस्कृतियों से सर्वथा भिन्न है तथा उसके अपने स्वयं निर्मित मूल्य हैं जिन पर किसी अन्य संस्कृति का कोई प्रभाव नहीं है। इनमें से प्रत्येक संस्कृति विकासशील है, परन्तु स्पेंगलर को ऐतिहासिक प्रक्रिया में रेखीय विकास का सिद्धांत मान्य नहीं है। स्पेंगलर इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि पाश्चात्य सभ्यता का अंत निकट है। इस सिद्धांत के प्रयोग से स्पेंगलर ने इतिहास एवं समाजशास्त्र के पारस्परिक विलय के विरूद्ध मुख्य बाधा को दूर किया। उसने समाजों के प्रारम्भ एवं अंत दोनों की कल्पना की है। उसके अनुसार प्रत्येक संस्कृति एक ऐसी इकाई है जहां प्रत्येक अभिव्यक्ति एक-दूसरे से सम्बन्धित है तथा जहां सब लोग उस संस्कृति विशेष की आत्मा को अभिव्यक्त करते हैं। उसका विश्लेषण का वास्तविक निहितार्थ यह है कि अतीत का सुनियोजित एवं अनुशासित अध्ययन असम्भव है। उसकी यह मान्यता कि प्रत्येक सभ्यता पूर्ण-रूपेण विलक्षण एवं स्वाधीन है, किसी प्रकार के तुलनात्मक विश्लेषण की सम्भावना नहीं छोड़ती, यहां तक कि प्रत्येक सभ्यता में मानव सभ्यता भी भिन्न है।

स्पेंगलर ने इतिहासज्ञ के एक बड़े दायित्व का निर्वाह किया है जिसका विकास मानवशास्त्रियों द्वारा विशेष रूप से आदिम संस्कृतियों के अध्ययन के अन्तर्गत किया गया है, हालांकि उसकी पद्धति अपनी सम्पूर्णता में उसको प्रभावित नहीं करती।

ऑरनाल्ड टॉयनबी ने अपना ग्रंथ "स्टडी ऑफ हिस्ट्री" दस भागों में लिखा है। उसने विश्व-इतिहास की सभ्यता को तेईस इकाइयों में विभक्त किया है। उसके अनुसार पाश्चात्य सभ्यता अवनति के अंतिम चरण मे पहुंच गई है। उसके साथ वह देखता है कि प्रायः विकास का क्रम प्राचीन से आधुनिक की ओर अग्रसर होता है। उसके ग्रंथ के परवर्ती भागों में धर्म बहुत महत्वपूर्ण हो जाता है। जैसे-जैसे सभ्यताओं का पतन होता है, नये धर्मों का उदय होता है तथा विश्व-इतिहास की प्रत्येक अनुक्रमिक अवस्था में धर्म का स्तर उच्चतर होता जाता है। धीरे-धीरे टॉयनबी पाश्चात्य सभ्यता के सम्बन्ध में अपना निराशावाद त्याग देता है तथा एक पैगम्बर का रूप धारण कर कहता है कि यदि पाश्चात्य जगत् अपनी समयोचित भूमिका तथा उचित मूल्यों को स्वीकार कर लेता है तो वह अपनी पतनोन्मुख सभ्यता के भीतर एक नये धर्म का निर्माण कर विश्व-इतिहास के प्रति अपना योगदान दे सकता है। उसने मनोविज्ञान सहित विभिन्न सामाजिक विज्ञानों के विषयों का प्रयोग इस ग्रंथ लेखन हेतु किया। इनकी अनुसंधान पद्धतियाँ तथा सामग्री का आंशिक प्रयोग भी किया गया।

4.3.4 ई०एच० कार:

ई०एच० कार के अनुसार इतिहासकार तथा इतिहास के तथ्य एक-दूसरे पर आधारित हैं। बिना तथ्यों के इतिहासकार आधारहीन एवं व्यर्थ है, और बिना इतिहासकार के तथ्य जीवन-विहीन तथा निरर्थक होते हैं। इतिहास, इतिहासकार तथा तथ्यों के बीच स्थित अन्तर्क्रिया की यह आदान-प्रदानात्क प्रक्रिया है, जिसे मैंने वर्तमान तथा अतीत के बीच संवाद की संज्ञा प्रदान की है - अगोचर अथवा एकांकी व्यक्तियों के बीच होने वाला संवाद नहीं, अपितु वर्तमान-कालिक समाज तथा अतीतकालिक समाज के बीच होने वाला संवाद है।

इतिहास तब से प्रारम्भ होता है, जब मनुष्य समय क्रम को प्राकृतिक प्रक्रिया के रूप में समझना छोड़कर विशिष्ट घटनाओं की एक श्रृंखला के रूप में समझने तथा परिष्कृत करने लगा। इस बात ने विवेक में तथा इतिहास में एक नया आयाम जोड़ दिया है। वह अतीत की ओर इस आशा से देखता है कि इससे भविष्य की रहस्यमयता को हटाने के लिए कुछ प्रकाश मिल सकेगा, साथ ही भविष्य के प्रति उसकी आकांक्षाएं एवं चिंताएं उसके अतीत के ज्ञान को स्पष्ट करेगी। अतीत, वर्तमान तथा भविष्य इतिहास की अनंत श्रृंखला में परस्पर घनिष्ट-रूपेण संबद्ध है।

जब से राके ने इतिहासकार का उपर्युक्त उद्देश्य घटनाओं का यथातथ्य निरूपण बताया, इतिहास-लेखन में निर्वैयक्तिकता का प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जाने लगा है। कार के अनुसार इतिहास में तथ्यों का कोई इतिहासकार से विलग अस्तित्व नहीं होता, इतिहासकार ही अपने चयन-कर्म द्वारा तथ्यों का प्रतिष्ठापन करता है। यद्यपि इतिहास में नितांत निर्वैयक्तिकता सम्भव नहीं है, तथापि इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि इतिहास का कोई प्रयोजन अथवा आकर्षण नहीं है। वस्तुतः इतिहास "इतिहासकार तथा तथ्यों" के बीच स्थित अन्तर्क्रिया की अविच्छिन्न प्रक्रिया है।

इतिहास का विषय व्यष्टि-जीवन न होकर सामाजिक-जीवन है। समाज का जीवन सम्भावनात्मक नियमों से परिचलित होता है। ये नियम ही समाज-विज्ञान के आधार हैं। इतिहास भी समाज-विज्ञान के रूप में इस प्रकार के नियमों का उपयोग कर सकता है। इतिहास का सम्बन्ध सामान्य घटनाओं से न होकर उनसे होता है जो अपूर्व और अद्वितीय होती हैं। इतिहास की विषयवस्तु सामान्य न होकर विशिष्ट होती है।

कार का कहना है कि वैज्ञानिक, समाज-वैज्ञानिक और इतिहासकार जिस एक ही अध्ययन की विभिन्न शाखाओं में व्यस्त हैं, वह है - **मनुष्य और उसके वातावरण का अध्ययन**। मनुष्य का वातावरण पर तथा वातावरण का मनुष्य पर प्रभाव पड़ता है।

4.4 बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में इतिहास और सामाजिक विज्ञान :

द्वितीय विश्वयुद्ध के कारण इतिहास और सामाजिक विज्ञानों के अध्ययन में इस समय एक नये युग का सूत्रपात हुआ। अद्‌भुत वैज्ञानिक उन्नति और नये युगों के परिणामस्वरूप पहिले के युग से भिन्न राजनैतिक और सामाजिक संस्थाओं की स्थापना हुई। इनसे नई समस्याएं जैसे समूह-व्यवहार, नागरीकरण और सांस्कृतिक संक्रमण आदि पैदा हुई। इनके समाधान के लिए सामाजिक विज्ञानों का विकास हुआ और तद्‌नुसार नई शोध पद्धतियों को अपनाया गया। इन सामाजिक विज्ञानों में अर्थशास्त्र की बड़ी तेजी से उन्नति हुई। इन सामाजिक विज्ञानों का प्रभाव इतिहास पर भी पड़ा। इतिहास में पारंपरिक पद्धतियों के स्थान पर इन सामाजिक विज्ञानों की नई पद्धतियों का प्रयोग शुरू हुआ। इस प्रकार का जो इतिहास लिखा गया, वह "न्यू हिस्ट्र" कहा जाने लगा।

कार्बन 14 तथा अन्य वैज्ञानिक विधियों के इतिहास के तिथि-निर्धारण में क्रांति ला दी है। विश्व के किसी कोने में जो घटना होती है उसका प्रभाव सब पर पड़ता है। विश्व एक होने जा रहा है। साम्यवादी विचारधारा का भी प्रभाव हुआ और इतिहास भौतिक दृष्टि से लिखा जाने लगा। इतिहास लिखने में राजनीति के स्थान पर आर्थिक, सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक पक्षों पर बल दिया जाने लगा। इससे भी सामाजिक विज्ञानों का महत्व बढ़ा ।

इस समय इतिहास पर सामाजिक विज्ञानों का स्पष्ट प्रभाव दो चरण में देखा जा सकता है। पहिले इतिहास का इन सामाजिक विज्ञानों के प्रति आकर्षण अन्तर्दृष्टि और नये दृष्टिकोण हेतु हुआ। इसके अतिरिक्त

इतिहास के विश्लेषण (Analysis), प्रत्यय (Concept), प्रतिरूप (Model), परिमापन (Quantification) मापनी (Measurement) और सांख्कीय साधनों का भी प्रयोग किया जाता है। अर्थशास्त्र की विशेषकर अर्थमिति (Econometric) का प्रयोग भी इतिहास में देखा जाता है। आर्थिक इतिहास और ऐतिहासिक्र जनांकिकी (Historical Demography) इस युग के इतिहास की उपलब्धियां मानी जाती हैं। कंप्यूटर-युग में कंप्यूटर पद्धति अर्थात् क्यिलोमैट्रिक्स (Cliometrics) ने भी इतिहास-लेखन में क्रांति ला दी है। टॉमस ट्राउटमैन ने कौटिल्य के अर्थशास्त्र पर कंप्यूटर का प्रयोग किया है। अभी हाल में "व्हिच रोड टू दी पास्ट" में भी इसका प्रयोग हुआ है।

4.5 इतिहास पर सामाजिक विज्ञानों का प्रभाव:

इतिहास और सामाजिक विज्ञानों का गठन उन्नीसवीं सदी में हुआ तथा इनकी उत्पत्ति का स्रोत एक हैं। इनका विकास बीसवीं सदी में हुआ। अन्य सामाजिक विज्ञानों की अपेक्षा समाजशास्त्र और मानव-विज्ञान इतिहास के पुनर्विन्यास हेतु अधिक उपादेय हैं। बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में अन्य सामाजिक विज्ञानों की अपेक्षा अर्थशास्त्र का महत्व बढ़ गया और इनका प्रभाव इतिहास पर अधिक स्पष्टता से दृष्टिगोचर होने लगा। इन सामाजिक-विज्ञानों के अध्ययन में परिमाणन (Quantification) सिद्धांत का प्रयोग होने लगा। इतिहास और सामाजिक विज्ञानों का सामान्य उद्देश्य सत्य की खोज है, तथा इनका सम्बन्ध मानव के कार्यों से है। इतिहास का प्रभाव भी सामाजिक विज्ञानों पर रहा है। सामाजिक विज्ञानों के विकास की जानकारी भी इतिहास से लगाई जा सकती है। वास्तव में इतिहास भूतकाल में सामाजिक विज्ञानों का प्रक्षेप है। इतिहास, समाजशास्त्र और मानव-विज्ञान जैसे सामाजिक विज्ञानों में समय के आयामों को जोड़ सकता है।

4.5.1 समाजशास्त्र और मानव-विज्ञान :

समाजशास्त्र और मानव-विज्ञान अन्य सामाजिक विज्ञानों की अपेक्षा इतिहास के अधिक निकट हैं। समाजशास्त्र का सम्बन्ध आधुनिक समाज से है तथा मानव-विज्ञान का आदिम जातियों से। युग की नई समस्याओं के समाधान हेतु इतिहास को भी समाजशास्त्र और मानव-विज्ञान की नई पद्धतियों का सहारा लेना पड़ता है। समाजशास्त्र और मानव-विज्ञान का इतिहास पर प्रभाव सामान्य प्रकार का है।

आदिम और उन्नत जातियों के मिलन से सांस्कृतिक संक्रमण होता है। अफ्रीका जैसे देश में लिखित सामग्री प्राप्त नहीं होती। वहां साधारण लोगों की ऐतिहासिक सामग्री अत्यंत अल्प ही मिलती हैं। परिवार, विवाह, जनसंख्या की गतिशीलता, अल्पसंख्यक समूह, सामाजिक समूह, भूमि-स्वामित्व, राजा और सामंत के सम्बन्ध, स्वामी और नौकर के सम्बन्ध, पुजारी ओर अनुयायी, अकाल और बीमारियों के प्रकरणों का महत्व केवल सामाजिक विज्ञानों के लिए ही नहीं किंतु इतिहास के लिए भी है। इन सामाजिक विज्ञानों की शोध पद्धतियों का प्रयोग इतिहास में भी किया जाता है।

समाजशास्त्र और मानव-विज्ञान के समान इतिहास में भी सामग्री उपलब्ध नही होने पर कभी-कभी वैकल्पिक साधनों से एकत्रित करनी पड़ती है। तकनीक सामग्री का संकलन, वर्गीकरण तथा विश्लेषण सावधानी से करना चाहिए। इतिहास में भी तथ्यों का चुनाव तथा अर्थ के आधार पर प्रत्यक्ष और प्रक्कलपना का प्रयोग किया जाता है। आनुभविक ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर जो विशिष्ट प्रत्यय उपस्थित होते हैं उनकी सर्वव्यापी मान्यता होती है। मानव-विज्ञान में कुछ कथन सर्वव्यापी हैं, जैसे प्रत्येक संस्कृति में किसी न किसी प्रकार का धर्म होता है, तथा कौटुम्बिक व्यभिचार में रोक होती है। कभी-कभी विशेष समाज और विशिष्ट काल के प्रत्ययों का प्रयोग भी किया जाता है, जैसे नगर, नौकरशाही और पूंजीवाद। समाजशास्त्र में कथात्मक विवरण के व्यवस्थित विश्लेषण द्वारा विभिन्न प्रतिरूप (मॉडल) तैयार किये जाते हैं। इतिहासकार ऐतिहासिक प्रमाण का अर्थ लगाने में भी इनको प्रयोग कर सकता है। मात्रिक विश्लेषण द्वारा इतिहास में भी सामान्य कथनों की जांच होती हैं।

5.2 मनोविज्ञान :

इतिहास का मनोवैज्ञानिक पक्ष भी होता है किंतु वह प्रत्यक्ष नहीं है। मनोविश्लेषण मनोविज्ञान की इतिहास को बहुत बड़ी देन है। सामान्य परिणामों पर पहुंचने के लिए पहिले समस्त समस्या पर विचार करना पड़ता है। ऐतिहासिक सामग्री में मनोविश्लेषणात्मक प्रत्यय खोजना संदेहास्पद है किंतु उसको मनोविश्लेषणात्मक दृष्टि से विचार करना चाहिए। आनुभविक शोध के परिणामस्वरूप इतिहास में मनोवैज्ञानिक प्रत्ययों का प्रयोग होता है।

मनोविज्ञान व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों होता है। व्यक्तिगत मनोविज्ञान के क्षेत्र ने भी इतिहासकारों के ध्यान को आकृष्ट किया। लूथर और महात्मा गांधी जैसे महान लोगों का इतिहास को बड़ा योगदान रहा है। इन महापुरुषों की जीवन का इतिहास से महत्वपूर्ण सम्बन्ध रहा है। मनोविश्लेषण व्यक्ति के लिए ऐतिहासिक घटना के महत्व के समझाने में सहायक होता हैं। इतिहास के लिए हिटलर का व्यक्तिगत मनोविज्ञान वास्तविक प्रश्न नहीं है, किंतु जर्मन समाज की परिस्थिति, जिसके कारण उसकी शक्ति बढ़ी और 1945 तक उसे बनाये रखा, ये अधिक महत्वपूर्ण है।

ऐतिहासिक प्रश्नों के विश्लेषण करने में व्यक्तिगत मनोविज्ञान की अपेक्षा सामाजिक मनोविज्ञान का अधिक महत्व है। इतिहास में वर्ग-व्यवहार, सामूहिक हिस्टिरिया, सामूहिक चेतना और अविवेकी शक्तियों के अध्ययन हेतु मनोविज्ञान से प्रेरणा मिलती है। सामाजिक मनोविज्ञान आधुनिक विश्व की विशिष्ट समस्याएं और प्रपंच जैसे - हिंसा, समग्रवाद (Totalitarianism) जातीय विरोध और क्रांति को वर्ग-मनोविज्ञान और वर्ग-व्यवहार के रूप में समझने और विश्लेषण हेतु आनुभविक शोध से सम्बन्धित है। इतिहास का सम्बन्ध केवल सामूहिक व्यक्तित्व से न होकर सामूहिक शक्तियों से है, जो समाज के जीवन का निर्माण

करती हैं। इतिहास राष्ट्रवाद और साम्राज्यवाद से सम्बन्ध रखता है। मनोविज्ञान का इनके मूल से सम्बन्ध है तथा साथ में तनाव से भी।

मनोविज्ञान का सम्बन्ध न केवल आधुनिक इतिहास से किंतु भूतकाल से इतिहास से भी होता है। मनोविज्ञान से ही अप्रत्यक्ष रूप से पता लगाया जा सका है कि यूनानी धर्म और संस्कृति में अविवेकी तत्व हैं तथा मूल निवासियों तथा उपनिवेशियों में विरोध रहता है।

4.5.3 अर्थशास्त्रः

अन्य सामाजिक विज्ञानों की अपेक्षा अर्थशास्त्र का इतिहास को महत्वपूर्ण योगदान है। आर्थिक परिवर्तनों के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि अर्थशास्त्र ने इतिहास को बहुत प्रभावित किया। आदमस्मिथ रिकार्डो तथा कार्लमार्क्स के समय ऐतिहासिक परिवर्तनों के निर्धारण में आर्थिक कारणों का महत्व रहा है। यदि इतिहास द्वारा मनुष्य का आर्थिक उत्थान समझना है तो उसके पास आवश्यक सैद्धांतिक और सांख्यिकीय साधन उपलब्ध होने चाहिए। बिना मुद्रा की मात्रा के सिद्धांत (Quantity Theory of Money) के सोलहवीं सदी के इंग्लैंड में कीमतों की तेजी को नहीं समझा जा सकता। अमेरिका में गृहयुद्ध के पहिले गुलामी प्रथा ने तथा अर्थ-व्यवस्था के विकास के लिए रेलवे ने इतिहास को भी प्रभावित किया। विश्व की महत्वपूर्ण घटनाएं जैसे 1929 की महा मंदी तथा 1945 की न्यूडील की नीतियां बिना सम्बद्ध आर्थिक सिद्धांत जाने नहीं समझी जा सकती।

अन्य सामाजिक विज्ञानों की अपेक्षा आधुनिक समय में अर्थशास्त्र की सामग्री, जैसे - कर-सूची, कीमतों का ब्यौरा, वेतन, गणना विवरण, सीमा शुल्क और चुंगी, अधिक प्राप्त होती है। राज्य सरकार तथा अन्य एजेंजियों के अधिकार में ऐसी सामग्री उपलब्ध है। पारंपरिक आर्थिक इतिहास के उपाय ऐसी सामग्री के लिए ठीक नहीं है। आर्थिक इतिहास के लिए इस सामग्री का सैद्धांतिक तथा सांख्कीय विश्लेषण ठीक ढंग से हो सकता है। नये आर्थिक इतिहास निर्माण हेतु प्रमाणिक पद्धतियों जैसे सांख्कीय तथा मात्रिक विश्लेषण का महत्व पर्याप्त है। नये आर्थिक इतिहास (New Economic History) की मुख्य विशेषता है - परिकल्पित निगमनिक प्रत्ययों (Hypothetico-Deductive Models) का प्रयोग जो गणित की शब्दावली में अथमिति (Econometrics) के नाम से जाना जाता है। विभिन्न प्रत्यय जो संघटक तत्वों का प्रतिनिधित्व करते हैं, आर्थिक परिवर्तन के संकेत हैं। इन प्रत्ययों से नई बातें जैसे रेलवे और बैंक द्वारा आर्थिक विकास के प्रभाव को बताना भी है। नये आर्थिक इतिहास की मुख्य उपलब्धि है - एक तरह स्थाई आर्थिक विश्लेषण से ऐतिहासिक परिवर्तन की धीमे और स्थिर विकास तथा दूसरी तरफ इसके द्वारा नाम और सिद्धांत पर जोर दिया जाना

अर्थशास्त्र का सजातीय विषय ऐतिहासिक जनांकिकी (Historical Demography) है। आर्थिक इतिहास के लिए इसकी आवश्यकता हैं। 1950 में इसका उद्गम हुआ था। इसके लिए पहल इतिहासकारों

द्वारा हुई जो आर्थिक विकास हेतु आर्थिक और जनांकिकी समस्याओं को सुलझाना चाहते हैं।

पारम्परिक जनांकिकी का सम्बन्ध केवल लोगों के जन्म एवं मृत्यु से है, किंतु ऐतिहासिक जनांकिकी का जनसंख्या की गतिशीलता से है। ऐसे प्रकरण आज के युग मे अनेक हैं, जैसे - जनसंख्या, जन्म-दर की प्रवृत्ति (Propensity), परिवार, विवाह और मृत्यु, ग्रामों और वर्गों में लोगों की व्यवस्था, औद्योगिक क्रांति के पहिले जनसंख्या की स्थिरता और बाद में विकास और समाजों की जनसंख्या में भिन्नता का स्वरूप। ऐतिहासिक परिवर्तन की प्रक्रिया की आर्थिक पृष्ठभूमि होती है। देर से विवाह की शुरूआत इसी कारण से हुई। जनसंख्या के स्रोतों की अनुकूलता तथा बचपन से समृद्धि होती है। आर्थिक उत्थान के लिए मनुष्यों ने विवाह स्थगित करना भी प्रारंभ किया।

ऐतिहासिक जनांकिकी से सम्बन्धित अन्य पहलू बीमारी और अकाल का प्रभाव, कृषि जनसंख्या, शिशु मुत्यु संख्या, समाज व जनसंख्या की गतिशीलता और नगर और ग्राम का सम्बन्ध आदि भी है। ऐतिहासिक दृष्टि से इन सबका महत्व है। परिवार नियोजन भी इसी के अन्तर्गत आता है।

जनगणना सत्रहवीं से उन्नीसवीं सदी तक केवल फ्रांस और इंग्लैड में ही होती थी। ऐतिहासिक जनांकिकी का प्रयोग सत्रहवीं सदी के पहिले इंग्लैंड और फ्रांस के इतिहास हेतु तथा अन्य देशों के लिए भी नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसी सामग्री उपलब्ध नहीं है। मात्रिक विश्लेषण के प्रयोग ऐतिहासिक जनांकिकी के लिए भी होता है। नया आर्थिक इतिहास (New Economic History) और जनांकिकी इतिहास की महत्वपूर्ण उपलब्धियां हैं।

4.5.4 राजनीति-शास्त्रः

इतिहास और राजनीतिशास्त्र दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। एक के अभाव में दूसरे का अध्ययन निरर्थक एवं सारहीन है। इतिहास भूतकालीन राजनीति है, और राजनीति वर्तमानकालीन इतिहास। आधुनिक राज्य ऐतिहासिक विकास का ही परिणाम है। इतिहास में हमें भूतकालीन घटनाओं का वर्णन मिलता है। ये घटनाएं आर्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और सामाजिक हो सकती हैं। राजनीतिशास्त्र को राजनैतिक संस्थाओं के अध्ययन के लिए इतिहास की शरण लेनी पड़ती है। सीले के अनुसार राजनीतिशास्त्र जब तक इतिहास से सम्बन्धित नहीं रहता, तब तक वह एक निकृष्ट विषय है और इसी प्रकार यदि इतिहास राजनीति से अपना सम्बन्ध तोड़ ले तो वह केवल एक कथा मात्र बन कर रह जाता है।

यदि राजनीति इतिहास पर निर्भर है तो इतिहास भी राजनीति पर आधारित है। राजनीति की सहायता लेकर इतिहास कुछ सिद्धांतों को बनाता है। राजनैतिक संस्थाएं, राजनैतिक विचारधाराएं और राजनीतिक आन्दोलन इतिहास की महत्वपूर्ण सामग्री तैयार करते

हैं। उन्नीसवीं सदी के योरोप के इतिहास का कोई भी वह विवरण अपूर्ण ही रहेगा जब तक कि व्यक्तिवाद, समाजवाद, राष्ट्रवाद, साम्राज्यवाद आदि राजनीतिक विकासों के ज्ञान से उसकी पूर्ति नहीं हो जायेगी। इसी तरह भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम के इतिहास के सिलसिले में शासन सुधार सम्बन्धी अधिनियमों, साइमन कमीशन, गोलमेज सम्मेलनों, क्रिप्स प्रस्तावों, साम्प्रदायिक पंचाट, केबिनेट मिशन घोषणा आदि बातों की चर्चा आवश्यक है। राजनीतिक घटनाओं का विश्लेषण और विवरण के बिना इतिहास की सामग्री का वास्तविक मूल्य नहीं रहेगा। 1917 की रूसी क्रांति ने रूस के इतिहास पर जो प्रभाव डाला, वह सर्वविदित है।

इतिहास और राजनीति में घनिष्ट सम्बन्ध होते हुए भी आधार-भूत भेद भी है। इतिहास एक वर्णनात्मक विषय है। उसमें घटनाओं का वर्णन होता है। राजनीति में नैतिक और दार्शनिक आधार होते हैं। इतिहास का क्षेत्र बहुत विस्तृत होता है और उसकी तुलना में राजनीतिशास्त्र का क्षेत्र पर्याप्त संकुचित कहा जा सकता है। इतिहास का सम्बध घटनाओं के वर्णन से होता है, किंतु राजनीति-शास्त्र इन घटनाओं से कई परिणाम निकालकर उन्हें विस्तृत रूप भी देता है। इतिहास का सम्बन्ध उस राज्य से है जैसा कि वह रहा है। राजनीति का सम्बन्ध ऐसे भी राज्य से है जैसा कि उसे होना चाहिए। इतिहास की विषय-वस्तु भविष्य में दूसरे विषयों द्वारा पूरी तरह निगली भी जा सकती है किंतु राजनीति को ऐसा कोई डर नहीं है। उसका क्षेत्र तो भविष्य में विस्तृत होगा, जिसमें अन्य विषय हस्तक्षेप नहीं कर सकेंगे।

4.5.5 भूगोल :

भूगोल को भी सामाजिक विज्ञान के अन्तर्गत रखा जा सकता है, और इसका इतिहास से घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। देश के इतिहास पर उसके पर्वत, नदियाँ, रेगिस्तान, जंगल, समुद्र, खनिज पदार्थ, भूमि और जलवायु का प्रभाव पड़ता है। भौगोलिक परिस्थितियों से न केवल राजनैतिक किंतु सांस्कृतिक और आर्थिक इतिहास का भी निधार्रण किया जाता है। भारत का स्थानीय इकाइयों में समय-समय पर विभाजन प्रायः भौगोलिक कारणों से हुआ। हिमालय पर्वत ने भारत की विदेशी आक्रमणों से रक्षा की। पर्वतों के कारण हमेशा युद्ध और झगड़े हुए। नदियों के किनारे तथा मैदानों में सभ्यताएं और साम्राज्य बने, पनपे और बिगड़े। राजस्थान के लोग प्रायः अपनी वीरता के लिए प्रसिद्ध रहे और समय-समय पर शत्रुओं का सामना किया। अफ्रीका अपनी गरम जलवायु के कारण अभी बीसवीं शताब्दी तक अंध-महाद्वीप बना रहा। साम्यवादी चीन ने ऐतिहासिक मेकमोहन सीमारेखा का उल्लंघन कर हमारे देश पर जो आक्रमण किया, उसके पीछे भौगोलिक कारण थे।

भारत में आदिम जाति के लोग लम्बे समय से जंगलों तथा पहाड़ों की निर्जन घाटियों में अलग से बसे रहे। इस कारण वे सांस्कृतिक

ढंग से पीछे रहे। नगरों की स्थापना के पीछे भी भौगोलिक कारण रहे। मार्गों का भी भौगोलिक महत्व रहा है। कला की शैलियों के नाम स्थानीय रहे। भारतीय भाषाएं भी स्थानीय विशेषताएं लिये हुए हैं। साहित्य और दर्शन के उत्थान के विशेष स्थान रहे हैं। भूगोल का प्रभाव लोगों के खान-पन, वस्त्र, स्वभाव, रीति-रिवाज, आमोद-प्रमोद आदि पर पड़ा। ठण्डे देश के लोग चुस्त होते हैं तथा गरम जलवायु के निवासी सुस्त पाये जाते हैं।

आधुनिक समय में विज्ञान की प्रगति भौगोलिक परिस्थितियों को बदल रही है। संसार के प्राकृतिक साधन सभी राज्यों के लिए सुलभ होने लगे हैं। अंतरिक्ष यात्राएं भूगोल का स्वरूप बदल रही हैं, जिनका प्रभाव आज की राजनीति पर गम्भीरता से पड़ रहा है। आवागमन के सुलभ साधन जैसे रेल्वे और हवाईजहाज के कारण दूरी को जीत लिया गया है और विश्व को एक करने का प्रयास किया जा रहा है। वैज्ञानिक साधनों से रेगिस्तान को भी हरा-भरा किया जा सकता है। इन सबका इतिहास पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ रहा है।

4.6 अभ्यासार्थ प्रश्नः

(i) उन्नीसवीं सदी में इतिहास और सामाजिक विज्ञान के स्वरूप एवं प्रवृतियों का विश्लेषण कीजिये?

(ii) बीसवीं सदी में इतिहास और सामाजिक विज्ञान के स्वरूप एवं प्रवृतियों की व्याख्या कीजिये?

(iii) इतिहास का समाज विज्ञान के विभिन्न विषयों के साथ क्या सम्बन्ध है?

4.7 संदर्भ ग्रन्थः

(i) Heoel GWF : Lecutres on Philosophy of History

(ii) Carr E.H. : What is History? (Also in Hindi)

(iii) Collingwood R.G. : Idea of History.

(iv) गोविन्द चन्द्र पाण्डे : इतिहास : स्वरूप एवं सिद्धांत

(v) बुद्ध प्रकाश : इतिहास दर्शन

NOTES

MAHY-03

उ० प्र० राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

एम.ए.पाठ्यक्रम
(इतिहास)

खण्ड–2

इकाई संख्या	पृष्ठ संख्या
इकाई 5 चीनी इतिहास लेखन की भूमिका और उसका स्वरूप	3-20
इकाई 6 अरबी एवं इस्लामी इतिहास लेखन की परम्परायें	21-42
इकाई 7 ईसाई धर्म एवं इतिहास चिन्तन	43-52
इकाई 8 रॉके के विशेष संदर्भ में इतिहास दर्शन की निश्चयात्मक अभिगम	53-61
इकाई 9 इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या (मार्क्सवादी सिद्धान्त)	62-80

इकाई - 5

चीनी इतिहास लेखन की भूमिका और उसका स्वरूप

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 इतिहास लेखन परम्परा की उत्पत्ति

5.3 कनफूसियसवाद और इतिहास लेखन

5.4 विवरणात्मक इतिहास लेखन का विकास

5.5 वृहद् इतिहास लेखन परम्परा का प्रादुर्भाव एवं विकास

5.5.1 पान कू (32 -12 ई.पू.)

5.6 आधिकारिक इतिहास लेखन का विकास

5.7 विश्लेषणात्मक व आलोचनात्मक इतिहास लेखन

5.8 चीनी इतिहास लेखन परम्परा की विशेषताएँ

5.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

5.10 संदर्भ ग्रंथ

5.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन से आप चीनी इतिहास लेखन की परम्परा को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में समझने में समर्थ होंगे। चीनी इतिहास लेखन की परम्परा का विकास समझाना इस का प्रमुख उद्देश्य है। इतिहास लेखन की वैज्ञानिक प्रवृत्तियों को समझने में भी यह इकाई सहायक होगी।

5.1 प्रस्तावना

चीन में प्राचीन काल से ही इतिहास लेखन एवं अध्ययन ज्ञान का प्रमुख विषय था। एक शिक्षित व्यक्ति के लिए इतिहास का ज्ञान आवश्यक था। वहाँ की परम्परागत शिक्षा प्रणाली में तथा शासकीय पदों के चयनार्थ परीक्षाओं के लिए इतिहास एक अनिवार्य विषय था। वहाँ के राजनैतिक, सांस्कृतिक और बौद्धिक परिवेश का यह एक अभिन्न अंग था। इसीलिए वहाँ सभ्यता के प्रारम्भ से ही इतिहास लेखन व अध्ययन शासक - वर्ग तथा शिक्षित वर्ग के कार्य-कलापों से सम्बन्धित रहा और इन्हीं की छत्रछाया में निरन्तर विकसित हुआ। चीनी इतिहास लेखन-परम्परा को समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि इसकी उत्पत्ति और विकास के क्या-क्या आयाम थें? वहाँ के मुख्य इतिहासकार कौन थे? और उन्होंने चीनी इतिहास-लेखन-परम्परा के विकास में क्या योगदान दिया? अन्त में पाश्चात्य या तथाकथित "वैज्ञानिक-इतिहास-लेखन की तुलना में चीनी-इतिहास-लेखन-परम्परा की क्या विशेषताएं थी?

5.2 इतिहास-लेखन-परम्परा की उत्पत्ति

चीन में इतिहास-लेखन-परम्परा का प्रारम्भ हनान् प्रान्त के आन् याङ् शहर में पुरातात्विक अन्वेषण में प्राप्त हड्डियों पर उल्लिखित ऐतिहासिक विवरणों से माना जाता है। ये उल्लिखित हड्डियां सर्वप्रथम 1899 ई० में प्राप्त हुई थी। इसके बाद इस तरह की कई हड्डियां बाद के विभिन्न पुरातात्विक अन्वेषणों में प्राप्त हुईं। इनमें लगभग 4,500 चीनी वर्णमाला के अक्षर (Character) मिले जिनमें से 1,700 की अब तक पहचान की जा चुकी है। प्रत्येक हड्डी पर 10-15 से लेकर 100 तक अक्षर अंकित हैं। ये अधिकतर तत्कालीन शासक - परिवारों की विभिन्न गतिविधियों का उल्लेख करती हैं ।

इन हड्डियों पर लेखाकंन मुख्यतः दैविक शक्तियों के आह्वान के लिए होता था। इन पर समकालीन घटनाओं के परिप्रेक्ष्य में प्रश्न और उत्तर अंकित किया जाता था।

इसके पश्चात् इनको किसी स्थान विशेष पर गर्म किया जाता था और इससे इसमें चटकाव से जो रेखाएं बनती थी उसके स्वरूप के आधार पर घटनाओं की दैविक शक्तियों के अच्छे या बुरे प्रभाव की व्याख्या की जाती थी। चूँकि ये हड्डियां धार्मिक अनुष्ठानों में प्रयोग की जाती थी इसलिए इन्हें 'भविष्य-सूचक-अस्थि-अभिलेख' कहा जाता है। इनका काल 16 से 11 शती ई०पू० माना जाता है। ये निःसन्देह चीन के प्राचीनतम ऐतिहासिक विवरण हैं। वहाँ के शाङ् वंश के अध्ययन के लिए ये प्रमुख लिखित ऐतिहासिक स्रोत हैं ।

शाङ् वंश के उत्तरार्द्ध तथा चौउ वंश के प्रारम्भ होते-होते भविष्य-सूचक-अस्थि-अभिलेखों का स्थान ताम्रपत्रांकित-अभिलेखों ने ले लिया। ये अभिलेख 'चिन् वन्' (ताम्र-अभिलेख) या "चौङ् तीङ् वन्" (प्राचीन ताम्र-अभिलेख) के नाम से जाने जाते हैं। पुरातात्विक अन्वेषणों में शाङ् काल की तुलना में चौड काल के अभिलेख अधिक मात्रा में प्राप्त हुए हैं। इन पर अंकित अक्षरों की संख्या भी 'भविष्य-सूचक-अस्थि-अभिलेख (Oracle bones) की तुलना में ज्यादा हैं। जिनमें अधिकांश समकालीन प्रमुख उपलब्धियों तथा शासक वर्ग द्वारा प्रदत्त दान व पुरस्कारों की प्रशंसा के सन्दर्भ में लिखे गये हैं। इसके अतिरिक्त इनमें विस्तृत रूप से तत्कालीन युद्ध अभियानों, युद्ध बन्दियों और प्रमुख व्यक्तियों को पुरस्कार के रूप में दिए गये सेवक, गुलाम, भू-खण्ड, रथ-घोड़े, सोने व हड्डियों के पात्रों तथा विशेष राजसी झंडे, वस्त्र आदि का उल्लेख है। कई अभिलेखों में युद्ध की परिस्थितियों और व्यक्तियों को पुरस्कृत करने के कारणों का भी क्रमबद्ध वर्णन है। कहीं-कहीं वर्ष, महीना और दिन भी अंकित है। इन अभिलेखों में अधिकतर अन्तिम पंक्ति में "परवर्ती (भावी) पीढ़ियों के लिए शाश्वत-संरक्षित" लिखा होता है। इससे ज्ञात होता है कि इनका मुख्य उद्देश्य इन विवरणों को दृष्टांत की तरह भावी पीढ़ियों के लिए संरक्षित करना था। ये अभिलेख ऐतिहासिक लेखन की दृष्टि से 'भविष्य-सूचक-अस्थि-अभिलेखों की परम्परा से निश्चित रूप से ज्यादा विकसित थे।

चौउ काल में ताम्र-अभिलेखों के अतिरिक्त बांस की पट्टियों और रेशम के कपड़ों पर भी प्राचीनतम इतिहास सम्बन्धी विवरण लिखने की प्रथा का प्रारम्भ हुआ। चीन के दो प्रमुख ऐतिहासिक ग्रंथ "इतिहास-पुस्तक" (Book of History शाङ्. शू) और "सम्बोध-गीति-पुस्तक" (Book of Ods शीर् चिङ्.) के अंश इसी पर मिलते हैं। "इतिहास पुस्तक" में शाङ्. काल से लेकर पश्चिमी चौउ काल के 'बसंत-शरद्काल' के राजनैतिक दस्तावेजों, प्रमुख व्यक्तियों के कार्य-कलापों और उनसे सम्बन्धित घटनाओं पर विज्ञप्तियों का संग्रह है। 'संबोध-गीति-पुस्तक' में पश्चिमी चौउ काल के बसन्त-शरद-काल की प्रमुख घटनाओं और राज्य द्वारा आयोजित धार्मिक अनुष्ठानों का उल्लेख है। यद्यपि इनमें "भविष्य-सूचक-अस्थि-अभिलेखों" और ताम्र-अभिलेखों की तरह घटनाओं का क्रमबद्ध विवरण नहीं मिलता, फिर भी इनकी पृथक् घटनाओं को ऐतिहासिक दृष्टिकोण से लिपिबद्ध करने की चेष्टा ने चीन में इतिहास लेखन की उत्पत्ति में विशेष योगदान दिया।

प्राचीन काल के इन विभिन्न प्रकार के लिखित विवरणों से क्रमबद्ध वंशानुगत इतिहास-लेखन का प्रयास पश्चिमी चौउ काल के अन्त (841 ई०पू०) से प्रारम्भ हुआ। इस प्रकार इन लिखित विवरणों का न केवल चीन के दर्शन, साहित्य और राजनैतिक विचारों पर उल्लेखनीय प्रभाव पड़ा अपितु इतिहास-लेखन की विशिष्ट परम्परा की उत्पत्ति में महत्वपूर्ण योगदान भी रहा। लेकिन इन छुटपुट विवरणों के आधार पर इतिहास-लेखन को एक शास्त्र के रूप में विकसित करने का श्रेय चीन के प्रसिद्ध दार्शनिक व विचारक कन्फूसियस को जाता है।

5.3 कन्फूसियसवाद और इतिहास-लेखन

चीनी सभ्यता के सर्वांगीण विकास में कन्फूसियस और कन्फसियसवाद का योगदान सबसे महत्वपूर्ण है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि विश्व की किसी भी सभ्यता में किसी एक दार्शनिक और विचारक का उतना योगदान नहीं है जितना कि चीन की सभ्यता के सभी पहलुओं के विकास में कन्फूसियस का रहा। इसी कारण प्राचीन चीनी सभ्यता और कन्फूसियस को विद्वानों ने एक दूसरे का पूरक माना है। कन्फूसियस ने चीन के राजनैतिक, सामाजिक व दार्शनिक ढ़ाँचे की रचना करके विश्व की सभ्यताओं में चीन की सभयता की एक विशिष्ट पहचान बनायी। उसके सिद्धान्तों का प्रभाव बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ (4 मई 1919 के आन्दोलन तक) जब एक नये बुद्धजीवी वर्ग ने कन्फूसियस पर प्रहारकरना शुरू कर दिया, तक अक्षुण्ण बना रहा।

महान् दार्शनिक व विचारक कन्फूसियस को निःसन्देह चीन का आदि-इतिहास-शास्त्री भी कहा जा सकता है। इसने शाङ् और चौउ काल में उत्पन्न इतिहास-लेखन-परम्परा को एक निश्चित स्वरूप प्रदान किया। चीन के परवर्ती इतिहास-लेखन-प्रणाली व शास्त्र की परम्परा का विकास उसके द्वारा निर्धारित सीमाओं के अन्दर ही 19वीं शताब्दी तक होता रहा। कन्फूसियसवाद में इतिहास व ऐतिहासिक घटनाओं के अध्ययन पर बहुत झुकाव है। कन्फूसियस का समय चीन के इतिहास में विभिन्न राज्यों के आपस में घमासान युद्ध का काल था। पूर्ववर्ती काल की उपलब्धियों से प्रभावित, युद्ध-क्लांत चीन में एक सुव्यवस्थित राज्य और समाज की स्थापना की उद्देश्यपूर्ति के लिए कन्फूसियस ने इतिहास का सहारा लिया। उसकी इतिहास के प्रति रुझान उसके सिद्धान्त के भावात्मक पहलुओं पर आधारित है।

कन्फूसियसवाद में व्यावहारिक और भावात्मक दोनों पहलुओं का मिश्रण मिलता है। जहाँ एक ओर इसका व्यावहारिक पहलू परिणामवादी सामाजिक, इहलौकिक और तार्किक एवं बौद्धिक दृष्टिकोण को प्रमुखता देताहै वहीं दूसरी ओर इसका सशक्त भावात्मक पहलू परिवार, जाति और धर्म की निरन्तरता की रक्षा के लिए सजग रहता है। साथ ही साथ चीनी सभ्यता को बर्बर समाज से अलग करने वाले प्राचीन रीति-रिवाजों की अक्षुण्यता के प्रति आसक्त है। इस भावात्मक आसक्ति ने ही कन्फूसियस को चीनी सभ्यता के परम्पराओं और प्रतीकों की रक्षा और निरन्तरता के लिए प्राचीन समाज के उदाहरणों और धार्मिक व सांस्कृतिक रीति-रिवाजों के अध्ययन व लिपिबद्ध करने के लिए प्रेरित किया। इसी कारण कन्फूसियस ने प्राचीन चीनी समाज में निहित नैतिक मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में राजनीति व समाज के अध्ययन तथा लेखन को इतिहास का मुख्य उद्देश्य माना। इस प्रकार इतिहास नैतिक आधार पर राज्य व समाज की घटनाओं के विवेचन व विवरण का साधन बना। इतिहास ग्रंथों की नैतिक व आचार शास्त्र की भूमिका ने इसकी महत्ता को धार्मिक ग्रन्थों के समकक्ष पहुँचा दिया। इसी आधार पर कन्फूसियस ने पूर्वज-पूजा और इनसे सम्बन्धित धार्मिक व सांस्कृतिक अनुष्ठानों की निरन्तरता के लिए राजकीय स्तर पर इसको लिपिबद्ध करवाने पर विशेष

ध्यान दिया। ये अनुष्ठान अधिकतर राजा या राज्य की प्रमुख उपलब्धियों की स्मृति में कराये जाते थे इसलिए इनको लिपिबद्ध करने में उन उपलब्धियों के विवरण पर भी जोर दिया गया। इस प्रकार क्रमबद्ध रूप से एक राजा और उसके राज्यकाल की प्रमुख घटनाओं का विवरण लिपिबद्ध होना शुरु हुए और इसी के साथ वंशानुगत इतिहास-लेखन-प्रथा का श्री गणेश हुआ।

कन्फूसियस ने इसी आधार पर लू राज्य का इतिहास संकलित व सम्पादित किया जो "वसन्त-शरद-वृतान्त" नाम से जाना जाता है। यह कन्फूसियसवाद के प्रामाणिक पाँच शास्त्रीय-साहित्यिक ग्रंथों में सम्मिलित किया गया है। इसी समय एक अन्य ग्रंथ भी लिखा गया था जिसे "बांस-वृत्तान्त" कहा जाता है। इसके रचयिता के बारे में इतिहासकारों में मतभेद है। कुछ इतिहासकार इसे भी कन्फूसियस से सम्बन्धित मानते हैं। 'बांस-वृतान्त" में 781 ई०पू० से 722 ई०पू० के चीन के विभिन्न राज्यों की प्रमख उपलब्धियों का संकलन है। इन दोनों ग्रंथों में कन्फूसियस द्वारा प्रतिपादित नैतिक सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में शब्दों के जटिल प्रयोग द्वारा घटनाओं की प्रशंसा व निन्दा को इंगित करते हुए व्याख्या की गयी है। आधुनिक इतिहास शास्त्र की दृष्टि से ये ग्रंथ संक्षिप्त, नीरस व अनियोजित हैं। यद्यपि इनमें घटनाओं की निश्चित तिथि देने का पूरा प्रयास किया गया है परन्तु इसमें उन घटनाओं को एक सूत्र में पिरोकर एक सुनियोजित विवरण देने का अभाव है। कन्फूसियस के परवर्ती इतिहासकारों ने विवरणात्मक इतिहास लिखने की दिशा में धीरे-धीरे कदम बढ़ाया लेकिन इनका उद्देश्य और दृष्टिकोण मुख्यतः कन्फूसियस द्वारा प्रतिपादित नैतिक सिद्धान्तों के आधार पर इतिहास-व्याख्या करना ही रहा। प्राचीन नैतिक सिद्धान्तों की सुरक्षा व निरन्तरता के लिए ही इतिहास-ग्रंथों में राजा और उसके राज्यकाल की घटनाएं विवेचन की मुख्य विषय बनी।

5.4 विवरणात्मक इतिहास-लेखन का विकास

कन्फूसियस द्वारा इतिहास-अधययन व लेखन की अनिवार्यता और महत्ता स्थापित करने के बाद इतिहास लेखन को राजकीय प्रश्रय मिला तथा बुद्धीजीवी वर्ग इतिहास-लेखन के लिए उत्साहित हुआ। इसी के साथ ही चीन में विवरणात्मक इतिहास-लेखन-परम्परा का प्रारम्भ हुआ। इसमें समानान्तर रूप से तीन स्वतन्त्र शैलियों का विकास हुआ। इस काल में 'वसन्त-शरद्-वृत्तान्त' की तुलना में उस काल के इतिहास को थोड़ा और आगे बढ़ाकर 468ई०पू० तक ले जाया गया तथा तत्कालीन कई अन्य घटनाओं का भी वर्णन किया गया है।

विवरणात्मक-इतिहास-लेखन-परम्परा की प्रथम शैली का विकास "त्सो टीका" से हुआ। "त्सो टीका" में चीन के 'वसन्त-शरद्काल' के इतिहास को विस्तृत व सुनियोजित ढंग से सम्पादित करने का प्रयास है। इसमें तत्कालीन इतिहास की न केवल नैतिक-सिद्धान्तों के आधार पर व्याख्या की गयी बल्कि उसमें विस्तृत विवरण को समाविष्ट करने पर भी समुचित ध्यान दिया गया। परन्तु इन विवरणों की ऐतिहासिक सत्यता पर

विद्वानों को सन्देह है। अधिकतर विद्वानों का मत है कि इसमें उल्लिखित विवरण काल्पनिक या अर्द्धकाल्पनिक कथानकों पर आधारित है। उदाहरण स्वरूप इसमें जहाँ राजा या राज्य के प्रमुख व्यक्तियों से सम्बन्धित महत्वपूर्ण घटनाएँ वसन्त-शरद-काल के राज्यों के सजीव, सूचनात्मक और वास्तविक ऐतिहासिक आखयानों पर आधारित हैं वहीं इन घटनाओं के विवरण में कल्पना का सहारा लिया गया है। इस प्रकार इतिहास को सजीव और नाटकीय (मनोरंजक) ढ़ंग से प्रस्तुत करने की शैली विकसित हुई। "त्सो टीका" ने चीन के साहित्य में गद्य रचना को भी दिशा दी।इसीलिए इसे चीन के गद्य साहित्य-संग्रह का सर्वप्रथम प्रमुख ग्रंथ माना जाता है।

"त्सो टीका" के साथ ही चीन में इतिहास-लेखन की एक दूसरी शैली "कुवो यू" (राष्ट्रीय गजट) की लेखन-परम्पराका प्रादुर्भाव हुआ। इस शैली के उदाहरण राज्य के घोषणा-पत्रों, अधिसूचनाओं, शासकीय निणयों, मन्त्रियों-सामन्तों के आधिकारिक वक्तव्यों के संकलन व सम्पादन में मिलते हैं। इसमें नाटकीय विवरणों का अभाव है तथा 'त्सो टीका' की तुलना में भाषा भी क्लिष्ट व नीरस है। लेकिन इसमें राजकीय दस्तावेजों का विस्तृत उल्लेख है।

इतिहास-लेखन की तीसरी-शैली के उदाहरण "चान कुवो त्स" (युद्ध-रत राज्यों की नीति) नामक ग्रंथ में मिलते हैं। जहाँ ऐतिहासिक व अर्द्ध ऐतिहासिक स्रोतों के आधार पर तत्कालीन राजनीति व समाज का जीवन्त चित्रण प्रस्तुत किया गया है। इस ग्रंथ की मुख्य विशेषता है इसका मानवतावादी दृष्टिकोण। आंशिक रूप से कल्पित होने के बावजूद इसकी कथावस्तु के नायक और उससे संबन्धित घटनाओं का विवरण अलौकिक या दैविक नहीं है। घटनाओं की प्रशंसनीयता व निन्दनीयता की विवेचना भी कन्फ्यूसियस द्वारा प्रतिपादित नैतिक सिद्धान्तों के आधार पर मानवीय दृष्टिकोण से की गयी है। लोकप्रिय तथा जीवन्त जन-इतिहास-लेखन-परम्परा के विकास में इस ग्रंथ का महत्वपूर्ण योगदान रहा।

इतिहास-लेखन की इन तीनों शैलियों ने इतिहास को विवरण प्रधान बनाया यद्यपि इनमें घटनाओं के विवेचन में नैतिकतावादी दृष्टिकोण प्रमुख रहा। अपने आप में ये तीनों ग्रंथ पूर्ण रूप से शुद्ध इतिहास नहीं कहे जा सकते हैं परन्तु शुद्ध इतिहास लेखन की गद्य शैली के विकास में इनके योगदान व महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। चीनी-साहित्य में गद्य-परम्परा की शैली भी इनसे प्रभावित हुई। चीनी लोक-साहित्य के बहुचर्चित ऐतिहासिक उपन्यासों 'तीन राज्यों का रोमांस' (सान् कुओ ची इ), शुई हू च्वान् (कच्छ-तटीय-वृत्तान्त) आदि के मूल स्रोत ये विवरणात्मक इतिहास ग्रंथ ही थे।

5.5 वृहद्-इतिहास-लेखन-परम्परा का प्रादुर्भाव व विकास

जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है कि चीन में इतिहास-लेखन-परम्परा का प्रारम्भ चौउ काल तथा उसके बाद के लिखित वर्ष वृत्तान्तों व विवरणात्मक इतिहास ग्रंथों के सृजन से हुआ। परन्तु आधुनिक दृष्टिकोण से चीन का सर्वप्रथम पूर्ण इतिहास ग्रंथ 'शीर् ची' (इतिहास-वृत्त) है जिसकी रचना स्स मा छियेन ने हान् राजवंश काल में की।

हान् राजवंश से पूर्व चीन में सामन्तवादी छोटे-छोटे राज्यों का एकीकरण करके छिन् राजवंश के सम्राट छिन शी ह्वाङ् ने एक वृहद् चीन राष्ट्र की नींव रखी। वह एक निरंकुश शक्तिशाली शासक था। उसने कन्फूसियस के नैतिकतावादी तथा तार्किक व बौद्धिक सिद्धान्तों के स्थान पर अपने साम्राज्य में विधिवादी (न्यायवादी) विचारों को प्राथमिकता दी। कन्फूसियस विरोधी अपनी विचारधारा के फलस्वरूप इसने न केवल कन्फूसियसवाद के प्रतिपादन पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगाया वरन् कन्फूसियसवाद के सैद्धान्तिक ग्रंथों और सामन्तकाल के ऐतिहासिक ग्रंथों को सुनियोजित रूप से नष्ट करवा दिया। इससे इतिहास की पूर्व महत्ता कम हुई और इतिहास-लेखन भी प्रभावित हुआ परन्तु छिन् राजवंश का शासनकाल बहुत थोड़े समय का रहा। छिन् राजवंश के पश्चात् चीन में हान् राजवंश की स्थापना हुई। हान् शासकों ने कन्फूसियसवाद की आधिकारिक रूप से पुनर्स्थापना की और इसे राजधर्म घोषित किया। हान् राज्यकाल में चीन ने राजनीतिशास्त्र व प्रणाली, शिक्षा, संस्कृति, साहित्य आदि के क्षेत्रों में सर्वांगीण विकास किया। इन सब पर कन्फूसियसवाद का पूर्ण प्रभाव रहा। इतिहास में जिसे चीनी संस्कृति कहा जाताहै उसको विकसित करने का पूर्ण श्रेय हान् शासकों को दिया जा सकता है। इसी कारण हान् काल को विद्वान् चीन के इतिहास का स्वर्णकाल कहते हैं।

हान् राज्यकाल में कन्फूसियसवाद की पुनर्स्थापना के साथ ही यह स्वाभाविक रूप से इतिहास-शिक्षा का मुख्य विषय हो गया। साथ ही साथ इतिहास-लेखन को पुनः प्राथमिकता मिली। इतिहास-लेखन व अध्ययन को सुचारू रूप से नियोजित करने के लिए राजकीय-अभिलेखागारों की स्थापना की गयी तथा राज्य-इतिहासकारों के रूप में विद्वानों की नियुक्ति की गयी। इन्हीं राज-इतिहासकारों में एक पिता-पुत्र स्स मा थान व स्स मा छियेन् की जोड़ी भी थी। स्स मा थान ने अपने जीवन-काल में चीन के प्रथम वृहद् इतिहास ग्रंथ "शीर् ची" की रचना प्रारम्भ की। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र स्स मा छियेन् ने इस ग्रंथ को पूर्ण कर उसको सम्पादित किया। इसीलिए 'शीर् ची' के रचयिता के रूप में स्स मा छियेन् ही विख्यात हुआ।

इस प्रकार स्स मा छियेन् को हम आधुनिक इतिहास-शास्त्र के परिप्रेक्ष्य में चीन का प्रथम इतिहासकार कह सकते हैं। इसके द्वारा लिखित व सम्पादित ग्रंथ 'शीर् ची' आगे के इतिहासकारों के लिए एक प्रमुख उदाहरण बना तथा इसी के आधार पर बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ (1911 ई० के पूर्व) तक चीन में 'चङ् शीर्' (आधिकारिक इतिहास) की रचना होती रही। 'शीर् ची' ग्रंथ को पाँच भागों में विभक्त किया गया है। प्रथम विभाग "पन शीर" (मूल इतिहास या वर्ष वृत्तान्त) कहा जाता है। इसमें राजाओं के कार्यकाल व उनसे सम्बन्धित मुख्य घटनाओं का क्रमबद्ध विवरण दिया गया है। दूसरा विभाग 'प्याओ' (तालिका) का है। इसमें हान् राजवंश के पूर्व के विभिन्न छोटे-छोटे राज्यों वंश तालिका और हान् काल में नियुक्त सामन्तों का क्रमबद्ध परिचय दिया गया है। 'शीर् ची' के तृतीय विभाग 'चि निबन्ध' में धार्मिक अनुष्ठानों, संगीत, वर्ष, पंचांग, नदी, नहरों आदि पृथक विषयों पर लेख (विवरण) लिया

गया है। इस तरह के लेखों की परम्परा आगे चलकर और अधिक विकसित हुई तथा चीनी इतिहास-ग्रंथों में एक अनिवार्य वर्ण्य-विषय बनी। "शीर् च्या" (इतिहास प्रसिद्ध परिवार) नामक चतुर्थ विभाग में पूर्व हान काल के समाज के प्रसिद्ध परिवारों व वर्गों का वंशानुगत उल्लेख किया गया है। पाँचवा व अन्तिम विभाग 'जीवन वृत्त' का है। यह विभाग सबसे बड़ा है। इसमें प्रमुख व्यक्तियों की जीवन कथाएं वर्णित हैं। इसके अतिरिक्त ऐसे सभी वृत्तान्त जिनका उल्लेख किसी और विभाग में नहीं हुआ है उनका यहाँ वर्णन मिलता है। साथ ही साथ इसमें विदेशी राष्ट्रों और उनसे सम्बन्धित घटनाओं पर भी लेख हैं।

स्स मा छियेन् कृत वृहद् इतिहास "शीर् ची" की सर्वप्रमुख विशेषता है कि यह इतिहास के यथार्थवादी दृष्टिकोण से लिखा गया है। इसमें घटनाओं के विवरण ऐतिहासिक स्रोतों पर आधारित हैं। घटनाओं के काल्पनिक वृत्तान्तों को यथासंभव हटाकर संक्षिप्त व क्रमबद्ध ढंग से उल्लिखित किया गया है। इन घटनाओं पर पृथक् रूप से इतिहासकार की टिप्पणियां भी दी गयी हैं। यद्यपि ये टिप्पणियां कन्फूसियस के नैतिकतावादी सिद्धान्त पर आधारित हैं फिर भी इतिहासकार द्वारा घटनाओं की स्वतन्त्र रूप से व्याख्या ने स्वतन्त्र व्याख्या की परम्परा के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

5.5.1पान् कू (३२-१२ ई०पू०)

स्स मा छियेन् के बाद चीन में प्रामाणिक इतिहास-ग्रंथ-लेखन के विकास में इतिहासकार पान कू हान् राजवंश के इतिहास "हान् शू" का रचयिता था। स्स मा छियेन् की तरह ही पान् कू ने अपने इतिहासकार पिता पान् प्याओ द्वारा प्रारम्भ किए गये हान वंश के इतिहास लेखन को पूर्ण करके सम्पादित किया। पान् कू ने इस इतिहास को पूर्ण करने का कार्य व्यक्तिगत रूप से शुरू किया था। इसके लिए उसे राजद्रोह के आरोप में बन्दी बनना पड़ा लेकिन बाद में उसे न केवल मुक्त कर दिया गया अपितु उसको आधिकारिक रूप से इस इतिहास-लेखन के कार्य को पूर्ण करने की स्वीकृति भी दी गयी। इसी से राजवंश के आधिकारिक इतिहास लेखन की परम्परा का जन्म हुआ। इसके पहले राजकीय अभिलेखागारों का प्रमुख कार्य अभिलेख-संरक्षण ही था अब वहाँ इतिहास-लेखन का भी कार्य प्रारम्भ हुआ। द्वितीय शताब्दी में एक राजकीय पुस्तकालय तुङ् क्वान् की स्थापना की गयी तथा उसमें इतिहासकारों की नियुक्ति की गयी। यह इतिहास-लेखन के विकास में एक महत्वपूर्ण कदम था। इन राज इतिहासकारों का मुख्य कार्य था राजवंश की उपलब्धियों को विवरण के साथ लिखना।

पान् कू का इतिहास ग्रंथ "हान् शू" स्स मा छियेन् द्वारा लिखित इतिहास ग्रंथ 'शीर् ची' की शैली पर ही लिखा गया था। लेकिन पान कू ने वृहद् इतिहास लिखने के बजाय एक राजवंश के इतिहास लेखन पर अपना ध्यान केन्द्रित रखा। उसने 'शीर् ची' में वर्णित प्रारम्भिक हान् राजवंश के इतिहास की सामग्री लेकर इस राजवंश के इतिहास को वाङ् माङ् द्वारा सत्ता हथियाने (अधिकृत करने) के समय तक आगे बढ़ाया। इस प्रकार

उसने एक राजवंश के उत्थान व पतन का इतिहास लिखकर एक नयी परम्परा की नींव रखी। 'शीर् ची' में जहाँ ऐतिहासिक निरन्तरता को प्रतिपादित किया गया है वहीं 'हान शू' में चक्रीय इतिहास शैली को प्राथमिकता दी गयी है।

पान् कू ने अपने इतिहास ग्रंथ 'हान शू' में 'शीर् ची' की तुलना में जो अन्य परिवर्तन किया है वह तकनीकी है। जैसे उसने सामन्त परिवारों के इतिहास के विभाग को हटा दिया है क्योंकि उस समय तक चीन में साम्राज्यवादी राज्य की स्थापना हो जाने के बाद सामन्तों की प्रासंगिकता समाप्त हो गयी थी। 'विनिबन्धों' की संख्या 'शीर् ची' की तुलना में बढ़ा दी गयी है तथा उसके लेख भी विस्तृत लिख दिये गये हैं। इसके अतिरिक्त इसके लेखन शैली में औपचारिक और साहित्यिक अभिव्यक्तियों पर अपेक्षाकृत अधिक ध्यान दिया गया है।

पान् कू के इस इतिहास ग्रंथ तथा 'तुङ्. क्वान' पुस्तकालय की स्थापना ने हान् काल में इतिहास के सर्वांगीण विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। अनेक इतिहासकारों ने व्यक्तिगत, अर्द्धव्यक्तिगत, आधिकारिक रूप से भी इस काल का इतिहास लिखा है। 'तुङ्. क्वान' पुस्तकालय के इतिहासकारों ने उत्तर-हानवंश (होउ हान) का एक आधिकारिक इतिहास ग्रंथ 'होउ हान् शू' की रचना की। परन्तु इतिहास लेखन की दृष्टि से यह ग्रंथ बहुत संतोषजनक नहीं था। पाँचवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में 'फान् ये' द्वारा लिखित 'उत्तर-हान् राजवंश का इतिहास' इस काल का आधिकारिक-प्रामाणिक ग्रंथ हुआ। आधिकारिक इतिहास लेखन के साथ-साथ व्यक्तिगत रूप से लिखित इतिहास ग्रंथों में आलोचनात्मक शैली का विकास भी इसी काल में प्रारम्भ हुआ। इतिहास-लेखन की यह आलोचनात्मक शैली स्वतन्त्र रूप से आधिकारिक इतिहास लेखन के समानान्तर विकसित हुई। इस शैली की प्रमुख विशेषताओं तथा उसके विकास की हम पृथक रूप से आगे चर्चा करेंगे।

जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है कि हान् काल में कन्फूसियसवाद की पुनर्स्थापना के साथ ही इतिहास-लेखन व अध्ययन दोनों विकसित हुए। तत्कालीन शिक्षा प्रणाली में इतिहास अध्ययन का एक अनिवार्य और स्वतन्त्र विषय बना। ज्ञान की चार प्रकार की पुस्तकों में इतिहास को क्लासिकी के बाद प्राथमिकता की दृष्टि से दूसरे स्थान पर रखा गया। दर्शन और साहित्य को इसी क्रम में तीसरे और चौथे स्थान पर रखा गया। इतिहास का वह स्थान आधुनिक काल तक विद्यमान रहा।

5.6 आधिकारिक इतिहास-लेखन का विकास

(थाङ् काल से छीङ् काल तक)

हान् राजवंश की तरह 'थाङ् राजवंश' का भी चीन के इतिहास में एक प्रमुख स्थान है। कई इतिहासकार 'थाङ् काल' को ही चीनी इतिहास का स्वर्णिम युग स्वीकार करते हैं। इस काल में चीन एक शक्तिशाली साम्राज्य के रूप में संगठित हुआ। अन्य विदेशी साम्राज्यों के भी साथ इसका सम्पर्क हुआ तथा उनसे व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित

हुआ। इसके अतिरिक्त उनके साथ वैचारिक आदान-प्रदान हुआ। इस साम्राज्य के शान्ति और समृद्धि के काल में चीन के लोगों के आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक जीवन में चतुर्दिक उन्नति हुई।

इतिहास लेखन व अध्ययन, जो हान् काल में शिक्षा के एक प्रमुख स्रोत (विषय) के रूप में स्थापित हो चुका था, के क्षेत्र में भी इस काल में अत्यधिक प्रगति हुई। राज्य ने इस काल के इतिहास को सुरक्षित रखने के लिए इतिहासकारों की एक परिषद् की नियुक्ति की जिसका प्रमुख कार्य था 'थाङ् राजवंश' के पहले तथा हान् राजवंश के बाद स्थापित पाँच अल्पकालीन् राजवंशों का इतिहास लिखना तथा 'छिन् राजवंश' पर लिखे गये 6-7 इतिहास ग्रंथों के स्थान पर एक प्रामाणिक इतिहास ग्रंथ की रचना करना। इस पुनर्लेखन के लिए इतिहाकारों की एक परिषद् के गठन के साथ ही साथ हान् काल में स्थापित राजकीय अभिलेखागार को स्थायी स्वरूप प्रदान किया गया। इस अभिलेखागार का कार्य था 'थाङ् वंश' के प्रत्येक सम्राट के शासनकाल से सम्बन्धित महत्वपूर्ण दस्तावेजों को एकत्रित करना और उनके आधार पर प्रत्येक शासक के राज्यकाल का इतिहास लिखना। इन्हें 'शी लू' (Veritable Records!) के नाम से जाना जाता है। एक वंश के कई 'शी लू' इकट्ठा करके उसके आधार पर उस वंश का प्रामाणिक इतिहास लिखा जाता था। 'शी लू' लिखने की प्रथा का प्रचलन 'थाङ् काल ' से प्रारम्भ होकर 'छीङ् काल' तथा निरन्तर चलता रहा। इस प्रकार 'हान् शू' और 'होउ हान् शू' की परम्परा में 'थाङ् वंश' का प्रामाणिक इतिहास 'थाङ् शू' 726 ई० में पूर्ण हुआ। पूर्ववर्ती राजवंशों के इतिहास ग्रंथों की तुलना में "थाङ् शू" ज्यादा वैज्ञानिक और प्रामाणिक स्रोतों पर आधारित है।

स्स मा क्वाङ् :- 'थाङ् काल' के पश्चात् 'सुङ् काल' का भी इतिहास-लेखन के विकास में महत्वपूर्ण योगदान रहा। इस काल में "शी लू" की रचना गोपनीय इतिहास-लेखन के रूप में की जाने लगी। राज्य अभिलेखागार में अभिलेखों का संग्रह भी गोपीनीय होने लगा परन्तु राज इतिहासकारों तथा विद्वानों को इसके अध्ययन की सुविधा प्राप्त थी। परिणाम स्वरूप एक शासक या राजवंश के पतन के बाद ही उस काल के इतिहास की रचना हो पाती थी। सुङ् काल में इतिहास-लेखन शैली में भी महत्वपूर्ण विकास हुआ। इस काल तक स्वतन्त्र रूप से विकसित आलोचनात्मक इतिहास शैली का प्रभाव आधिकारिक इतिहास-लेखन शैली पर भी पड़ना प्रारम्भ हो गया था। आलोचनावादी इतिहासकारों (जिनकी चर्चा आगे की जाएगी) ने राज इतिहासकारों की व्याख्यात्मक कमियों पर प्रकाश डाल कर इतिहास को एक नये परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया। 'सुङ्' काल का महान् इतिहासकार स्स मा क्वाङ् इन्हीं नये विचारधाराओं से प्रभावित था। इसने 1095 ई० में अपना इतिहास ग्रंथ 'त्वि ची थोङ् नियेन्' (Comprehensive Mirror for Aid in Government) पूर्ण किया। इस रचना को कई विद्वान चीनी इतिहास का महानतम ग्रंथ मानते हैं। 'स्स मा क्वाङ्' ने इस ग्रंथ में 'वसन्त-शरद' काल के अन्त से 'सुङ्' वंश की स्थापना तक के चीन के 1362 वर्षों का इतिहास लिखा।

स्स मा क्वाङ् ने राजकीय अनुमति लेने के बाद अपने ग्रंथ की रचना प्रारम्भ की थी परन्तु इसकी गणना पूर्णरूप से आधिकारिक इतिहास ग्रंथों में नहीं की जा सकती। उसने अपने इतिहास लेखन में राजकीय इतिहासकारों का सहयोग नहीं लिया बल्कि स्वयं व्यक्तिगत रूप से शोध-सहायकों को नियुक्त कर विभिन्न ऐतिहासिक स्रोतों को एकत्रित किया। उसके इतिहास-लेखन-प्रणाली का विवरण उसके द्वारा एक अपने शोध-सहायक को लिखे गये पत्र में मिलता है। इसके अनुसार सर्वप्रथम 'शी लू' के आधार पर मुख्य घटनाओं और उनकी तिथियों का संकलन किया गया। तत् पश्चात् इन घटनाओं के विवरण 'शी लू' के अतिरिक्त आधिकारिक राजवंश इतिहास ग्रंथ, व्यक्तिगत रूप से लिए गये इतिहास ग्रंथ, आत्मकथा, अभिलेख आदि अन्य प्राप्य स्रोतों से एकत्रित किए गये। इस प्रकार घटनाओं के विवरण आधिकारिक और व्यक्तिगत दोनों प्रकार के ऐतिहासिक स्रोतों के आधार पर लिखे गये। जहाँ इन दोनों विवरणों में भिन्नता थी वहाँ स्वविवेक के आधार पर वास्तविक चित्रण करनेका प्रयास किया गया। घटनाओं की प्रमुखता और गौड़ता भी इतिहासकार ने स्वयं निर्धारित की है। इसके अतिरिक्त पूर्ववर्ती इतिहास ग्रंथों की तुलना में इसमें सबसे उल्लेखनीय परिवर्तन था एक नये अनुभाग 'खाओ ची' (अभिलेख परीक्षण-Examination of Differences) की रचना। यहाँ इतिहासकार ने अपने विवेचन के समर्थन में तर्क संगत युक्तियां प्रस्तुत की हैं। ये युक्तियां अब वृत्तान्त में अन्तर्निहित न होकर पृथक रूप से व्यक्त की गयीं। इस प्रकार स्स मा क्वाङ् का ग्रंथ कई नवीनताओं के कारण आधुनिक इतिहास-लेखन-शैली के समकक्ष रखा जा सकता है। फिर भी यह ग्रंथ आधिकारिक इतिहास का स्थान नहीं प्राप्त कर सका। इसके द्वारा प्रारम्भ की गयी कन्फूसियसवाद के सीमित परिक्षेत्र से हट कर इतिहास-लेखन की नयी प्रणाली को बाद के राजकीय इतिहासकारों ने उभरने नहीं दिया।

स्स मा क्वाङ् के आधुनिक इतिहास-लेखन-शैली के सीमित प्रभाव का मुख्य कारण था उत्तर सुङ् काल में 'नव कन्फूसियसवाद' का विकास। इस 'वाद' के प्रवर्तक थे 'चू शी'। चू शी ने कन्फूसियसवाद के 'नैतिक मूल्यांकन' के सिद्धान्तों को और आगे बढ़ा कर "नव कन्फूसियसवाद" के रूप में प्रस्तुत किया। इस वाद की परम्परा-निष्ठा पर बल और दृढ़ता ने तंत्कालीन समाज और संस्कृति को एक महत्वपूर्ण ढंग से पृष्ठगामी (भूतदर्शी) बना दिया। इसका प्रभाव इतिहास लेखन पर भी पड़ा। जहाँ स्स मा क्वाङ् ने यथार्थवादी इतिहास लेखन की परम्परा को एक निश्चित रूप देकर आगे बढ़ाया था वहीं नव कन्फूसियसवाद के नीतिशास्त्रियों (नैतिक वादियों) ने पुनः इसे कन्फूसियस द्वारा निर्धारित साँचे में तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत करना प्रारम्भ किया। चू शी ने नव कन्फूसियसवाद के सिद्धान्तों के आधार पर घटनाक्रम और भाषा की शैली में परिवर्तन करके स्स मा क्वाङ् के ग्रंथ का संक्षिप्तीकरण किया। स्स मा क्वाङ् ने एक यथार्थवादी इतिहासकार के रूप में राज्य के असन्तुष्ट वर्गों, अप्रशंसनीय घटनाओं, तथाकथित बर्बर राजाओं के राज्यकाल को भी अपने इतिहास में स्थान दिया था परन्तु चू शी ने संक्षिप्तीकरण करते समय इस तरह के सभी वृत्तान्तों को हटा दिया यहाँ तक कि बर्बर राजाओं के काल

को अन्य राजाओं के काल में मिलाकर उनकी ऐतिहासिकता पर प्रश्न चिन्ह लगा दिया। इस प्रकार 'नव क्न्फूसियसवाद' ने मौलिक और कल्पनाशक्ति सम्पन्न विचारधाराओं के विकास को अवरुद्ध कर दिया। जिसके परिणाम स्वरूप मिङ् काल तक ज्ञान के क्षेत्र में कोई रचनात्मक प्रयोग नहीं हो सका।

छीङ् काल में सुङ् और मिङ् काल की रूढ़िवादिता पर प्रहार प्रारम्भ हुआ। इस काल में पुनः ज्ञानवर्धन के लिए स्पष्ट व प्रामाणिक आधारों को प्राथमिकता दी गयी। सुङ्कालीन दार्शनिक चू शी की रूढ़िवादिता तथा मिङ् काल के प्रसिद्ध विचारक वाङ् याङ् मिङ् के "अन्तर्ज्ञानात्मक आदर्शवाद" के विरोध में छिङ् कालीन प्रमुख दार्शनिक-विद्वान् कू यान् वू (1613-1682ई०) ने 'प्रमाण अन्वेषण' विचारधारा को पुनर्जीवित किया। इसका तत्कालीन चीन के दर्शन और इतिहास लेखन पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। कू यान वू ने इतिहास में आलोचनात्मक मूल्यांकन पर बल दिया। उसके द्वारा रचित इतिहास ग्रंथ 'ऋ चिर् लू' में न केवल पूर्ववर्ती काल की सभी प्रशंसनीय व निन्दनीय घटनाओं का क्रमबद्ध वर्णन है बल्कि उन पर स्पष्ट टिप्पणियां भी हैं। उसने इतिहास को प्राचीनकाल की घटनाओं को जानने और उसके अनुसरण करने के अतिरिक्त तत्कालीन समाज की रचना और स्वरूप के विकास के लिए अध्ययन का माध्यम भी माना। इसीलिए हमें कू यान् वू के इतिहास ग्रंथ में विभिन्न ऐतिहासिक कालों में उत्तरी व दक्षिणी चीन के किसानों की समस्या, राजकीय परीक्षा-प्रणाली की अपर्याप्तता आदि पूर्वोपेक्षित विषयों की समीक्षा मिलती है। ये सभी विषय पूववर्ती इतिहासकारों के लिए प्रतिबन्धित थे। इस प्रकार मिङ् काल में आलोचनात्मक इतिहास शैली, जो सुङ् और मिङ् काल में लुप्त प्रायः हो गयी थी, का पुनर्प्रचलन हुआ।

यह कहा जा सकता है कि इन प्रयासों के बावजूद भी हान् और थाङ् काल में निर्धारित इतिहास-लेखन-शैली के स्वरूप में छीङ् काल के अन्त तक कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। स्स मा क्वाङ् या कू यान् वू ने आलोचनात्मक शैली का विकास करके इतिहास-लेखन-शैली में जो परिवर्तन का प्रयास किया था वह भी कन्फूसियसवादी संस्कृति और दर्शन के अन्तर्गत ही था। इस प्रकार चीनी इतिहास-लेखन-परम्परा में, पाश्चात्य सभ्यता और मार्क्सवाद का प्रभाव पड़ने तक, एक निरन्तरता ही दिखती है।

5.7 विश्लेषणात्मक व आलोचनात्मक इतिहास-लेखन

जैसे कि पहले चर्चा की जा चुकी है कि हान काल में इतिहास लेखन-परम्परा के सर्वांगीण विकास के साथ ही साथ आधिकारिक इतिहास-लेखन शैली के विरोध में आलोचनात्मक इतिहास लेखन-शैली का स्वतन्त्र व समानान्तर रूप से विकास हुआ था जिसका प्रतिपादन भी राजकीय इतिहासकारों के एक वर्ग ने किया। इस वर्ग ने विवेचनात्मक इतिहास लेखन के माधयम से तत्कालीन राजनैतिक व सामाजिक व्यवस्था के प्रति अपना असन्तोष प्रकट किया। हान् कालीन विद्वान विचारक और

आलोचक ल्यू श्ये ने अपने ग्रंथ "वन् श्येन् थ्याओ लिङ्" (साहित्यिक अनुशीलन) में इतिहास के समालोचनात्मक शैली की आवश्यकता को सर्वप्रथम सुनियोजित रूप से प्रतिपादित किया। यह ग्रंथ चीन में साहित्यिक आलोचना का मुख्य उदाहरण माना जाता है। इसके एक भाग में इतिहास लेखन के सिद्धान्तों की भी व्याख्या है। इसमें ल्यू श्ये ने पूर्ववर्ती सभी इतिहासकारों की आलोचना करते हुए संतुलित, विश्वसनीय और निष्पक्ष ढंग से इतिहास लेखन की समकालीन कठिनाइयों की ओर संकेत किया है। उसने समाज में इतिहासकार को नीति-संरक्षक (Moralist) के रूप में कार्य करने तथा सत्य को बिना किसी भय के पक्षपात रहित ढंग से प्रस्तुत करने पर बल दिया।

परम्परागत इतिहास लेखन शैली की सर्वप्रथम आलोचना ल्यू चिर् ची ने (661-721ई०) अपने ग्रंथ 'शीर् थोङ् (इतिहास का सामान्यीकरण) में की। ल्यू एक संशयवादी और जागरूक इतिहासकार था। उसने अपने बौद्धिक जीवन का प्रारम्भ राजकीय अभिलेखागार के इतिहासकार के रूप में की। लेकिन वह शीघ्र ही वहाँ के इतिहासकारों की राजकीय संरक्षण में संयुक्त रूप से आधिकारिक इतिहास लेखन प्रणाली की प्रचलित प्रथा से असन्तुष्ट हो गया। उसके अनुसार इस प्रणाली में व्यक्ति का इतिहास-लेखन में कोई महत्व नहीं रह जाता है। साथ ही साथ विभागीय निरीक्षकों द्वारा तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार तथ्यों को तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत करने से यर्थाथवादी दृष्टिकोण समाप्त हो जाता है। फलस्वरूप इतिहास समकालीन राजनैतिक घटनाओं का प्रतिबिम्ब मात्र रह जाता है उसमें विवरणात्मक या समालोचक तत्वों का अभाव हो जाता है। शासकीय संरक्षण में लिखित इतिहास के विरोध में इसने व्यक्तिगत इतिहास लेखन परम्परा के विकास पर बल दिया। उसके अनुसार इसी परम्परा से यथार्थवादी, विश्लेषणात्मक व समालोचनात्मक इतिहास-लेखन की पद्धति विकसित होगी।

ल्यू के विचारों को थाङ् काल के अन्तिम दिनों में प्रमुखता मिली। इस समय प्रसिद्ध आन् लू शान् विद्रोह से राजशक्ति क्षीण हो गयी थी। पूरे साम्राज्य में अराजकता फैल गयी थी। तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों में इतिहासकार आलोचनात्मक शैली की ओर आकृष्ट हुए। राजनीतिक अराजकता के इस युग में तू यू (735-812 ई०) ने एक वृहद् इतिहासकोश की रचना की। इस कोश का स्वरूप आधिकारिक इतिहास ग्रंथों से भिन्न था। इस ग्रंथ की विशेषता यह थी कि इसमें इतिहासकार की प्रस्तावना और निष्कर्ष के साथ ऐतिहासिक विवरणों को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया जिससे तत्कालीन विषम राजनैतिक परिस्थितियों का अध्ययन संभव हो सके। इसके साथ ही इसमें कन्फूसियसवाद के स्थान पर न्यायवाद के दार्शनिक सिद्धान्तों को प्रमुखता दी गयी थी। फलस्वरूप राजनीतिक संस्थाओं के उत्पत्ति और विकास की ऐतिहासिक व्याख्या न्यायवादी दृष्टिकोण से प्रस्तुत की गयी। तत्कालीन राजनैतिक संस्थाओं के ह्रास का कारण नैतिकता के सिद्धान्तों के पतन में नहीं अपितु राज्य द्वारा राजकीय विधानों के क्रियान्वयन की असमर्थता में देखा गया।

तू यू द्वारा प्रारम्भ की गयी आलोचनात्मक इतिहास लेखन शैली का समकालीन व परवर्ती इतिहासकारों ने अनुकरण किया। इतिहासकार सू मियेन् द्वारा लिखित "हुइ याओ" (Collected Acts) इसी परम्परा में रचित चीन का प्रशासनिक इतिहास ग्रंथ है। 13वीं शताब्दी में मंगोलों द्वारा चीन पर आधिपत्य स्थापित करने के समय इतिहासकार "मा ध्वान् लिन्" ने तू यू के कोश से भी वृहद् एक इतिहास कोश "वन् श्येन थुङ् खाओ" (ऐतिहासिक अभिलेखों का वृहद् आलोचनात्मक परीक्षण) की रचना की। इसमें क्रमबद्ध वंशानुगत इतिहास लेखन प्रणाली से हटकर चीनी समाज के ऐतिहासिक विकास के अध्ययन का प्रयास किया गया। इस कोश में दी गयी प्रस्तावना और निष्कर्ष सम्बन्धी टिप्पणियां बहुत कुछ समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों पर लिखित आधुनिक इतिहास ग्रंथों के समान हैं।

जैसा कि पहले बतलाया गया है कि सुङ् काल में इतिहास लेखन में तीव्र प्रगति हुई। एक ओर आधिकारिक इतिहास लेखन विकसित हुआ तो दूसरी ओर व्यक्तिगत, अनाधिकारिक व आलोचनात्मक इतिहास ग्रंथ लिखे गये। इन दोनों शैलियों को समन्वित करके सुङ्कालीन प्रमुख इतिहासकार स्स मा क्वाङ् ने पूर्वोल्लिखित प्रसिद्ध ग्रंथ "त्वि ची थोङ् नियेन" (Comprehensive Mirror for Aid in Governing) की रचना की थी। इसके साथ ही इसने एक अन्य ग्रंथ "खाओ ई" की भी रचना की थी जिसमें विभिन्न ऐतिहासिक स्रोतों के चयन में विवादों और समस्याओं का वर्णन करते हुए इतिहास के लिए कौन से स्रोत और क्यों महत्वपूर्ण होते हैं, की व्याखया की गयी है। कुछ इसी प्रकार का एक अन्य ग्रंथ "छिएन् यान् इ लाय् णी नियेन् याओ लू" उत्तर सुङ् काल में इतिहासकार ली विन् छ्वान् द्वारा लिखा गया। ली ने अपने दक्षिणी सूङ् के इतिहास में न केवल परस्पर विरोधी विभिन्न ऐतिहासिक स्रोतों का उल्लेख किया है अपितु तथ्यों की ऐतिहासिक सत्यता पर पूर्ववर्ती इतिहासकारों का मत देते हुए अपना दृष्टिकोण भी सुस्पष्ट ढंग से प्रस्तुत किया है।

17वीं और 18वीं शताब्दी में छीङ् काल के समय नव कन्फूसियसवाद के पतन के बाद संस्कृति और ज्ञान के पुनरुत्थान के साथ-साथ आलोचनात्मक विशलेषणात्मक इतिहास की चीनी परम्परा काभी पुनर्विकास हुआ। परन्तु यह चीनी परम्परा 19वीं शताब्दी आते आते अपने विकास के अन्तिम चरण में पहुँच गयी जब पाश्चात्य विचारधाराओं के प्रवेश व अभूतपूर्व विस्तार के प्रभाव से सम्पूर्ण चीनी इतिहास लेखन शैली में मौलिक परिवर्तन होना प्रारम्भ हो गया। छीङ् काल का आलोचनात्मक या विशलेषणात्मक इतिहास लेखन विस्तृत पाठालोचन पर आधारित था। इस काल में इतिहास के प्रामाणिक मानक ग्रंथों पर अनेक टीकाएं लिखी गयी। इन टीकाकारों में वाङ् मिङ् शाङ् तथा छिएन् ता शिन् प्रमुख थे। वाङ् ने 'शी छी शीर् शाङ् च्वे' (The Critical Study of Seventeen Histories) और छिएन् ने 'अर् शी ई शीर् खाओ ई' (Examination of Differences in 21 Histories) नामक ग्रंथ लिखा। इन दोनों इतिहासकारों ने स्वतन्त्र रूप से आधिकारिक और व्यक्तिगत ऐतिहासिक स्रोतों, लेखों और अभिलेख संग्रहों का अध्ययन करके मानक इतिहास ग्रंथों में कई सुधार

करके अपने विवरण व टिप्पणियां लिखीं। चीनी इतिहास के कई प्रमुख व्यक्तित्वों का एक नये दृष्टिकोण से अध्ययन कर उनके कार्य-कलापों को सुस्पष्ट ढंग से प्रस्तुत किया गया। एक ओर जहां इतिहासकारों ने राजवंशों के उत्थान व पतन के विस्तृत वर्णन व टीका पर ध्यान दिया वहीं दूसरी ओर चीन की राजनीतिक संस्थाओं, सामाजिक व्यवस्था और आर्थिक ढाँचे की उत्पत्ति, विकास और समस्याओं का भी अध्ययन प्रारम्भ हुआ। परम्परागत इतिहास-क्षेत्र को विस्तृत करके उसमें ऐतिहासिक भूगोल आदि अन्य प्रासंगिक विषयों का समावेश किया गया।

इतिहास को इस नये दृष्टिकोण से प्रस्तुत करने में प्रमुख योगदान चाओ ई (1727-1814ई०) और चाङ् श्वे छङ् (1783-1801ई०) का था। चाओ ई कृत "नियेन् अर् शी अर छा चिर्" (Notes on Twenty-two histories) इस छीङ् कालीन नयी विश्लेषणात्मक इतिहास शैली का सुन्दर उदाहरण है। लेकिन चाङ् श्वे छङ् की रचनाएं आधुनिक इतिहास शैली के अधिक निकट हैं। चाङ् में इतिहास अध्ययन की एक विशेष व विलक्षण ललक थी। वह इतिहास को उद्देय परक समझता था। उसके अनुसार बिना इतिहास-अर्थ-बोध के इतिहास-लेखन व्यर्थ था। इसलिए अपने जीवनकाल का अधिकंश समय उसने इतिहास दर्शन को संयोजित करने में लगाया। इससे एक सुनियोजित व परिपक्व ढंग से सुङ् वंश का इतिहास लिखने की उसकी महत्वाकांक्षा अधूरी रह गयी। लेकिन उसके द्वारा लिखित अनेक निबन्धों ने चीन में इतिहास लेखन का एक नया दर्शन दिया। यद्यपि चाङ् की रचनाएँ उसके जीवनकाल में प्रसिद्ध नहीं हुई परन्तु उसकी मृत्यु के पश्चात् अनेक इतिहासकारों ने अपने ग्रंथों में उसके इतिहास दर्शन का अनुसरण किया। इसीलिए प्रोफेसर डेमीविल ने याङ् की तुलना प्रसिद्ध इतालियन इतिहासकार व दार्शनिक गियामबतीसा विको से की है जो अपनी मृत्यु के बाद ही प्रसिद्ध हुआ।

चीन की आलोचनात्मक या विश्लेषणात्मक इतिहास लेखन-परम्परा छीङ् राजवंश की विघटन प्रक्रिया प्रारम्भ होने के साथ ही लुप्त होने लगी। 19वीं शताब्दी के अन्त से चीन में पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव के कारण परम्परागत रूढ़िवादी शिक्षा प्रणाली के आधुनिकीकरण की ओर प्रसास होने लगा। पश्चिमी साम्राज्यवादी शक्तियों के विस्तार और बढ़ते हुए प्रभाव से चीन में राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक व्यवस्था का विघटन प्रारम्भ हुआ। इन नयी समस्याओं से निपटने में चीन की विषद असफलताओं का कारण चीन को रूढ़ियुक्त कन्फूसियसवादी सांस्कृतिक और दार्शनिक परम्परा का नवीन ज्ञान-विज्ञान के प्रति अरूचि को ही चीन की तत्कालीन निर्बल राजनैतिक व सामरिक स्थित तथा मृतप्राय सामाजिक और आर्थिक ढाँचे का मूल कारण माना। चीन की प्राचीन सभ्यता की श्रेष्ठता ओर औचित्य को नकारते हुए इस नये वर्ग ने रूढ़िवाद के विरूद्ध व्यापक आन्दोलन चलाया। इन सब के प्रभाव से 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ होते होते चीन में रूढ़िवादी कन्फूसियस शिक्षा प्रणाली पर आधारित प्रशासकीय - सेवा - परीक्षा - प्रणाली समाप्त कर दी गयी। पाश्चात्य विचाराधाराओं की लहर फैलने लगी। रूढ़िवादी सांस्कृतिक परम्परा को सबसे बड़ा आघात 4 मई 1919 के आन्दोलन से लगा जिसने

चीन में राजनैतिक सामाजिक व सांस्कृतिक क्रान्ति की नींव डाली। इन संबके साथ परम्परागत इतिहास लेखन शैली का भी स्थान पश्चिमी विकसित राष्ट्रों की नयी दार्शनिक व समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों पर आधारित आधुनिक इतिहास लेखन शैली ने लेना प्रारम्भ किया। वर्ष 1949 में चीन की राजनैतिक क्रान्ति से अन्ततः इतिहास लेखन का मार्क्सवादी भौतिकवाद पर आधारित सिद्धान्त प्रमुख रूप से स्थापित हो गया। समाज के वर्ग-संघर्ष ओर आर्थिक-आधार को इतिहास लेखन का मुख्य विषय बनाया गया।

5.8 चीनी इतिहास-लेखन-परम्परा की विशेषताएं

पाश्चात्य इतिहास-लेखन की तुलना में चीन की इतिहास-लेखन की परम्परा की मुख्य विशेषताएं क्या थी, इस प्रश्न का प्रोफेसर एतिएन बालाज़ की मुख्य विशेषताएं क्या थी, इस प्रश्न का प्रोफेसर एतिएन बालाज़ ने एक शब्द में "रूढ़िबद्धता" यह कह कर उत्तर दिया है। इतिहास लेखन में इस "रूढ़िबद्धता" के फलस्वरूप चीन के इतिहास ग्रंथों में एक ओर व्यक्ति या इतिहासकार की छाप नहीं मिलती तो दूसरी ओर इसमें संश्लेष पर पहुंचाने वाली अमूर्त विचारधारा का अभाव है। जहाँ भी किसी प्रमुख व्यक्ति का विवरण है वहाँ उसका वर्णन उसकी सामाजिक वर्ग स्थिति के अनुसार किया गया है। उदारणार्थ एक राजा को कन्फूसियस द्वारा प्रतिपादित राजोचित-गुणों के साथ ही दिखलाया गया है। उसी प्रकार एक मन्त्री या कृषक का वर्णन उसके लिए निर्धारित गुणों के परिप्रेक्ष्य में ही किया गया है। इस प्रकार व्यक्ति विशेष के स्वचरित्र के स्थान पर उस व्यक्ति के सामाजिक वर्ग के अनुसार उसके कार्य-कलापों का विवेचन किया गया। दूसरी ओर चीनी-इतिहास-लेखन में घटनाओं के क्रमबद्ध विवरण को प्रमुखता दी गयी। लेकिन इतिहास के एक ही प्रकार की घटनाओं की आवृत्ति पर न कोई व्याख्या, नहीं सामान्यानुमान या परिकल्पना ही मिलती है।

प्रोफेसर बालाज़ के अनुसार चीनी इतिहास लेखन की इन विशेषताओं के तीन-प्रमुख कारण थे। पहला कारण था "वहाँ का इतिहास-लेखन राजवंशों के इतिहास लिखने तक ही सीमित रहना तथा उसी सीमित दायरे में इसका विकास होना।" एक राजवंश के काल में विकसित विभिन्न राजनैतिक, सामाजिक और आर्थिक प्रवृत्तियों का विकास उस वंश के उत्थान (अभ्युदय)-पतन तक ही देखा गया। इन प्रवृत्तियों के विकास की प्रक्रिया का ऐतिहासिक काल में अध्ययन का प्रयास नहीं किया गया, नहीं विभिन्न राजवंशों में एक ही प्रकार की प्रवृत्तियों या घटनाओं की उत्पत्ति पर स्पष्ट ऐतिहासिक दृष्टिकोण से सुनियोजित व्याख्या की गयी। इस प्रकार "इतिहास" राजनीति और समाज के विकास को एक चक्रीय स्वरूप में प्रस्तुत करता रहा। यद्यपि सुङ्काल में इतिहास के इस सीमित दायरे की ओर विद्वानों का ध्यान गया लेकिन इसके बावजूद इतिहास लेखन शैली में कोई व्यापक परिवर्तन आधुनिक काल तक नहीं हुआ। इस प्रकार इतिहास चक्रीय सिद्धान्तों पर आधारित था।

दूसरा कारण था "इतिहास के अध्ययन व लेखन का मुख्यतः राज्याश्रित होना"। अधिकांशतः इतिहासकार राजा व राज्य के वेतनभोगी कर्मचारी थे। इनका मुख्यकार्य सम्राट के कार्य-कलापों, शासकीय गतिविधियों

और महत्वपूर्ण घटनाओं के दिन-प्रतिदन के विवरण को संकलित करना था। इस तरह उनका अधिकतर समय घटनाओं को अभिलेखों के रूप में अक्षुण्ण करने में जाता था न कि उनके आधार पर इतिहास लेखन में साथ ही एक राजवंश का इतिहास प्रायः उसके पतन के बाद स्थापित नये राजवंश के इतिहासकारों द्वारा लिखा जाता था। लेकिन पूर्व राजवंश में संकलित अभिलेखों के आधार पर विवेचनात्मक इतिहास लेखन एक दुरूह कार्य था। इसका मुख्य कारण राजकीय प्रश्रय प्राप्त इतिहासकारों का मुख्य उद्देश्य अभिलेखों की परिमाणात्मकता थी न कि गुणात्मकता। इस प्रकार अभिलेखों की संख्या तो अधिक हो जाती थी लेकिन उनसे कोई निष्कर्ष निकालने या भूत से वर्तमान काल के लिए शिक्षा प्राप्त करने का कार्य जटिल था।

चीनी-इतिहास-लेखन की रूढ़िबद्धता का तीसरा मुख्य कारण "भाषा की सीमितता" थी। इस सीमितता ने इतिहास ग्रंथों में भाषा-प्रवाह को एक संकुचित परिधि में रखा। चीनी इतिहास-लेखन उद्धरण प्रधान रहा। इसके फलस्वरूप इतिहासकारों की मुख्य-प्रवृत्ति पूर्ववर्ती ऐतिहासिक अभिलेखों को अपने शब्दों में संक्षिप्त रूप से प्रस्तुत करने के बजाय मूलपाठ को छोटे-छोटे टुकड़ों में उद्धृत करने की थी। इनका यथासंभव प्रयत्न इन विभिन्न अभिलेखों से मुख्य विवरणों को लेकर उन्हीं शब्दों में लिखना था। इस तरह एक इतिहास-ग्रंथ प्रायः पूर्ववर्ती अभिलेखों से उद्धृत अंशों की एक श्रृंखला मात्र होता था। परिणाम स्वरूप हमें इतिहास ग्रंथों में इतिहासकार की व्यक्तिगत छाप या उसकी विचारधारा का अनुमान नहीं मिलता। साथ ही छोटे-छोटे उद्धृत अंशों से न केवल मूलपाठ की नैसर्गिकता या स्वाभाविकता समाप्त हो जाती थी बल्कि इससे आगे के इतिहासकारों के लिए इन अंशों के आधार पर एक सहज भाषा में इतिहास-लेख अत्यन्त जठिल हो जाता था। इन सब कारणों ने इतिहास लेखन में सृजनात्मक और मौलिक प्रतृत्तियों के विकास को अवरूद्ध कर दिया और इतिहास-लेख की एक स्थापित शैली प्राचीन काल से आधुनिक काल तक चलती रही।

इन सबके अतिरिक्त कन्फूसियसवाद की निरन्तरता ने इतिहास-लेखन की प्रतिबद्धता को सुरक्षित रखने में अधिकतम योगदान दिया। कन्फूसियस परम्परा में इतिहास प्रलेख व अभिलेख को एक पवित्र और धार्मिक धरोहर के रूप में अक्षुण्ण रखने पर अत्यधिक ध्यान दिया गया और इनमें किसी प्रकार परिवर्तन करना नैतिकता के सिद्धान्तों का उल्लंघन माना गया। इस प्रकार कन्फूसियसवाद से अभिन्न रूप से जुड़े हुए इतिहास में परिवर्तन का एक सीमित परिधि के बाहर कोई स्थान नहीं था। इस प्रकार यह ठीक ही कहा गया है कि चीन में इतिहास वास्तव में राजकीय इतिहासकारों द्वारा राजकीय इतिहासकारों के लिए ही लिखा गया।

5.9 अभ्यासार्थ प्रश्न :

(i) चीनी इतिहास लेखन की उत्पत्ति के बारे में आप क्या जानते हैं?

(ii) कन्फूसिययवाद ने चीनी इतिहास लेखन को किस प्रकार प्रभावित किया?

(iii) चीनी इतिहासकार पानकू के इतिहास लेखन की व्याख्या कीजिए।

(iv) चीन में विश्लेषणात्मक एवं आलोचनात्मक इतिहास लेखन का प्रादुर्भाव किस प्रकार हुआ?

(v) चीनी इतिहास लेखन की मुख्य विशेषताओं का उल्लेख कीजिये।

5.10 संदर्भ ग्रन्थ

W.G. Beasley and E.G. Pulleyblank, ed. **Historians of China and Japan.** Lodon. 1961

Albert Feuerwerker, ed. **History in Communist China** Cambridge, Mass, 1968

Joseph R.. Levenson, "The Place of Confucius in Communist China", **China Quarterily** 12 (Oct-Dec. 1962)

Etiene Balazs, **Chinese Civilization and Bureaucracy.** Yale University Press, New Haven, 1972.

इकाई 6

अरबी एवं इस्लामी इतिहास लेखन की परम्परायें

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 इतिहास के सम्बन्ध में मुस्लिम विचार

6.3 इस्लाम के उदय के पूर्व अरब में ऐतिहासिक चेतना

- 6.3.1 युद्ध कालीन वृत्तांत
- 6.3.2 वंशावलियां
- 6.3.3 शिला लेख

6.4 यहूदियों और इसाईयों की भूमिका

6.5 इस्लाम में ऐतिहासिक चेतना का विकास

6.6 मुस्लिम इतिहास लेखन की आधार भूत पद्धतियाँ

- 6.6.1 खबर इतिहास
- 6.6.2 काल कमात्मक इतिहास लेखन
- 6.6.3 राजवंश सम्बन्धी इतिहास लेखन
- 6.6.4 वंशावली सम्बन्धी पद्धति
- 6.6.5 तबक्षात पद्धति

6.7 उमैय्या खलीफाओं के समय का इतिहास लेखन

6.8 अब्बासी खलीफाओं के काल में इतिहास लेखन

6.9 ईरान का सांस्कृतिक उत्थान और इतिहास लेखन

6.10 मंगोल आकमण और इतिहास लेखन

6.11 भारत में मुस्लिम इतिहास लेखन

6.12 अन्दलूसी और मगरिबी इतिहास लेखन

6.13 इब्नरवल्दून के बाद का इतिहास लेखन

6.14 अभ्यासार्थ प्रश्न

6.15 संदर्भ ग्रंथ

6.0 उद्देश्य :

(i) इतिहास के बारे में इस्लामिक अवधारणा से अवगत करवाना।

(ii) इस्लाम के उदय के पूर्व अरब की ऐतिहासिक चेतना की जानकारी करवाना।

(iii) इस्लामिक इतिहास लेखन की विभिन्न पद्धतियों का विश्लेषण करना।

6.1 प्रस्तावना :

इतिहास से सम्बन्धित मुस्लिम विचार क्या थे? क्या इस्लाम के उदय के पूर्व भी अरब में इतिहास लेखन की परंपरा विद्यमान थी और अगर थी तो किस रूप में थी? इस्लामी इतिहास लेखन का क्रमिक विकास किस प्रकार हुआ? हजरत मोहम्मद का इतिहास के प्रति क्या दृष्टिकोण था और उसका इस्लमी इतिहास लेखन के विकास पर क्या प्रभाव पड़ा? मुस्लिम इतिहास लेखन की कौन–कौन सी प्रमुख पद्धतियाँ प्रचलित थी? मुस्लिम इतिहास लेखन के प्रसिद्ध इतिहासकार कौन थे और उनका मुस्लिम इतिहास लेखन में क्या प्रमुख योगदान रहा है।

उपर्युक्त कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिनके आधार पर हम यहां अरबी एवं इस्लामी इतिहास लेखन की परंपरा पर विस्तार से चर्चा करेंगे।

6.2 इतिहास के संबंध में मुस्लिम विचार :

अरबी एवं इस्लामी इतिहास के विकास और स्वरूप पर विस्तार से चर्चा करने के पहले यह जान लेना आवश्यक है कि इतिहास के संबंध में मुस्लिम विचार क्या थे? इतिहास के आधुनिक सिद्धांत के निर्माण में शब्द विज्ञान के विकास की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। यही बात मुस्लिम इतिहास लेखन पर भी लागू होती है। दो तकनीकी शब्द की सामान्यतः अरबी भाषा में इतिहास का विचार इंगित करते हैं, वे हैं – अखबार और तारीख। अखबार जो खबर का बहुवचन है, इतिहास के लिए सामान्य रूप से अधिक प्रयुक्त होता है। खबर शब्द की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, यह बिल्कुल स्पष्ट नहीं है। स्वयं अरबी भाषा में इसके सम्भावित मूल अर्थ का कोई संकेत नहीं मिलता है। ऐतिहासिक क्षेत्र में अरबी शब्द खबर का अभिप्राय महत्वपूर्ण घटनाओं के बारे में सूचना और स्वयं घटनाओं से है। कहानी और किस्से के अर्थ में अखबार इतिहास के ही सदृश है। इस शब्द ने बाद में हजरत मोहम्मद के और विशेष रूप से प्राचीन मुस्लिम शासकों के कथनों और कार्यों के बारे में सूचना का अतिरिक्त अर्थ ग्रहण कर लिया। अन्य शब्दों जैसे आसार के साथ–साथ यह शब्द वस्तुतः हदीस का पर्यायवाची हो गया।

तारीख जो कम से कम नवीं शताब्दी से लेकर आगे तक इतिहास के लिए सामान्यतः विशिष्ट तकनीकी शब्द माना जा सकता है, पूर्णतः अखबार से भिन्न शब्द है। अरबी में तारीख शब्द का अर्थ तिथि और युग दोनों होता है। इस शब्द का स्पष्ट रूप से उल्लेख इस्लाम से पूर्व अरब साहित्य में नहीं मिलता है। कुरान एवं हदीस में भी इसका उल्लेख नहीं मिलता है। तारीख शब्द का अरबी भाषा में सर्वप्रथम उल्लेख मुस्लिम युग के आरम्भ से संबंधित कहानियों के साथ मिलता है। मुस्लिम परंपरा इस विचार का समर्थन करती है कि हिजरी सम्बत खलीफा उमर के समय में प्रारम्भ हुआ था। तत्पश्चात् तारीख ने ऐतिहासिक ग्रंथ का और फिर इतिहास का अर्थ ग्रहण कर लिया ठीक उसी प्रकार जैसे कि इतिहास का अर्थ इतिहास और ऐतिहासिक ग्रंथ दोनों होता है। ऐतिहासिक ग्रंथ के अर्थ के रूप में तारीख शब्द का पहली बार प्रयोग कब हुआ, यह निर्धारित करना बहुत मुश्किल है। किंतु इतना निश्चित है कि इस अर्थ में यह शब्द हिजरी सम्वत् की दूसरी शताब्दी से दृढ़ता से स्थापित हो गया। ऐसे ग्रंथों के लिए जिनमें तिथियां दी हुयी होती थी प्रयुक्त किए जाने के फलस्वरूप, यह अर्थ ग्रहण कर लिया। अतः मूल रूप से ऐसे ऐतिहासिक गंथों को जिनमें तिथियाँ नहीं मिलती हैं, पूरी तरह से तारीख नहीं कहा जा सकता। किंतु फिर भी यहां इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि हमें ऐसे अनेक प्राचीन ग्रंथ मिलते हैं जिन्हें तारीख कहा जाता था परंतु जो वास्तव में जीवनियों के संग्रह थे और जिनमें तिथियाँ बहुत ही कम दी गयी थीं।

सामान्य रूप से "इतिहास" शब्द का अर्थ कालक्रमानुसार लिखे गए ऐतिहासिक ग्रंथों के लिए इस शब्द के प्रयुक्त किए जाने के साथ विकसित हुआ और धीरे–धीरे तीसरी शताब्दी से आगे प्रचलित हो गया।

तारीख का शब्द विज्ञान संबंधी इतिहास जैसा कि उपरोक्त पंक्तियों में लिख जा चुका है, पूर्णतः निश्चित नहीं माना जा सकता है। किसी भी अवस्था में महत्वपूर्ण बात यह है कि इसके शब्द विज्ञान संबंधी इतिहास के परिणामस्वरूप पहले से ही तारीख शब्द ने मुस्लिम पाठकों में ऐसे विचार विकसित कर दिए होंगे जो हमारे इतिहास शब्द द्वारा सुनाए गए विचारों से समता नहीं रखते हैं। "इतिहास" शब्द और अरबी शब्द जिनका हम "इतिहास" के रूप में अनुवाद करते हैं, केवल अपने शब्द विज्ञान संबंधी संगम की जंजीर की कड़ी में आपस में एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। और भी आगे, वहां जहां ये शब्द एक दूसरे से जुड़े हुए हैं इतिहास के बारे में हमारे विचार की दार्शनिक उलझनें जो कि आधुनिक इतिहासवाद की उपज हैं, इसे मुस्लिम "इतिहास" से अलग कर देते हैं।

14वीं एवं 15वीं शताब्दी में मुस्लिम इतिहासकारों ने इतिहास एवं इतिहास लेखन की एक उचित परिभाषा की आवश्यकता महसूस की और उसकी अपने–अपने ढंग से अलग–अलग परिभाषायें की। इब्तखल्दून के अनुसार "इतिहास में ऐसी घटनाओं का उल्लेख होता है जो किसी एक विशेष युग या ज़ाति की अनोखी विशेषता होती हैं।" मगरीबी इतिहास लेखन के उद्देश्य की परिभाषा करते हुए लिखता है कि इतिहास लेखन का उद्देश्य विश्व में घटित घटनाओं के बारे में सूचना देना है। मध्यकालीन पाश्चात्य इतिहासकार भी इसी तरह इतिहास की परिभाषा करते हुए लिखते हैं कि यह भूतकाल में घटी महान् घटनाओं की श्रृंखला है। काफियाजी के अनुसार, "इतिहास लेखन ज्ञान की वह शाख है जो समय विभाजनों और उनमें प्रचलित परिस्थितियों का और उन परिस्थितियों का जो उन समय–विभाजनों से जुड़ी हुयी हैं, की जाँच करती हैं।" सखवी के अनुसार इतिहास का संबंध मनुष्य एवं समय दोनों से होता है।

अंत में मुस्लिम इतिहास लेखन में वे ग्रंथ सम्मिलित हैं जिन्हें मुसलमान उनके साहित्यिक इतिहास के निश्चित समय में ऐतिहासिक ग्रंथ मानते थे और जो साथ ही उचित मात्रा में ऐसी सामग्री से युक्त होते थे जिसे ऊपर दी गयी हमारी इतिहास की परिभाषा के अनुसार ऐतिहासिक सामग्री के रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है।

इस्लाम का उदय मुस्लिम इतिहास की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना हैं। 622 ई. (1 हिजरी) को इस धर्म का सूत्रपात हुआ और इसी वर्ष से इस्लाम के इतिहास की शुरूआत हुयी। इस्लाम पर उसके पूर्ववर्ती अरब जगत् और जीवन का गहरा प्रभाव पड़ा। हजरत मुहम्मद से पहले अरब समाज अनेक कबीलों में बँटा हुआ था और इन कबीलों में आपस में हमेशा संघर्ष चलता रहता था। इनमें युद्ध, हिंसा और बदले की भावना व्याप्त थी। किंतु साथ ही प्रत्येक कबीलों में एकता का भाव था और प्रत्येक कबीला अपनी एकता और अक्षुणता के बनाए रखने के प्रति बड़ा सतर्क था। किंतु हिंसा, संघर्ष और वैमनस्य के इस युग में भी जो इस्लाम के पूर्व अरब समाज में व्याप्त था, अरब जगत् में भावात्मक एकता स्थापित हो चुकी थी। मक्का के निकट उकाज का मेला जो वार्षिक तीर्थयात्रा के अवसर पर आयोजित किया जाता था, एक तरह से विभिन्न अरबी कबीलों का राष्ट्रीय सम्मेलन होता था। इस अवसर पर सब कबीलें अपनी आपसी शत्रुता को भुलाकर एकता के सूत्र में बंध जाते थे। इस समय अरब जगत् के विभिन्न भागों से आए हुए कवि सात मुअल्लकात सुनाते थे जिन्हें वहां एकत्रित सभी अरब समझते थे। इस प्रकार अरब जातीयता के भाव का आरम्भ हो रहा

था। अरब जातीयता का यह भाव बाद में इस्लाम में प्रकट होकर एक सार्वभौम आदर्श में बदल गया।

इस्लाम में इतिहास का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। यही कारण है कि मुसलमान इतिहास के प्रति विशेष जागरुक रहे। अरबी के ग्रंथ "मफातिह–अल–उलूम" में इतिहास की गणना उन विद्याओं में की गयी है जो मुस्लिम प्रकृति और प्रतिभा में स्वभावतः बहुमूल हैं।

6.3 इस्लाम के उदय के पूर्व अरब में एतिहासिक चेतना :

क्या इस्लाम के उदय के पूर्व भी अरब में ऐतिहासिक चेतना विद्यमान थी? यह प्रश्न विवादास्पद है। किंतु पूर्व इस्लाम काल में अरब में साहित्यिक गतिविधियों की जो जानकारी हमें मिलती हैं उससे ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल में जो कुछ साहित्य रचा गया वह न केवल साहित्यिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है बल्कि कुछ हद तक वह ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण हैं और भविष्य में मुस्लिम इतिहास लेखन के विकास में इसका महत्वपूर्ण योगदान रहा है। पूर्व इस्लाम काल के अरब साहित्य में हमें दो प्रकार की रचनायें मिलती हैं –

6.3.1 युद्धकालीन वृतांत :

यह प्रश्न कि क्या अरबों का युद्धकालीन साहित्य पूर्व इस्लाम युग में ही रचा गया और इसका क्या स्वरूप था? इसके बारे में निसंदेह यह कहा जा सकता है कि युद्धकालीन साहित्य की परंपरा इस्लाम के उदय के बहुत पहले से ही अरब में विद्यमान थी। इसकी खोज दमिश्क या बगदाद में किसी लेखक द्वारा मनोरंजन में ही नहीं की गयी थी। यह वास्तव में एक प्राचीन कबीलाई (sematic) पद्धति थी। वस्तुतः यह वही पद्धति थी जो बाइबल के प्राचीनतम इतिहास से संबंधित खंड में मिलती हैं। इन युद्धकालीन वृत्तांतों में एक ऐतिहासिक घटना का वर्णन एक कविता के साथ संबद्ध हो सकता है जिसको कि युद्ध के दौरान बोला जाता था। युद्ध का दृश्य एक छोटे गीत में भव्य रूप में प्रस्तुत किया जा सकता था जिसमें कि युद्ध में भाग लेने वाले एक योद्धा की उपलब्धि का वर्णन किया जाता था। ये युद्धकालीन वृत्तांत स्वयं में एक पूर्ण इकाई थे। ऐतिहासिक वृतांत में सम्मिलित किए जाने के पूर्व ये वृतांत स्वतंत्र कहानियों के रूप में प्रचलित थे। क्या कुछ वृतांत पूर्व इस्लाम युग में कभी–कभी लेखबद्ध भी कर दिए जाते थे? इसके बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। किंतु जिस ढंग से इस सामग्री का समान साहित्यिक वातावरण में प्रेषण (transmission) कर दिया जाता था वह इसके मौखिक प्रेषण (oral transmission)

की ओर इंगित करती हैं। हो सकता है कि कुछ सामग्री समय–समय पर लेखबद्ध कर दी गयी हो। लेकिन कोई भी सुरक्षित सामग्री दूर–दूर तक भी लिखित स्रोतों पर आधारित नहीं दिखायी देती।

हम निश्चित रूप से यह कह सकते हैं कि युद्धकालीन वृत्तांत पूर्व इस्लाम युग में भी प्रचलित थे। किंतु इससे यहां यह प्रश्न पैदा होता है कि क्या उनकी उपस्थिति अरब में ऐतिहासिक चेतना की ओर संकेत करती है। मूल रूप से इन वृत्तांतों की रचना ऐतिहासिक साहित्य के उद्देश्य से नहीं की गयी थी। यही कारण है कि आरम्भिक मुस्लिम इतिहासकारों ने अपनी कृतियों में इन युद्धकालीन वृत्तांतों का बहुत संक्षेप में ही उल्लेख कर देने तक ही अपने आप को सम्मिलित रखा है। डबल्यु. कास्केल (W. Caskel) के अनुसार विस्तृत युद्धकालीन वृतांत तेरहवीं शताब्दी से पूर्व पूर्णतः ऐतिहासिक साहित्य की श्रेणी में स्वीकार नहीं किए गए थे। इस तरह इतिहासकारों ने उस सामग्री को स्वीकार करने में हिचकिचाहट दिखाया जिसको वे भाषा शास्त्रियों या साहित्यकारों के क्षेत्र के अंतर्गत मानते थे और वास्तव में, उत्पत्ति की दृष्टि से संकीर्ण अर्थ में युद्धकालीन वृतांत इतिहास की अपेक्षा बहुत हद तक साहित्य की श्रेणी में आते थे। ये वृतांत मौलिक रूप से लोगों के भावनात्मक मनोरंजन का कार्य करते थे। यद्यपि इनमें ऐतिहासिक तत्व अवश्य होते थे क्योंकि इनमें मुख्य घटनाओं का वर्णन लिखा होता था और इन घटनाओं का वर्णन करना वे अपना नैतिक कर्तव्य समझते थे। किंतु उनमें पूरी तरह से निरंतरता का अभाव होता था। उनको ऐतिहासिक कारण और परिणामों के रूप में नहीं देखा जाता था और वे मुख्यतः तिथि रहित होते थे। इस प्रकार का भी कोई संकेत नहीं मिलता पूर्व इस्लाम युग में कभी भी ऐतिहासिक चेतना रही होगी जिससे कि उन वृत्तांतों को किसी प्रकार के ऐतिहासिक क्रम के अंतर्गत लाने का प्रयत्न किया गया हो। यही कारण है कि युद्धकालीन वृतांत ऐतिहासिक साहित्य के रूप में विकसित नहीं हो सके यद्यपि उनकी तकनीक और शैली ने मुस्लिम इतिहास लेखन के विकास में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

6.3.2 वंशावलियाँ (genealogies)

जहां तक वंशावलियों का सवाल है, वंशावलियों का ऐतिहासिक अभिव्यक्ति के रूप में युद्धकालीन वृत्तांतों की अपेक्षा कम महत्व हैं तथापि ये इस बात का अधिक संकेत देती हैं कि अरब में पूर्व मुस्लिम काल में भी ऐतिहासिक चेतना विद्यमान थी यह मानना उचित नहीं होगा कि पूर्व इस्लाम युग में वंशावलियों के रख रखाव के अंतर्गत किसी भी बड़ी मात्रा में किसी विशेष वंश के सदस्य के साथ जुड़ी हुयी ऐतिहासिक घटनाओं

का रख रखाव सम्मिलित होता था। ऐतिहासिक क्षेत्र में इस प्रकार का अतिक्रमण वंशावली का वास्तविक उद्देश्य कभी नहीं रहा। इस धारणा के बारे में भी कम साक्ष्य उपलब्ध हैं कि वंशावली से संबंधित काव्य पूर्व इस्लाम युग में कभी भी लेखबद्ध किया गया होगा। वो सभी लोग जो कुछ निश्चित वंश कम के संबंधों में रूचि रखते थे, आवश्यक बातों को मौखिक रूप से याद रखते थे। इसके विपरीत यदि कोई व्यक्ति किसी एक विशेष वंश की जानकारी को सुरक्षित नहीं रखता था तो उस वंशावली का कोई महत्व नहीं रह जाता था और वह भूला दी जाती थी। पूर्व इस्लाम युग के अरब अपनी वंशावली संबंधी परंपराओं की किसी भी कमजोरी के बारे में नहीं जानना चाहते थे क्योंकि इससे उसका समस्त सामाजिक एवं राजनैतिक संगठन नष्ट हो जाता। परिणामस्वरूप, वंशावली साहित्यिक रूप में विकसित नहीं हो सकी और वास्तव में मुस्लिम इतिहास लेखन के साहित्यिक रूपों को निर्मित करने में इसकी बहुत तुच्छ भूमिका रही थी।

6.3.3 शिलालेख (Inscriptions) :

अधिक सूचना के लिए हमें दक्षिण अरब में शिलालेखों का अध्ययन करना चाहिए। वे बहुत बड़ी संख्या में सुरक्षित हैं। उनमें से अधिकांश का इतिहास से कोई संबंध नहीं है। इन शिलालेखों में निर्माण एवं सार्वजनिक योजनाओं का बड़े पैमाने पर उल्लेख किया जाता था किंतु साथ ही इस प्रकार के इतने अधिक शिलालेखों का अस्तित्व यह प्रकट करता है कि दक्षिण अरब में राजनैतिक और सांस्कृतिक कार्यों की ऐतिहासिक महत्ता के बारे में एक निश्चित चेतना और महान् कार्यों की याददाश्त को सुरक्षित रखने की इच्छा विद्यमान थी। अभिलेखों के बारे में हमारी यह धारणा और भी अधिक पुष्ट हो जाती हैं कि जब हम इन अभिलेखों में समकालीन महान् सैनिक घटनाओं का सावधानी पूर्ण वर्णन पाते हैं ये अभिलेख यह दर्शाते हैं कि दक्षिण अरब में एक निश्चित ऐतिहासिक चेतना विद्यमान थी जो बाद में मुस्लिम युग में पूरी तरह से विकसित हो गयी। फिर भी यदि हम यह तथ्य स्वीकार भी कर लें कि मुस्लिम इतिहास के विचार की उत्पत्ति सम्भवतः दक्षिण अरब में हुयी तब भी हमारे पास यह दिखाने के लिए कुछ नहीं है कि दक्षिण अरब में इतिहास लेखन का कार्य होता था और इसका इस्लाम के इतिहास लेखन पर कोई प्रभाव पड़ा था।

6.4 यहूदियों और इसाईयों की भूमिका :

इस्लाम के उदय के पूर्व अरब में ऐतिहासिक चेतना और इतिहास लेखन में यहूदियों और इसाईयों की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही हैं। इस अंतरिप में दोनों धर्मों के अनुयायी बहुत

बड़ी संख्या में रहते थे। यहूदियों और इसाईयों को निश्चित रूप से इतिहास और इतिहास लेखन को विभिन्न शैलियों की प्राथमिक जानकारी थी जो उन्हें बाइबल से प्राप्त हुयी थी। फिर भी यह नहीं माना जा सकता कि उन्होंने किसी भी प्रकार की इतिहास लेखन की शैली का विकास किया होगा। लेकिन फिर भी उनके पास ऐसी चाबी थी जिसने पैगम्बर मोहम्मद के रूप में मुसलमानों के लिए जीवन के प्रति ऐतिहासिक दृष्टिकोण का मार्ग प्रशस्त कर दिया।

6.5 इस्लाम में ऐतिहासिक चेतना का विकास :

इस्लाम का जिस तेजी से विस्तार हुआ उससे इस्लाम के इतिहास दर्शन का विकास हुआ। मुहम्मद साहब को साक्षात्कार के क्षणों में जिस पुरातन सत्ता का ज्ञान हुआ उससे संपूर्ण इतिहास का क्रम स्पष्ट हो गया। युग का प्रारम्भ, स्वर्ग और पृथ्वी का निर्माण, स्त्री–पुरुष की रचना, ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध आचरण किए जाने पर दिए जाने वाले दैवीय दंड, पतन के युग का आगमन, पैगम्बरों के द्वारा ईश्वर के संदेश का पुनः प्रतिपादन और फलस्वरूप समृद्धि, प्रसार, शक्ति और सुख का संपादन ये सब घटनायें और प्रक्रियाओं का मुहम्मद साहब को अनुभव हो गया। कुरान में इन प्राचीन घटनाओं के बार–बार संकेत और उल्लेख मिलते हैं। प्रलय का वृत्तांत निष्कासन के समय मिसियों की भाग्यावस्था, आद और तमूद के विध्वंस के कथानक, मोह, मूसा, हूद, सालिह आदि के अवतरण का विवरण कुरान में विभिन्न स्थानों पर मिलता है। यही नहीं कुरान में सृष्टि के अंत (मशहर) और ईश्वरीय निर्णय के भी ज्वलंत उदाहरण मिलते हैं। इस प्रकार कुरान में सृष्टि का समस्त इतिहास सुरक्षित है। किंतु इसमें इतिहास के इस सार्वभौम दृष्टिकोण के साथ–साथ अरब जातियों के असबियाह (सामूहिक चेतना) को सुरक्षित रखने वाली वंशावलियों की भावना भी सम्मिलित हो गयी है। खलीफा उमर के समय जब मुहम्मद साहब के परिवार के सदस्यों और साथियों एवं उनके वंशजों को वृत्तियां देने के लिए तथा मुस्लिम योद्धाओं में युद्ध और लूट में मिली सामग्री बांटने के लिए तालिकायें (दबाबीन) तैयार की गयीं तो उन्हें प्राचीन वंशावलियों के आधार पर तैयार किया गया। इससे अरबों के प्राचीन वंशों के इतिहास के अध्ययन को बड़ी प्रेरणा मिली। इस प्रकार अरब वंशावलियों की परंपरा मुस्लिम जगत के इतिहास में बदल गयी।

6.6 मुस्लिम इतिहास लेखन की आधारभूत पद्धतियाँ:

इस्लाम के उदय के बाद अरब और अन्य मुस्लिम देशों में इतिहास लेखन की परंपरा का अत्यधिक विकासव हुआ। मुस्लिम

इतिहास लेखन की कुछ आधारभूत पद्धतियाँ जो इस काल में प्रचलित थी वे निम्न लिखित थी :

6.6.1 खबर इतिहास :

मुस्लिम इतिहास लेखन की प्राचीनतम पद्धति खबर है जिसकी गणना युद्धकालीन वृतांतों के बाद की जाती है। यह केवल एक अकेली घटना का पूर्ण विवरण है जो कि कुछ एक पृष्ठों से अधिक का नहीं होता। खबर पद्धति की तीन विशेषतायें महत्वपूर्ण हैं – प्रथम, प्रकृति से ही इसमें दो या अधिक घटनाओं के बीच कोई संबंध नहीं होता है। प्रत्येक खबर अपने आप में पूर्ण होती है और किसी भी प्रकार की सहायक सामग्री का इसमें कोई उल्लेख नहीं होता है। यह भी स्पष्ट है कि लंबे समय का इतिहास लिखने में खबर पद्धति बिल्कुल अव्यवस्थित हो जाती है, क्योंकि खबर पर जब तक यह अपना सच्चा स्वरूप नहीं खो देती, एक निश्चित मात्रा तक ही दबाव डाला जा सकता है।

द्वितीय, खबर पद्धति ने अपने से पूर्व प्रचलित ऐतिहासिक पद्धति–युद्धकालीन वृतांत की तरह एक संक्षिप्त कहानी के चरित्र को बनाए रखा। इनमें जिस प्रकार युद्ध के दृश्यों का वर्णन किया जाता था उसके कारण ये मनोरंजन पूर्ण बने रहे, किंतु इससे उनमें वास्तविक तथ्य छिप गए। किंतु सामान्य रूप से खबर इतिहास लेखन की इस विशेषता ने बाद के मुस्लिम इतिहास लेखन को रूखे इतिहास की श्रेणी से उपर उठा लिया और लोगों में इसके प्रति ऐतिहासिक रुचि पैदा की। खबर पद्धति के उच्च साहित्यिक गुणों के कारण ही अदब ग्रंथों जैसे उदाहरण के लिए इब्न अब्दरानिह के इकद में इतिहास से संबंधित कुछ अध्याय जोड़े जाते थे।

तीसरी महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि युद्धकालीन वृत्तांतों के निरंतरता के रूप में और अभिव्यक्ति की कलात्मक शैली के रूप में खबर इतिहास में काव्यात्मक पुट की उपस्थिति अनावश्यक होती थी। वास्तव में ऐसा कोई भी ऐतिहासिक ग्रंथ जो कि काव्यात्मक उद्धरणों से बिल्कुल रहित हो, मिलना बहुत मुश्किल है।

यह बात पर्याप्त रूप से स्थापित हो गयी है कि खबर पद्धति पूर्व इस्लाम युग में ही अस्तित्व में आ गयी थी और बाद में सम्भवतः बिना किसी बाधा के इसकी मौखिक या लिखित साहित्यिक परंपरा इस्लाम में प्रवेश कर गयी होगी। किंतु मुस्लिम इतिहास लेखन में खबर पद्धति पर लिखा गया पहला ग्रंथ कौर सा था? इस प्रश्न का कोई समुचित उत्तर नहीं मिलता। ऐसा

जान पड़ता है कि खबर इतिहास लेखन के प्रारम्भिक ग्रंथ प्राइवेट पुस्तकें और विद्वानों की नोट बुकें रही होंगी जिनके बारे में कोई स्पष्ट और विश्वसनीय सूचना हमें उपलब्ध नहीं है।

खबर पद्धति ऐसे ग्रंथों को छोड़कर जिनमें बिना किसी प्रकार के वर्णन के केवल घटनाओं या नामों की सूची दी गयी है, किसी न किसी रूप में समस्त मुस्लिम ऐतिहासिक ग्रंथों में प्रयुक्त की गयी है। किंतु अन्य आधारभूत पद्धतियों तरह यह पद्धति अपने वास्तविक रूप में बहुत ही कम प्रयुक्त हुयी है। यह पद्धति अक्सर इतिहास लेखन के अन्य तत्वों के साथ जुड़ गयी है।

6.6.2 कालक्रमात्मक इतिहास लेखन (The Annalistic Historiography):

इस पद्धति के अंतर्गत घटनाओं का वर्णन वर्षों के क्रम में किया जाता है। इतिहास लेखन की इस पद्धति का पूर्ण रूप से विकास महान् इतिहासकार अलतबरी (838-923 ई.) के समय में हुआ। तबरी का इतिहास "तारीख–अल रैसूल वल मुलूक" जो दसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में प्रकाशित हुआ, कालक्रमात्मक पद्धति के आधार पर लिखी गयी एक उत्कृष्ट कृति है। इसमें कालक्रमात्मक पद्धति से परंपराओं की अक्षुणता (इसनाद) के आधार पर 915 ई. तक का इस्लाम का पूर्ण इतिहास लिपिबद्ध है। फ्रेंज रोजेंथल का मानना है कि "यह मानना गलत नहीं होगा कि कालक्रमात्मक पद्धति से लिखे गए मुस्लिम इतिहास ने यूनानी और सीरियायी इतिहास लेखन से प्रेरणा प्राप्त की है। यद्यपि ऐसा कोई निश्चित ग्रंथ नहीं है जिससे मुस्लिम इतिहासकारों के लिए एक प्रेरणा का काम किया हो। किंतु यह निश्चित है कि आरम्भिक मुस्लिम विद्वानों में कालक्रमात्मक पद्धति से इतिहास लेखन का विचार इसाई विद्वानों या इसाई से मुसलमान बने विद्वानों के संपर्क में आने से आया।"

इस्लाम में कालक्रमात्मक इतिहास लेखन की पद्धति के विकास के लिए यह मानना महत्वपूर्ण है कि प्रकृति से ही यह शैली प्रधान रूप से केवल तथ्यों से संबंधित है जो समकालीन स्रोतों द्वारा लेखबद्ध किए गए थे और जिनमें न तो किसी बाद के इतिहासकार द्वारा कोई सुधार किया जा सकता था और न ही उसका विस्तार किया जा सकता था। बाद के कालक्रमात्मक पद्धति के आधार पर लिखे गए ग्रंथ पहले के लेखकों द्वारा इसी प्रकार के लिखे गए ग्रंथों के क्रम में लिखे गए माने जाते थे। इस पद्धति से लिखे गए ग्रंथ का महत्वपूर्ण भाग इसका समकालीन खंड होता था। इस प्रकार के ग्रंथ के लिखने के लिए सूचना का महत्वपूर्ण स्रोत बहुधा लेखक द्वारा

लिखी गयी डायरी हो सकती थी। इस प्रकार की डायरी का सर्वोत्तम उदाहरण हमें ग्यारहवीं शताब्दी में हुए प्रसिद्ध इतिहासकार अबू अली इब्न अल बन्ना की डायरी का मिलता है।

6.6.3 राजवंश संबंधी इतिहास लेखन (Dynastic Historiography):

प्राचीनतम सुरक्षित ऐतिहासिक ग्रंथ विभिन्न शासकों के शासनकाल के ही क्रम में लिखे गए हैं और उनमें कालक्रम संबंधी विभाजन पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। इब्न इशाक का ग्रंथ हिस्ट्री ऑफ दी केलिपस इसका उदाहरण है यद्यपि इसके बारे में हमको बहुत कम जानकारी मिलती है। किंतु इस पद्धति पर लिखा गया सर्वोत्तम उदाहरण अलयाकूबी द्वारा लिखा गया ग्रंथ है। दीनवरी द्वारा रचित अखबार–अत–तिवाल भी इस पद्धति पर लिखा गया एक अन्य उच्च कोटि का ग्रंथ है। अल बलदूरी रचित अंसाब भी इस पद्धति से लिखा गया ग्रंथ है। इस बात में थोड़ा भी संदेह नहीं हो सकता कि उमैय्या और अब्बासी खलीफाओं के बारे में लिखे गए प्राचीन ग्रंथों में भी इसी पद्धति का अनुसरण किया गया है। राजवंश संबंधी इतिहास के लिखे जाने का कम यह है कि यह प्राचीनतम शासक से प्रारम्भ होकर वर्तमान शासक तक आता है।

वस्तुतः शासकों के कम में (राजवंश संबंधी) इतिहास लेखन की पद्धति बहुत प्राचीन है और इसका बड़ी मात्रा में प्रयोग किया गया है। इसकी जानकारी हमें प्राचीन पूर्वी देशों और यूनान तथा रोम के इतिहास लेखन से भी होती है। ऐसा जान पड़ता है कि राजवंश संबंधी जो पद्धति मुस्लिम इतिहास लेखन में अपनायी गयी हैं वह इसमें इरानी इतिहास लेखन के प्रभाव से आयी हैं। पहला प्रसिद्ध मुस्लिम इतिहासकार जिसने किसी राजवंश का इतिहास लिखा वह मुहम्मद सालिह था जो अब्बासी खलीफाओं का समकालीन था और उसने अब्बासी वंश के खलीफाओं का इतिहास लिखा है। किंतु साथ ही यहां हमको यह भी नहीं भूल जाना चाहिए कि इसी पद्धति पर लिखे गए इससे भी अधिक प्राचीन ग्रंथ हमें उमैय्या वंश के बारे में मिलते हैं। वास्तव में फिहरिश्त से हमें यह ज्ञात होता है कि अल कलबी जिसकी मृत्यु 767 ई. के लगभग हुयी उसने मुआविया और उमैय्या खलीफाओं की जीवन कथा लिखी है। यह ग्रंथ राजवंश संबंधी इतिहास लेखन पद्धति पर लिखे गए बाद के ग्रंथों के समकक्ष उमैय्या वंश का इतिहास हो सकता है।

6.6.4 वंशावली संबंधी पद्धति (The genealogical arrangement):

आठवीं एवं नवीं शताब्दी ईस्वी में भी इतिहासकार और भाषाविद् वंशावलियों का भी वर्णन करते थे। उनके ग्रंथ विभिन्न

अरब कबीलों के समूह के विभिन्न सदस्यों व उनके कार्यों के बारे में खबर पद्धति पर लिखे गए संग्रह भी होते थे। वंशावलियों के रूप में लिखे गए प्रारंभिक ग्रंथों में एक प्रमुख ग्रंथ मुअरिज अमर अस्सदूसी कृत "हज्फ मिननसब कुरैश" हैं जो सामान्य कुरैशी परिवारों पर लिखा गया है। इसी पद्धति पर लिखे गए पारम्भिक ग्रंथों का एक अन्य उदाहरण अज जुबैर बक्कार द्वारा लिखा गया प्रसिद्ध ग्रंथ नसब कुरैश है। किंतु इन दोनों ग्रंथों में ऐतिहासिक सूचना बहुत कम मिलती हैं और यही बात हमें बाद में वंशावली संबंधी पद्धति पर लिखे गए अन्य ग्रंथों में भी मिलती हैं। किंतु इतिहास लेखन की वंशावली संबंधी पद्धति का प्रयोग बड़े पैमाने पर अल बलादूरी ने अपने ग्रंथ किताब अल अन्साब में किया है। किंतु अलबलादूरी के अन्साब में प्रयुक्त वंशावली पद्धति पेचिदा मुस्लिम समाज का इतिहास लिखने के लिए उचित माध्यम नहीं थी और यही कारण हैं कि नवीं शताब्दी के बाद यह पद्धति अरब में स्वतः समाप्त हो गयी। यद्यपि बाद में स्पेन में यह पद्धति काफी लोकप्रिय हुयी और पश्चिमी मुस्लिम जगत् में भी इस पद्धति पर ऐतिहासिक महत्व के ग्रंथों की बड़े पैमाने पर रचना की गयी।

6.6.5 तबकात पद्धति :

उपर्युक्त पद्धतियों के अलावा तबकात (वर्गीकृत चरित्र चित्रण) पद्धति भी मुस्लिम इतिहास लेखन की एक महत्वपूर्ण पद्धति थी। वास्तव में तबकात पद्धति शुद्ध रूप से मुस्लिम थी। इस पद्धति का हिजरी सम्वत् की दूसरी शताब्दी में विकास हुआ। लेकिन तबकात पद्धति ऐतिहासिक विषयों के बजाय धर्मिक विषयों पर लिखे जाने के लिए अधिक उपयुक्त मानी जाती थी।

मुस्लिम इतिहास लेखन की विभिन्न पद्धतियों की विवेचना करने के बाद अब हम देखेंगे कि प्रारम्भिक खलीफाओं के समय में तथा अनके बाद अरब तथा अन्य मुस्लिम राज्यों में मुस्लिम इतिहास लेखन का विकास किस प्रकार हुआ? कौर–कौन से प्रसिद्ध इतिहासकार हुए और अनका मुस्लिम इतिहास लेखन में क्या प्रमुख योगदान रहा?

6.7 उमैय्या खलीफाओं के समय का इतिहास लेखन :

प्रारम्भिक खलीफाओं को अपने से पहले के शासकों के कार्यों और चरित्र के बारे में जानने में बड़ी रूचि थी। श्रद्धालु मुसलमान पैगम्बर मोहम्मद और उनके साथियों के जीवन चरित्र में अपार श्रद्धा रखते थे। मुहम्मद साहब के परिवार सदस्यों और उनके साथियों तथा वंशजों की वृत्तियां देने के लिए तालिकायें (दवाबीन) तैयार करने के लिए अरबों का वंशगत

इतिहास जानना आवश्यक था। इस्लाम का जिस तेजी से प्रसार हुआ उसने मुस्लिम जगत् में इतिहास की चेतना पैदा कर दी थी। फलस्वरूप दक्षिण अरब के लेखक आबिद इब्न शरयह ने मुआविया के निमंत्रण पर दमिश्क जाकर अरब के विभिन्न कबीलों और राजाओं का इतिहास लिखा। उनकी एक पुस्तक "किताब–अल–मुलूक" व अखबार–अल–माजीन" मसूदी के समय तक प्रचलित थी। इसी समय यमन निवासी वाहब इब्न मुतब्बिह ने जो एक फारसी यहूदी था, "अल तीजान फी मुलूक हिमयार" नामक ग्रंथ की रचना की।

6.8 अब्बासी खलीफाओं के काल में इतिहास लेखन :

उमैय्या वंश के पतन के पश्चात् अब्बासी खलीफाओं के युग का आरम्भ हुआ। अब्बासी खलीफाओं के समय में दमिश्क के स्थान पर बगदाद उनकी राजधानी बना। यह एक ऐसा नगर था जहां सब देशों के लोग एकत्रि होते थे। इससे सांस्कृतिक आदान प्रदान में बहुत वृद्धि हुयी। इस सांस्कृतिक आदान–प्रदान से इतिहास लेखन को भी एक नवीन प्रेरणा प्राप्त हुयी। परिणामस्वरूप अब्बासी खलीफाओं के युग में बड़ी संख्या में उच्च कोटि के ऐतिहासिक ग्रंथों की रचना हुयी। उदाहरण के लिए कूफा के हिसाम अल कल्बी ने इस्लाम से पूर्व के अरब जगत् का इतिहास लिखा। मदीने के इब्त इशाक ने पैगम्बर मुहम्मद का प्रसिद्ध जीवन चरित्र "सीरात रसूल अल्लाह"लिखा। इसी समय मूसा इब्त उकबाह ने 758 ई. में और अलबाकिदी ने 822-23 ई. में मुस्लिम विजयों और पैगम्बर तथा उनके साथियों के इतिहास लिखे। 870 ई. में मिस्र के लेखक इब्न अब्द दल हकम ने अपने ग्रंथ फुतूह मिश्र व अखबारूह में मिस्र, उत्तरी अफ्रीका और स्पेन की विजय का इतिहास लिखा। लगभग इसी समय 892 ई. में फारस के लेखक अहमद इब्न यला अल बलाजुरी ने फुतू–ह अल बुलदानु अन्साब अल अशराफ में विभिन्न नगरों और देशों के बिखरे हुए वृत्तांतों को एकत्रित और समन्वित किया।

अब धीरे–धीरे मुस्लिम इतिहास लेखन की शैली में विकास हुआ और बड़े पैमाने पर क्रमबद्ध इतिहासों की रचना प्रारम्भ हुयी। क्रमबद्ध इतिहास का श्रेष्ठ उदाहरण मुहम्मद इब्न मुस्लिम अल दिनावरी की पुस्तक किताब अल मारिफ है जिसकी रचना उसने 889 ई. में की। इसी का समकालीन अबू हनीफा अहमद इब्न दाऊद अल दिलावरी था जिसने 895 ई. में अल अखबार अल तिवाल नाम से एक ग्रंथ की रचना की जो फारसी दृष्टिकोण से लिखा हुआ एक प्रकार का विश्व इतिहास है। लगभग इसी समय प्रसिद्ध भूगोलवेत्ता और इतिहासकार इब्न वाजीह

अल याकूबी ने शिया संप्रदाय के एक सार्वभौम ग्रंथ "तारीख" की रचना की जिसमें हिजरी सन् 258 (872 ई.) तक का शिया सम्प्रदाय का इतिहास मिलता है। इसमें अलयाकूबी ने प्राचीन एवं स्वच्छ शिया परंपराओं का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है। 1030 ई.. में में मिस्कवियाह ने जिसकी गणना प्रमुख अरबी इतिहासकारों में की जाती हैं, तज़ारिब अल उमाम नाम से एक सार्वभौम ग्रंथ की रचना की। इस ग्रंथ में उसने 980 ई. तक का अरब का संपूर्ण इतिहास लिखा है।

किंतु अरब इतिहासकारों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण इतिहासकार अलतबरी (838-923 ई.) और अलमसूदी हुए हैं। अलतबरी का पूरा नाम अबूजाफर मुहम्मद इब्न जरीर अलतबरी था। उसका जन्म फारस के पहाड़ी जिले तबरिस्तान में हुआ था। उसकी प्रमुख कृति तारीख अल रसूल बल मुलूक हैं। अधिकांश अरब इतिहासकारों के समान तबरी ने भी घटनाओं को तिथि क्रम के आधार पर व्यवस्थित किया है। एक तिथि से संबंधित समस्त घटनाओं को एक ही जगह एकत्रित कर दिया। इस प्रकार उसने प्राचीन पद्धति के साथ–साथ फारसी के प्रसिद्ध ग्रंथ "खूदाये नामें" की शैली का भी अनुसरण किया। अपने ग्रंथ की रचना करने में अलतबरी ने अपने समय की साहित्यिक रचनाओं के उपयोग के साथ–साथ अपनी यात्राओं के दौरान उपलब्ध सूचनाओं और किंवदात्तियों तथा उन मौखिक परंपराओं का जो उसे बगदाद तथा अन्य विद्या केंद्रों के शेखों से प्राप्त हुयी थी, का भरपूर प्रयोग किया है। अलमसूदी जिसे "अरबों का हेरोडोटस" कहा जाता है, का प्रमुख ग्रंथ मरूज अल जहाब व मादीन अल जौहर है जिसे उसने तीस जिल्दों में लिखा है। इस ग्रंथ में मसूदी ने अब तक प्रचलित शैलियों से भिन्न शैली का प्रयोग किया जो अरब इतिहास लेखन में एकदम नवीन थी। उसने तबरी की भाँति घटनाओं को तिथियों के अनुसार संकलित न करके उनको वंशों, शासकों और जातियों के आधार पर व्यवस्थित किया यह शैली तबरी की शैली से भिन्न थी। अरब इतिहास लेखन में यह एकदम नवीन शैली थी जिसका बाद में इब्न खल्दून तथा अन्य इतिहासकारों द्वारा बड़े पैमाने पर प्रयोग किया गया। इस्लामी इतिहास लेखन में ऐतिहासिक दृष्टांतों का उचित प्रयोग उसी से प्रारम्भ हुआ। उसने भी ज्ञान वृद्धि के उद्देश्य से अपने मूल स्थान बगदाद से जंजीबार तक की यात्रा की। उसके जीवन के अंतिम वर्ष सीरिया एवं मिस्र में व्यतीत हुए। यहीं रहकर उसने अपने उपर्युक्त ग्रंथ की रचना की। उसकी उदारता तथा वैज्ञानिक जिज्ञासा ने उसे मुस्लिम विषयों के अतिरिक्त भारतीय, फारसी, रोम तथा यहूदी इतिहास की ओर भी आकृष्ट किया था। उसकी मृत्यु 956 ई. में हुई। अपनी

मृत्यु के पूर्व उसने "अलतनवीह व अल इशराफ" नामक एक और ग्रंथ की रचना की जिसमें उसने इतिहास दर्शन तथा प्राकृतिक जगत् के विषय में अपने विचारों को संग्रहीत और लेखबद्ध किया। मसूदी का मानना था कि जलवायु, भौगोलिक परिस्थिति और प्राकृतिक अवस्था का मनुष्य और जाति के जीवन पर गम्भीर प्रभाव पड़ता है। उसने धर्म (दीन) और राज्य (मुल्क) के पारस्परिक संबंधों का भी गहरा अध्ययन किया और इनके पतन की प्रकिया पर अपने महत्वपूर्ण विचार प्रकट किए। उसके मतानुसार किसी देश या जाति की शासन व्यवस्था उस देश या जाति के धार्मिक विश्वास, आर्थिक परिस्थिति, एक साथ रहने वाले लोगों के स्वभाव और उसके पड़ोसी देशों के प्रभाव, इन चार तत्वों पर आधारित होती है।

वास्तव में तबरी और मसूदी की रचनाओं में अरब इतिहास लेखन अपनी उत्कृष्टता के चरम बिंदु पर पहुंच गया। इसी युग का एक और प्रसिद्ध इतिहासकार अल असीर (1160-1234) ई. है। उसकी प्रमुख रचना अल कामिल फि अल तारीख इतिवृत्तों की पूर्ण पुस्तक है जो वास्तव में तबरी के ग्रंथ का संक्षेप मात्र हैं किंतु इसमें उसने 1231 ई. तक की घटनाओं का वर्णन किया है। इस ग्रंथ में वर्णित इसाई धर्म युद्धों (क्रूसेड) से संबंध रखने वाला भाग इब्न अल असीर का मौलिक योगदान है। मंगोल आक्रमणकारियों का मुस्लिम देशों पर जो आतंक फैला हुआ था उसकी इब्न अल असीर को पूर्ण जानकारी थी और उसने इसका अपने उपरोक्त ग्रंथ में रोमांचकारी वर्णन किया है। उसका घटनाओं के पारस्परिक कार्य–कारण संबंध में विश्वास था। अतः उसका मानना था कि मंगोल आक्रमणकारियों की सफलता का मुख्य कारण अलाउदीन रव्वारज्मशाह द्वारा की गयी भूलें थीं। ई. जी. ब्राउन ने इब्न अल असीर की प्रशंशा करते हुए लिखा है कि वह एक शांत और गम्भीर निरीक्षक था।

6.9 ईरान का सांस्कृतिक उत्थान और इतिहास लेखन :

ईरान पर अरबों का अधिकार हो जाने के पश्चात् ईरान का सांस्कृतिक पुनरुत्थान बड़ी तेजी से हुआ। इसी समय फारसी भाषा साहित्य का माध्यम बनी। बुबई, सामानी जियारी वंश ईरानी थे। उनके शासनकाल में खुरासान, तबरिस्तान और दक्षिणी फारस मुस्लिम संस्कृति के प्रमुख केंद्र बन गए थे। सुलतान महमूद गजनवी (998-1030 ई.) ने फारसी भाषा को बड़ा प्रोत्साहन दिया। जिसके परिणामस्वरूप उसके समय में फारसी भाषा के अनेकों उत्कृष्ट साहित्यिक ग्रंथों की रचना हुयी। फिर दौसी का शाहनामा इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। निजामुल मुल्क (1017-1092 ई.) का

प्रसिद्ध ग्रंथ "सियासतनामा" फारसी ग्रंथ का उत्कृष्ट नमूना है। मंगोलों के ईरान पर आक्रमण के बाद फारसी का महत्व और भी बढ़ गया और यह इतिहास रचना का माध्यम भी बन गयी। फलस्वरूप फारसी भाषा में बड़ी संख्या में ऐतिहासिक ग्रंथों की रचना हुयी। इन फारसी इतिहासकारों का दृष्टिकोण बड़ा विस्तृत और गम्भीर था।

6.10 मंगोल आक्रमण और इतिहास लेखन :

मुस्लिम देशों पर मंगोल आकमणों का मुस्लिम इतिहास लेखन और इतिहास के अध्ययन पर गहरा प्रभाव पड़ा और इससे इतिहास के अध्ययन और लेखन की दिशा ही बदल गयी। 1258 ई. में मंगोल नेता हुलाकू ने बगदाद का घेरा डाला जो लगभग एक सप्ताह तक चला। इस आक्रमण के दौरान मंगोलों द्वारा बड़ी संख्या में मुसलमानों का नरसंहार किया गया तथा मुस्लिम कला, साहित्य और संस्कृति के अनेक केंद्र नष्ट भ्रष्ट कर दिए गए। खलीफा अल मुसतसीम बिल्ला को डंडों से पीट पीट कर मार डाला गया। इस प्रकार इस्लाम की अजेयता का स्वप्न भंग हो गया और मुस्लिम जगत् में मंगोलों का एक भयंकर आतंक छा गया। इस बात ने सब लोगों को आश्चर्यचकित कर दिया कि उत्कृष्ट अरबी घोड़ों पर सवार कवचधारी प्रशिक्षित मुस्लिम सैनिक टट्टुओं पर सवार और केवल भाले घुमाते हुए वस्त्र और कवचहीन मंगोलों से किस प्रकार हारकर काल के गाल में समा गए। बताया जाता है कि जब फलकुद्दीन मुहम्मद बिन एदीमिर ने यह वृत्तांत अपने मित्रों को सुनाया तो वे आश्चर्यचकित रह गए। मंगोलों द्वारा किए गए इस विनाश का जलालुद्दीन अबू जाफर ने अपने ग्रंथ फिताबुल फखरी में उल्लेख किया है। इस लेखक और मुस्लिम समाज के सामने यह प्रश्न था कि मुस्लिम साम्राज्य जो सिर दरया और काकेशस से अटलांटिक और अरब तथा हिंद महासागर तक के विशाल प्रदेश तक फैला हुआ था, कैसे असभ्य और बर्बर मंगोलों द्वारा नष्ट भ्रष्ट कर दिया गया। इस प्रश्न के उत्तर में जलालुद्दीन अबू जफर ने 622 ई. से 1258 ई. तक का इस्लाम का संपूर्ण इतिहास लिखा जिसमें उसने तत्कालीन समाज को यह दर्शाया कि इस्लाम के आरम्भिक काल में उसमें कितना तेज और गति थी और किस प्रकार उसमें धीरे–धीरे कमी आती चली गयी।

इस समय मंगोलों ने भी मुस्लिम इतिहासकारों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया। उनका इतिहास सबके लिए एक पहेली था। सभी लोगों में मंगोलों का इतिहास जानने के बारे में बड़ी जिज्ञासा थी। अतः अलाउद्दीन अता मलिक जुबैनी (1226-

83 ई.) और फज्लुल्लाह रशीउद्दीन तबीब अबुलखैर हमदानी (1243-1318 ई.) नामक दो प्रसिद्ध मुस्लिम इतिहासकारों ने मंगोलों का इतिहास लिखकर यह कमी पूरी की जुबैनी ने ईरान और ईराक पर प्रलयंकारी मंगोल आक्रमणों के दृश्य स्वयं अपनी ऑखों से देखे थे। अतः उसने अपनी पुस्तक तारीखे जहाँगुशा में ईरान और ईराक का पृष्ठभूमि में मंगोल का इतिहास लिखा है। इस ग्रंथ के तीन भाग हैं – प्रथम में चंगेज खाँ तक का मंगोलों का इतिहास हैं, दूसरे में रव्वारज्मशाही वंश का वृत्तांत है और तीसरे में अलामूत के इस्माइलियों तथा उनके विनाश का विवरण दिया गया है।

रशीदुद्दीन ने जो मंगोल साम्राज्य में कई उच्च पदों पर काम कर चुका था, मंगोल शासक गामजान खाँ (1295-1304) के आदेश पर "तारीखे गाजानी" के नाम से तुर्कों और मंगोलों का इतिहास लिखा। इसके बाद उलजैतु खुदाबन्दा (1305-1316 ई.) के आदेश पर एक और ग्रंथ जामी–उत–तवारीख की रचना की। जामी–उत–तवारीख दो भागों में लिखा गया विश्व का इतिहास है। इसके प्रथम भाग में रशीदुद्दीन ने विश्व का इतिहास लिखा है और दूसरे भाग में विश्व का भूगोल दिया है। प्रथम भाग विश्व का इतिहास भी चार भागों में लिखा गया है। पहले तीन भागों में ईरान और अरब जगत् का इतिहास दिया गया है और चौथे भाग में तुर्क, चीनी, यहूदी, फिरंगी और हिंदु जाति का इतिहास है। इतिहास का यह विश्वव्यापी दृष्टिकोण सर्वप्रथम रशीदुद्दीन के उक्त ग्रंथ में दिखायी देता है।

मंगोलों के शासनकाल में ईरान एक प्रकार से विभिन्न संस्कृतियों का संगम स्थल बन गया था। वहां इस काल में चीनी, काश्मीरी, हिंदू, बौद्ध, इसाई, यहूदी, फिरंगी आदि बहुत से देशों और धर्मों के लोग आ आकर बस गए थे। इन लोगों का सम्मिलन और सम्मिश्रण विश्व संस्कृति को मंगोलों की विशेष देन है। ऐसे वातावरण में यह स्वाभाविक था कि उस युग के इतिहासकार का दृष्टिकोण सार्वभौम हो। अतः हम देखते हैं कि रशीदुद्दीन ने ही सबसे पहला विश्व इतिहास लिखा। जैसा कि रशीदुद्दीन से हमें जानकारी मिलती हैं चीन का इतिहास लिखने में उसे दो चीनी विद्वान ली–ता–ची और मक–सुन से मदद मिली। भारत का इतिहास लिखने में उन्हें कश्मीर के बौद्ध विद्वान कमलश्री से बहुमूल्य सूचनायें मिलीं। यूरोप का इतिहास लिखने में उसे सम्भवतः पीसा के व्यापारी ड्योलुस से सहायता मिली। मंगोलों का इतिहास लिखने में उसे स्वयं मंगोल शासक गाजान खाँ और पूलाद चिड्चाड् से महत्वपूर्ण मदद मिली। इस प्रकार रशीदुद्दीन विश्व इतिहास की कल्पना

और उसे मूर्तरूप देने में सफल हो सका। उसके अनुसार एशिया के रंगमंच पर मंगोलों का उदय ऐसी ही घटना थी जैसे सातवीं शताब्दी में इस्लाम का आगमन।

रशीदुद्दीन के बाद नसीरूद्दीन अल बैदावी और मिनहाज अल सिराज ने भी इस परंपरा के अंतर्गत अपने ग्रंथ लिखे। इसाई धर्म युद्धों (क्रूसेडद्ध ने भी इस्लामी इतिहास लेखन के क्षेत्र का विस्तार किया। बहाउद्दीन (1145-1234 ई.) जो अलेप्फों का निवासी था तथा उसाम इब्न मुनकीज और अबू शाम (1203-1268) आदि इतिहासकारों ने अपनी रचनाओं में इसाईयों और मुसलमानों के सामरिक और सांस्कृतिक संबंधों पर पर्याप्त प्रकाश डाला है।

6.11 भारत में मुस्लिम इतिहास लेखन :

भारत में मुश्लिम सत्ता स्थापित होने के बाद यहाँ भी इतिहास लेखन को बड़ा प्रोत्साहन मिला। प्रारम्भिक तुर्क और खिलजी सुल्तानों के समय में यहाँ अनेकों इतिहासकार हुए जिन्होंने फारसी भाषा में अनेकों उत्कृष्ट ऐतिहासिक ग्रंथों की रचना की। मिनहाज उस सिराज (1260 ई.) ने तबकाते नासिरी नामक ग्रंथ की रचना की जो एक प्रकार से विश्व के विभिन्न मुस्लिम राजवंशों का इतिहास है। अपने इस ग्रंथ में उसने भारत के प्रारम्भिक तुर्की सुल्तानों के साथ ही साथ विश्व के अन्य मुस्लिम राजवंशों का भी इतिहास लिखा है। जियाउद्दीन बरनी ने तारीखे फीरोजशाही नामक ग्रंथ की रचना की जिसमें उसने सुल्तान गयासुद्दीन बलबन से लेकर फीरोजशाह तुगलक के शासनकाल तक का दिल्ली सुल्तानों का इतिहास लिखा। भारत में अन्य प्रसिद्ध मुस्लिम इतिहासकार इजामी और शम्सेसिराज अफीफ हुए जिन्होंने क्रमशः फुतुह–उस–सलातीन तथा तारीखे फीरोजशाही नामक ग्रंथों की रचना की।

6.12 अन्दलूसी और मगरिबी इतिहास लेखन :

अन्दलूस (स्पेन) में इस्लाम के प्रवेश के बाद वहां भी प्रचुर मात्रा में इतिहास लेखन का कार्य प्रारम्भ हुआ। अबूबक इब्न उमर (977 ई.) ने "तारीख इफ्तिताह अल अन्दलूस" नामक ग्रंथ की रचना की जिसमें उसने मुस्लिम विजय से लेकर अब्दुर्रहमान तृतीय तक के शासन का इतिहास लिखा। मुवहिंहद युग के सर्वाधिक प्रसिद्ध इतिहासकार अब्दुल वाहिद अल मर्राकुशि थे जिन्होंने 1224 ई. में "अलमुजीब फी तलखीस अखबार अल मगरीब" नामक ग्रंथ की रचना की। इस प्रदेश के अन्य लेखकों में अबुल वलीद अब्दुल्लाह और अबुल कासिम खलफ प्रमुख हैं

जिन्होंने कमशः "तारीख उलमा अल अन्दलूस" और "अलसिलहफी तारीख एम्मत अल अन्दलूस" नामक ग्रंथों की रचना की। ये दोनों ग्रंथ जीवन चरित्र लेखन (ठपवहतंचील) के उत्कृष्ट नमूने हैं।

मगरिबी ;पश्चिमीद्ध इस्लाम का सर्वाधिक प्रसिद्ध इतिहासकार और दार्शनिक इब्न खल्दून (1332-1406 ई.) है जिसने अपनी कृति "किताब अल इबर" में मुस्लिम जगत् विशेषकर मगरिब (अल्जीरिया, ट्यूनिस और मोरक्को) का प्रामाणिक इतिहास लिखा और इस ग्रंथ की प्रस्तावना (मुकद्दमात) में इतिहास दर्शन की उच्चकोटि की व्याख्या प्रस्तुत की। इब्नखल्दून का जन्म 1322 ई. में ट्यूनिस में हुआ था। उसने उत्तर पश्चिमी अफ्रीका की तथा कुछ हद तक मुस्लिम अधिकृत स्पेन एवं मिश्र के तत्कालीन राजनीतिक कार्य कलापों में बहुत भाग लिया था। फलस्वरूप वह इन प्रदेशों के समकालीन इतिहास से अच्छी तरह परिचित था तथा उसे इस्लाम के प्रभूत्व के अंतर्गत स्थित अन्य देशों की राजनीति का भी ज्ञान था। इब्नखल्दून का काल बड़ा अशांत और अव्यवस्थित था। इसके अनुसार वह अधःपतन का युग था। मगरिब की स्थिति में एक भयंकर परिवर्तन हो रहा था। स्पेन की मुस्लिम संस्कृति पतन के करीब पहुंच गयी थी। इसाईयों की विजय बराबर बढ़ती जा रही थी। साम्राज्य और संस्कृति के उत्थान–पतन की इन घटनाओं का इब्नखल्दून के विचारों पर काफी प्रभाव पड़ा था। इन परिस्थितियों में इब्नखल्दून ने संसार को एक नवीन इतिहास दर्शन और समाज विज्ञान प्रदान किया। उसने इतिहास की एक विस्तृत और समाज शास्त्रीय परिभाषा प्रस्तुत की। उसके अनुसार, "इतिहास मानव समाज का, विश्व संस्कृति का, सामाजिकता और सामूहिकता का, एक जाति का दूसरी के विरूद्ध क्रांति और विद्रोह का जिसके फलस्वरूप राज्यों और राष्ट्रों और उनके विभिन्न अंगों का प्रादुर्भाव होता है, मनुष्यों के विभिन्न कार्यों और व्यवसायों का चाहे वह जीविकोपार्जन के निमित्त हों अथवा विभिन्न कलाओं और विज्ञानों के लिए। और सामान्यतः इन सब परिवर्तनों का, जो स्वभावतः समाज के स्वरूप में प्रकट होते हैं, वृत्तांत हैं।"

इब्नखल्दून इतिहास को भी वैसी ही वैज्ञानिकता प्रदान की जैसी अन्य विद्याओं को प्राप्त हो चुकी थी। उसने समाजशास्त्र के भौतिक सिद्धांतों की खोज और प्रतिपादन किया। उसके मतानुसार समाज का स्वरूप और संस्थायें सामूहिकता (असाबिया) से पैदा होती है। इब्नखल्दून के मतानुसार समाज भी शरीर की तरह विकसित, प्रौढ़ और क्षीण होकर अपना निश्चित जीवनकाल व्यतीत करते हैं। साम्राज्य का पतन उसी प्रकार होता

है जैसे जीवित प्राणियों के शरीरों का क्षय होता है। यह एक सामाजिक रोग है जिसका न कोई साधन है न उपाय क्योंकि यह एक ऐसी प्राकृतिक प्रकिया है जो निश्चित और अटल है। धीरे–धीरे सामूहिक चेतना ;असबियाद्ध जो समाज रूपी शरीर की जीवन शक्ति है, दुर्बल होती जाती हैं और इसका अंत हो जाता है। इस दृष्टि से इतिहास समाजों का जीवन विज्ञान है। इसका कार्य मृत समाजों के शवों का वर्गीकरण विश्लेषण और परीक्षण, अनके शारीरिक विधान के निर्माण और वृद्धि की प्रक्रिया की खोज और अनुसंधान और उनके विकास तथा विलय की प्रवृतियों और नियमों का निर्धारण हैं। इब्नखल्दून का समाज के बारे में यह अवयवी दृष्टिकोण और इतिहास की इस प्रकार जीव विज्ञान की तरह व्याख्या करना उसको आधुनिक बायोलोजिकल स्कूल के प्रोफेसर स्पैंगलर, हर्बट, स्पेन्सर, लिलिनफेल्द, शाफ्लें और नोवीकोफ की श्रेणी में ले आते हैं।

इब्नखल्दून एक मौलिक विचारक थे। अससक्कीकी ने विचारों पर समसामयिक वातावरण के प्रभाव को स्वीकार किया था। अलमसूदी ने राज्य और धर्म के संबंधों पर पर्याप्त प्रकाश डाला था। अबतरतूशीऔर अलमावर्दी ने सामाजिक विकास पर कुछ विचार किया था। किंतु उक्त सभी लेखक या तो शरियत के आदर्श को साथ लेकर चलते थे या एक काल्पनिक चित्र सामने रखकर राज्य की समस्या पर विचार करते थे। परंतु इब्नखल्दून पहला विचारक था जिसने समाज की सामाजिकता को लेकर अपना विचार सोपान तैयार किया।

6.13 इब्नखल्दून के बाद का इतिहास लेखन :

इब्नखल्दून के बाद मुस्लिम जगत् में किसी और लेखक ने इतिहास दर्शन पर इतनी गम्भीरता से विचार नहीं किया। किंतु इब्नखल्दून के बाद भी जिस तरह से मुस्लिम इतिहासकारों द्वारा अनेकों ऐतिहासिक ग्रंथों की रचना की गयी उससे यह सिद्ध होता है कि इब्नखल्दून के बाद भी मुस्लिम इतिहास लेखन की परंपरा जारी रही। इब्नखल्दून का कुछ प्रभाव हमको अल–मकरीजी की रचनाओं में दिखायी देता है। अल–मकरीजी (1364-1448 ई.) की प्रसिद्ध कृति ''अल मवाइज बल इतिबार फी जिक्र अल खितात वल असार'' है। इसके अतिरिक्त इसी युग में अबुल महासिन इब्न तग्री विर्दी (1411-69 ई.) ने ''अल नुजूस अलजाहिरा फीमुलूक मिस्र वल काहिरा'' नामक ग्रंथ की रचना की जिसमें उसने अरब विजय से १४५३ ई. तक का मिस्र का इतिहास प्रस्तुत किया है। लगभग इसी समय जलालुदीन इब्नसुयूती (1445-1505 ई.) ने भी अपने ग्रंथ ''हुस्न हल मुहाजराह फी अखबार मिस्र वल काहिरा'' में मिस्र का इतिहास लिखा।

किंतु ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण होते हुए भी इन ग्रथा में अधिक मौलिकता नहीं है। वास्तव में इस युग की सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना शम्सुदीन अहमद कृत "वफायात अल वयान व अन्वा ए अब्मा अल जमान" है जिसमें उसने 865 प्रसिद्ध व्यक्तियों के जीवन चरित्र संग्रहीत किए हैं।

बाद में हुए मुस्लिम इतिहासकारों में अब्दुर्रहमान इब्नहसन अली जबर्ती का नाम उल्लेखनीय हैं। वे मिस्र के अल अजहर विश्व विद्यालय में ज्योतिष के प्रोफेसर थे और नैपोलियन बोनापार्ट ने उन्हें अपनी राज्य सभा का सदस्य नियुक्त किया था। अब्दुर्रहमान अल जबर्ती का प्रसिद्ध ग्रंथ "अजायब अल आसार फी अल ताराजिम वल अखबार" है जिसमें समकालीन मिस्र का बड़ा भव्य चित्र प्रस्तुत किया गया है। अल जबर्ती ने मिस्र पर नैपोलियन के आक्रमण का आँखों देखा वर्णन प्रस्तुत किया है। उसने अपने इस ग्रंथ में फिरंगियों की न्यायप्रियता और उनके विज्ञान प्रेम की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। इसी समय मिस्र के शासक मुहम्मद अली ने मिस्र में पश्चिमी ढंग की राष्ट्रीयता व्यवस्था कायम करके मिस्र को एक नया स्वरूप प्रदान किया था। इलजजबर्ती ने मुहम्मद अली के द्वारा किए गए नवीन सुधारों का विस्तृत विवरण लिखा है। यद्यपि अलजबर्ती ने अपने समय की यूरोप की एक अत्यंत महत्वपूर्ण घटना–फ्रांस की क्रांति और नैपोलियन के द्वारा लड़े गए युद्धों का वर्णन नहीं किया है ओर इसकी रचना में केवल आस्टरलिट्ज के युद्ध का संकेत मात्र ही मिलता है, तथापि यह मानना पड़ेगा कि अलजबर्ती का ध्यान अन्य मुस्लिम इतिहासकारों की अपेक्षा यूरोप पर अधिक गया है। वह मुस्लिम जगत् पर पड़ने वाले पश्चिमी प्रभाव का अल्लेख करने वाले इतिहासकारों में अग्रणीय माना जाता है। वास्तव में इब्नखल्दून ने फिरंगियों की वैज्ञानिक प्रगति की तारीफ करके उनके भावी उन्नति का जो संकेत किया था उसे अलजबर्ती ने पूर्ण रूप से अभिव्यक्त किया था।

पश्चिमी प्रभाव के कारण मुस्लिम इतिहास लेखन की परंपरायें बदल रही हैं। परंपरा और रुढ़ि के स्थान पर अब इस्लामी इतिहास लेखन में आलोचना और अन्वेषण का महत्व बढ़ रहा है।

6.14 अभ्यासार्थ प्रश्न :

1. इस्लाम के उदय के पूर्व अरब में इतिहास लेखन की परंपरा किस रूप में विद्यमान थी?
2. मुस्लिम इतिहास लेखन की प्रमुख पद्धतियों की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।

3. इस्लामी इतिहास लेखन के विकास में तबरी और मसूदी के योगदान का मूल्यांकन कीजिए।

4. इब्नखल्दून पश्चिमी इस्लाम का सबसे प्रसिद्ध इतिहासकार और और दार्शनिक था। विवेचना कीजिए।

5. इस्लामी इतिहास लेखन के क्रमिक विकास पर एक आलोचनात्मक लेख लिखिए।

6.15 संदर्भ ग्रंथ :

1. फ्रेंच रोजेन्थल, ए हिस्ट्री आफ मुस्लिम हिस्टोरियोग्रैफी, लीडेन, 1952।
2. फिलिप के हिट्टी, हिस्टरी ऑफ दी अरब्स, लन्दन, 1937।
3. विल्फ्रेड कान्टवेल स्मिथ, इस्लाम इन माडर्न हिस्टरी, प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, 1957।
4. मुहसिन माहदी, इब्नखल्दून्स फिलॉसफी ऑफ हिस्टरी, लंदन, 1957।
5. बुद्ध प्रकाश, इतिहास दर्शन, हिंदी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, द्वितीय संस्करण, 1968।
6. डॉ. गोविन्द चन्द्र पाण्डेय, इतिहास : स्वरूप एवं सिद्धांत, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, द्वितीय संस्करण,1988।

इकाई 7

इसाई धर्म एवं इतिहास - चिन्तन

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 ईसाई इतिहास-दर्शन की निर्धारक ईसाई-धार्मिक मान्यताएं

7.3 ईसाई इतिहास-चिन्तन

7.4 ईसाई इतिहास-दर्शन की प्रमुख अवधारणाऐं

7.5 ईसाई इतिहास-दर्शन का परवर्ती इतिहास-दर्शन पर प्रभाव

7.6 सारांश

7.7 बोध प्रश्न

7.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

7.0 उद्देश्य:

इस इकाई में आप अध्ययन करेंगे–

1. ईसाई धर्म के उदय के पूर्व के यूनानी इतिहास - दर्शन व यहूदी पावन-परम्परा की पृष्ठभूमि।
2. वे प्रमुख ईसाई व यहूदी धार्मिक विचार जिनसे ईसाई इतिहास-चिन्तन प्रभावित हुआ।
3. ईसाई इतिहास-चिन्तन की रूपरेखा, और
4. ईसाई चिन्तन की वे अवधारणायें जो समय-समय पर इतिहास-चिन्तन को प्रभावित करती रही हैं।

7.1 प्रस्तावना

यूनानी दर्शन ने जगत् के ऐहिक रूप को उसका स्वरूप मानकर उसे कभी ऐसा महत्व नहीं दिया कि वह इसमें घटित घटनाओं को स्वतंत्र विचार का विषय बनाता। उसने या तो इसे स्थितिहीन, स्वरूप-विहीन प्रवाह के रूप में देखा (हेराक्लाइटस) अथवा लोकोत्तर सत्ताओं का असम्यक् छायाभास (प्लेटो), अथवा असत्-प्रतीति (ज़ेनो)। इसलिए यूनान ने कभी मानवीय जीवनक्रम को दार्शनिक विचार के विषय के रूप में नहीं देखा।

यूनान में पहला इतिहास-लेखक हेरोडोटस माना जाता है, जो ई. पू. छठी-पांचवी शताब्दी में हुआ। किन्तु इसका घटना-वर्णन 'इतिहास' कहा जाने योग्य नहीं माना जाता, क्योंकि उसके विवरण में घटनाओं का न कोई व्यवस्थापक तत्व देखा गया है, न उनके उस प्रकार घटित होने, जिस प्रकार वे घटित हुई, के कारणों को देखने का प्रयत्न किया गया है और न उनमें भविष्य-विषयक किसी दिशा-निर्देश के संकेत देखने का प्रयत्न है। हेरोडोटस के बाद चतुर्थ शती ई.पू. में थयूसीडिडीज़ ने "पोलेनेशिया युद्ध का इतिहास' लिखा। इसमें उसने इस युद्ध के घटित होने के कारणों की गवेषणा का प्रयत्न किया है और इस प्रकार उसमें पालेनेशिया का युद्ध असम्बद्ध घटनाओं का क्रम मात्र नहीं होकर एक अन्तर्नियोजित घटना-व्यवस्था हो जाता है। इसलिए "पोलेनेशिया-युद्ध का इतिहास" के ही उपयुक्त रूप से यूनानियों की प्रथम इतिहास-कृति माना जाता है। थयूसीडेडीज़ की इतिहास के सम्बन्ध में मान्यता थी कि इसमें एक प्रकार की आवर्तनात्मकता रहती है, घटनाएं एक वृत्त बनाती हैं ओर ये वृत्त या चक्र बार-बार आवर्तित होते हैं। इस कारण हम अतीत के घटना-वृत्तों के कारणों को जानकर भावी वृत्तों को घटित होने से रोक सकते हैं अथवा उन वृत्तों के रूप बदल सकते हैं। "कारणों की खोज और मीमांसा" के इस सिद्धान्त ने हेसिओड के लेखन में "सभ्यताओं के जीवन-क्रम" के सिद्धान्त का रूप लिया, जिसके अनुसार समाज सभ्यताओं की उत्पत्ति, उत्कर्ष और क्षय के रूप में एक जीवन-यापन करते ओर समाप्त हो जाती है और तब नयी सभ्यताएं इसी प्रकार

उत्पन्न होतीं, उत्कर्ष-लाभ करती है ओर क्षय-ग्रस्त हो जाती है। इसे "समाज में सभ्यताओं का युग-चक्र" सिद्धान्त कहा जाता है।

"इतिहास की आवर्तनात्मकता" के इस सिद्धान्त का बीजारोपण कुछ भिन्न रूप में संत अगस्तीन ने पांचवीं ई.श. में किया।

7.2 ईसाई इतिहास-दर्शन की निर्धारक ईसाई-धार्मिक मान्यताएं

यूनानी विचारधारा के विपरीत ईसाई-धर्म संसार को सत्य की छाया नहीं देखकर ईश्वर की रचना मानता है और इसलिए इसके घटनाचक्र को सत्य देखता है। ईसाई धर्म की यह एक प्रमुख मान्यता है कि ईश्वर अपनी सृष्टि में स्वयं को प्रकाशित करता है एवं मनुष्य इसी संसार में उस परम तत्व की प्राप्ति करता है। ये धार्मिक मान्यतायें ईसाईयों को यहूदी परंपरा से प्राप्त हुई। यह परंपरा ही ईसाई धर्म की स्रोत है।

यहूदी परम्परा के इतिहास का आरंभ यहूदी-ईश्वर याहवे व उसके चुनिंदा लोगों (यहूदियों) के बीच समझौते के साथ मानती है। यहूदी केवल ईश्वर व मनुष्य को ही महत्वपूर्ण मानते थे इसलिए उनकी मान्यता थी कि इतिहास इन्हीं के सम्बन्ध की कथा है। इस सम्बन्ध को वे नैतिकता पर आधारित मानते थे। उनका विश्वास था बेबीलोनियाईयों के हाथों उनकी पराजय व कष्ट ईश्वर को भुला देने व उसके आदेशों की अवज्ञा का परिणाम है। उनका यह भी विश्वास था कि निकट भविष्य में ईश्वर उनके इन कष्टों का निवारण कर उन्हें परम मुक्ति दिलायेगा। ईसाई धर्म का उदय इसी यहूदी धर्म से हुआ एवं उन्होंने ईसा के जन्म को यहूदियों की आशा के प्रतिफलन के रूप में प्रस्तुत किया।

ईसाई धर्म मानवीय कर्म में एक आधारभूत अतार्किकतता और आगन्तुकता देखता है, जो परिस्थिति या संदर्भ-जन्य न होकर अनिवार्यतः कर्म में ही अन्तर्निहित मानी गई है। इस कल्पना के अनुसार, मनुष्य अनजाने होते हुए भी कि उसके कर्म का क्या फल होगा कर्म करने को अभिशप्त है एवं अपने निर्धारित उद्देश्यों को प्राप्त कर पाने की असमर्थता उसके स्वभाव का स्थायी तत्व है। संत अगस्तीन का कहना था कि मानव-कर्म बुद्धि द्वारा परिकल्पित उद्देश्यों की प्राप्ति की इच्छा से नहीं वरन् तात्कालिक अचेतन इच्छाओं से परिचालित होता है। इस विचार में यह अन्तर्निहित है कि मनुष्य की उपलब्धियां उसके पुरूषार्थ का परिणाम न होकर उस परम सत्ता के कारण होती हैं जो उसे दिव्य उद्देश्यों की ओर प्रेरित करती हैं। उसके कर्मों में प्रज्ञा उसकी स्वयं की नहीं बल्कि ईश्वर की अनुकम्पा की परिणाम होती है। इस प्रकार जिन योजनाओं को मनुष्य फलित करता है वेउसकी बुद्धि की रचना नहीं होती वरन् वह तो अपने तात्कालिक आवेगों से परिचालित होकर कर्म करते हुए ईश्वरीय उद्देश्यों को क्रियान्वित करता है।

ईसाई धर्म केवल ईश्वर को नित्य सत्ता मानता है। अन्य सब कुछ यह जगत् मनुष्य, समाज, राज्य आदि - नश्वर एवं ईश्वर-रचित हैं। वह अपनी रचना के स्वभाव को नई दिशा दे सकता है और नवीन उद्देश्यों

की प्राप्ति हेतु उसे बदल सकता है। इस प्रकार व्यक्तियों और समाजों का आध्यात्मिक या भौतिक उत्थान-पतन उसकी योजनाओं का ही निदर्शन होता है।

7.3 ईसाई इतिहास-चिन्तन

उपर्युक्त विचारों के प्रभाव से एक नवीन ऐतिहासिक दर्शन का उदय हुआ। संत अगस्तीन इस इतिहास-दर्शन का पहला वास्तविक विचारक था। पांचवीं शती ई. में बर्बर जर्मन जातियों के आक्रमणों से रोम का पराभव हो गया। इस समय तक ईसाई धर्म रोम के राज्य धर्म के रूप में स्थापित हो चुका था। इसके विरोधियों ने रोम के वैभव के विनाश का कारण ईसाई धर्म को बताया। अगस्तीन ने इस आक्षेप का उत्तर अपनी पुस्तक "सिटी आव गॉड" के माध्यम से दिया। उसने कहा कि इतिहास, "मनुष्य के नगर" व "ईश्वरीय नगर" के मध्य का अंतराल है। संसार में रोम जैसे राज्य व सभ्यतायें मनुष्य के नगर हैं व चर्च ईश्वर के नगर का प्रतिनिधि, जहां एक ओर "मनुष्य का नगर" मानवीय संवेगों, वासनाओं व अन्य बुराईयों का क्षेत्र व निरन्तर, क्षयमान अस्तित्व है, वहीं इसमें "चर्च" मनुष्य को निरन्तर मुक्ति के मार्ग की ओर ले जाता है एवं यही इतिहास का शाश्वत पक्ष है। अतः रोम का पराभव मानवता के "ईश्वरीय नगर" की ओर विकास को प्रभावित नहीं करता। अगस्तीन ने इतिहास की परिकल्पना मानवीय उद्देश्यों, योजनाओं, और चेष्टाओं के संदर्भ में न करके एक दिव्य-योजना के फलन के माध्यम के रूप में की। उसके अनुसार ईश्वर सम्पूर्ण मानव-जाति के इतिहास का पूर्व-निर्धारक है और विभिन्न देशों तथा सभ्यताओं के इतिहास विभिन्न स्वतंत्र इतिहास नहीं होकर एक ही वैश्व इतिहास का अंग है। यद्यपि मनुष्य अपने लक्ष्य के प्रति एवं अपने कर्मों के प्रति चेतन होता है, वह जानता है कि वह क्या कर रहा है, किन्तु वह जो कुछ करता है वह सब क्यों करता है अथवा जो उसका लक्ष्य है वह क्यों है, यह वह नहीं जानता। इसका कारण यह है कि मनुष्य अपना नियंता स्वयं नहीं बल्कि ईश्वर है, मनुष्य तो मात्र उसकी दिव्य योजना को क्रियान्वित करने वाला है। इस प्रकार यद्यपि मनुष्य कर्त्ता है, किन्तु केवल प्रकट रूप से ही, क्योंकि वास्तविक कर्ता तो ईश्वर है। वह मनुष्य की अचेतन इच्छाओं व संवेगों को अपनी दिव्य योजनाओं का उपकरण बनाता है। इस प्रकार प्रत्येक युग व उसके घटनाचक्र की मूल्यवत्ता इसमें है कि उससे किस सीमा तक दिव्य योजना का क्रियान्वयन होता है। इस जगत् का घटनाचक्र काल-निर्धारित, अनित्य एवं अद्वितीय होता है जगत् का प्रत्येक सत्व अपनी भूमिका निभाकर समाप्त हो जाता है। उसका जन्म होता है, वह विकसित और प्रवर्धित होता है और दिव्य योजनानुसार अपनी भूमिका पूर्ण कर विलीन हो जाता है। इतिहास पटल पर उभरने वाली जातियों, सभ्यताओं व संस्कृतियों का यही चक्र रहा है। वे सब दिव्य योजना के कारण उत्पन्न हुईं एवं उसके फलित होने से अपना योगदान करके समाप्त हो गईं। यहां यह द्रष्टव्य है कि ईसाई-चिन्तन में यूनानी चिन्तन के कालचक्र अथवा युग-चक्र के सिद्धांत को एक नये ढंग से व्याख्यायित कर एक नया अर्थ प्रदान किया गया। उत्थान व

पतन के चक्र की अनवरत आवृत्ति के स्थान पर अब माना गया कि उत्थान व पतन का प्रत्येक चक्र अद्वितीय है। कोई चक्र घटित हो जाने के बाद पुनः स्वयं को नहीं दोहराता। विश्व में प्रत्येक व्यक्ति, जाति, संस्था और सभ्यता के काल चक्र दिव्य योजना के फलित होने के विभिन्न चरण होते हैं।

ईसाई इतिहास-दर्शन का एक महत्वपूर्ण तत्व है - सार्वभौमिकता। यहूदी-परम्परा के विपरीत ईसाई धर्म में मानव मात्र को ईश्वर के समक्ष बराबर माना गया है। यद्यपि यहूदियों का ईश्वर सारी मानव-जाति का ईश्वर था, किन्तु यहूदी उसकी चुनिंदा संतान थे। ईसाई-धर्म में चुनिन्दा संतान के इस सिद्धांत को त्याग दिया गया। इस प्रकार सम्पूर्ण मानव-जाति का इतिहास ईसाई दार्शनिकों के लिये महत्वपूर्ण हो गया।

7.4 ईसाई इतिहास-दर्शन की प्रमुख अवधारणायें

सार्वभौमिकता, ईश्वरीय योजना, इल्हाम या भविष्य दृष्टि एवं युग-सिद्धांत। जैसी कि हमने ऊपर चर्चा की, ईसाई इतिहास-चिन्तन का विषय कोई जाति विशेष अथवा स्थान विशेष नहीं बल्कि सम्पूर्ण मानवता है, जिसका आरम्भ ईसाई स्वर्ग से आदम के पतन से मानते हैं। इस प्रकार अब पहली बार इतिहास सही अर्थों में सार्वभौमिक बना।

ईसाई-दर्शन में सम्पूर्ण मानव-इतिहास ईश्वरीय योजना के फलित होने के क्रम के रूप में देखा गया है। दिव्य योजना ऐतिहासिक घटना-प्रवाह को पूर्व निर्धारित करती है। इस योजना में कोई भी परिवर्तन मनुष्य की इच्छा, प्रार्थना अथवा पौरूष से सम्भव नहीं है। दिव्य योजना अपने उद्देश्य - "ईश्वरीय नगर" की स्थाना की प्राप्ति-हेतु इतिहास के माध्यम से अग्रसर रहती है। इस योजना के लक्ष्य - "ईश्वरीय नगर" - की भविष्योद्घोषणा ईसा के ही जन्म के माध्यम से हुई है। ईसा को जन्म देकर ईश्वर ने अपनी योजना को मनुष्य मात्र से समक्ष उद्घाटित किया है। ईसाईयों ने ईसा के जन्म की घटना को केन्द्र मानकर इतिहास को दो भागों में विभक्त किया है, ईसा के जन्म के पूर्व का और उसके जन्म के बाद का इतिहास। ईसा के जन्म के पूर्व की घटनाओं का लक्ष्य ईसा का जन्म था और परवर्ती घटनाओं का लक्ष्य "ईश्वरीय नगर" की स्थापना है।

संत अगस्तीन को इतिहास का विभाजन दो मुख्य भागों में कर देने के उपरान्त इसे अनेक युगों में बांटा। उसने युग-निर्धारण युगों के विशिष्ट लक्षणों के आधार पर किया। इतिहास के युगों में विभाजन को वह जैव जीवन की विभिन्न अवस्थाओं के रूपक (शैशव, यौवन और वार्द्धक्य) के द्वारा करता है। उसके अनुसार प्रथम युग आदम से नोआ के काल तक है - जब मानव अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने तक सीमित था। द्वितीय युग नोआ से अब्राहम तक का है - इस युग की सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि विविध भाषाओं का विकास है। इस युग में सर्वप्रथम लिखित स्मृति के माध्यम से अतीत के संग्रह के महत्व को पहचाना गया। इसी युग में जल-प्लावन की घटना घटित हुई। इन दोनों युगों को अगस्तीन मानवता की युवावस्था कहता है। इसके

बाद के तीन युग मानव की प्रौढ़ावस्था के युग हैं। ये युग अब्राहम से आरंभ होकर ईसा के अवतरण तक के हैं। तीसरा युग अब्राहम से मोज़ेज के काल तक चलता है। यह "ओल्ड टेस्टामेंट" का युग है। मोजेज़ से लेकर जरूसलम में सोलोमन द्वारा "मन्दिर-निर्माण" की घटना तक का काल चौथा युग माना गया है। पांचवां युग बेबीलोन के हाथों यहूदियों की पराजय व दासता का युग है। छठा साइरस से जीसस तक व सातवां जीसस के जन्म से लेकर मानवता के अंत तक का युग है। प्रत्येक युग में मानवता के ज्ञान में कुछ न कुछ विशिष्ट अभिवृद्धि होती रही है। इसे अगस्तीन ने "मानवता की शिक्षा" कहा है। ईसा के जन्म के बाद आरम्भ होने वाला युग मानवता की वृद्धावस्था का युग है। यह भी उसी प्रकार व्यतीत हो जायेगा, जिस प्रकार पिछले युग बीते हैं। इस तरह पृथ्वी पर मानवता के अस्तित्व का चक्र पूर्ण हो जायेगा, जिसकी परिणति कयामत के दिन में होगी। तब ईश्वर सांसारिक अस्तित्व के अच्छे व बुरे कर्मों के अनुसार उनके लिये सदा के लिए स्वर्ग अथवा नर्क की व्यवस्था करेगा।

यहां यह द्रष्टव्य है कि मानव-इतिहास एक दिव्य योजनानुसार एक विशिष्ट लक्ष्य की ओर अग्रसर है। इस प्रकार मानव-इतिहास की गति चक्रात्मक न होकर रेखीय विकास की है। यद्यपि संसार में मानव-इतिहास निरन्तर क्षय की ओर अग्रसर है, किन्तु इसका अन्तिम लक्ष्य है ईश्वर का नगर, जिसका आविर्भाव सांसारिक अस्तित्व के चक्र की समाप्ति के पश्चात् होगा। यह चक्र अस्तित्व का बृहता चक्र है, जो एकमात्र व अद्वितीय है, इसकी समाप्ति के बाद ऐसे किसी चक्र की पृथ्वी पर पुनरावृत्ति नहीं होगी। ऐतिहासिक घटनाओं की अद्वितीयता के इस विचार में परवर्ती काल के "इतिहासवाद" की झलक देखी जा सकती है।

मानव-इतिहास में उत्पत्ति व विनाश के काल-चक्र की अनन्त पुनरावृत्ति के यूनानी विचार के खण्डन के पीछे ईसा के जन्म, उसके द्वारा मानवता के लिये भोगी गई पीड़ा की परम मूल्यवत्ता में विश्वास था। साथ ही आदम के पतन, ईसा के जन्म व उद्धार के चक्र की पुनरावृत्ति का विचार अगस्तीन को कभी उपयुक्त प्रतीत नहीं हुआ। ईसाई धर्म का संसार की उत्पत्ति का सिद्धांत भी मानव-अस्तित्व के काल-चक्र की बार-बार पुनरावृत्ति को अर्थहीन कर देता है। उसके अनुसार संसार ईश्वर द्वारा सृजित तात्विक सत्ता है। बार-बार ईश्वर द्वारा इसे उत्पन्न करना, फिर मिटा देना, उसके सृजन को अर्थहीन कर देगा। उसके अतिरिक्त ईसाई धर्म यहूदी परम्परा से निकला है। यह ईश्वर प्रदत्त पवित्र इतिहास की परम्परा है, जिसमें यहूदियों पर ईश्वर की नेमतों का विवरण है। यहूदी धर्म-ग्रंथ में यहूदियों पर ईश-कृपा, ईशोपदेश व निर्देश, जो समय-समय पर उन्हें प्राप्त हुए, संरक्षित हैं। यहूदियों के ईश्वर-प्रदत्त इतिहास के विचार एवं यूनानियों के काल-चक्र की अनवरत पुनरावृत्ति के सिद्धांत परस्पर विरूद्ध हैं। इस कारण ईसाई दार्शनिकों ने एक बृहत् इतिहास-चक्र की कल्पना की। और साथ ही इस चक्र के अन्तर्गत विशिष्ट जातियों व सभ्यताओं के जीवन-चक्र की कल्पना भी की। अगस्तीन का विश्वास था कि उत्थान व पतन का यह बृहत् चक्र एक दुर्निवार ईश्वरी

योजना का फलीकरण है, जिस योजना का बीज आदम के पतन के समय बो दिया गया था। जिस प्रकार एक पेड़ की समस्त सम्भावनायें उसके बीज में होती है उसी प्रकार मानवता की संपूर्ण सम्भावनायें, उसके सद्‌गुण-दुर्गुण, शक्तियां-क्षीणतायें सब कुछ ईश्वर ने आदि पुत्र आदम में संग्रहीत कर दी थीं। उसके बाद समस्त इतिहास इन्हीं सम्भावनाओं का फलीकरण है।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि ईसाई दार्शनिक इतिहास की गति में एक अनिवार्यता मानते हैं। यह अनिवार्यता दिव्य-योजना के तर्क की है, जो मानवीय कृत्यों का अपने उद्देश्यों की पूर्ति हेतु उपयोग करती है। ईसाई परम्परा सम्पूर्ण मानवता की एकता की कल्पना है - जिसके भीतर मिश्री, यहूदी, यूनानी, रोमी आदि जातियों के जीवन-वृत घटित होते हैं। इस विशाल अस्तित्वः मानवता के इतिहासः में विभिन्न अवस्थाओं का अनिवार्य क्रम घटित होता है। यहां यह द्रष्टव्य है कि यह क्रम उन प्राकृतिक अवस्थाओं का क्रम मात्र नहीं है, जिससे होकर कोई भी सत्ता गुज़रती है, बल्कि इन अवस्थाओं के अंतर्गत होने वाली प्रत्येक घटना, प्रत्येक मानवीय कृत्य, इन कृत्यों के पीछे प्रयोजन तथा सब कुछ जैसे घटित हुआ और होगा, वह सब पूर्व निर्धारित ही है।

संत अगस्टीन ने हीबू परम्परा के दैवीय अनुबन्ध में संभवत (बिमिंगनेरू) के यूनानी विचार को जोड़कर ऐतिहासिक अनिवार्यता के विचार का प्रतिपादित किया। यहूदी-परम्परा में ईश्वरीय आदेश के माध्यम से इतिहास में गति की कल्पना तो है, किन्तु इतिहास में किसी योजना की कल्पना नहीं है - ऐसी योजना जिसका पूर्व-निर्धारण ईश्वर ने आरम्भ में ही कर दिया था। यूनानी-चिन्तन के सत्ता की अंतर्निहित संरचना के विचार के साथ यहूदी ऐतिहासिक अद्वितीयता के विचार के संयोग से पाश्चात्य चिन्तन के ऐतिहासिक अनिवार्यता के सिद्धांत का आरम्भ हुआ। ऐतिहासिक अनिवार्यता के इस सिद्धांत के अन्तर्गत अगस्तीन ने संपूर्ण ऐतिहासिक घटनाक्रम को निश्चित युगों में विभक्त करके दिखाने का प्रयत्न किया कि यह बस एक पूर्व-निर्धारित योजना का परिणमन है, जिस योजना का निर्धारण ईश्वर ने पृथ्वी पर मानव के अवतरण के पूर्व ही कर दिया था।

मानव-इतिहास की इस व्याख्या से इतिहास में "भाग्य" अथवा "आगन्तुकता" का स्थान हो गया। समस्त घटना-व्यापार पूर्व-नियोजित योजना के अनुसार होने से प्रत्येक मानवीय कृत्य विशिष्ट व महत्वपूर्ण है क्योंकि वह दिव्य योजना के फलित होने का माध्यम है। अतः "आगन्तुक" कुछ नहीं होता, वह तो हमें उसके कारणों व कारकों को न देख पाने के कारण प्रतीत होता है।

संत अगस्तीन के बाद मध्यकालीन ईसाई चिन्तन की सामान्य रूप-रेखा वही रही जो अगस्तीन ने निर्धारित की थी। मध्ययुगीन ईसाई दार्शनिक भी इतिहास में ईश्वरीय योजना के क्रियान्वयन को दिखाने में ही प्रयत्नशील दिखाई देते हैं। उनके अनुसार ईश्वरीय योजना काल की गति के साथ विभिन्न चरणों से गुजरती हुई फलित होती चलती

है एवं प्रत्येक चरण का आरम्भ एक युगान्तकारी घटना से होता है। 12वीं शती ई० में फ्लोरिस के जोयकिम ने इतिहास को तीन युगों में विभक्त किया - पिता का राज्य काल अथवा अनवतरित ईश्वर का युग - अर्थात् ईसा के जन्म के पूर्व का युग, पुत्र का राज्यकाल अथवा ईश्वर-पुत्र ईसा अथवा "पवित्र आत्मा का राज्य काल" जिसका आरम्भ भविष्य में होगा। मध्ययुगीन ईसाई दार्शनिक व इतिहास-लेखक भविष्योन्मुखी थे। अगस्तीन की ही तरह उनकी इतिहास में रूचि मात्र अतीत के अध्ययन की दृष्टि से ही नहीं थी, बल्कि उन्होंने समस्त इतिहास - अतीत, वर्तमान एवं भविष्य - को एक समुच्चय के रूप में देखा था। उनके लिए ऐतिहासिक घटनाओं का प्रकाश और उन्हें अर्थ प्रदान करने वाला तत्व वह उद्देश्य है जिसकी सिद्धि ये घटनायें करती हैं। यह उद्देश्य "ईश्वरीय नगर" की स्थापना है। ईश्वरीय योजना मनुष्य की व्यक्तिगत इच्छाओं व कृत्यों के बावजूद फलित होती है। इस प्रकार मानवीय इच्छाओं व कृत्यों की मूल्यवत्ता उसी सीमा तक होती है, जिस सीमा तक कि वे ईश्वरीय योजना के फलिती होने में सहायक होते है। मध्य-युगीन ईसाई चिन्तन में ईश्वर की कल्पना एक तत्व के रूप में नहीं बल्कि शुद्ध कर्म (प्योर ऐक्ट) के रूप में की गई है एवं माना गया है कि दैवीय क्रियाशीलता मानव-कर्म का आंतरिक रूप से नही बल्कि बाहर से निर्धारण करती है। इस प्रकार ईश्वरीय योजना की अंतर्भूतता के सिद्धांत का स्थान अब लोकातीतता (ट्रांसेंडेस) के सिद्धांत ने ले लिया।

ऊपर हमने देखा कि ईसाई इतिहास-दर्शन किस प्रकार ईसाई धार्मिक सिद्धांतों - यहूदी परम्परा व यूनानी चिन्तन से प्रभावित हुआ एवं इसकी प्रमुख अवधारणाएं कौन-कौन सी हैं? एक बार पुनः ये प्रमुख अवधारणायें हैं - सार्वभौमिकता, "ईश्वरीय विधान" अथवा "प्रावीडेन्स", इतिहास की रेखीय गतिकता, सम्पूर्ण इतिहास का युगों में विभाजन एवं ऐतिहासिक अनिवार्यता।

7.5 ईसाई इतिहास-दर्शन का परवर्ती इतिहास-दर्शन पर प्रभाव:

उपरोक्त अवधारणाओं के प्रवेश से इतिहास-चिन्तन बहुत समृद्ध हुआ। किन्तु ईश्वरीय विधान एवं ऐतिहासिक अनिवार्यता के सिद्धांतों ने मानवीय कृत्यों को इतिहास-अध्ययन की दृष्टि से अर्थहीन कर दिया। ईश्वरीय विधान के समक्ष पुरूषार्थ के लिये कोई स्थान नहीं है। ईसाई इतिहास-दार्शनिक ऐतिहासिक घटना-क्रम में ईश्वरीय योजना को खोजने व भविष्योद्घाटन करने की चिन्ता से मानवीय कृत्यों और मन्तव्यों की ओर कोई ध्यान नहीं देते। न ही वे यह देखने का प्रयत्न करते हैं कि जिन तथ्यों का वे प्रयोग कर रहे हैं वे कहां तक विश्वसनीय हैं एवं जो कुछ उन्होंने परम्परा से जाना है क्या वह वास्तव में वैसा ही घटित हुआ था? इससे यह स्पष्ट है कि ईसाई लेखन आलोचनात्मक पद्धति की दृष्टि से बहुत कमज़ोर था।

पुनर्जागरण-काल के आरम्भ के साथ धर्म व इतिहास के बीच संयोजन समाप्त हो गया। अब इतिहास मानवीय कृत्यों, मन्तव्यों, अपेक्षाओं, चिन्ताओं आदि का विवरण बन गया। किन्तु ईसाई इतिहास-दर्शन की

अनेक महत्वपूर्ण अवधारणायें हैं जैसे - सार्वभौमिकता, इतिहास की रेखीय गतिकता, युग-चक्र, ऐतिहासिक अनिवार्यता, ऐतिहासिक घटनाओं की अद्वितीयता आदि - परवर्ती इतिहास - दर्शन में स्पष्ट देखने को मिलती हैं। एक अन्य अवधारणा कि ऐतिहासिक घटनाएं अपने आप में अर्थहीन हैं, किन्तु दिव्य तत्व के प्रकाशक के रूप में अर्थवान् हैं, इतिहास-चिन्तन को एक अति-महत्वपूर्ण देन है। इसके अनुसार इतिहासकार का उद्देश्य मात्र तथ्यों का संकलन नहीं बल्कि उनकी व्याख्या है।

इतिहास की सार्वभौमिकता की अवधारणा पुनर्जागरण काल में होती हुई समकालीन इतिहासकारों तक चलती आई है। यद्यपि बीच-बीच में हर्डर और हेगेल जैसे विचारकों ने इतिहास के गुरूत्वाकर्षण का केन्द्र यूरोप को माना एवं अन्य सभ्यताओं व संस्कृतियों को गौण, किन्तु अन्य सभ्यताओं को इतिहास-वृत्त में सम्मिलित अवश्य किया।

इतिहास की रेखीय गतिकता अथवा विकास की अवधारणा यद्यपि बीसवीं शती से अधिकांश इतिहासकारों द्वारा त्याग दी गई, किन्तु यहूदी परम्परा से लेकर 19वीं शती के उत्तरार्द्ध तक वाल्टेयर, विको, कांट और हेगेल जैसे दार्शनिकों ने इतिहास को निरन्तर विकासमान् प्रवाह के रूप में ही देखा।

युग-चक्र की यूनानी अवधारणा, जिसका प्रयोग अगस्तीन ने विलक्षण ढंग से किया था, विभिन्न रूपों में परवर्ती इतिहास-चिन्तकों में दिखाई पड़ती है। इतिहास-दर्शन की यह अवधारणा किसी भी काल में पूर्णतया अस्वीकृत नहीं हुई। 12वीं शती में फ्लोरिस के जोयाकिम के बाद 17वीं शती में इस सिद्धांत पर पुनः विचार आरम्भ हुआ। इस शती में बोसुए से लेकर हर्डर व विको से होते हुए 20वीं शती में स्पेंगलर, टॉयन्बी व सोरोकिन तक यह अवधारणा निरन्तर दिखाई पड़ती है।

इतिहास के अतिमानवीय स्वरूप की परिकल्पना का एक अपरिहार्य परिणाम है ऐतिहासिक अनिवार्यता की अवधारणा, जब इतिहास का अध्ययन सभ्यताओं जैसे अतिमानवीय वृहत् अस्तित्वों के स्तर पर किया जाता है, तब इतिहास के प्रवाह में एक दुर्निवारता दिखाई पड़ती है एवं मानव-सृष्टि एक अतिमानवीय सत्ता का उपकरण मात्र हो जाती है। इतिहास का अतिमानवीय सत्ताओं (सभ्यताओं आदि) के परिप्रेक्ष्य में अध्ययन पुनर्जागरण काल के बाद पुनः आरम्भ हुआ एवं ऐतिहासिक अनिवार्यता का प्राचीन तत्व इतिहास दार्शनिकों की ऐतिहासिक की अवधारणा में पुनः दिखाई पड़ने लगा।

7.6 सारांश :

इस इकाई में हमने अध्ययन किया कि ईसाई इतिहास-दर्शन यूनानी इतिहास-दर्शन की पृष्ठभूमि में व यहूदी धर्म-परम्परा से उत्पन्न हुआ था। ईश्वर की परम तत्व के रूप में कल्पना/जगत् का उसकी वास्तविक रचना होना, ईश्वर द्वारा स्वयं को प्रकाशित करने की अवधारणा और जगत् तथा उसके घटनाचक्र को यूनानी मत के विपरीत ज्ञान की एक महत्वपूर्ण विधा के रूप में देखना, इन धारणाओं में इतिहास को ईश्वरीय

योजना के क्रियान्वयन के माध्यम के रूप में परिकल्पित किया गया। ईसाई इतिहास-चिन्तन की विभिन्न मान्यताओं का निर्धारक व उन्हें सुस्पष्ट अभिव्यक्ति देने वाला प्रथम दार्शनिक संत अगस्तीन था। इसकी प्रमुख अवधारणायें - सार्वभौमिक इतिहास, "ईश्वरीय योजना" का इतिहास में क्रियान्वयन। अतएव इतिहास का उद्देश्यतात्मकता, इतिहास की रेखीयता व इतिहास के घटनाक्रम में अनिवार्यता आदि हैं। मध्य-युग के बाद अधिकांश इतिहास-दर्शनों में ईश्वरीय अथवा दिव्य तत्व की कल्पना को त्याग दिया गया, किन्तु ईसाई इतिहास-दर्शन की अन्य सभी अवधारणायें परवर्ती इतिहास-दर्शन को निरन्तर प्रभावित करती रहीं।

7.7 बोध्य प्रश्न :

1. यूनानी इतिहास-दर्शन के युग-चक्र के सिद्धान्त को किस रूप में ईसाई चिन्तन में स्थान मिला?
2. ईसाई इतिहास-दर्शन को किस अर्थ में यूनानी युग-चक्रवाद व यहूदी परम्परा के पावनतापरक इतिहास का समन्वय कहा जा सकता है?
3. ईसाई धर्म में ईश्वर का क्या स्वरूप है एवं मानव-इतिहास में उसकी क्या भूमिका है?
4. ईसाई इतिहास-दर्शन की प्रमुख अवधारणायें कौन-कौन सी हैं?
5. मध्य-युग की समाप्ति के उपरान्त ईसाई इतिहास-चिन्तन की किन अवधारणाओं को परवर्ती इतिहास-दार्शनिकों के चिन्तन में देखा जा सकता है?

7.8 सन्दर्भ ग्रन्थ

1. कालिंगवुड, आर. जी. — आइडिया ऑव हिस्ट्री, आक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, आक्सफोर्ड
2. निस्बेत, आर.ए. — सोश्यल चेंज एण्ड हिस्ट्री, हैनीमान, लंदन
3. पांडे गोविन्द चन्द्र — इतिहास : स्वरूप एवं सिद्धांत राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर
4. मर्रे एम. — माडर्न फिलोसोफी ऑव हिस्ट्री: इस्ट्स् ऑरिजिन एण्ड डेस्टीनेशन, मार्टीनस, निजहॉफ / द हेग
5. विजरी, एल्बान जी. — इन्टरप्रिटेशन ऑव हिस्ट्री, जोर्ज़ एलन एण्ड अनविन, लंदन

इकाई - 8

रॉके के विशेष संदर्भ में इतिहास दर्शन की निश्चयात्मक अभिगम

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 19वीं शताब्दी में इतिहास दर्शन विषयक विभिन्न विचार

8.3 रॉके का जीवन परिचय

8.4 निश्चयात्मक अभिगम की परिभाषा तथा स्वरूप

8.5 निश्चयात्मक अभिगम का परवर्ती विचारधारा पर प्रभाव

8.6 निश्चयात्मक अभिगम पर रॉके का प्रभाव

8.7 उपसंहार

8.8 बोध प्रश्न

8.9 संदर्भ ग्रन्थ

8:0 उद्देश्य -

1. यूरोप में 19वीं शताब्दी में प्रचलित इतिहास - दर्शन बिषयक विभिन्न मान्यताएं
2. रॉके का कार्य परिचय तथा उसके योगदान का अध्ययन
3. निश्चयात्मक अभिगम की परिभाषा तथा उसका स्वरूप
4. निश्चयात्मक अभिगम का आलोचनात्मक अध्ययन तथा उसका परवर्ती इतिहासकारों पर प्रभाव

8.1 प्रस्तावना:

वास्तव में "इतिहास-दर्शन" नाम का सर्वप्रथम प्रयोग वाल्तेअर ने किया था तथा परिवर्तीकाल में हीगल आदि विद्वानों ने भी इतिहास दर्शन शब्द का प्रयोग किया। उन्नीसवीं शताब्दी का काल वह समय था जब उसकी पूर्ववर्तिनी सदियों के रचनात्मक तत्वों के सम्मिश्रण से आधुनिक इतिहास लेखन का बौद्धिक प्रारूप प्रकट हुआ तथा मानव के सम्पूर्ण भूत को वर्णनार्थ इतिहास में शास्त्रीय ग्रंथ रचे गए थे। इतिहास के प्रति इस वास्तविक संवेदनशीलता को प्रोत्साहित करने का श्रेय फ्रांसीसी राज्य क्रांति को जाता है। लेकिन इस ऐतिहासिक चिन्तन परम्परा की ओर जर्मन विद्वान अधिक अभिमुख हुए। इसका कारण संभवतः जर्मनी में राजनैतिक एकता की कमी थी, जिसके फलस्वरूप जर्मनी के चिन्तकों ने सांस्कृतिक एकता के महत्व को प्रतिष्ठापित करने के लिए ऐतिहासिक चेतना को प्रोत्साहित करने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। इसके अतिरिक्त 19वीं शताब्दी में जर्मनी के विश्वविद्यालय नए प्रयोग करने के कारण बौद्धिक विचार विमर्श के प्रधान केन्द्र हो गए थे जिस कारण जर्मनी के गोटिगेन तथा बर्लिन विश्वविद्यालय इतिहास के अध्ययन के प्रमुख केन्द्र बन सके थे। इतिहास के विद्वानों की इस धारा को नेबूर, बारथोल्ड ने आगे बढ़ाया! इसी नेबूर का उत्तराधिकारी लियोयाल्ड फॉन रॉके हुआ, जिसे सभी कालों के इतिहासविदों में सर्वाधिक प्रभावशाली समझा जाता है। इस इकाई में इतिहास लेखन मे रॉके के विचारों के परिप्रेक्ष्य में निश्चयात्मक अभिगम का विवरण प्रस्तुत किया जाएगा।

8.2 19वीं शताब्दी में इतिहास दर्शन विषयक विभिन्न विचार

19वीं शताब्दी यूरोप में चिन्तन के क्षेत्र में अनेकानेक परिवर्तन हुए। यह वह शताब्दी थी जब विभिन्न सामाजिक विज्ञानों का गठन हुआ था। इस चिंतन परम्परा में इतिहास दर्शन की दृष्टि से डिल्थे ने यह विचार व्यक्त कर, "मनुष्य मूलतः ऐतिहासिक जीव है और इतिहास द्वारा ही मनुष्य को समझने का सूत्र प्राप्त होता है, "इतिहास को एक स्वतन्त्र रूप में प्रतिपादित किया। जैसा कि पूर्व में वर्णित किया जा चुका है कि वोल्तेअर ऐसा प्रथम व्यक्ति था जिसने इतिहास दर्शन शब्द को प्रयुक्त किया था। वोल्तेअर का इतिहास दर्शन से तात्पर्य आलोचनात्मक अथवा वैज्ञानिक इतिहास से था। वोल्तेअर के 19वीं शताब्दी के इस विचार को 10वीं शताब्दी में हीगल ने आगे बढ़ाया। हीगल ने इतिहास को

अधिकाधिक तथ्यों की जानकारी प्राप्त कर लेने के विचार से आगे बढ़ाकर इतिहास को नया आयाम दिया तथा यह विचार व्यक्त किया कि इतिहास के द्वारा यह समझा जा सकता है कि तथ्य क्यों घटित होते हैं। हीगल ने इतिहास के मानव जाति के सार्वभौमिक स्वरूप को प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया।

हीगल की इतिहास - दर्शन को मुख्य देन विवेक की प्रतिष्ठा करना है। हीगल के अनुसार इतिहास के ऊपर चिन्तन में प्रवृत दार्शनिक का प्रमुख कर्त्तव्य अतीतकाल में घटित घटनाओं में निहित "विवेकपूर्णता" को ढूँढना है, विवेक ही विश्व का सार्वभौम शासक है और इस कारण विश्व हमारे सामने एक विवेकपूर्ण प्रक्रिया प्रस्तुत करता है। हीगल की विचारधारा को आगे चल कर कार्लमार्क्स ने आगे बढ़ाया। जहाँ हीगल इतिहास का प्रारूप दर्शन में पाता है तो मार्क्स उसकी कुंजी आर्थिक परिवर्तनों में ढूंढता है। मार्क्स का सर्वाधिक योगदान उसके द्वारा प्रारम्भ किया गया इतिहास का आर्थिक अध्ययन है। मार्क्सीय विचारधारा के परिणामस्वरूप ही आर्थिक इतिहास के अध्ययन में उल्लेखनीय प्रगति हुई। मार्क्स की इस विचारधारा के परिणामस्वरूप ही आर्थिक इतिहास के सम्बन्ध में नवीन सैद्धान्तिक विचार विकसित हुए। मार्क्स की इतिहास को प्रमुख देन संस्थात्मक परिवर्तनों के सामाजिक संदर्भ में अध्ययन की द्वन्द्वात्मक पद्धति को स्थापित करना है।

8.3 रॉके का जीवन और चिन्तन परिचय:

19वीं शताब्दी का सर्वाधिक महत्वपूर्ण विचारक रॉके लियोपाल्ड था। अधिकांश विद्वान लिथोपालड राम्के को 19वीं शताब्दी का सर्वाधिक प्रभावशाली इतिहास दर्शन का विचारक मानते है। इस महान विचारक का जन्म जर्मनी में हुआ था। यह लगभग 90 वर्ष की आयु तक जीवित रहा। इसने अपने जीवन के 60 वर्ष इतिहास विषय की विभिन्न गुत्थियों को सुलझाने में व्यतीत किए थे।

यह सन् 1825 में बर्लिन विश्वविद्याल में इतिहास का प्राध्यापक नियुक्त हुआ था तथा उसने अपना जीवन एक भाषा विज्ञानी की तरह प्रारम्भ किया था। इसकी कार्य पद्धति की प्रमुख विशेषता "स्रोत - समीक्षा" विषय पर नियमित गोष्ठियाँ करना था, जिसके परिणामस्वरूप यह विश्वविद्यालयों में इतिहास विषय को प्रतिष्ठापित कर सका।

रॉके के विचार में "इतिहास में भगवान निवास करता है, जीवित रहता है और देखा जा सकता है। प्रत्येक कार्य उसका साक्ष्य देता है, प्रत्येक क्षण उसके नाम का गुणगान करता है, और ऐतिहासिक अक्षुण्णता उसका सबसे पुष्ट प्रमाण प्रस्तुत करती है।"

रॉके द्वारा लिखित पुस्तक रोमन और जर्मन जातियों का इतिहास (गोगिरते देयर रोमाविशन उन्द गेर मानिशन पायोल्केर) अत्यन्त महत्व की है। इस पुस्तक की भूमिका में रॉके लिखता है, "इतिहासकार का कर्त्तव्य है कि जैसा कि भूतकाल में हुआ है, उसका वैसा ही वर्णन करे।"

इसी ग्रंथ के एक परिशिष्ट में वह पूर्ववर्ती इतिहासकारों की लिखित पुस्तकों की आलोचना करते हुए वह लिखता है कि ख्याति प्राप्त प्राचीन इतिहासकार निश्चित रूप से प्रामाणित नहीं माने जा सकते। मौलिक सामग्री के आधार पर उनकी भ्रांतियों का पर्दा खोला जा सकता है।"

रॉके की दूसरी प्रसिद्ध पुस्तक 1827 में फ्यूर्सतन उन्द फ्योल्केर फोन स्यूदयोरोया इन सेखत्सेन्तन उन्द जीब्सेतन यारहुन्दर्न अर्थात् 16वीं - 17वीं शती का दक्षिण यूरोप की जातियों का इतिहास है। इस पुस्तक में रॉके ने राजनीतिक तथ्यों के साथ वित्तीय और आर्थिक विषयों को भी प्रधानता दी थी।

रॉके की इतिहास के प्रति प्रतिबद्धता को इसी से समझा जा सकता है कि उन्होंने 82 वर्ष की आयु में विश्व इतिहास लिखना प्रारम्भ किया था तथा अपने मृत्यु वर्ष की आयु में उन्होंने इतिहास दर्शन विषयक ग्रंथ लिखने की योजना बनाई थी, परन्तु उनकी योजना मृत्यु हो जाने के कारण पूर्ण न हो सकी।

प्रसिद्ध विचारक क्रॉंचे ने रॉके को व्यवहारवादी घोषित किया है तथा क्रॉंचे कहता है कि उनके दर्शन की **प्रमुख विशेषता किसी तथ्य के प्रतिप्राप्त के लिए लिखित सामग्री व साक्ष्य की अनिवार्यता होना है। क्रॉंचे के ही अनुसार उनकी आलोचना में वैज्ञानिकता थी तो उनकी शैली में कलात्मकता और चरित्र निर्माण में सर्वांगीणता थी।**

रॉके की गोष्ठी आयोजित करने की विशेषता के कारण यूरोप में आधुनिक काल में ऐसे सैकड़ों विद्वान पैदा हुए, जिन्होंने यूरोप के इतिहास लेखन के मानदण्ड स्थापित किए। रॉके गोष्ठियों में इतिहासकार बनाता तथा अभिलेखागारों में इतिहास लिखता था। वह उपदेश न देकर स्वयं करता और इस प्रक्रिया में उसने उन धाराओं को मूर्तिमान किया, जिन्होंने इतिहासवाद में योग दिया।

जैसा कि यह पूर्व में बतलाया जा चुका है कि 19वीं शताब्दी विज्ञान की प्रतिष्ठा की शताब्दी थी, ऐसी अवस्था में इतिहासविदों ने भी ऐतिहासिक सामग्री को वैज्ञानिक प्रविधि प्रदान करने का प्रयत्न किया। ऐसे विद्वानों में लियोपाल्ड रॉके प्रमुख थे। रॉके ने वैज्ञानिक विचारधारा को प्रतिपादित करते हुए यह कहा कि इतिहासकार का कर्त्तव्य घटनाओं को मूलरूप में प्रतिपादन करना है तथा घटनाओं का विवरण प्रस्तुत करते समय इतिहासकार को अपनी अभिरूचि व्यक्त करने का अधिकार नहीं है। यद्यपि रॉके के इस दर्शन को उसके उत्तरवर्ती इतिहासकार पूर्णतः अपना नहीं पाए थे, उनका प्रमुख बल इतिहास लेखन में यथासंभव वैयक्तिक तत्वों को न्यून से न्यूनतम करना था और वह इसमें सफल भी रहे थे।

स्थूल रूप से रॉके के सिद्धान्तों को अधोलिखित तीन बिन्दुओं में व्यक्त किया जा सकता है:-

(1) इतिहास अथवा इतिहासविद् का कार्य भूत के विषय में निर्णय देने तथा वर्तमान को शिक्षा देने का बहाना करना नहीं है वरन् उसका लक्ष्य अतीत में घटित घटनाओं का उद्‌घाटन करना है।

(2) इतिहस की प्रत्येक घटना इतिहासकार के लिए समानरूपेण महत्वपूर्ण होती है, सबका अपना अभिप्राय होता है और सभी विशिष्ट होती है।

(3) इतिहास लेखन का प्रमुख उद्देश्य सार्वभौमिक इतिहास का निर्माण करना है।

रॉके के विचार चिन्तन को डिल्थे ने सही रूप से आगे बढ़ाया था। उसने रॉके के ऐतिहासिक तत्व को गंभीर रूप से लिया और इतिहास को वास्तविकता में सामाजिक विज्ञान बनाने की चेष्टा की। डेल्थे ने रॉके के इस सिद्धांत को स्वीकार कर, इतिहास विशिष्ट घटनाओं की कहानी है तथा यह है कि प्रत्येक युग का अपना महत्व होता है, इसे आगे बढ़ाते हुए डिल्थे तीन निम्न मान्यताएँ स्थापित की:

(1) इतिहास द्वारा ही समस्त मानव का अध्ययन किया जा सकता है।

(2) आत्म प्रकाशनीय वस्तु के रूप में (जीवन और इतिहास) का अर्थ अर्थात् मनुष्य विश्व की रचना स्वयं करता है।

(3) ऐतिहासिक ज्ञान का स्वभाव अर्थात् ऐतिहासिक वास्तविकता व्यक्ति तथा व्यक्तियों द्वारा निर्मित विश्व के बीच की अंतः क्रिया है।

8.4 निश्चयात्मक अभिगम की परिभाषा तथा स्वरूप

निश्चयात्मक अभिगम को प्राकृतिक विज्ञान के अध्ययन में प्रयुक्त ऐसे दर्शन से परिभाषित किया जा सकता है जिस प्रकार से मध्ययुगीन दर्शन ने धर्म विज्ञान की सेवा में अपनी भूमिका का निर्वहन किया था। निश्चयात्मक अभिगम के विचारकों के अनुसार प्राकृतिक विज्ञान में दो वस्तुएं समाहित होती हैं - (1) तथ्यों को अभिनिश्चित करना, (2) नियमों का निर्माण

निश्चयात्मक अभिगम विचारकों के अनुसार तथ्यों का अभिनिश्चयन ऐन्द्रिक बोध से किया जाता था तथा नियमों का प्रत्यक्षतः निर्माण इन तथ्यों के प्रवेश द्वारा सामयीकरण किए जाने से होता था। इस विचारधारा से प्रभावित होकर एक नए प्रकार के इतिहास दर्शन का विकास हुआ जिसे निश्चयात्मक अभिगम के नाम से जाना जाता है।

तत्कालीन इतिहासकारों ने इतिहास दर्शन के इस निश्चयात्मक अभिगम के प्रथम भाग "तथ्यों को अभिनिश्चित करना" सिद्धान्त में उत्साह के साथ संलग्न होकर सभी तथ्यों को, जिनका वह पता लगा सकते थे, जानने हेतु कार्य प्रारम्भ कर दिया, जिसके परिणामस्वरूप इतिहास सम्बन्धी ज्ञान में विस्तृत अभिवृद्धि हो गयी। ऐतिहासिक ज्ञान में हुई यह अभिवृद्धि अद्वितीय सीमा तक तथ्यों के विशुद्ध एवं आलोचनात्मक परीक्षण पर आधारित थी। इतिहास दर्शन की दृष्टि से यह युग ऐसा

युग था, जिसने इतिहास को सावधानीपूर्वक परीक्षित स्रोत सामग्री के संकलन से समृद्ध किया था। यह स्रोत सामग्री निश्चित पंचाणों, लेटिन अभिलेखों तथा ऐतिहासिक मूल पाठों एवं अन्य साहित्यिक स्रोतों तथा पुरातात्विक सोच की सम्पूर्ण सामग्री से परिपूर्ण थी। इस समय यूरोप के प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता मूमसेन अथवा मेटलेन्ड विस्तृत सूचनाओं के विशेष हो गए थे। इस काल में ऐतिहासिक विवेक ने स्वयं को प्रत्येक पृथक एवं किसी भी संदर्भ में तथ्यों का असीम कर्तव्य निष्ठता से तादात्म्य स्थापित कर दिया था। इस तरह से सार्वभौतिक इतिहास का आदर्श एक निष्फल स्वप्न की तरह व्यर्थ हो गया था तथा ऐतिहासिक साहित्य का आदर्श एक प्रबन्ध हो कर रह गया था। इस विस्तृत विवरणात्मक शोध के परम उद्देश्य के इतस्ततः इस सम्पूर्ण समय में एक निश्चित असहजता विद्यमान थी। लेकिन यह सब निश्यचात्मक अभिगम के मूल अभिप्रायः की आज्ञापालनार्थ किया जाना वाला कार्य था, जिसके अनुसार तथ्यों का अभिनिश्यचन उस प्रक्रिया के प्रथम सोपान के अन्तर्गत किया जा रहा था जिसकी दूसरी अवस्था नियमों की खोज करना था। इतिहासकार भी इस प्रथम सोपान की अवस्था, जिसमें नवीन तथ्यों का अभिनिश्यचन किया जा रहा था, से काफी प्रसन्न थे। वह यह जानते थे कि तथ्यों के अभिनिश्यचन की यह खोज असीम थी ओर उनको इन तथ्यों को गवेषणा करने और करते रहने से अधिक का ज्ञान नहीं था। लेकिन निश्चयात्मक अभिगम को समझने वाले दर्शनशास्त्री के अभिनिश्चयन के इस अतिउत्साह को आंशका से देख रहे थे। तथ्यों के अभिनिश्चयन की इस व्यापक खोज की परम्परा से सामान्य लोगों, जो इतिहास के विशेषज्ञ तो नहीं थे परन्तु जिनकी इतिहास में रूचि थी, की इस बात में कोई अभिरूचि नहीं थी कि कौन सा तथ्य खोजा गया है और कौन सा नहीं खोजा गया है। दूसरी ओर निश्चयात्मक अभिगम दर्शन के विद्वान इस ओर से चिन्तित थे कि जब तक इतिहास का अध्ययन केवल तथ्यों के अभिनिश्चयत तक सीतिम रहेगा, इतिहास वैज्ञानिक नहीं हो सकता था तथा सामस्य बुद्धिमानववर्ग तथ्यों के केवल सामस्य अभिनिश्चयन से संतुष्ट नहीं था।

इस सम्बन्ध में निश्चयात्मक अभिगम के समर्थकों ने यह प्रतिपादित करने का प्रयतन किया कि प्रत्येक प्राकृतिक विज्ञान तथ्यों के अभिनिश्चयन से ही प्रारम्भ होता है और उसके पश्चात् वह उनके नैमित्तिक सम्बन्धों को खोजता है तथा फिर अपने दृढ़ कथन स्वीकार करता है। कोम्टे के अनुसार समाजशास्त्र एक ऐसा विज्ञान है, जिसने मानव जीवन से सम्बन्धित तथ्यों को खोजा तथा उसके पश्चात् तथ्यों के मध्य नैमित्तिक सम्बन्धों को खोज कर स्थापित करने का प्रयत्न किया। इस प्रकार से समाजशास्त्री एक प्रकार के अधिइतिहास हो गए जिन्होंने वैज्ञानिक दृष्टि से चिन्तन कर इतिहास को एक वैज्ञानिक आधार प्रदान किया।

इस तरह से निश्चात्मक अभिगमवादियों के लिए ऐतिहासिक प्रविधि प्राकृतिक प्रविधि से साम्यता रखता था और यही एक कारण था जिससे प्राकृतिक विज्ञान की सभी विधियाँ इतिहास के विश्लेषण में प्रयुक्त की जाती थी। 19वीं शताब्दी के पूर्वार्ध एवं मध्य में ऐतिहासिक स्रोतों के

अध्ययन की एक नई विधि विकसित हुई थी, जिसे भाषा शास्त्रीय आलोचना पद्धति कहा जाता है, इस पद्धति का उद्देश्य साहित्यिक स्रोत से कम विश्वास योग्य प्रारम्भिक एवं उत्तरकाल के भाग को अलग कर अधिक तथ्यात्मक विवरण को अलग करना तथा इस अधिक तथ्यात्मक विवरण का आलोचनात्मक अध्ययन करना था। ऐतिहासिक अध्ययन के क्षेत्र में आई इस स्वायत्तता ने निश्चयात्मक अभिगमवादियों की अतिप्रवृति का प्रतिरोध कर सकने की क्षमता उत्पन्न की थी। जैसा कि पूर्व में यह बताया जा चुका है कि 19वीं शताब्दी के इतिहास दर्शन ने निश्चयात्मक अभिगमवादियों के प्रथम विचार "तथ्यों के अभिनिश्चयन को स्वीकार कर लिया था। इस तरह से तथ्यों के निरूपण में इतिहासकारों द्वारा 19वीं शताब्दी में दो प्रविधियाँ प्रयुक्त की गयी:

(1) प्रत्येक तथ्य एक ऐसा विषय माना जाता था जो ज्ञान के अलग कार्य द्वारा निश्चित किए जाने योग्य है, और इस प्रकार से इतिहास की दृष्टि से जानने योग्य कुल क्षेत्र पृथक पृथक रूप अनन्त सूक्ष्म तथ्यों के विभाजित हो गया था।

(2) प्रत्येक तथ्य समस्त शेष स्वतन्त्र नहीं माना जाता था लेकिन जानने वाले की तुलना में स्वतन्त्र था जिससे इतिहास के दृष्टिकोण के कारण से आए विषयगत तत्वों को तथ्यों से विलग किया जा सके। इस विचार धारा के अनुसार इतिहासवेता को तथ्यों पर कोई निर्णय नहीं देना चाहिए अपितु उसे तथ्यों को उनके सही रूप में प्रकट कर देना चाहिए।

इन दोनों नियमों की कुछ निश्चित उपयोगिता थी, प्रथम नियम के जानकार इतिहासवेत्ता तथ्यों को विस्तार से तथा अत्यन्त कुशलता से निरूपति करते थे तो दूसरे नियमों के जानकार इतिहासवेत्ता तथ्यों को अपनी भावनाओं के प्रभाव से मुक्त करवाने का प्रयत्न करते थे। इसी विचारधारा से प्रभावित होकर मूमसेन, जो निश्चयात्मक अभिगमवादी इतिहासकारों में सर्वोत्तम था, लैटिन अभिलेखों का संग्रह या रोमन संवैधानिक कानून की पुस्तक संकलित कर सका था तथा यह पुस्तक अविश्वास करने की सीमा तक परिशुद्ध थी। इस प्रथम नियम के विषय में कहा जा सकता है कि यह इतिहास दर्शन की एक ऐसी विद्या थी, जिसके द्वारा निश्चित छोटी समस्याओं को अभूतपूर्व तरीके से अध्ययन किया जा सकता था, दूसरी ओर इस नियम के द्वारा इतिहास को उसके वृहद् स्वरूप में अध्ययन करना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य था।

निश्चयात्मक अभिगम के दूसरे नियम के अन्तर्गत इतिहासकार को यह अधिकार नहीं था कि वह ऐतिहासिक तथ्यों पर अपना निर्णय प्रदान करे। यदि इतिहासकार इस नियम को स्वीकार करता है तो वह विभिन्न समयों पर शासकों द्वारा स्वीकार की गयी नीतियों, आर्थिक सिद्धांतों, धार्मिक आन्दोलनों व विचारों अपनी राय निर्मित नहीं कर सकता है। अतः यदि इस नियम को इतिहास दर्शन में स्वीकार कर लिया जाए तो इतिहास घटनाओं को जन्म देने वाले विचारों का विषय न होकर बाह्य घटनाओं का क्रम निर्धारित करने वाला विषय होकर रह जाएगा। इतिहास

दर्शन के निश्चयात्मक अभिगम को स्वीकार कर लेने से इतिहास मात्र राजनीतिक इतिहास रह जाएगा तथा कला, धर्म, विज्ञान तथा धर्म के इतिहास का अध्ययन कर लेने वाला विषय नहीं रहेगा।

8.5 निश्चयात्मक अभिगम का परवर्ती विचारधारा पर प्रभाव

कॉलिनवुड ने वैज्ञानिक इतिहास का विवेचन करते हुए लिखा है कि 19वीं शताब्दी के अन्त में इतिहास दर्शन के क्षेत्र में विकसित हुई विचारधारा पर निश्चात्मक अभिगम का काफी प्रभाव था तथा इस नई विचारधारा को निश्चयात्मक अभिगम से अपना पृथक अस्तित्व स्थापित करने में बहुत कठिनाई हुई थी। निश्चयात्मक अभिगम की सर्वाधिक आलोचना प्रारम्भ में हुई। यह समय उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्ध तथा बीसवीं शताब्दी का पूर्वार्ध था।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि निश्चयात्मक अभिगम इतिहास दर्शन में अभिगम प्रभावी रहा है तथा कालिनवुड के अनुसार इतिहास दर्शन आज भी स्वयं को निश्चयात्मक अभिगम के भ्रमित जाल से स्वयं को सुलझाने के लिए प्रयत्नशील है तथा यह स्थापित करने का प्रयत्न कर रहा है कि इतिहास, इतिहासकार के मस्तिष्क द्वारा भूत के विचारों को पुनर्व्यवस्थापित करने के अलावा कुछ नहीं है।

8.6 निश्चयात्मक अभिगम पर रॉके का प्रभाव:

रॉके के अनुसार "इतिहासकार का कर्त्तव्य है कि जैसा भूतकाल में हुआ है, उसका वैसा ही वर्णन करे।" क्राँचे के अनुसार "रॉके के दर्शन की प्रमुख विशेषता किसी भी तथ्य के प्रतिपादन के लिए लिखित सामग्री व साक्ष्य की अनिवार्यता होना है। "इसके अतिरिक्त रॉके के दर्शन की एक प्रमुख विशेषता इस धारणा की स्थापना करना था कि इतिहासकार का कर्त्तव्य घटनाओं को मूलस्वरूप में प्रतिपादित करना है तथा घटनाओं का विवरण प्रस्तुत करते समय इतिहासकार को अपनी अभिरूचि व्यक्त करने का अधिकार नहीं है। रॉके के इतिहास दर्शन सम्बन्धी उक्त विचारों का अवलोकन करने से इस धारणा को बल मिलता है कि निश्चयात्मक अभिगम सम्बन्धी इतिहास दर्शन पर रॉके की विचारधारा का स्पष्ट प्रभाव था तथा उन्नीसवीं सदी के इतिहास दर्शन को सर्वाधिक प्रभावित रॉके की विचारधारा के माध्यम से निश्चयात्मक अभिगमवादियों ने प्रभावित किया था।

8.7 उपसंहार :

पिछले पृष्ठों में किए गए विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि रॉके द्वारा स्त्रोत सामग्री के विशिष्ट महत्व की धारणा के प्रतिपादन से निश्यचयात्मक अभिगमवादी इतिहासकार सर्वाधिक प्रभावित थे तथा इस विचारधारा ने उन्नीसवीं शताब्दी में इतिहास दर्शन को अत्यधिक प्रभावित किया था। इतिहास के सार्वभौमिक नियमों की स्थापना के सिद्धांत तथा घटनाओं के विवरण के अतिरिक्त इतिहासकार को अपनी अभिरूचि व्यक्त करने का अधिकार नहीं है। इन दो तत्वों को छोड़कर यदि निष्पक्ष दृष्टि से विचार किया जाए तो निश्चयात्मक अभिगम के

कारण ही समस्त विश्व में स्रोत सामग्री संकलित हो सकी। जहां यूरोप में समस्त लैटिन अभिलेख एकत्र किए जा सके जो वहीं भारत में विभिन्न शासन कालों में हुए राजाओं के अभिलेखों का संकलन हो सका था।

जैसा कि हम जानते है कि भारत में हस्तलिखित पाण्डुलिपियों की एक लम्बी परम्परा रही है। सम्भवतः यूरोप के और बाद में भारतीय भाषा शास्त्री विद्वानों ने निश्चयात्मक अभिगमवादियों से प्रभावित होकर ही विभिन्न पाण्डुलिपियों के सम्पादन तथा अनुवाद का कार्य प्रारम्भ किया, जिसके फलस्वरूप अतीत के गर्भ में विलुप्त हो चुकी साहित्यिक सामग्री मूल पाठ एवं अनुवाद के रूप में हमारे सम्मुख आ सकी थी। भारतीय साहित्यिक परम्परा के अवलोकन से यह दृष्टिगोचर होता है कि भारतीय मनीषी कुछ कुछ इतिहास लेखन के क्षेत्र में निश्चयात्मक अभिगम की विचारधारा से साम्य रखते थे। प्रसिद्ध पुस्तक राजतरंगिणी के कवि कल्हण का यह कथन, कि सच्चा कवि वह है जो बिना किसी राग - द्वेष के घटनाओं का विवरण प्रस्तुत करता है, निश्चयात्मक अभिगम का ही प्रतिनिधित्व करता प्रतीत होता है।

8.8 बोध-प्रश्न

1. रॉके के इतिहास - दर्शन की व्याख्या कर निश्चयात्मक अभिगम पर रॉके के दर्शन के प्रभाव की विवेचना कीजिए।

2. निश्चयात्मक अभिगम ने 19वीं शताब्दी के इतिहास दर्शन को सर्वाधिक प्रभावित किया। इस कथन की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

8.9 संदर्भ ग्रन्थ

इतिहास दर्शन - डा. बुद्ध प्रकाश

इतिहास : स्वरूप एवं सिद्धांत (सं.) - डा. गोविन्द चन्द्र पाण्डे

द आइडियां ऑफ हिस्ट्री - आर.जी. कॉलिंगवुड

इकाई 9

इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या (मार्क्सवादी सिद्धांत)

इकाई की संरचना

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 इतिहास दर्शन की दो धाराऐं : आध्यात्मवादी एवं भौतिकवादी

9.3 इतिहास का विकासवादी सिद्धांत

9.4 वैज्ञानिक इतिहास लेखन की तलाश

9.5 ऐतिहासिक भौतिकवाद

9.5.1 समाज का सम्पूर्ण दर्शन

9.5.2 सामाजिक परिवर्तन की शक्तियां एवं प्रक्रिया

9.5.3 वर्ग और वर्ग संघर्ष

9.5.4 ऐतिहासिक युग

9.6 इकाई सारांश एवं अभ्यास कार्य

9.7 संदर्भ अध्ययन सामग्री

9.0 उद्देश्य

(1) इतिहास दर्शन की दो धाराओं : आध्यात्मवादी एवं भौतिकवादी, की तुलनात्मक जानकारी प्रदान करना।

(2) भौतिकवादी इतिहास दर्शन के आधारभूत तत्वों का बोध कराना।

(3) वैज्ञानिक इतिहास लेखन की विधियों की जानकारी प्रदान करना।

(4) अब तक के सम्पूर्ण मानव इतिहास का युग विभाजन एवं युग परिवर्तन की प्रक्रिया को समझाना।

9.1 प्रस्तावना

इतिहास दर्शन की दो प्रमुख धाराऐं हैं, आध्यात्मिक या आदर्शवादी एवं भौतिकवादी। जहां पहली धारा इतिहास को भावनावाद एवं मानसिक विलासिता तक ही सीमित रखती है वहीं दूसरी धारा इसे समाज विज्ञान का दर्जा प्रदान करती है। भौतिकवादी सिद्धांत ने स्थापित किया है कि इतिहास बोध के बिना कोई भी विज्ञान परिप्रेक्ष्यहीन होता है। इतिहास न केवल अतीत का ज्ञान देता है, वर्तमान की समझ एवं भविष्य की दृष्टि प्रदान करता है। इसलिये वैज्ञानिक दृष्टि के लिए इतिहास की समझ अनिवार्य शर्त है एवं इसका अभाव व्यक्ति और समाज को भटकाता है।

मार्क्स के पूर्व भी भौतिकवादी सिद्धांत इतिहास की व्याख्या करता रहा। इनमें प्राकृतिक विज्ञान की विद्या को इतिहास के विकास पर लागू करने का प्रयास किया गया है। जबकि इतिहास प्राकृतिक विज्ञान जैसा वस्तुगत और निरपेक्ष नहीं हो सकता। इसे इतिहासकार की मनोवृत्ति, पूर्वाग्रह, मानसिकता, बौद्धिकस्वर, दृष्टि और उसका वर्ग चरित्र प्रभावित करता है। मार्क्स ने सामाजिक विकास को समझने की प्रयोगशाला के रूप में इतिहास के अध्ययन को अनिवार्य माना। उसने इतिहास की जिस भौतिकवादी व्याख्या को स्थापित किया था, उसे द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के नाम से परिभाषित किया। उसका आधार था इतिहास की गतिदायिनी शक्तियों और प्रवृत्तियों की पहचान।

मार्क्स के इतिहास दर्शन को ऐतिहासिक भौतिकवाद के नाम से जाना जाता है। ऐतिहासिक भौतिकवाद द्वन्द्वात्मक एवं भौतिकवाद को मानव समाज पर लागू करने का परिणाम हैं। ऐतिहासिक भौतिकवाद को द्वन्द्वात्मक प्रणाली ने पूर्ण बनाया। ऐतिहासिक भौतिकवाद मार्क्सवादी दर्शन का एक अभिन्न अंग है, जिसने इतिहास अध्ययन को विज्ञान की कोटि में ला खड़ा किया। इसका उद्देश्य मानव समाज की संरचना एवं इसके विकास के नियमों का अध्ययन करना है। ऐतिहासिक भौतिकवाद के जन्म ने सामाजिक विकास को मानव विचारों में नैसर्गिक ऐतिहासिक प्रक्रिया को इसकी जटिलता एवं विसंगतियों के उपरांत तरीके से यह निर्धारित करना संभव बनाया कि समाज कैसे एवं किस दिशा में विकसित होता है।

मार्क्स के पूर्व समाज विज्ञान के क्षेत्र में आदर्शवाद का बोल-बाला था। न केवल आदर्शवादी बल्कि भौतिकवादी भी सामाजिक विकास को सामाजिक विचारों के परिवर्तन का परिणाम मानते थे। जबकि दोनों ही यह तलाश करने में असफल रहे कि सामाजिक विचारों के परिवर्तन के कारण क्या है? सामाजिक चिंतकों एवं इतिहासकारों की मान्यता थी कि सामाजिक जीवन का सृजन मानव ने स्वयं किया था। इस मान्यता ने भ्रम उत्पन्न किया कि सामाजिक संबंधों का निर्माण मानव ने स्वयं अपनी चेतना के अनुकूल किया। किन्तु यह जवाब देने में असमर्थ रहे कि मानव में चेतना कहां से आती है।

मार्क्स ने अपने ऐतिहासिक सिद्धांत में उपरोक्त सभी जटिल समस्याओं का हल प्रस्तुत किया। काफी सीमा तक मार्क्सवादी सिद्धांत के अनुसार इतिहास की विषय वस्तु के निर्धारण से उपरोक्त सभी दार्शनिक जटिलताओं का अन्त संभव है, जिसने इतिहास ज्ञान को सहज व सरल बनाया। इतिहास की विषय वस्तु सामाजिक जीवन के विविध पक्षों के अध्ययन में निहित है कि कैसे मानव समाज का उदय हुआ, परिवर्तन आये एवं विकसित हुआ, सामाजिक जीवन की स्थापना के क्या कारण रहे? वही इसके विकास की विधि है। इतिहास का अध्ययन यह भी जांच करता है कि सामाजिक विकास में जनता का क्या महत्व है एवं इस प्रक्रिया में विशेष व्यक्तियों का स्थान क्या है, विचार कहां से आते हैं? एवं वे समाज में क्या भूमिका निभाते है, सामाजिक विकास को भौगोलिक वातावरण किस सीमा तक प्रभावित करता है, समाज के विकास के विभिन्न सोपान कौन से हैं; एक सामाजिक सोपान दूसरे से क्या भिन्नता लिए होता है, किस प्रकार नया चरण पिछले चरण को बदलता है? कैसे एवं किस दिशा में इतिहास आगे बढ़ा? यही वे प्रश्न हैं, जिनका जवाब इतिहास अध्ययन में शामिल होता है।

9.2 इतिहास की दो धाराऐं : आध्यात्मवादी एवं भौतिकवादी

इतिहास की मुख्यतः दो धाराऐं हैं - पहली आदर्शवादी या आध्यात्मवादी एवं दूसरी भौतिकवादी। उपरोक्त दोनों अवधारणाओं में मूलभूत अंतर है एवं इनमें कहीं समानता दिखाई नहीं देती। इनमें प्रारम्भिक अंतर विचारों के उत्पन्न होने की प्रक्रिया के संबंध में है। आदर्शवादियों की मान्यता है कि पदार्थ विचार जन्य है, जबकि भौतिकवादी पदार्थ को विचारों का जनक मानते हैं। उदाहरणार्थ लकड़ी के **बिना** मेज का विचार, पत्थर चूने के बिना मकान का विचार संभव **नहीं** है। अतः भौतिकवादी विचारधारा के अनुसार पदार्थ अथवा भौतिक **स्थितियां** ही विचार को जन्म देती हैं। कहने का अर्थ यह है कि **आदर्शवादी** विचारक विचारों को सामाजिक परिवर्तन का कारण मानते रहें है। अतः आदर्शवादियों को कल्पनावादी कहना उचित है। जबकि इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या इस संदर्भ में शुद्ध वैज्ञानिक समझ प्रदान करती है। भौतिकवाद ने आदर्शवाद के विपरीत मानवक्रिया के उद्देश्यों को वैचारिक परिधि से दूर लाकर यह सिद्ध किया कि भौतिक स्थितियां वैचारिक उद्देश्यों की जन्मदात्री है। इतिहास की भौतिकवादी समझ के अनुसार समाज का भौतिक जीवन प्राथमिक है एवं सामाजिक चेतना

जो आध्यात्मिक क्रिया है माध्यमिक है। ऐतिहासिक भौतिकवाद सामाजिक विकास में विचारों के भारी महत्व को कभी नजरअंदाज नहीं करता। किन्तु यह विचारों को मानव की जीवन दशाओं का प्रतिबिम्ब मानता है एवं जो सामाजिक जीवन के भौतिक विकास की आवश्यकता का प्रस्फुटन होता है। अतः पूर्व के इतिहासकार विचारों को प्रधान मानते रहे जो एक स्वाभाविक दोष था।

आध्यात्मवादी दार्शनिक ब्रह्माण्ड में स्थित सभी चीजों की पृथक स्थिति मानता है। इसके अनुसार परिवर्तन किसी चीज को मात्रा में बढ़ाता या घटाता है या स्थान बदलता है। इस परिवर्तन का कारण वस्तु में अन्तर्निहित न होकर बाहरी कारण होता है। भौतिकवादी दार्शनिक मानते हैं कि ब्रह्माण्ड में स्थित किसी भी चीज का अस्तित्व अलग नहीं होता बल्कि आपस में जुड़ी होती है। उदाहरणार्थ हम वृक्ष को लें, वृक्ष अपने आप में पृथक चीज नहीं है बल्कि यह बीज, पानी, मिट्टी, उर्वरक, कार्बन, वायु आदि का योग है। इन तत्वों में से किसी भी एक तत्व का अभाव वृक्ष के अस्तित्व को समाप्त कर सकता है। भौतिकवाद के अनुसार किसी वस्तु में परिवर्तन के कारण अन्तर्निहित होते हैं। जैसे अंडे से चूजा पैदा करने के लिए एक निश्चित तापमान अंडे को देना आवश्यक होता है। यदि वही तापमान एक पत्थर को दिया जाय तो उससे चूजा पैदा नहीं हो सकता। अतः बाह्य तत्व तभी कारगर हो सकते हैं जबकि आंतरिक तत्व इसके अनुकूल हों।

आध्यात्मवादी विचार के अनुसार संसार में सभी वस्तुओं का स्वरूप इनके आरम्भ से ही समान रहा है, इसीलिए इस विचार के लोग वेद, रामायण, महाभारत, गीता, कुरान, बाइबल आदि के ज्ञान को अंतिम सत्य मानते हैं एवं इनके ज्ञान को सदैव के लिये उपयोगी मानते हैं तथा वे दास समाज, सामंती समाज, पूंजीवादी समाज व औपनिवेशिक समाज के मध्य विशेष भिन्नता नहीं मानते। भौतिकवादी धर्म ग्रंथों को उनके रचनाकाल का इतिहास जानने के श्रोत के रूप में उपयोग करते हुए मानते हैं कि उस समय इनकी सामाजिक प्रासंगिकता थी। इतिहास मनुष्य की प्रगति यात्रा के शानदार महाकाव्य जैसा है। सभी धर्म ग्रंथों में अतीत को स्वर्णकाल एवं भविष्य को कयामत के दिन के रूप में वर्णित किया गया है। इनके अनुसार समाज पतनोन्मुख है और पाप का घड़ा भर रहा है जो एक दिन फूटेगा एवं प्रलय होगी। तभी परिवर्तन संभव है। ऐसी विचारधारा मनुष्य को आतंकित एवं निराश करती है। इसके विपरीत इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या बताती है कि मनुष्य अमीबा से आदमी बनने की मंजिल पूरी कर आदमी से इन्सान एवं इन्सान से बेहतर इन्सान बनने में संघर्षरत है। आदिम जंगली अवस्था की प्रकृति की गुलामी तोड़कर मनुष्य आजाद हुआ। उसने अपने उपकरण बनाए। बुद्धि का विकास किया और प्रकृति से संघर्ष कर उस पर नियंत्रण करने लगा। दिन-ब-दिन सभ्यता और संस्कृति का विकास होने लगा। इस दौरान इसने स्वयं तरह-तरह के बंधन पैदा किए-वर्गों, वर्णों, गुटों में बंटा। आपस में लड़ता रहा, संहार करता रहा। फिर भी इस सबके बावजूद वह धरती के अलावा आकाश-पाताल भी भेदने लगा। अपने

बंधन तोड़ने लगा एवं बेहतर इंसान बनने की लड़ाई में लगा रहा। इतिहास मानव एवं मानव-समाज के विकास क्रम का लेखा-जोखा है।

जहाँ आध्यात्मवादी इतिहासकार नियतिवाद को अपनी व्याख्या का आधार बनाता है वहीं भौतिकवादी इतिहासकार नियतिवाद पर भयानक प्रहार करता है। आध्यात्मवाद मनुष्य को अकर्मण्य बनाने की चेष्टा करता है, जिससे उच्चवर्गों द्वारा निम्नवर्गों का शोषण निरन्तर चलता रहे। अर्थात् इतिहास की आध्यात्मवादी व्याख्या मनुष्य को निकम्मा एवं नाकारा बनाकर समाज की यथास्थिति की पक्षधर होती है, जबकि भौतिकवादी इतिहासकारों के अनुसार इतिहास से पता लगता है कि इन्सान की जीत हाथ पर हाथ धरने से नहीं, महापुरुषों के इंतजार से नहीं, बल्कि स्वयं संयुक्त रूप से शक्तिशाली बनने से संभव हुई है।

आध्यात्मवादी सामाजिक विकास का कारण वाह्य मानते हैं, जैसे ईश्वर अथवा आलौकिक शक्ति। वे महान लोगों को इतिहास का निर्माता मानते हैं एवं स्वाभाविक तौर पर समाज के विकास में महान लोगों के दिमाग की भूमिका को निर्णायक मानते हैं। सार रूप में वे सामाजिक विकास के कारण जनता से सामाजिक व्यवहार को अनदेखा करते हैं। इसलिए वे आम लोगों की इतिहास में आधारभूत भूमिका को समझने में असमर्थ रहे हैं।

मार्क्स के पूर्व के इतिहासकार चाहे वे आदर्शवादी रहे हों अथवा भौतिकवादी सभी के सिद्धांतों में यह कमी थी कि वे इतिहास को आम जनता का इतिहास न मानकर इसे मुख्यतः विशेष व्यक्तियों की क्रियाओं का लेखा-जोखा मानते थे। अधिकांश आदर्शवादी इस पर जोर देते हैं कि विचार इतिहास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। इनके अनुसार विशेष व्यक्तित्व जन्म लेते हैं एवं विशेष प्राकृतिक (दैवीय) योग्यता लेकर आते हैं तथा विशेष प्रतिभा गर्भ में ही आ जाती है। ये विशेष व्यक्तियों को प्रथम स्थान देते हैं एवं आम लोगों को मातहत या अधीन का दर्जा देते हैं तथा वे मानते हैं कि इतिहास का निर्माण मुट्ठीभर विशेष व्यक्तित्व करते हैं। यह धारणा जनता की सृजन शक्ति में अविश्वास रखती है एवं ऐतिहासिक विकास के निर्धारक नियमों को अमान्य ठहराती है यही नहीं बल्कि इतिहास की यह हीरोवादी व्याख्या आम आदमी में अकर्मण्यता एवं निष्क्रियता का संचार करती है, शोषण के खिलाफ जन संघर्ष को अवरुद्ध करती है एवं शोषकों का हित साधन करती है।

आदर्शवाद के विपरीत ऐतिहासिक भौतिकवाद जनता की महान ऐतिहासिक भूमिका का वर्णन करता है, जो समाज की सम्पदा की सृजक, भौतिक सामग्री की उत्पादक है एवं ऐतिहासिक विकास में निर्णायक भूमिका निभाती है। अतः मार्क्स की भौतिकवादी इतिहास की व्याख्या स्थापित करती है कि आम लोग समाज के प्राथमिक संचालक हैं एवं सामाजिक विकास की निर्णायक शक्ति हैं। यह व्याख्या विशेष व्यक्तियों की भूमिका को नकारती नहीं है, किन्तु विशेष व्यक्तित्वों की भूमिका को आम लोगों की गतिविधियों के परिप्रेक्ष्य में देखती है। अतः व्यक्ति विशेष की भूमिका केवल सामाजिक विकास के नियमों की जानकारी के तहत ही निर्धारित की जा सकती है।

इतिहास की मार्क्सवादी, भौतिकवादी व्याख्या ने उन आदर्शवादियों की इतिहास की अवधारणा को भी अमान्य ठहराया है जो अपने विचारों को भौतिकवादी जामा पहनाने का असफल प्रयास करते हैं। उदाहरणार्थ भौगोलिक व्याख्या को मानने वाले इतिहासकार सामाजिक विकास में भूगोल की निर्णायक भूमिका मानते हैं जो तर्क से सर्वथा परे है। यह एक निर्विवाद तथ्य है कि समाज भौगोलिक स्थितयों में स्थित विभिन्न देश सामाजिक विकास की अलग-अलग सीढ़ी पर खड़े होते हैं। उदाहरणार्थ वियतनाम एवं थाईलैण्ड समान भौगोलिक स्थितियों पर स्थित होने के उपरांत भी सामाजिक विकास के भिन्न स्तरों पर हैं। जहाँ वियतनाम समाजवादी स्तर पर है वहीं थाईलैण्ड औपनिवेशिक स्थितियों के मध्य झूल रहा है। इसी प्रकार भारत एवं पाकिस्तान लगभग समान भौगोलिक दर्शाओं में स्थित होने के उपरांत सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक भिन्नता लिये हुए हैं। भौगोलिक एवं प्राकृतिक सम्पदा भी सामाजिक विकास में निर्णायक भूमिका नहीं निभाती। उदाहरण के लिए ब्राजील प्राकृतिक सम्पदा से समृद्ध होने के उपरांत भी विश्व के सर्वाधिक गरीब देशों की श्रेणी में आता है। हम भौगोलिक तत्व को इस आधार पर भी निर्णायक नहीं मान सकते हैं कि एक देश में एक जैसी भौगोलिक स्थिति रहने के उपरांत भी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक सांस्कृतिक आदि परिवर्तन होते रहते हैं। भौगोलिक स्थितियों में भी परिवर्तन होते हैं। किन्तु वे सामाजिक परिवर्तनों की तुलना में अत्यधिक धीमे होते हैं। जहाँ भौगोलिक परिवर्तन हजार या लाख वर्षों में संभव होते हैं वहीं सामाजिक परिवर्तन दस या सौ वर्षों में होते हैं। अतः कम अवधि में होने वाले परिवर्तनों के कारण लम्बी अवधि में होने वाले परिवर्तन नहीं हो सकते। मार्क्सवादी भौतिकवाद के अनुसार भूगोल की इतिहास में एक भूमिका अवश्य होती है, किन्तु वह निर्णायक नहीं होती।

इसी प्रकार जनसंख्या के तत्व पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। जॉन मालथस ने सामाजिक विकास में जनसंख्या के तत्व को निर्णायक माना है। जनसंख्या समाज का प्राथमिक आधार होती है, किन्तु जनसंख्या का घटना-बढ़ना सामाजिक परिर्वन का कारण नहीं हो सकता। इसी प्रकार किसी देश की जनसंख्या गरीबी अथवा अमीरी का कारण नहीं हो सकती। अनेक अधिसंख्य जनसंख्या वाले देश समृद्ध हो सकते हैं, जबकि कम जनसंख्या वाले गरीब एवं इसके विपरीत स्थिति भी देखने को मिल सकती है। अतः इतिहास की मार्क्सवादी भौतिकवादी व्याख्या जनसंख्या को इतिहास की निर्णायक शक्ति नहीं मानती।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि जहाँ विचारवादी, आदर्श या आध्यात्मवादी विचारधारा ने इतिहास दृष्टि में अनेक भ्रम एवं विसंगतियाँ उत्पन्न की, वहीं भौतिकवादी विचारधारा ने इनका खण्डन कर वैज्ञानिक इतिहास दृष्टि को खोजने में सफलता प्राप्त की।

9.3 इतिहास का विकासवादी सिद्धांतः

मार्क्स ने इतिहास के विकासवादी सिद्धांत का प्रतिपादन किया। इस सिद्धांत ने इतिहास की चक्रवादी अवधारणा पर गहरा प्रहार किया।

चक्रवादी व्याख्या के अनुसार सृष्टि की रचना होती है, विकास होता है एवं समाप्त हो जाती है तथा सृष्टि की पुनर्रचना होती है। इसके अनुसार यह क्रम निरन्तर रूप से चलता रहता है। इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या उपरोक्त विचार को अमान्य ठहराती है। चक्रवादी व्याख्या भाग्यवाद एवं नियतिवाद का अभिन्न अंग है। यह इतिहास में मानव के योगदान को नकारती है। इसके विपरीत मार्क्स ने इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या के द्वारा इतिहास का विकासवादी सिद्धांत स्थापित किया। सृष्टि की रचना से लेकर आज तक कोई प्रलय का उल्लेख नहीं मिलता। पृथ्वी पर जीवों की उत्पत्ति से लेकर आज तक का विकास इस बात का साक्षी है।

आज भी सामान्य समझ के व्यक्ति से इतिहास अध्ययन की उपयोगिता के संदर्भ में पूछा जाय तो वह शीघ्र यही जवाब देगा कि हमें इतिहास से शिक्षा मिलती है कि जो गलतियाँ हमने भूतकाल में की हैं वे पुनः न हों। यह समझ तर्क से काफी परे दिखाई देती है। पहली बात तो यह है कि जो घटना जिन स्थितियों में घटी होती है वे स्थितियाँ बदल जाती हैं। अतः एक ऐतिहासिक घटना की पुनरावृत्ति नहीं होती। समाज कभी पीछे की ओर नहीं जाता। बल्कि यह सदैव अग्रगामी होता है। अतः मार्क्स ने इस अवधारणा का खण्डन किया कि इतिहास अपने आपको दुहराता है। अतः परिस्थितियों के बदलने से भूतकाल में घटित घटना भविष्य में नहीं घटती। उदाहरणार्थ यह एक सर्वमान्य सत्य है कि बंदर से मानव बना। किन्तु यह एक निश्चित प्राकृतिक परिस्थिति में हुआ, अतः अब बंदर से मानव बनना संभव नहीं है। कार्ल मार्क्स ने प्राकृतिक विज्ञान की द्वन्द्ववादी प्रक्रिया को समाज विज्ञान में लागू किया, जिससे इतिहास की वैज्ञानिक समझ की उपज हुई। इतिहास की व्याख्या में व्याप्त अनेक दोषों एवं भ्रमों को दूर कर मार्क्सवादी भौतिकवादी इतिहास लेखन ने इतिहास को विज्ञान की कोटि में रखने का प्रयास किया है।

9.4 वैज्ञानिक इतिहास लेखन की तलाशः

भौतिकवादी सामाजिक विचारकों ने वैज्ञानिक इतिहास की तलाश आरम्भ की। सामाजिक गति को पहचानने के क्रम में तर्क पद्धति का सहारा भी सर्वप्रथम भौतिकवादी विचारकों ने लिया। फ्रांसीसी विचारक देकार्त (1596-1660) की दृष्टि में हर वह चीज निकृष्ट होती है जो तर्क की कसौटी पर न कसी जा सके। आगे उसकी मान्यता थी कि सच्चे से सच्चा इतिहास रूमानियत से मुक्त नहीं हो सकता। जो तर्क विरोधी है। अतः उसने इतिहास को मानव विज्ञान के क्षेत्र में कोई महत्व देने से इन्कार कर दिया। किन्तु उसने जिस तर्क पद्धति का प्रतिपादन किया उसका उपयोग ज्ञान एवं दर्शन के विभिन्न क्षेत्रों में होने लगा तथा अठारहवीं सदी आते-आते इतिहास के क्षेत्र में भी इसका प्रवेश होने लगा।

फ्रांस की क्रांति (1789) के आस-पास फ्रेंच इतिहासकारों ने वैज्ञानिक इतिहास लेखन को एक दिशा प्रदान की। मार्क्स की इतिहास की

भौतिकवादी व्याख्या का मुख्य आधार समाज का वर्गों में विभाजन एव वर्ग संघर्ष है। वर्ग संघर्ष के नियम की खोज भौतिकवाद की विशेषता है। समाज वर्गों में विभाजित होता है। यह मान्यता मार्क्स के पूर्व भी मौजूद थी। किन्तु विभाजन का आधार एवं सार सर्वथा अस्पष्ट ही था। वर्ग संघर्ष का विचार सर्वप्रथम पुनर्जागरण के बाद क्रांतिकाल में फ्रैंच इतिहासकारों ने रखा किन्तु ये फ्रैंच इतिहासकार इस विचार को निश्चित एवं वैज्ञानिक अंजाम देने में असफल रहे। जर्मन इतिहासकार रान्के (1795-1886) वैज्ञानिक इतिहास लेखन का पक्षधर था। उसने भौतिक तत्वों एवं तर्कों के आधार पर इतिहास लेखन का प्रयास किया किन्तु इनके विचारों में राष्ट्रवादी विचारधारा की बहुलता के कारण इनके लेखन में अनेक दोष आये।

मार्क्स ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के सिद्धांत को सामाजिक विकास की प्रक्रिया पर लागू किया। जिसे ऐतिहासिक भौतिकवाद के नाम से जाना जाता है। इस सिद्धांत के द्वारा मार्क्स ने इतिहास को पूर्ण विज्ञान बनाने का प्रयास किया है। कार्ल मार्क्स ने हीगेल, फायरबाख आदि का अध्ययन किया। अंत में वह इस नतीजे पर पहुँचा कि मनुष्य परिस्थितियों को पैदा भले करता हो, वह स्वयं भी परिस्थितिजन्य होता है। उसके अनुसार इतिहास मृत तथ्यों का संग्रह नहीं है जैसा कि "पाजिटिविस्टों" की व्याख्या से लगता है, न ही ख्याली कारनामों का जमघट जैसा कि आदर्शवादियों की व्याख्या से लगता है। मार्क्स के अनुसार इतिहास वर्ग-संघर्ष के माध्यम से निरन्तर विकासोन्मुख मानव समाज के अध्ययन का आधार है।

मार्क्स द्वारा प्रतिपादित ऐतिहासिक भौतिकवाद का सिद्धांत द्वन्द्ववादी प्रक्रिया के माध्यम से तर्कों पर आधारित है। इसके अनुसार मनुष्य जैसा होता है वैसी ही उसकी अभिव्यक्ति होती है। वह कैसा है इसका सीधा सम्बन्ध उसकी उत्पादन प्रक्रिया से जुड़ा होता है। वह क्या उत्पादन करता है और कैसे करता है? मनुष्य की चेतना उसकी भौतिक स्थितियों पर निर्भर करती है, जो निश्चित उत्पादन प्रणाली पर आधारित होती है। इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या का आधार प्रत्येक सामाजिक संरचना को समझना है। मार्क्स के अनुसार सामाजिक संरचना का आधार मानव जीवन क्रम जारी रखने के लिए किया गया उत्पादन एवं उत्पादन का वितरण है। समाज व्यवस्था इस पर निर्भर करती है कि क्या उत्पादन होता है, यह कैसे उत्पादित होता है एवं कैसे उत्पाद का विभाजन या वितरण होता हैं? जिस प्रकार सम्पदा एवं उत्पाद का वितरण होता है उसी प्रकार समाज का अनेक वर्गों में विभाजन होता है। इस दृष्टिकोण से हर सामाजिक परिवर्तन और राजनीतिक क्रांति का मूलभूत कारण वर्ग संघर्ष होता है।

मार्क्स ने सामाजिक विकास के वस्तुगत नियमों को तलाशने का प्रयास किया है। मार्क्स प्रकृति की द्वन्द्वात्मकता से द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद तक पहुँचा और उसे इतिहास पर लागू कर ऐतिहासिक भौतिकवाद का सृजन कर यह व्याख्या की, कि मानव समाज कैसे आदिम साम्यवाद से पूंजीवादी व्यवस्था तक पहुँचा है? इस विश्लेषण से मार्क्स ने सामाजिक

परिवर्तन के नियमों का आधार उत्पादन के साधनों एवं उत्पादन के सम्बन्धों में परिवर्तन को सिद्ध किया और वर्ग संघर्ष को निर्णायक अनिवार्य माध्यम बताया। उसने ऐतिहासिक भौतिकवादी सिद्धांत के आधार पर कहा कि जिस प्रकार सामंतवाद को पराजित कर पूंजीवाद विकसित हुआ है, वैसे ही पूंजीवाद को ध्वंस कर सर्वहारा अपना राज्य कायम करेगा।

9.4.1द्वन्द्वात्मक भौतिकवादः

मार्क्स के अनुसार जीवन और जगत का परम सत्य भौतिक है। आत्मा और ईश्वर का अस्तित्व नहीं है। इनका विचार केवल कपोल कल्पित है। मानव चेतना का आधार भौतिक है। बिना भौतिक तत्व के चेतना अस्तित्व में नहीं आ सकती। मार्क्स के अनुसार राज्य और संगठित धर्म शोषण और उत्पीड़न के हथियार हैं। आध्यात्मवादी दर्शन ने इन्हें पुष्ट बनाया है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद प्रकृति एवं ब्रह्माण्ड की वस्तुओं और घटनाओं को आकस्मिक मात्र नहीं मानता, बल्कि सभी एक दूसरे से जुड़ी होती है एवं क्रमिक प्रक्रिया का परिणाम होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार प्रकृति एवं मानव समाज की वस्तुएँ तथा घटनाएँ अचानक ही अथवा किसी विशेष आध्यात्मिक शक्ति द्वारा नहीं घटती। किन्तु वे निश्चित वस्तुगत नियमों के द्वारा संचालित होती हैं। प्रकृति में जब ज्वालामुखी का विस्फोट होता है तो ऐसा निश्चित प्राकृतिक नियमों के अनुसार ही होता है, उसी प्रकार जब समाज में कोई जबरदस्त क्रांतिकारी परिवर्तन होता है तो ऐसा भी सामाजिक आर्थिक विकास की द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया के नियमों के अन्तर्गत होता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का कार्य प्राकृतिक और सामाजिक घटनाओं के नियमों को खोज कर उन्हें मानव के उपयोग में लाना है।

इस प्रकार मार्क्स की द्वन्द्वात्मक प्रणाली के अनुसार प्रकृति की किसी भी वस्तु अथवा घटना को अन्य वस्तुओं या घटनाओं को पृथक असम्बद्धित तथा स्वतंत्र रूप में कभी नहीं समझा जा सकता है। प्रत्येक वस्तु दूसरी वस्तु से सम्बन्धित होती है। और प्रत्येक घटना दूसरी घटना से जुड़ी रहती है। उन सबका प्रभाव प्रत्येक पर और प्रत्येक का प्रभाव सब पर होता है। घटना प्रवाह का समझा जाना अथवा उसकी व्याख्या करना इस अटूट संदर्भ में ही हो सकता है। इसके बिना घटना अर्थहीन ही रहती है और उसके बारे में जानकारी प्राप्त करना संभव नहीं हो पाता। इन्हीं वैचारिक संदर्भों में समाज के विकास एवं इतिहास को देखना प्रासंगिक है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की मान्यता है कि प्रकृति एक स्थिर, गतिहीन, अपरिवर्तनशील और चिरन्तन अवस्था नहीं है, वरन् प्रकृति सतत गतिशीलता, परिवर्तनशीलता और नवीन विकास की दशा में है। प्रकृति में कुछ वस्तुओं का सदैव उद्भव और विकास कुछ की अवनति और विनाश होता है। इसी प्रकार समाज की स्थिति है। अतः द्वन्द्वात्मक प्रणाली के अनुसार घटनाओं और वस्तुओं की विवेचना न केवल उनके अन्तः

सम्बन्ध और अन्तः निर्भरता को ध्यान में रखकर की जानी चाहिए, अपितु उनकी गति, परिवर्तन, उद्भव और विकास तथा विनाश को भी ध्यान में रखना आवश्यक है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार परिमाणात्मक परिवर्तनों से गुणात्मक परिवर्तन उत्पन्न होते हैं। छोटे से छोटे परिमाणात्मक परिवर्तन से बड़ा गुणात्मक परिवर्तन संभव है। इस प्रकार का विकास या परिवर्तन धीरे-धीरे अथवा सरल तरीके से नहीं होता, लेकिन शीघ्रता से और एकाएक होता है एवं यह धीरे-धीरे होते रहने वाले संचय का ही स्वाभाविक परिणाम होता है। ऐसा आकस्मिक नहीं होता, वरन् परिमाणात्मक परिवर्तनों के संचित होने के स्वाभाविक परिणाम से होता है। ये परिवर्तन किसी चक्र में ही घूमने वाली गति की तरह नहीं होते। द्वन्द्ववाद के अनुसार विकास की गति निरन्तर आगे बढ़ती हुई होती है। पुरानी गुणात्मक दशा से एक नयी दिशा की ओर आगे बढ़ते रहना ही विकास का सिलसिला है।

भौतिक विज्ञान में प्रत्येक परिवर्तन परिमाण से गुण की ओर होता है और रसायन प्रक्रिया में भी परिमाण सम्बन्धी संरचना के परिवर्तन के फलस्वरूप गुणात्मक परिवर्तन होता है। उदाहरणार्थ पानी का साधारण तापक्रम उसकी तरल स्थिति को प्रभावित नहीं करता। किन्तु जब उस तापक्रम के परिमाण को घटाया या बढ़ाया जाता है तो पानी बर्फ अथवा भाप में परिवर्तित हो जाता है। इसी प्रकार समाज में बढ़ते विरोधों, बिगड़ती आर्थिक, सामाजिक परिस्थितियाँ और क्रांतिकारी आन्दोलन आदि के संचित प्रभाव से समाज में क्रांतिकारी गुणात्मक परिवर्तन हो जाता है।

द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी सिद्धांत की महत्वपूर्ण देन किसी वस्तु या समाज में व्याप्त अन्तर्विरोध को तलाशना है। इसके अनुसार सभी प्राकृतिक और सामाजिक वस्तुओं तथा घटनाओं में आन्तरिक विरोध निहित होता है और यह इनमें स्वाभाविक तौर पर होता है। प्रत्येक वस्तु अथवा घटना का नकारात्मक एवं सकारात्मक, वाद एवं प्रतिवाद, विकास और विनाश का पहलू होता है। विकास आन्तरिक विरोध या संघर्ष द्वारा ही संचालित होता है एवं सही अर्थों में द्वन्द्ववाद वस्तुओं के मूलतत्व में असंगतियों का अध्ययन है।

नवीन और पुरातन का चिर संघर्ष विकास क्रम की आन्तरिक अन्तर्वस्तु है एवं प्रगति शांतिमय नहीं होती। प्रत्येक विकास की प्रक्रिया की वाद, प्रतिवाद एवं संवाद तीनों अवस्थायें होती हैं। एक अवस्था अपनी पूर्ववर्ती अवस्था का निषेध होती है और फिर धीरे-धीरे उसमें भी विरोध-सक्रिय हो जाते हैं तो उसका भी निषेध करके एक अन्य नई अवस्था को जन्म देते हैं। इस प्रकार निषेध का निषेध की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। यही समाज की विभिन्न अवस्थाओं पर भी लागू होता है।

9.5 ऐतिहासिक भौतिकवाद:

ऐतिहासिक भौतिकवाद मार्क्स का सामाजिक तथा ऐतिहासिक सिद्धांत है। मार्क्स ने हेगेल द्वारा प्रस्तुत इतिहास की आदर्शवादी व्याख्या के स्थान

पर अपनी भौतिकवादी द्वन्द्वात्मक प्रणाली को सामाजिक विकास के नियमों की खोज करने के लिये प्रयुक्त किया है। ऐतिहासिक भौतिकवाद समाज के इतिहास का विज्ञान है। सामाजिक विकास एवं परिवर्तन निश्चित नियमों के तहत होता है। इन नियमों के अनुसार एक सामाजिक व्यवस्था दूसरी का स्थान लेती है। मार्क्स ने मानवीय इतिहास के विस्तृत उदाहरण देकर बताया कि किस प्रकार उत्पादन की भौतिक परिस्थितियों में परिवर्तन के कारण आदिम साम्यवादी, दास, सामन्ती और पूंजीवाद आदि सामाजिक व्यवस्थाऐं एक दूसरे के स्थान पर आयीं।

इतिहास के इस भौतिकवादी सिद्धांत को सामाजिक प्रश्नों पर लागू करने में तीन निदेशक तत्वों को समझना अवाश्यक है।

(1) **कार्य-करण सम्बन्धः**

यह एक वैज्ञानिक नियम है कि बिना किसी कारण के कोई कार्य नहीं हो सकता। अतः इतिहास में घटनेवाली प्रत्येक घटना का कोई कारण अवश्य होता है। किसी भी घटना के कारण अनेक हो सकते हैं, किन्तु सही परिप्रेक्ष्य में घटना को समझने के लिए कारणों में भी अंतर स्पष्ट करना आवश्यक होता है। यह अंतर होता है प्रमुख एवं सहायक कारणों के बीच।

(2) **समाज एवं भौतिक जीवन-**

ऐतिहासिक भौतिकवाद का दूसरा निदेशक तत्व यह है कि मानवीय सिद्धांतों, संस्थाओं, राजनीतिक, वैचारिक और सांस्कृतिक विकास को समाज के भौतिक जीवन की अवस्थायें निर्धारित करती हैं। प्रकृति की तरह समाज में भी दो तत्व होते हैं भौतिक एवं वैचारिक। एक और समाज का भौतिक जीवन है। मनुष्य अपने जीवन संचालन हेतु भौतिक वस्तुओं का उत्पादन करता है। (भोजन, कपड़ा, घर, आवागमन के साधन) जो जीवन के लिए आवश्यक होता है। मनुष्य उत्पादन की प्रक्रिया के तहत निश्चित आर्थिक सम्बन्धों में प्रवेश करता है। सामाजिक जीवन का अन्य तत्व होता है सामाजिक चेतना। इसमें सामाजिक विचार, धारणायें एवं भावनाओं की प्रस्तुति शामिल है जो सामाजिक चेतना के विभिन्न रूपों राजनीतिक, न्यायिक विचार, नीति, नैतिक, स्तर, कलात्मक कार्य, धार्मिक पंथ, दार्शनिक सिद्धांत आदि के रूप में प्रस्फुटित होती है।

सामाजिक विकास की वैज्ञानिक समझ तभी संभव है जब यह निर्धारण हो जाये कि कौन सा पक्ष प्राथमिक है एवं कौन सा माध्यमिक। ऐतिहासिक भौतिकवाद ने समाज विज्ञान को एक वास्तविक विज्ञान बनाया। अतः इसके अनुसार मानव की पहली आवश्यकता खाना, पीना, शरण लेना (घर) एवं कपड़े पहनना है। इसके बाद ही वह राजनीतिक, विज्ञान, कला धर्म आदि की सोचता है। अतः मानव जीवन का पहला कार्य उत्पादन द्वारा अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति है। अतः सामाजिक सम्बन्ध उत्पादन शक्तियों से घनिष्ट रूप से जुड़े हुए हैं। नई उत्पादन

शक्तियों के विकसित होने पर उत्पादन प्रणाली के साथ-साथ सामाजिक सम्बन्ध भी परिवर्तित हो जाते हैं। समाज के भौतिक जीवन को परिवर्तित करने वाली उत्पादन प्रणाली के आधार पर ही मनुष्य अपने बौद्धिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक सिद्धांतों और संस्थाओं का महल खड़ा करता है।

उत्पादन प्रणाली के दो पक्ष होते हैं। पहला, उत्पादन के साधन जिसमें श्रम, शक्ति, पूँजी, भूमि औजार या उपकरण आदि शामिल होते हैं। दूसरा है उत्पादन के सम्बन्ध अर्थात् उत्पादन का विभाजन एवं वितरण समाज के विभिन्न वर्गों के मध्य किस प्रकार होता है। जब उत्पादन के साधनों एवं सम्बन्धों में परिवर्तन व विकास होता है तब सामाजिक व्यवस्था में भी परिवर्तन स्वाभाविक तौर पर होता है।

(3) मानव की चेतना-

ऐतिहासिक भौतिकवाद का तीसरा निदेशक तत्व मानव की चेतना से संबंधित है। इसके अनुसार भौतिक परिस्थितियों से ही उत्पन्न होने के बाद ही मानवीय सिद्धांत और संस्थायें सामाजिक विकास को प्रभावित करते हैं। किन्तु कोरी चेतना (कल्पना) हवा में लटके रहकर सामाजिक अस्तित्व को प्रभावित नहीं कर सकती। कार्ल मार्क्स के अनुसार मनुष्य की चेतना उसके अस्तित्व को निर्धारित नहीं करती, वरन् उसका सामाजिक अस्तित्व ही उसकी चेतना को निश्चित करता है।

ऐतिहासिक भौतिकवाद के अनुसार मनुष्य के मस्तिष्क से उत्पन्न होने वाले विचार भौतिक वस्तुओं और सम्बन्धों के पूर्व अस्तित्व पर निर्भर करते हैं, लेकिन एक बार अस्तित्व में आने के पश्चात् माननीय विचारक भौतिक शक्तियों को परिमार्जित विकसित करने की सक्रिय और प्रबल शक्ति बन जाते हैं।

यह सही है कि मनुष्यों की सामाजिक गतिविधियाँ उनके जीवन की भौतिक अवस्थाओं के आधार पर चलती हैं और ये अवस्थायें मनुष्यों के मस्तिष्कों में विचारों के रूप में प्रतिच्छादित होती हैं, किन्तु बदले में विचार जीवन की भौतिक परिस्थितियों को प्रभावित, परिमार्जित एवं विकसित करती हैं।

ऐतिहासिक भौतिकवाद के उपरोक्त तत्वों के आधार पर मार्क्स ने सामाजिक परिवर्तन के नियमों को खोजने का कार्य किया। असल में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद को प्रकृति की तरह समाज की क्रियाओं पर लागू करने को ऐतिहासिक भौतिकवाद कहा गया है।

9.5.1ऐतिहासिक भौतिकवाद समाज का सम्पूर्ण दर्शन:

कार्ल मार्क्स ने इतिहास को विज्ञान की कोटि में लाने का प्रयास किया। कार्लमार्क्स द्वारा प्रतिपादित ऐतिहासिक भौतिकवाद का सिद्धांत अन्य समाज विज्ञानों से कुछ भिन्न है। क्योंकि यह एक सार्वभौम विज्ञान है। उदाहरणार्थ राजनीतिक अर्थशास्त्र, सामाजिक जीवन के एक पक्ष आर्थिक

क्रियाओं का अध्ययन करता है। इसी प्रकार न्यायिक विज्ञान राज्य एवं कानून मानव के राजनीतिक और न्यायिक सम्बन्ध का अध्ययन करती है। दूसरे विज्ञान समाज के अन्य अनेक पक्षों जैसे आध्यात्मिक जीवन, सौंदर्यशास्त्र साहित्य का इतिहास, साहित्यिक आलोचना आदि का अध्ययन करते हैं। जबकि ऐतिहासिक भौतिकवाद सामाजिक जीवन के विभिन्न पक्षों के मध्य सम्बन्धों को उजागर करता है। यह समाज की सम्पूर्ण विकास प्रक्रिया का अध्ययन करता है। मार्क्स ने इतिहास के क्षेत्र को विस्तृत कराने का एक महत्वपूर्ण कार्य किया। मार्क्स के पूर्व के लेखकों का अध्ययन क्षेत्र अधिकांशतः राजनीतिक इतिहास ही था। आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक पक्षों को मार्क्सवाद ने इतिहास के अनिवार्य अंग के रूप में स्थापित किया।

9.5.2 सामाजिक परिवर्तन की शक्तियाँ एवं प्रक्रिया:

मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद का मुख्य उद्देश्य सामाजिक विकास को समझना है। जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है कि सामाजिक विकास की निर्णायक शक्तियां उत्पादन का विकास एवं परिवर्तन होते हैं, जो मानव क्रिया का परिणाम है। उत्पादन प्रक्रिया समाज की सामूहिक प्रक्रिया होती है। उतः उत्पादन भी एक सामाजिक क्रिया है। मनुष्य सामाजिक उत्पादन का जो कार्य करते हैं उसके दौरान वे आपस में निश्चित प्रकार के सम्बन्ध कायम कर लिया करते हैं। जैसा कि मार्क्स के विचारों से स्पष्ट है कि किसी भी वस्तु में परिवर्तन एवं विकास के तत्व अन्तर्निहित होते हैं उसी प्रकार समाज में परिवर्तन के तत्व समाज में अन्तर्निहित हैं ये तत्व होते हैं उत्पादन की शक्तियां, उत्पादन के सम्बन्ध एवं उत्पादन का स्वरूप। उत्पादन की शक्तियों में जमीन, खान, बागान, कारखाने, पूँजी औजार एवं श्रम आदि सम्मिलित हैं। उत्पादन के सम्बन्ध इस बात पर निर्भर करते हैं कि उत्पादन की शक्तियों पर किसका अधिकार है। उदाहरणार्थ सामंती व्यवस्था में सामंत उत्पादन की शक्तियों का स्वामी होता है एवं किसान की स्थिति कृषि दास, किरायेदार अथवा बंटाईदार की होती है। इन स्थितियों में सामंतों का उत्पादन पर नियंत्रण होता है। उत्पादन का अधिकांश भाग सामंत के अधिकार में होता है एवं किसानों को कठिनता से इतना मिल पाता है कि वह जीवित रह सके। इसी प्रकार पूंजीवादी व्यवस्था में पूंजीपति कारखाने के अधिकांश लाभ का अपहरण कर लेता है। जिन वर्गों का उत्पादन के साधनों पर अधिकार होता है वे उत्पान को बढ़ाने से रोकते हैं। जबकि उत्पादन की शक्तियाँ आगे बढ़ना हैं। इन दो प्रवृत्तियों में द्वन्द्व होता है। इनमें पहेली प्रवृत्ति पुरानी है एवं दूसरी नवीन। ऐतिहासिक भौतिकवाद के अनुसार नवीन पुरातन पर विजय प्राप्त करता है। यही सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया है कि पुरातन उत्पादन प्रणाली को नयी उत्पादन प्रणाली बदलती है जो नयी सामाजिक व्यवस्था को जन्म देती है।

प्रश्न यह उठता है कि जिन वर्गों का उत्पादन के साधनों पर अधिकार होता है वे उत्पादन बढ़ाने के पक्ष में क्यों नहीं होते? पहली बात यह है कि उत्पादन के साधनों का स्वामी वर्ग प्रचलित उत्पादन

प्रणाली से इतना अधिक प्राप्त कर लेता है कि वह उत्पादन बढ़ाने की आवश्यकता ही महसूस नहीं करता। दूसरी बात उत्पादन बढ़ाना एक विकासवादी एवं परिवर्तनवादी प्रवृत्ति है। इसके लिए तकनीकी खोजें जरूरी होती हैं, जिससे उत्पादन प्रणाली बदलती है एवं उत्पादन की शक्तियों का विकास होता है। अतः स्वाभाविक तौर पर उत्पादन के सम्बन्धों में परिवर्तन आता है। यह प्रक्रिया सामाजिक क्रांति को जन्म देती है, जिससे स्वामी वर्ग की सत्ता का अंत हो जाता है। अतः उत्पादन के स्वामी वर्ग आत्महत्या के लिए प्रेरित क्यों होंगे? अब एक अन्य प्रश्न इसके साथ जुड़ा है कि उत्पादन की शक्तियाँ बढ़ना क्यों चाहती हैं? उत्पादन की शक्तियों में मानव श्रम एक महत्वपूर्ण तत्व होता है। किसान या मजदूर जिसे सामंती अथवा पूंजीवादी व्यवस्था में अपने भरण-पोषण में भी कठिनाई अनुभव होती है तो वह अपने जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु उत्पादन बढ़ाने का पक्षधर होता है। उत्पादन बढ़ने से रोजगार के अवसर बढ़ते हैं, जिससे किसान या मजदूर पर आश्रित उनके परिवार के सदस्यों को पर्याप्त रोजगार मिलने की संभावना बढ़ती है।

उपरोक्त पक्षों की पुष्टि हेतु हम कह सकते हैं कि उत्पादन के साधनों के स्वामी उत्पादन को नियंत्रित करते समय सामाजिक आवश्यकता को ध्यान में न रखकर अपने लाभ को ध्यान में रखते हैं। अतः साधन विहीन वर्ग इस मत के होते हैं कि उत्पादन समाज की भौतिक आवश्यकता के अनुरूप हो। इस प्रकार दो वर्गों के मध्य संघर्ष होता है। पहला वर्ग यथास्थितिवादी होता है जबकि दूसरा वर्ग परिवर्तनवादी जो समाज को आगे ले जाने का महत्वूपर्ण ऐतिहासिक कार्य करता है।

उत्पादन के साधनों के स्वामी वर्ग द्वारा उत्पादन को नियंत्रित करने का एक तरीका कम उत्पादन करके अधिक लाभ अर्जित करना होता है। उदाहरण के लिए बाजार में किसी वस्तु की माँग सौ है और यदि उत्पादन अस्सी, तब स्वाभाविक तौर पर उपभोक्ताओं के मध्य खरीदने की प्रतियोगिता बढ़ जाती है। इससे वस्तु के मूल्य में वृद्धि हो जाती है तथा उत्पादक कम वस्तु पर भी अधिक लाभ कमा लेता है। इसका विपरीत प्रभाव श्रमिकों पर पड़ता है। कम उत्पादन होने पर श्रमिकों को रोजगार कम मिलेगा एवं उत्पादित माल का मूल्य बढ़ जाने से श्रमिक अपने उपभोग के लिए वस्तु खरीदने में असमर्थ रहता है, क्योंकि उसकी क्रय शक्ति इसके अनुकूल नहीं होती। इन स्थितियों में श्रमिक चाहेगा कि उत्पादन बढ़े जिससे उसे रोजगार के अधिक अवसर प्राप्त हों तथा उसे अपने उपभोगार्थ पर्याप्त वस्तुऐं प्राप्त हो सकें।

ऐतिहासिक भौतिकवाद बताता है कि उत्पादन से साधनों का स्वामी उत्पादन के साधन विहीन वर्गों का शोषण करता है। अर्थात् श्रमिक को उसके श्रम का मूल्य नहीं मिलता। औद्योगिक पूँजीवाद में श्रमिक के श्रम को पूर्व में ही खरीद लिया जाता है, जिसका मूल्य पूंजीपति निर्धारित करता है। इस स्थिति में श्रमिक अपने श्रम का वास्तविक मूल्य प्राप्त करने से वंचित रह जाता है। अतः श्रमिक वर्ग अपने अधिकारों की प्राप्ति के लिये संघर्ष करता है जो सामाजिक परिवर्तन का आधार

बनता है। इसलिए कार्लमार्क्स का कहना था कि पूंजीवाद स्वयं अपनी कब्र खोदता है। औद्योगिक श्रमिक जिसे कार्ल मार्क्स सर्वहारा वर्ग की संज्ञा देता है के पास खोने के लिए पांवों की बेडियां एवं जीतने कि लिए संसार होता है। इसी आधार पर मार्क्स ने पूंजीवादी समाज का समाजवादी समाज में परिवर्तन का सिद्धांत स्थापित किया।

मार्क्स के अनुसार पूंजीवादी व्यवस्था में वर्ग और वर्ग संघर्ष अधिक स्पष्ट और तीव्र हो जाता है। पूंजीवादी व्यवस्था शोषण पर आधारित अंतिम व्यवस्था होगी। इस व्यवस्था में आर्थिक वर्ग तथा समाज के अन्य मेहनतकश वर्ग की निर्धनता, भुखमरी और बेरोजगारी बढ़ती ही जायेगी क्योंकि उत्पादन का उद्देश्य समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं, केवल लाभ अर्जित करना होता है। लाभ शोषण पर आधारित इस व्यवस्था में समय-समय पर आर्थिक संकट आते रहते हैं, और एक ऐसी स्थिति आती है कि शोषित वर्ग इस शोषण के जुए को उतार कर फेंक देता है। यही पूंजीवाद से समाजवादी क्रांति का काल होता है।

इतिहास की मार्क्सवादी भौतिकवादी व्याख्या ने पहली बार सामाजिक, परिवर्तन के कारणों को ढूंढ निकालने का महत्वपूर्ण कार्य किया। इन्हीं संदर्भों में ऐतिहासिक परिवर्तनों को समझने की वैज्ञानिक दृष्टि समाजशास्त्रियों को मिली। अतः उत्पादन के साधन एवं उत्पादन के सम्बन्ध ही सामाजिक परिवर्तन की आधारभूत शक्तियाँ कही जा सकती हैं।

9.5.3वर्ग और वर्ग संघर्ष:

मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिकवाद का मुख्य आधार वर्ग और वर्ग संघर्ष को समझना रहा है। उत्पादन के सम्बन्ध समाज में वर्गों को जन्म देते हैं। मार्क्स की मान्यता थी कि सभी इतिहास वर्ग संघर्षों का इतिहास है। जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है कि किसी भी युग में जीविकोपार्जन के लिए उत्पादन के सम्बन्धों के कारण मनुष्य अलग-अलग वर्गों में विभाजित हो जाते हैं। अब तक के मानवीय इतिहास में केवल आदिम साम्यवाद का युग ही वर्गों और आर्थिक शोषण से रहित युग था। किन्तु धीरे-धीरे उत्पादन के साधनों का विकास और परिवर्तन के साथ ही उत्पादन के सम्बन्धों में परिवर्तन आ गया और वर्ग भेद तथा आर्थिक शोषण पर आधारित दास व्यवस्था का जन्म हुआ। तब से आज तक प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था में दो वर्गों शोषक और शोषित का अस्तित्व रहा है। अल्पसंख्यक शोषकों ने छल और चालाकी से समाज के उत्पादन के साधनों पर अधिकार करके घोर अमानवीय शोषण का सूत्रपात कर दिया। शोषक और शोषित ये वर्ग हैं, दास व्यवस्था में दासों के मालिक और दास, सामन्ती व्यवस्था में सामन्त एवं अर्ध-दास किसान तथा पूंजीवादी व्यवस्था में पूंजीपति और मजदूर। इन वर्गों के संघर्ष का परिणाम रहा है। समाज का विकास। अतः वर्ग संघर्ष समाज में चलने वाली एक निरन्तर प्रक्रिया है। इसी आधार पर मार्क्स की स्पष्ट मान्यता थी कि दुनिया का सभी मानव इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है।

9.5.4 ऐतिहासिक युग:

पूर्वोक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि समाज के विकास का इतिहास वास्तव में उत्पादन प्रणाली के विकास का इतिहास अर्थात् उत्पादक शक्ति और मनुष्यों के उत्पादन सम्बन्ध के विकास का इतिहास है। यह केवल कुछ राजा-रानियों, विजेताओं अथवा शासकों के व्यक्तिगत कारनामों का विवरण मात्र नहीं है, इसलिए, ऐतिहासिक विज्ञान का प्रमुख कार्य उत्पादन के नियमों अर्थात् उत्पादन शक्ति तथा उत्पादन के सम्बन्धों के विकास के आधार पर समाज के विकास के नियमों की खोज करके उन्हें स्पष्ट और प्रकट करना है। इतिहास तब ही विज्ञान बन सकता है जबकि वह उत्पादन प्रणाली और उससे सम्बन्धित सामाजिक व राजनीतिक संस्थाओं, कला, धर्म, दर्शन, साहित्य और संस्कृति के साथ-साथ ही भौतिक मूल्यों का उत्पादन करने वाले मेहनतकश जन समूहों का अध्ययन, विश्लेषण तथा निरूपण करे और केवल कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के क्रिया-कलापों का स्तुतिगान मात्र बनकर न रह जाये।

इतिहास की इस भौतिकवादी व्याख्या के अनुसार मार्क्स ने मानवीय इतिहास को छः युगों में बांटा है। पहला, आदिम युग को मार्क्स ने आदिम साम्यवादी युग कहा है। यह मानव इतिहास का प्रारम्भिक युग है। इस युग में उत्पादन के साधन, अविकसित और भौंडे थे, जैसे पत्थर के औजार, तीर कमान आदि। इन उत्पादन के साधनों का जीविका उपार्जन के लिए संयुक्त श्रम के द्वारा ही प्रयोग किया जा सकता था। इसलिए उत्पादन के साधनों और उनसे प्राप्त होने वाली वस्तुओं पर सबका स्वामित्व होता था। इस युग में मनुष्य शिकार और फल-फूल खाकर अपना जीवन निर्वाह करता था। प्रकृति की प्रत्येक वस्तु पर सबका समान अधिकार था। समाज में वर्गों का निर्माण नहीं हुआ था, तथा यह युग सब प्रकार के शोषण से मुक्त था। दूसरा युग दास युग था। खेती, पशुपालन और धातु के औजारों के आविष्कार और प्रचलन होने के साथ ही उत्पादन प्रणाली और उत्पादन सम्बन्ध भी परिवर्तित हो गये। व्यक्तिगत सम्पत्ति एकत्रित होने लगी जिसे और अधिक विकसित करने के लिए दासों की आवश्यकता पड़ने लगी। समाज में वर्गों का निर्माण प्रारंभ हो गया और दासों के स्वामी तथा दास दो आर्थिक वर्ग बन गये एवं आर्थिक शोषण आरंभ हुआ। दास का काम उत्पादन करना और स्वामी का काम उसके श्रम से उत्पन्न की हुई वस्तुओं का आनंद उठाना था। इस प्रकार एक अल्पसंख्यक समुदाय ने बहुसंख्यक मेहनतकश समुदाय को दास बनाकर उसका शोषण प्रारंभ कर दिया और इस प्रकार वर्ग-संघर्ष की नींव पड़ गयी।

तीसरा युग सामन्ती युग था। कालान्तर में उत्पादन के साधनों एवं स्वरूप में अधिक परिवर्तन हुए। लोहे के हल तथा अन्य औजारों का प्रचलन हुआ। कृषि के क्षेत्र में विकास हुआ। इस युग में उत्पादन के साधनों जैसे भूमि, प्राकृतिक साधनों के श्रोत और मानवीय श्रम आदि पर कुछ सामन्तों का आधिपत्य हो गया। भूमि पर अधिकार कर सामंतों

ने बड़ी संख्या में भूमिहीन किसानों को अर्ध-दास बना दिया। निजी सम्पत्ति की धारणा इस युग में और अधिक प्रबल हो गयी। इस युग में कुछ सुविधाओं के बदले में धार्मिक पुरोहितों ने सामंतों के गुणगान किये और राजा के दैवीय अधिकार के सिद्धांत का नारा संगठित धर्म की सहायता से बुलंद किया। इस युग के सामंतों एवं किसानों के दो प्रमुख वर्ग बन गये। और उनमें वर्ग संघर्ष चलता रहा।

चौथा युग आज का पूंजीवादी युग है। विज्ञान के विकास के साथ ही मशीनों का आविष्कार तथा बड़े-बड़े उद्योगों का जन्म हुआ, जिसके साथ ही पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का युग प्रारंभ हो गया। इस व्यवस्था में बड़े-बड़े पूंजीपतियों का उत्पादन के साधनों पूंजी, मशीन, भूमि, खान, कारखानें, प्राकृतिक सम्पदा आदि पर आधिपत्य है। दूसरी ओर श्रमिक हैं जो अपने परिवार के सदस्यों तथा स्वयं को भूख से मरने से बचाने के लिए अपनी श्रम शक्ति को पूंजीपतियों के हाथों बेचने को विवश हो जाते हैं। मुनाफे की भूख से पागल पूंजीपति जो स्वयं हृदयहीन और क्रूर होता है, वैज्ञानिक साधनों, राज्य की मशीन, संगठित धर्म और पैसों से खरीदे, बुद्धिजीवियों की सहायता से अपने शोषण को बनाये रखने और उसे अधिक तीव्र करने में लगा रहता है। ऐतिहासिक भौतिकवाद की धारणा के अनुसार यह पूंजीवादी युग मानवीय शोषण पर आधारित अंतिम सामाजिक आर्थिक व्यवस्था है। इसके बाद पांचवे ऐतिहासिक युग समाजवाद के युग का सूत्रपात हो गया है जो छठे ऐतिहासिक युग साम्यवादी व्यवस्था की ओर जाने वाला है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि मार्क्स ने मानव इतिहास का काल विभाजन वैज्ञानिक आधारों पर किया। प्रत्येक युग का निर्धारण उत्पादन के स्वरूप एवं सम्बन्धों के आधार पर किया है।

9.6 इकाई सारांश एवं अभ्यास कार्य:

इतिहास दर्शन की दो प्रमुख धाराएँ: आध्यात्मवादी एवं भौतिकवादी है। कार्ल मार्क्स ने भौतिकवादी इतिहास को वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान करने का कार्य किया।

इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या के आधार भौतिक तत्व, तर्क एवं विज्ञान हैं। आध्यात्मवाद कल्पना, भावना, ईश्वर, भाग्य, विशेष व्यक्तित्व आदि को इतिहास की व्याख्या के आवश्यक तत्व मानता है जो पूर्णतः अवैज्ञानिक मत है।

मार्क्स ने इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की पद्धति से की है। प्रकृति विज्ञान की द्वन्द्वात्मक क्रिया को समाज विज्ञान पर लागू किया। जिस प्रकार प्रकृति गतिशील एवं परिवर्तनीय है। उसी प्रकार समाज भी गतिशील एवं परिवर्तनीय है। प्रकृति एवं समाज दोनों में ही परिवर्तन निश्चित नियमों के तहत होते हैं। ये परिवर्तन किसी वस्तु अथवा समाज में व्याप्त अन्तर्विरोधों के तहत होते हैं।

मार्क्स द्वारा प्रतिपादित इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या को ऐतिहासिक भौतिकवाद के नाम से जाना जाता है। इसके अनुसार कार्य-कारण का सीधा सम्बन्ध है। ऐतिहासिक भौतिकवाद के अनुसार समाज के भौतिक जीवन की अवस्थायें मानवीय सिद्धांतों, संस्थाओं, राजनीतिक, वैचारिक और सांस्कृतिक विकास का आधार होती हैं। समाज के भौतिक जीवन का निर्धारण उत्पादन प्रणाली एवं उत्पादन सम्बन्ध करते हैं। भौतिक जीवन से ही मानवीय चेतना उत्पन्न होती है। यह चेतना सामाजिक विकास का आधार बनती है।

मार्क्स ने इतिहास को विज्ञान की कोटि में लाने का प्रयास किया है। ऐतिहासिक भौतिकवाद समाज का सम्पूर्ण दर्शन है। इसके अनुसार इतिहास का क्षेत्र समाज के सभी पक्षों का अध्ययन है।

मार्क्स ने सामाजिक परिवर्तन की शक्तियों को ढूंढ़ निकालने का महत्वपूर्ण कार्य किया। मानव जो उत्पादन करता है उसके दौरान वह आपस में निश्चित प्रकार के सम्बन्ध कायम करता है। उत्पादन के सम्बन्ध समाज में वर्गों को जन्म देते हैं। विभिन्न वर्गों के मध्य व्याप्त अन्तर्विरोध समाज के परिवर्तन का कारण बनते हैं। प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था में उत्पादन के साधनों के स्वामी साधन हीन वर्गों का शोषण करते हैं। शोषित स्वाभाविक तौर पर शोषक के खिलाफ लड़ता है। इस लड़ाई की परिणिती सामाजिक विकास या सामाजिक क्रांति के रूप में होती है।

मार्क्स की मान्यता थी कि आदिम साम्यवाद के बाद दास प्रथा से लेकर आज तक का युग वर्गों में बँटा हुआ है। दो विरोधी वर्गों शोषक एवं शोषित के मध्य संघर्ष रहा है। अतः दुनियां का सम्पूर्ण इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है।

ऐतिहासिक भौतिकवाद के अनुसार मार्क्स ने सम्पूर्ण मानवीय इतिहास को छः युगों में बाँटा है। पहला युग आदिम साम्यवादी, दूसरा दास युग, तीसरा समांतवादी, चौथा पूंजीवादी, पांचवा समाजवादी एवं छठा साम्यवादी।

अभ्यास कार्य:

(1) आध्यात्मवादी एवं भौतिकवादी इतिहास दर्शन का तुलनात्मक विवरण दीजिए। (300 शब्द)

(2) इतिहास के विकासवादी सिद्धांत की व्याख्या कीजिये। (100 शब्द)

(3) द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का विश्लेषण कीजिये। (200 शब्द)

(4) ऐतिहासिक भौतिकवाद के मुख्य निदेशक तत्व कौन से हैं? (200 शब्द)

(5) मार्क्स द्वारा प्रतिपादित सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया क्या है? (200 शब्द)

(6) ऐतिहासिक भौतिकवाद के अनुसार इतिहास का युगनिर्धारण किस प्रकार किया गया है? (300 शब्द)

9.7 संदर्भ अध्ययन सामग्री:

(i) Maurice Cornforth : Dialectical Materialism

(ii) G. Glezerman & G. Kursanov : Historical Materialism.

(iii) G. Plekhanov : The Development of the Monist view of History (Also in Hindi)

(iv) Karl Marx and F. Engels : Selected writings, in 3 Vols. (Also in Hindi)

(v) J.V. Stalin : Dialectical and Historical Materialism (Also in Hindi)

(vi) F. Engels : Dialectics of Nature (Also in Hindi)

(vii) F. Engels : Origin of Family, Private property & State (Also in Hindi)

(viii) यशपाल : मार्क्सवाद

(ix) राहुल सांकृत्यायन : दर्शन-दिग्दर्शन

MAHY - 03

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

एम. ए. पाठ्यक्रम

(इतिहास)

खण्ड - 3

इकाई संख्या

इकाई 10

बीसवीं शताब्दी का इतिहास लेखन : स्पैंगलर और टायनबी के संदर्भ में 3-14

इकाई 11

महाकाव्य, कौटिल्य अर्थशास्त्र व भास के साहित्य की ऐतिहासिक विवेचना 15-40

इकाई 12

कालीदास - साहित्य, पुराण व हरिषेण की प्रयाग प्रशस्ति की ऐतिहासिक विवेचना 41-56

इकाई 13

फाहियान, युवान च्यांग और द्वेत्सिंग की भारत यात्रा वृत्तांत 57-76

इकाई 10

बीसवीं शताब्दी का इतिहास लेखन : स्पैंगलर और टायनबी के संदर्भ में

इकाई की रूपरेखा

10.0 उद्देश्य

10.1 प्रस्तावना

10.2 स्पैंगलर के विचार

10.2.1 प्रकृति और इतिहास

10.2.2 इतिहास में संस्कृतियों का उत्थान और पतन

10.2.3 संस्कृति

10.2.4 संस्कृति की वृत्तात्मकता

10.2.5 संस्कृति और सभ्यता

10.2.6 तोलमेक और कोपरनिकल दृष्टिकोण

10.2.7 संस्कृतियों का जीवन काल

10.3 टायनबी के विचार

10.3.1 सामाजिक अध्यन की महत्ता

10.3.2 सभ्यता की समस्याएं

10.3.3 सभ्यता का विकास और पतन

10.3.4 सभ्यताओं से सम्पर्क

10.3.5 सर्पिल सिद्धांत

10.4 स्पैंगलर एवं टायनबी के विचारों का तुलनात्मक विश्लेषण

10.5 बीसवीं शताब्दी के इतिहास दर्शन की प्रेरक शक्तियां

10.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

10.7 संदर्भ ग्रंथ

10.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन का उद्देश्य बीसवीं सदी के इतिहास लेखन की परिस्थितियों एवं प्रवृत्तियों को समझना है। इस काल के दो विचारकों स्पैंगलर एवं टायनबी ने किस प्रकार इतिहास लेखन को सामाजिक सार्थकता प्रदान की। इसे समझने में यह इकाई सहायक सिद्ध होगी।

10.1 प्रस्तावना

इतिहास लेखन पद्धति के क्रम में 19वीं शताब्दी की प्रमुख विशेषता सुनियोजित विश्व इतिहास लिखने का प्रयत्न थी। कालिनवुड के शब्दों में "सम्पूर्ण इतिहास विचारधाराओं का इतिहास है तथा मनुष्य के कार्य विचारपूर्ण होते हैं एवं इतिहासकार ऐतिहासिक अभिनेता के विचारों की पुनरावृत्ति कर अतीत का निर्माण करता है।" इसी क्रम में बीसवीं शताब्दी के दार्शनिक इतिहासज्ञों ने भी सोचा और ओसवॉल्ड स्पैंगलर ने "डिक्लाइन ऑव द वेस्ट" तथा ओर्नोल्ड टायनबी ने "स्टडी ऑव हिस्ट्री" नामक पुस्तक में सुनियोजित इतिहास लिखने का प्रयत्न किया। इन दोनों ग्रंथों में उन समस्याओं को प्रतिबिम्बित करने का प्रयत्न किया गया है जिनको सामान्यतः इतिहासज्ञों ने अछूता ही छोड़ दिया है।

बीसवीं शताब्दी के इतिहास लेखन का विषय राष्ट्र, सामाजिक संस्था अथवा जाति न होकर पूरी सभ्यता हो गया है तथा अब इतिहासकार तत्संबंधी सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक पक्षों का अध्ययन करता है।

10.2 स्पैंगलर के विचार

स्पैंगलर के विचारों को अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से अधोलिखित बिन्दुओं में समझा जा सकता है :-

10.2.1 **प्रकृति और इतिहास :** स्पैंगलर ने विश्व के स्थिर, दृश्य, मूर्त निर्मित स्वरूप को प्रकृति रूपी विश्व तथा विश्व के गतिमान प्रक्रियात्मक और अमूर्त और निर्माण रूप को इतिहास रूपी विश्व में विभाजित किया है। उसके मत में प्रकृतिरूपी विश्व देश (स्पेश) के विस्तार में तथा इतिहासरूपी विश्व काल (टाइम) के अंतराल में प्रसारित और व्याप्त है। इतिहास को काल के अन्तराल में व्याप्त मानते हुए स्पैंगलर ने काल की प्रवृत्ति को नियतिवादी माना है तथा उत्पत्ति, विकास, क्षय और विलय के क्रम को इतिहास की नियति स्वीकारा है। उसके अनुसार इतिहास का अतीत और भविष्य सुनिश्चित और बोधगम्य है।

10.2.2 **इतिहास में संस्कृतियों का उत्थान और पतन :** स्पैंगलर मनुष्य के वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में पर्याप्त सादृश्यता देखते हैं, उनके अनुसार विभिन्न जातियां, कबीले, पीढ़ियां, वंश और समाज प्रकट होते हैं और अपनी पलभर की आभा के पश्चात मानवता की धारा में विलीन हो जाते हैं। इन मानव धारा के तल पर संस्कृतियां तरंगवत चलती रहती हैं। इस प्रकार से मानव इतिहास संस्कृतियों के जीवन का संग्रह है।

10.2.3 **संस्कृति** : स्पैंगलर ने संस्कृति को इतिहास दर्शन का केन्द्र बिन्दु स्वीकार किया है। वह विभिन्न संस्कृतियों को उच्चतम जीवन के सार तत्व की तरह स्वीकारते हैं। उन्होंने संस्कृतियों के चार अधोलिखित काल स्वीकार किए हैं :-

(क) **बसन्त काल** :- यह धर्मनिष्ठा का काल है, भारतीय संदर्भ में यह काल वैदिक संहिताओं का युग माना जा सकता है। इस युग की प्रधान विशेषता धार्मिक चेतना का विकास होती है।

(ख) **ग्रीष्म काल** :- इस काल की प्रमुख विशेषता, इस काल में संशय के फलस्वरूप सांस्कृतिक आत्मबोध उत्पन्न होना तथा आलोचनात्मक मनोभाव का विकास है। भारतीय संदर्भ में इसके अंतर्गत उपनिषद साहित्य को रखा जाता है।

(ग) **पतझड़ काल** :- इस काल में प्रत्येक संस्कृति प्रौढ़ता को प्राप्त करती है। इस युग की प्रधान विशेषता बौद्धिक पराकाष्ठा होती है तथा इस समय बौद्धिकता का प्रधान आधार तर्क होता है। भारतीय संदर्भों में यह काल महावीर और बुद्ध का काल है जबकि प्राचीन वैदिक सिद्धांतों पर प्रश्नवाचक चिन्ह लगाए गए और धर्म की नवीन मान्यताएं प्रतिष्ठापित हुई।

(घ) **शिशिर काल** :- इस काल की मुख्य विशेषता महानगरीय सभ्यताओं का उदय है। इस काल में संस्कृति नष्ट होकर अपने प्रतिरूप सभ्यता में परिवर्तित होती है। स्पैंगलर की मान्यता है कि इस युग में धार्मिकता के पत्न के फलस्वरूप विज्ञान के विभिन्न मत जन्म लेते हैं।

स्पैंगलर के संस्कृति विषयक सिद्धांत की सबसे बड़ी कमजोरी उसके द्वारा संस्कृति के जन्म और आरम्भ विषयक जानकारी न प्रदान करना है। वह संस्कृति के जन्म को रहस्यमयी मानते है, उनके अनुसार संस्कृति का आरम्भ एक भू-प्रदेश में होता है और वही विकसित होकर सभ्यता में परिवर्तित हो जाती है।

10.2.4 **संस्कृति की वृत्तात्मकता** : स्पैंगलर के शब्दों में विश्व इतिहास अनन्त निर्माणों और पुननिर्माणों का और जीवित शरीरियों के अदभूत उत्थान और पतन का चित्रपट है। वह इतिहास की प्रवृत्ति को रेखात्मक न मानकर वृत्तात्मक स्वीकारते हैं। वह इतिहास के प्राचीन, मध्यकालीन और अर्वाचीन युगों में विभाजन को भी स्वीकार नहीं करते हैं।

10.2.5 **संस्कृति और सभ्यता** : स्पैंगलर के शब्दों में सभ्यता पतन, क्षय, जड़ता की वह अवस्था है, जिसमें संस्कृति विकास और प्रौढ़ता प्राप्त कर प्रवेश करती है। अतः सभ्यता, संस्कृति का वार्धक्य काल है। अर्थात सभ्यता एक परिसमाप्ति है। स्पैंगलर ने कृत्रिमता, बौद्धिकता, शीतलता, शान्ति, समानता, सार्वजनिकता और नागरिकता को सभ्यता का प्रमुख लक्षण माना है। उनकी कृति का अधिकांश भाग सभ्यता के लक्षणों

और रूपों से भरा पड़ा है। वह राष्ट्र और समाज के सार्वजनिक नगर और प्रान्तों में विभाजन को सभ्यता का प्रमुख लक्षण स्वीकारते हुए नगर को शोषक वर्ग के स्थल तथा प्रान्त को शोषितों के स्थल के रूप में परिभाषित करते हैं। वह संस्कृति के अन्तर्गत वैयक्तिकता और भावुकता के गुणों की व्याप्तता को एक गुण स्वीकारते हुए सभ्यता को वैयक्तिकता की भावना का अन्त करने वाली तथा आर्थिकता और यांत्रिकता की प्रवृत्ति को बढ़ाने वाली मानते हैं।

10.2.6 **तोलमेक और कोपरनिकल दृष्टिकोण :** तोलमेक से स्पैंगलर का तात्पर्य यह है कि किस प्रकार से यूनानी भौगोलिक तोलेमी ने यह अशुद्ध स्थापना की थी कि पृथ्वी ही सौरमण्डल का केन्द्र स्थल है, उसी प्रकार वह यूरोपीय इतिहासकारों की इस धारणा को भी गलत स्वीकारते हैं कि यूरोप ही समस्त इतिहास का केन्द्रस्थल है।

कोपरनिकल से स्पैंगलर का तात्पर्य कोपरनिकल की मान्यता के समान जैसे सौर मण्डल वृत्ताकार क्षेत्रों का समूह है, उसी प्रकार इतिहास किसी एक संस्कृति की जीवन लीला न होकर अनेक संस्कृतियों के जीवनवृत्तों का क्रम मानने से है। उनके अनुसार संस्कृतियां सतत् रूप से उत्पन्न होती हैं और नष्ट होती रहती हैं।

10.2.7 **संस्कृतियों का जीवन काल :** स्पैंगलर ने समस्त विश्व को नौ संस्कृतियों के क्रम में विभाजित किया है, वह निम्न प्रकार है - मिस्री, हिन्दी, अरबी, चीनी, क्लासिकल, यूरोपियन, बाबुली, मैक्सिकन और रूसी।

स्पैंगलर के संस्कृतियों के अध्ययन से यह प्रमाणित होता है कि प्रत्येक संस्कृति का सामान्य जीवन क्रम 800 से 1000 वर्ष का होता है और उसके पश्चात अनिश्चित अवधि की सभ्यता प्रारम्भ होती है।

स्पैंगलर के अनुसार प्रत्येक संस्कृति की अपनी विशिष्ट शैली एवं वैयक्तिकता होती है तथा वह उसी के अनुरूप विकसित हो स्वयं को अन्य संस्कृतियों से विभिन्न प्रकार से स्थापित करती है। और प्रत्येक संस्कृति अपनी पूर्णता में प्रवेश कर ढलना आरम्भ करते हुए सभ्यता में परिवर्तित हो जाती है।

स्पैंगलर ने सभ्यता की विशेषताओं का वर्णन करते हुए सभ्यता की विभिन्न अवस्थाओं का अधोलिखित विवरण दिया है :-

(1) घर, जाति, रक्त समूह और मातृ भूमि की भावना के स्थान पर महानगरों की स्थापना।

(2) स्वार्थपरता की भावना का विकास।

(3) अन्तर्राष्ट्रीय समाज की स्थापना की ओर अग्रसर होकर समन्वित संस्कृति का विकास।

(4) लोक (फॉक) के स्थान पर जनता (मास) के विचार के विकसित होने से राष्ट्रीय जीवन में असंतुलन।

(5) श्रृंगारिकता एवं दैहिक सुखों की सर्वोच्चता।

(6) राष्ट्र राज्य और ग्रामीण वातावरण के स्थान पर शहरीकरण एवं अन्तर्राष्ट्रीयकरण का बढ़ता हुआ प्रभाव।

इस प्रकार से स्पैंगलर ने दार्शनिक गेटे के जीवन दर्शन को इतिहास दर्शन में प्रतिष्ठापित करने की चेष्टा की है, स्पैंगलर की कृतियां गेटे के प्रसिद्ध ग्रंथ "फाउस्ट" के उद्धरणों से भरी हुई हैं। इसके साथ ही स्पैंगलर के विचारों में कठोर नियतिवाद और निराशावाद तत्कालीन यूरोप की परिस्थितियों का परिणाम है क्योंकि स्पैंगलर की प्रसिद्ध कृति **"पश्चिमी जगत का पतन"** उस समय प्रकाशित हुई थी जब यूरोप प्रथम विश्व युद्ध की ज्वाला में धधक रहा था।

उक्त सभी तथ्यों के बावजूद स्पैंगलर की इतिहास दर्शन को महती देन है। स्पैंगलर दार्शनिक इतिहासज्ञों में पहले ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने इतिहास का विभिन्न कालों - प्राचीन, मध्यकालीन और आधुनिक में विभाजन को अस्वीकार करते हुए कोपरानिक्स पद्धति को प्रतिष्ठापित किया। स्पैंगलर की इतिहास दर्शन को दूसरी प्रधान देन इतिहास की चक्रीय गति को मानता है जो उत्पत्ति, विकास और पतन के चक्रिक क्रम में चलता रहता है, "सभ्यता संस्कृति की अंतिम अवस्था है" स्पैंगलर का यह मत स्वयं में असाधारण है। स्पैंगलर की यह धारणा भी भविष्य में सिद्ध हुई कि साम्राज्यवाद अब अपनी अन्तिम श्वांस गिन रहा है तथा रूस आने वाले कल का नया सितारा होगा। इस प्रकार से स्पैंगलर ने स्वयं की इतिहास दर्शन की व्याख्याओं में जर्मन दर्शन से सार तत्व को समाहित करने का प्रयत्न किया है।

10.3 टायनबी के विचार

स्पैंगलर के पश्चात बीसवीं शताब्दी के दूसरे प्रमुख विचारक टायनबी हुए जिन्होंने इतिहास लेखन की धारा को सर्वाधिक प्रभावित किया है। टायनबी की प्रसिद्ध कृति **"ए स्टडी ऑफ हिस्ट्री"** है जो किसी भी एक व्यक्ति द्वारा की गयी सर्वोच्च एवं सर्वोत्तम ऐतिहासिक उपलब्धि है जिसमें टायनबी ने मानव समाज की सभी सभ्यताओं के विकास एवं पतन के कारणों की विवेचना की है।

टायनबी के विचार तंत्र पर थ्यूसिडाइडिस का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा, जब टायनबी 1914 में अपने विद्यार्थियों को थ्यूसिडाइडिस पढ़ा रहा था उसने अपने अनुभव को लिखा, "वह अनुभव जो हम आज आधुनिक विश्व में अर्जित कर रहे थे, उन्हें थ्यूसिडाइडिस ने अपने समय अनुभूत कर लिया था।" इस धारणा के आधार पर टायनबी की यह धारणा बनी कि सभ्यताओं में एक समसामायिकता होती है तथा कालक्रम की प्राचीन, मध्यकालीन व आधुनिक काल की धारणा निरर्थक है।

थ्यूसिडाइडिस के अलावा टायनबी ने अरस्तु द्वारा मानव जीवन की घटनाओं को समझने के लिए स्थापित पद्धति को भी स्वीकार किया, जो अधोलिखित है :-

(1) तथ्यों को निश्चित कर उनका संग्रह करना।

(2) विभिन्न तथ्यों का तुलनात्मक अध्ययन के पश्चात सामान्य नियमों का निर्धारण तथा

(3) कल्पना के रूप में तथ्यों की कलात्मक पुर्नरचना।

टायनबी के विचारों को अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से अधोलिखित बिन्दुओं में विभाजित किया जा सकता है :-

10.3.1 सामाजिक अध्ययन की महत्ता :- टायनबी के अनुसार इतिहास काल और स्थान में घटित हुई किन्हीं विशिष्ट घटनाओं का विवरण नहीं है और न ही विभिन्न राज्यों या मानव के एकीकृत स्वरूप का इतिहास है। अपितु ऐतिहासिक अध्ययन के वास्तविक क्षेत्र तो विभिन्न समाज हैं जो राष्ट्र राज्यों या नगर राज्यों या किसी भी अन्य राजनीतिक समुदाय से स्थान और काल की दृष्टि से भी अधिक विस्तृत हैं। टायनबी के मतानुसार विभिन्न समाज वह परमाणु है अर्थात वह सबसे छोटी इकाई है जिनसे इतिहास की रचना की जाती है।

इसको आगे विस्तार से बताते हुए टायनबी कहते हैं कि इतिहास के अध्ययन का प्रमुख उद्देश्य सभ्यता है जिसमें धार्मिक चारित्रिक विशेषताओं और राजनीतिक तत्वों को संयुक्त रूप से अध्ययन किया जाता है। टायनबी ने अपनी रचना "सिविलाईजेशन ऑफ ट्रायल" में इसको समझाते हुए लिखा है कि सभ्यता से मेरा अभिप्राय ऐतिहासिक अध्ययन का वह लघुत्तम भाग है जिस पर अपने देश के इतिहास को समझने की चेष्टा करते समय मनुष्य की दृष्टि पहुंचती है" इस प्रकार से टायनबी ने अपने समय की समस्त विश्व की सभ्यताओं को विभिन्न अधोलिखित वर्गो में विभाजित किया है।

(1) प्रमुख सभ्यताएं - पश्चिमी, यूरोपीय, बेजेन्टाइन, इस्लामी, हिन्दू तथा सुदूर पूर्वी जगत।

(2) प्रच्छन्न सभ्यताएं - हेलेनिक, सीरियाई, इंडिक और सीनिक।

(3) प्राचीन सभ्यताएं - मिनोअन, बेबीलोनियन, हिट्टी।

इस प्रकार से कुल 10 सभ्यताएं है। इसके पश्चात टायनबी ने इस्लामी सभ्यता को (1) अरबी और (2) ईरानी सभ्यता में, तथा प्राचीन ईसाई सभ्यता को (1) अनातोलिया और रूस की सभ्यताओं में विभाजित किया है। इस प्रकार से कुल 21 सभ्यताएं हो जाती है।

इसके पश्चात वे अवरूद्ध व अधूरी सभ्यताओं का विवरण प्रस्तुत करते हुए लिखते हैं कि सुदूर पूर्वी इस्रायल, सुदूर पश्चिमी इस्रायल तथा स्केंदीनेवियन वह सभ्यताएं है, जो प्रसव काल से ही कठोर परिस्थितियों के कारण विकसित न हो सकी तथा पोलीनेसिअन, एस्किमों, घुमक्कड, स्पर्तन तथा ओसामनली आविर्भूत होकर ही रह गयी।

अर्नेस्ट बारकर ने टायनबी के सभ्यताओं के वर्गीकरण को अप्राकृतिक बताते हुए इसे लिनोनिज्म की संज्ञा दी है जो वनस्पति शास्त्र में प्रयुक्त होने वाली एक विधि है तथा उसे यहां स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

10.3.2 सभ्यता की समस्याएं : टायनबी ने सभ्यताओं की तीन भौगोलिक समस्याओं (1) उत्पत्ति (2) विकास और (3) पतन का विवरण प्रस्तुत करते हुए सभ्यताओं की उत्पत्ति के संबंध में लिखा है कि कुछ समाज अस्तित्व में आते ही स्थिर क्यों हो जाते हैं तथा वह उसी प्राथमिक अवस्था में ही रहते हैं तथा सम्पूर्ण विकसित सभ्यता के रूप में विकसित नहीं हो पाते हैं, जबकि इसके विपरीत कुछ समाज सभ्यता के स्तर तक पहुंच जाते हैं।

टायनबी के अनुसार सभ्यताओं की उत्पत्ति प्रजाति अथवा भौगोलिक कारक पर निर्भर न करके उस समाज में निहित सर्जनात्मक अल्पसंख्यक वर्ग व संतुलित परिस्थितियों (संतुलित परिस्थितियों से यहां तात्पर्य उन परिस्थितियों से है जो न तो बहुत अधिक पक्ष में होती है और न ही विराधी होती है) के विशिष्ट आनुपातिक सम्मिलन पर निर्भर करती है। उन्नत प्रजातीय कारक को सभ्यता की उत्पत्ति में निर्णायक कारण होने की मान्यता को अस्वीकारते हुए टायनबी ने लिखा है कि प्रजातीय सर्वोच्चता सभ्यता की उन्नति के लिए उत्तरदायी होती है तो हिटलर उच्च सभ्यता की उत्पत्ति कर सकते थे। टायनबी किसी भी सभ्यता की उत्पत्ति के लिए सर्जनात्मक अल्पसंख्यक वर्ग, गतिशील नेतृत्व तथा कुछ बुद्धिमान व्यक्तियों के समूह को मुख्य कारक स्वीकारते हुए यह मत व्यक्त करते हैं कि किसी भी सभ्यता की उत्पत्ति दूर दृष्टि परक एवं परिश्रमी व्यक्तियों पर निर्भर करती है। यहां सृजनात्मक अल्पसंख्यक वर्ग की तुलना मानव शरीर के मस्तिष्क से की जा सकती है।

परिस्थितियों के संतुलित प्रभाव की विवेचना इस प्रकार से की जा सकती है कि बहुत अधिक सुगम परिस्थितियां जहां प्रगति को रोकती है, वहीं अत्यधिक प्रतिकूल परिस्थितियां होने से भी प्रगति का मार्ग अवरूद्ध हो जाता है। टायनबी के अनुसार जब सर्जनात्मक अल्पसंख्यक वर्ग और संतुलित परिस्थितियां समानुपातिक रूप से उपलब्ध होती है, तो एक विशेष प्रकार की प्रक्रिया, जिसे "चुनौती और विरोध" की प्रक्रिया कहा जाता है, होती है तथा किसी भी सभ्यता की उत्पत्ति इस चुनौती और विरोध की प्रक्रिया का ही परिणाम होती है।

टायनबी ने सभ्यता की उत्पत्ति के लिए सृजनात्मक अल्पसंख्यक वर्ग और नेतृत्व में सक्षम व्यक्तियों की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए निर्गमन और प्रत्यागमन की प्रक्रिया का भी उल्लेख किया है। उसके अनुसार सर्जनात्मक अल्पसंख्यक वर्ग के अन्तर्गत कुछ ऐसे व्यक्तित्व होते हैं जो कुछ समय के लिए संसार से अलग हो जाते हैं और शक्ति का संचय कर फिर संसार में वापिस आकर अपूर्व वेग से सृजन कार्य में संलग्न हो जाते हैं।

10.3.3**सभ्यता का विकास और पतन :** टायनबी के अनुसार सभ्यता के विकास में जहां चुनौती और विरोध तथा निर्गमन और प्रत्यागमन की आने वाली चुनौतियों का समुचित सामना नहीं कर पाती है तथा उसका पतन प्रारम्भ हो जाता है। सभ्यता की पतन की प्रक्रिया को परिभाषित करते हुए टायनबी ने लिखा है कि सभ्यताएं आत्महत्या कर विनिष्ठ होती हैं तथा उनकी हत्या कभी भी नहीं होती है। जिस प्रकार से सभ्यता की उत्पत्ति चुनौती और विरोध के संतुलन पर तथा विकास निर्गमन और प्रत्यागमन की प्रक्रिया पर निर्भर करता है। उसी प्रकार सभ्यता के विनाश की प्रक्रिया स्वयं का विध्वंस है।

सभ्यता के विनाश की अवस्था को टायनबी के अनुसार तीन उप अवस्थाओं में विभाजित किया जा सकता है :-

1. सभ्यता का विखण्डन
2. सभ्यता का विच्छेदन, और
3. सभ्यता का विलयन

सभ्यता के विखण्डन और विच्छेदन की प्रक्रिया में शताब्दियों का समय व्यतीत हो जाता है और कभी-कभी यह प्रक्रिया हजारों वर्षों तक भी चलती रहती है। उदाहरण के लिए मिस्र की सभ्यता का विखण्डन 16वीं शताब्दी ई. पू. में प्रारम्भ हो गया था। तथा इस सभ्यता का पूर्ण विलयन पहली शताब्दी ई. में हुआ।

इसके अतिरिक्त टायनबी ने विघटित सभ्यता के काल में समाज को तीन वर्गों में : (1) सत्ताधारी अल्प संख्यक वर्ग, (2) आन्तरिक प्रोलेतोरिअत, और (3) बाह्य प्रोलेतोरअित में विभाजित करते हुए यह मत व्यक्त किया है कि विघटन के समय आन्तरिक प्रोलेतोरिअत बाहर से प्रेरणा पाकर विश्व जनीन धर्म की सृष्टि करता है, जबकि सत्ताधारी अल्पसंख्यक विघटन की गति को रोकने के लिए विश्व साम्राज्य का निर्माण करता है तथा बाह्य प्रोलेतोरिअत विघटन को पूरा करने के लिए आखिरी धक्का देने का कार्य करता है।

बाह्य प्रोलेतोरिअत व आन्तरिक प्रोलेतोरिअत को क्रमशः बाह्य दलित वर्ग और आन्तरिक दलित वर्ग के रूप में माना जा सकता है। डॉ० बुद्ध प्रकाश ने समाज के तीनों भागों की व्याख्या करते हुए लिखा है कि सत्ताधारी अल्पसंख्यक वर्ग सभ्यता के विघटन के समय उच्च दर्शन की सृष्टि करता है जबकि आन्तरिक और बाह्य दलित वर्ग क्रमशः उच्च धर्म व वीर काव्य की रचना कर नवीन सभ्यता के लिए पृष्ठभूमि का निर्माण करते हैं।

10.3.4**सभ्यताओं से सम्पर्क :** टायनबी ने सभ्यताओं के विच्छेदन काल को सांस्कृतिक आदान-प्रदान के अनुकूल बताया है, उनके अनुसार जब दोनों मिलने वाली सभ्यताएं पतन की समान अवस्था में होती है तो उनके आदान-प्रदान की परिस्थिति सबसे अधिक उपयुक्त होती है। ऐसी दोनों सभ्यताओं के विभिन्न तत्वों के मिलने का क्रम सामान्यतः निम्न

होता है :-

1. सर्वप्रथम आर्थिक तत्वों का संक्रमण
2. द्वितीय अवस्था में राजनीतिक तत्वों का संक्रमण
3. तृतीय अवस्था में बौद्धिक, भाषात्मक तथा कलात्मक
4. अन्त में धार्मिक

यह बहुत कठिनता से होता है। इस प्रकार से दो सभ्यताओं का मिलन वास्तव में मानवता के दो खण्डों का स्वाभाविक संबंध है और इसमें ऐतिहासिक अक्षुणता होती है, अतः इसे केवल पतन कालीन प्रक्रिया कहना समीचीन नहीं है।

10.3.5 **सर्पिल सिद्धांत :** टायनबी ने भी विको के समान इतिहास दर्शन के सर्पिल, सिद्धांत को स्वीकार किया है, उसके अनुसार सभ्यता के पतन के द्वारा मनुष्य जो दुःख अनुभव करता है, उसी में प्रगति होती है। वह सभ्यता और धर्म को एक रथ के रूप में देखता है जिसमें पहियों की गति सभ्यता की गति है और रथ धर्म का स्वरूप है।

बुद्ध प्रकाश के अनुसार टायनबी ने जनवरी 1955 में इन्टरनेशनल अफेयर्स में प्रकाशित एक लेख में यह मत व्यक्त किया था कि वह यहूदी परम्परा पर आश्रित ईसाई धर्म को विश्व की आशा का केन्द्र न स्वीकार कर, भारतीय समन्वय पर आधारित हिन्दु और बौद्ध धर्म में मानव समृद्धि और परित्राण की संभावना का दर्शन करते है।

10.4 स्पैंगलर एवं टायनबी के विचारों का तुलनात्मक विश्लेषण

इस प्रकार से टायनबी ने अपने समस्त दर्शन को अतीन्दिय बनाने की चेष्टा कर इतिहास को अलौकिक बनाने की चेष्टा की है जो वैज्ञानिक दृष्टि से तथ्यपरक और सही दृष्टिकोण नहीं है। लेकिन इस सबके बावजूद टायनबी ने इतिहास में राजनीति को प्रमुखता न प्रदान कर संस्कृति और धर्म को प्रधानता देकर सामाजिक आन्दोलनों और परिवर्तनों पर ध्यान आकृष्ट किया है और उनका यह स्वीकार करना कि समस्त विश्व का एकीकरण, धर्मों का समन्वयन और आर्थिक विषमताओं का निराकरण इतिहास की मुख्य प्रवृत्ति है।

स्पैंगलर और टायनबी दोनों ही बीसवीं शताब्दी के इतिहास दार्शनिक है। दोनों में प्रमुख अन्तर यह है कि जहां स्पैंगलर ने अपने विचारों का प्रतिपादन युवा अवस्था में किया था, वहीं टायनबी ने प्रौढ़ अवस्था में पहुंचकर अपने विचारों को लेखनी से आबद्ध किया। दोनों ही दार्शनिकों ने इतिहास की गति को चक्रिक माना तथा इतिहास के प्राचीन, मध्यकालीन और आधुनिक काल में विभाजन को एक स्वर से अस्वीकार कर दिया।

स्पैंगलर ने जहां विभिन्न सभ्यताओं की चर्चा करते हुए यह मत व्यक्त किया है कि प्रत्येक संस्कृति का एक मूलभूत प्रतीक होता है जिसके माध्यम से उस संस्कृति विशेष के आन्तरिक संबंधों को समझा जा सकता है।

इसके आगे वह कहता है कि प्रत्येक संस्कृति दूसरी संस्कृति से सर्वथा भिन्न व स्वतन्त्र होती है तथा उसके अपने स्वयं के स्थापित मूल्य होते हैं, जो किसी भी संस्कृति के प्रभाव से पूर्णतः अलग होते हैं। इसके विपरीत टायनबी ने प्रत्येक सभ्यता की उत्पत्ति और विकास के लिए सर्जनात्मक अल्पसंख्यक वर्ग, सक्षम नेतृत्व वर्ग एवं जुझारू व्यक्तियों को उत्तरदायी बनाते हुए यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि विभिन्न सभ्यताएं एक दूसरे को परस्पर प्रभावित करती है तथा उनका तुलनात्मक अध्ययन सम्भव है।

इस प्रकार से दोनों ही इतिहासज्ञ दार्शनिकों ने 19वीं शताब्दी की विवरणात्मक इतिहास लेखन की शैली को परित्याग कर तुलनात्मक एवं वस्तुपरक शैली को विकसित किया। पहली बार दोनों दार्शनिकों के विचारों से प्रभावित होकर इतिहास लेखन का मुख्य केन्द्र राजनीतिक घटनाक्रम एवं वंशावलियों से विकेन्द्रित हो विभिन्न सभ्यताएं, संस्कृतियां हो गयी है। जिनके कारण साधारण मनुष्य इतिहास का प्रमुख प्रवक्ता बन गया।

यह सत्य है कि स्पैंगलर ने इस मान्यता की स्थापना की थी कि प्रत्येक सभ्यता पूर्ण रूपेण विलक्षण एवं स्वाधीन होता है तथा वह किसी भी प्रकार के तुलनात्मक विश्लेषण की सम्भावना नहीं छोड़ती है। परन्तु इसके बावजूद स्पैंगलर द्वारा समस्त मानव संस्कृति को आठ संस्कृतियों में विभाजित करने से तुलनात्मक अध्ययन की सम्भावनाएं विकसित हुई और टायनबी ने उसे आगे बढ़ाते हुए तुलनात्मक अध्ययन किया।

स्पैंगलर की इस मान्यता ने कि संस्कृति एक ऐसी इकाई है जहां प्रत्येक अभिव्यक्ति दूसरी से संबंधित होती है तथा जहां सब लोग उस संस्कृति विशेष की आत्मा की अभिव्यक्ति करते हैं, मानव शास्त्रियों को काफी प्रभावित किया है, और उन्होंने इस कथन का उपयोग आदिम संस्कृतियों के अध्ययन में किया है।

टायनबी ने अपने ग्रंथ में मनोविज्ञान सहित विभिन्न सामाजिक विज्ञानों का उपयोग सभ्यताओं को समझने में किया है, इस दृष्टि से टायनबी बीसवीं शताब्दी का पहला ऐसा व्यक्ति था जिसने इतिहास को विभिन्न सामाजिक विज्ञानों से जोड़ मानव की समग्र रूप से अध्ययन करने की चेष्टा की है।

10.5 बीसवीं शताब्दी के इतिहास दर्शन की प्रेरक शक्तियां

बीसवीं शताब्दी में हुए व्यापक लोकतंत्रीकरण, मशीनी व तकनीकी विकास के फलस्वरूप विश्व अत्यधिक सिकुड गया है तथा विश्व की सभी महत्वपूर्ण व सामान्य घटनाओं में आम आदमी की भूमिका महत्वपूर्ण हो गयी है जिस कारण इतिहास लेखन में सामान्य घटनाओं तथा आम आदमी की भूमिका महत्वपूर्ण हो गयी है। इससे इतिहास लेखन में सामान्य विवरणात्मक विधि का परित्याग करना अपरिहार्य हो गया है। टायनबी के प्रभाव से ही आज मानव समूहों द्वारा निर्मित विभिन्न संगठनों का अध्ययन बढता ही जा रहा है तथा आज का प्रथम कोटि का

इतिहासकार विभिन्न सामाजिक विज्ञानों के योगदान का उपयोग कर मानव समाज के श्रेष्ठतर इतिहास लेखन को अपना उद्देश्य बना चुका है।

आज इतिहास लेखन में टायनबी की समस्त विश्व के एकीकरण की भावना और आर्थिक विषमताओं के निराकरण की भावना, इतिहास की प्रमुख प्रवृत्ति बन गयी है।

आज मानव ने स्थानीय भेदोपभेदों को भुला दिया है तथा प्रत्येक देश और जाति का मनुष्य विश्व की सांस्कृतिक एकता को अनुभव कर रहा है। अतः इस कारण इतिहासकार की दृष्टि और क्षितिज भी व्यापक हो गए है। आज इतिहास का तात्पर्य सम्पूर्ण इतिहास को मानव एकता के दृष्टिकोण से देखना हो गया है। इतिहास की यह दृष्टि पुरातत्वविदों की खोजों से और भी अधिक पुष्ट हो गयी है। पुरातत्वेता आदिम युग की संस्कृतियों का अध्ययन करते समय भौगोलिक सीमाओं में रहकर आदिम मानव की प्रवृत्तियों का जब अध्ययन करता है तो उसे जो आश्चर्यजनक समानताएं दृष्टिकोण होती है तो उसकी समझ में मानव संस्कृति की एकता आती है। वास्तव में मानव संस्कृति एक अखण्ड और अद्वैत सत्य है। जब इसे देशीय, जातीय या धार्मिक विभागों में विभक्त कर इसकी आयु निश्चित करने की कोशिश की जाती है तो एकदम अव्यवस्था हो जाती है अतः आज का इतिहास दर्शन मानव संस्कृति की इस एकता पर ही आधारित है।

भारतीय संदर्भ में यह तथ्य इस तरह से समझा जा सकता है कि आज समग्र भारतीय संस्कृति को उसमें निहित ब्राह्मण, बौद्ध, जैन यूनानी, शक, हुण इस्लामी व इसाई तत्वों के सम्मिलित रूप में ही समझा जा सकता है।

यदि इतिहासकार इन सभी तत्वों को टुकड़े-टुकड़े करने का प्रयत्न करेगा तो सब कुछ ही दूर हो जाएगा और बचेगी - अव्यवस्था। अतः भारतीय संस्कृति का उसके प्राचीन, मध्यकालीन व आधुनिक काल खण्डों व राजनैतिक घटना क्रम के रूप में अध्ययन न करके यदि उसमें हुए सामाजिक धार्मिक आन्दोलनों के इतिहास को और उसमें निहित आर्थिक कारकों को समझने की चेष्टा की जाएगी और वह अपने समग्र स्वरूप में समझी जा सकेगी और वर्तमान में भारतीय इतिहास लेखन में सामाजिक अध्ययनों की बढ़ती लोकप्रियता स्पैंगलर व टायनबी प्रभाव को ही व्यक्त करती है।

10.6 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. स्पैंगलर और टायनबी के इतिहास दर्शन की प्रमुख विशेषताओं का विवरण दीजिए?
2. बीसवीं शताब्दी के इतिहास लेखन को स्पैंगलर और टायनबी ने किस प्रकार प्रभावित किया, भारतीय इतिहास के संदर्भ में स्पष्ट कीजिये।

10.7 संदर्भ ग्रंथ

1. पाण्डे, गोविन्दचन्द्र, इतिहास : स्वरूप एवं सिद्धांत, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी जयपुर, 1973
2. बुद्ध प्रकाश, इतिहास दर्शन, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश 1962
3. शेख अली, बी., हिस्ट्री : इट्स थ्योरी एंड मैथड, मैकमिलन इंडिया लिमिटेड, मद्रास 1984

इकाई - 11

महाकाव्य, कौटिलीय अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र व भास साहित्य की ऐतिहासिक विवेचना

इकाई की संरचना

11.0 उद्देश्य

11.1 प्रस्तावना

11.2 महाकाव्य

11.3 रचना काल

11.3.1 रामायण

11.3.2 महाभारत

11.4 महाकाव्यों का कथानक

11.4.1 रामायण

11.4.2 महाभारत

11.5 महाकाव्यों का महत्व

11.6 महाकाव्य : ऐतिहासिक स्रोत के रूप में

11.6.1 राजनीतिक जीवन

11.6.2 सामाजिक जीवन

11.6.3 आर्थिक जीवन

11.6.4 धार्मिक जीवन

11.7 अनुभागीय सारांश

11.8 अर्थशास्त्र

11.8.1 अर्थशास्त्र का कृतित्व

11.8.2 अर्थशास्त्र विषयक विवाद

11.8.3 अर्थशास्त्र का प्रभाव

11.8.4 अर्थशास्त्र की विषय वस्तु

11.9 अर्थशास्त्र ऐतिहासिक स्त्रोत के रूप में

11.10 धर्मशास्त्र

11.10.1 धर्म

11.10.2 धर्मशास्त्रों का परिचय

11.10.3 धर्मशास्त्र ग्रंथों का निर्माण काल

11.11 ऐतिहासिक स्त्रोत के रूप में धर्मशास्त्र

11.12 स्मृति ग्रंथों में वर्णित जीवन

11.12.1 आर्य संस्कृति का क्षेत्र

11.12.2 राजनीतिक जीवन

11.12.3 सामाजिक जीवन

11.12.4 आर्थिक जीवन

11.13 भास का काल

11.14 भास की रचनाऐं

11.15 इकाई सारांश व अभ्यास कार्य

11.16 प्रासंगिक पठनीय ग्रंथ

11.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप यह जान सकेंगे कि

1. महाकाव्यों का ऐतिहासिक महत्व क्या है?
2. कौटिलीय अर्थशास्त्र का क्या महत्व है?
3. धर्मशास्त्र क्या हैं और उनकी विषय वस्तु क्या है?
4. भास की रचनाओं का क्या महत्व है?

11.1 प्रस्तावना

महाकाव्य, कौटिलीय अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र व भास की रचनाऐं ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण हैं। प्राचीन भारतीय जीवन के विविध पक्षों की जानकारी इससे प्राप्त होती है। प्राचीन भारतीय ग्रंथों का काल निर्धारण एक प्रमुख समस्या है। प्राचीन ग्रंथ कई शताब्दियों तक तो मौलिक-परंपरा के रूप में अस्तित्व में रहे। बाद में उन्हें लिपिबद्ध किया गया। फिर समय-समय पर उनमें प्रक्षिप्तांश भी जुडते रहे। महाकाव्यों (रामायण व महाभारत) में भारतीयें के सांस्कृतिक जीवन की झांकी मिलती है। कौटिलीय अर्थशास्त्र में प्राचीन राजशास्त्र पर विस्तार से चर्चा हुई है। धर्मशास्त्रों में प्राचीन भारतीयों की जीवन शैली का चित्रण हुआ है। भास की रचनाऐं भी उत्कृष्ट हैं और ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण हैं।

11.2 महाकाव्य

रामायण और महाभारत आर्यों के दो प्रमुख ग्रंथ है। भारतीय समाज में आज भी इनका महत्व माना गया है। रामायण के रचियता वाल्मिकी व महाभारत के व्यास माने गये है। आज उनका जो रूप हमारे समक्ष है वह किसी एक युग या एक ही लेखक की कृति नहीं है। इनमें समय-समय पर संशोधन और परिवर्तन किये गये हैं। संस्कृत के मूल रामायण में केवल पांच काण्ड ही थे, परन्तु आज इसमें सात काण्ड और 24000 श्लोक हैं। वाल्मिकी के पांच कांड वाले मूल रामायण ग्रंथ में राम को युग का एक महान पुरूष माना है, और उसी रूप में चरित्र-चित्रण हुआ है। रामायण के प्रथम और सप्तम कांड में राम को ईश्वर के अवतार के रूप में माना गया। स्पष्ट हो जाता है कि ये दो कांड बाद के हैं।

रामायण तीन हैं - वाल्मीकि रामायण, आध्यात्म रामायण और तुलसी की रामायण (रामचरितमानस)। इन तीनों की मूल कथा तो एक है परन्तु इनके रचनाकारों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से तत्कालीन सामाजिक जीवन, धार्मिक दशा आदि का वर्णन किया है। पात्रों के चरित्र-चित्रण में थोडा अंतर आ गया है। वाल्मिकी के राम मनुष्य रूप में चित्रित हुए हैं। मानवी स्वभाव की दुर्बलताऐं और दृढताऐं उनमें हैं - परन्तु तुलसी के राम सर्वव्यापी व सर्वशक्तिमान हैं। वे मोक्षदायक हैं और भगवान विष्णु के अवतार हैं। रामायण में धार्मिकता आ गयी है। महाभारत में अठारह पर्व और लगभग एक लाख श्लोक हैं। संस्कृत के

पाश्चात्य विद्वान मेकडानल्ड का मत है कि मूल महाभारत में केवल बीस हजार श्लोक थे। भिन्न-भिन्न व्यक्ति उनमें परिवर्तन करते रहे। महाभारत एक ऐतिहासिक ग्रंथ है व इसकी कहानियों और गाथाओं के साथ इतनी अधिक घुल मिल गयी है कि इनमें से ऐतिहासिक तथ्यों की सही जांच नहीं हो सकती है। ये दोनों ग्रंथ प्राचीन प्रचलित अनुश्रुतियों की संहिताऐं हैं। रामायण से स्पष्ट हो जाता है कि इस समय तक दक्षिण भारत में आर्यों ने प्रवेश किया। महाभारत यह स्पष्ट करती है कि किस तरह छोटे-छोटे महत्वहीन विवादों ने विवादग्रस्त समस्याओं के रूप में जन्म लिया।

11.3 रचना काल

11.3.1 रामायण :-

रामायण में वर्णित भौगोलिक वातावरण के आधार पर ही रामायण को महाभारत से प्राचीन माना गया है। यह कहा जा सकता है कि रामायण की रचना ईसा पूर्व 500 या 600 वर्ष पूर्व के युग में हुई। रामायण में बहुत से प्रक्षिप्तांश हैं। विंटरनित्स का मानना है कि रामायण का वर्तमान रूप निश्चित रूप से 200 ईसवीं तक बन गया था। (हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर पृ० 503) अन्य विद्वानों ने भी रामायण के रचनाकाल के बारे में भिन्न-भिन्न मत व्यक्त किए हैं। कामिन बुल्के ने इसका समय 600 ई. पू. माना है। मैकडोनल के अनुसार रामायण की रचना 500 ई.पू. में और इसका संशोधन 200 ई. पू. में हुआ। ये सभी मत अनुमान पर ही आधारित हैं और रामायण की पूर्व सीमा न बताकर ऊपर सीमा का संकेत करते हैं। ये सभी मत निम्न बातों को ध्यान में रखकर व्यक्त किये गये हैं - रामायण में बौद्ध धर्म का अभाव है। अतः मूल रामायण बुद्ध (जन्म 563 ई.पू. - निर्वाण 483 ई.पू.) से पूर्ववर्ती है। दोनों ही महाकाव्यों की पूर्व सीमा वैदिक काल की समाप्ति है। रामायण में पाटलिपुत्र, जिसे अजातशत्रु (ई.पू. 491-459 तक) ने बनवाया था, उनका उल्लेख नहीं है। रामायण में विशाल और मिथिला का उल्लेख हुआ है। ये दोनों स्वतंत्र राज्य थे। यह अवस्था बुद्ध से पूर्व की ही है। रामायण में यूनानी प्रभाव भी बहुत कम दिखाई देता है, इसकी रचना भारत में यूनानियों के आगमन से पूर्व हुई। मूल रामायण में राम को अवतार नहीं माना गया है। अवतार की भावना का उदय बुद्ध के बाद में हुआ है। रामायण का अधिकांश चित्रण 5वीं श.ई.पू. का है। तत्कालीन समाज के आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक जीवन का इसमें अच्छा चित्रण मिलता है। निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि रामायण 600 ई.पू. के बाद की रचना नहीं है। इसके आंतरिक साक्ष्यों से इसकी पुष्टि हो जाती है। रामायण का वर्तमान रूप प्रथम या द्वितीय 25 ई.पू. में निश्चित रूप से इस रूप में आ चुका था।

11.3.2 महाभारत :

महाभारत की रचनाकाल के बारे में विवाद है। अधिकांश विद्वानों का मत है कि महाभारत का युद्ध 2000 ई.पू. और 1000 ई.पू. के बीच में हुआ था (देखिये - पार्जिटर, ऐंशियेंट इंडियन हिस्टोरिकल ट्रेडीशन्स)। इस युद्ध के बाद ही चारणों ने इसकी घटनाओं और पात्रों की वीरता के संबंध में गीतों का निर्माण किया होगा। स्पष्ट है कि महाभारत के

लेखबद्ध होने के सैकड़ों वर्ष पूर्व भी महाभारत चारण गीतों के रूप में विद्यमान रही होगी। इसी आधार पर व्यास ने इसे लेखबद्ध किया होगा। महाभारत को लेखबद्ध कब किया गया यह विवाद का विषय बना हुआ है। अपने वर्तमान रूप में महाभारत एक लाख श्लोकों का संग्रह है। महाभारत के रचनाकाल के बारे में भी अनुमान ही लगाया जा सकता है। कुछ हद तक इसकी पूर्व सीमा और अपर सीमा निर्धारित की जा सकती है। महाभारत की पूर्व सीमा 500 ई.पू. मानी गयी है। इसके निम्न आधार है :-

(1) आश्वलायन ग्रह्य सूत्र (3-4-4) में भारत और महाभारत दोनों का ही उल्लेख है। इसका समय कम से कम 400 ई.पू. है।

(2) बौधायन धर्मसूत्र में भी महाभारत की चर्चा है। इनका समय कम से कम 400 ई.पू. है।

(3) भास (450 ई.पू. के लगभग) के कई ग्रंथ महाभारत पर आधारित हैं। पाणिनी ने भी महाभारत के पात्रों का उल्लेख किया है।

(4) महाभारत में दस अवतारों के वर्णन में बुद्ध का उल्लेख नहीं है। स्पष्ट है यह बुद्ध (563 ई.पू. 483 ई.पू.) के समय से पूर्व की रचना है।

कतिपय श्लोकों से स्पष्ट हैं कि एक लाख श्लोकों वाला महाभारत प्रथम शताब्दी ई. में विद्यमान था। इसे महाभारत की अपर सीमा मान सकते है।

1. अश्वघोष (78 ई. के लगभग) ने महाभारत का उल्लेख किया है।
2. अनेक विद्वानों ने द्वितीय और तृतीय शताब्दी ई. के बाद एक लाख श्लोकों वाले महाभारत का उल्लेख करने वाले संदर्भो का संग्रह किया है। कुभारिल भट्ट (700 ई.), सुबन्धु (600 ई.), बाण (608-640 ई.) आदि ने भी महाभारत का उल्लेख किया है।
3. भारत के पांचवीं व छठी शताब्दी के शिलालेखों में महाभारत का उल्लेख है।

विभिन्न विद्वानों नें इन्हीं तथ्यों को ध्यान में रखा है।

महाभारत का काल 500 या 400 ई.पू. माना जा सकता है। मैकडानल ने इसे 500 ई.पू. और विन्टरनिट्ज ने इसे 400 ई.पू. माना है। श्री आर. जी भण्डारकर का मत है कि ई.पू. 500 तक महाभारत एक प्रसिद्ध धार्मिक ग्रंथ बन चुका था।

समय-समय पर महाभारत में अनेक प्रक्षेप जोड़ दिये गये। इसीलिए यह ग्रंथ इतना व्यापक हो गया। महाभारतकाल के कुछ भागों में भारत में रहने वाली विदेशी जातियों, यूनानी, शक आदि का उल्लेख है। ये जातियां भारत में ई.पू. पहली और दूसरी शताब्दियों में आयी। ई.पू. की प्रारंभिक सदियों में महाभारत के महाकाव्य में परिवर्तन और

परिवर्द्धन हो गये थ। इससे स्पष्ट हो जाता है कि ईस्वी सन् की पांचवी शताब्दी के पूर्व ही महाभारत का परिर्वतन और परिवर्द्धन सम्पूर्ण हो चुका था। यह परिवर्द्धित रूप ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में पूर्ण हो चुका था। महाभारत में 5वीं 6वीं शताब्दी ई तक परिवर्तन, परिवर्धन और संशोधन होते रहे हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्तमान रूप में रामायण और महाभारत किसी एक व्यक्ति अथवा एक काल की रचनाऐं नहीं है।

महाकाव्यों में वर्णित सभ्यता किसी एक समय की नहीं है। यह भिन्न-भिन्न कालों की है। कहीं-कहीं पर तो इनमें मानवीय सभ्यता के क्रमिक रूप का चित्रण किया गया है। लेकिन इतना होने पर भी दोनों महाकाव्यों में वर्णित अवस्थाऐं एवं विचारधाराऐं बहुत कुछ समान रूप हैं। (पाण्डेय, विमलचन्द, प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, भाग 1, पृष्ठ 207)

11.4 महाकाव्यों का कथानक

11.4.1 रामायण

रामायण में इक्ष्वाकु वंशीय दशरथ व उसके पुत्रों की कथा है। कौशल नरेश दशरथ के तीन रानियां, कौशल्या, सुमित्रा, कैकयी तथा चार पुत्र राम, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न थे। वृद्धावस्था में दशरथ अपने ज्येष्ठ पुत्र राम को राज्य देना चाहते थे। परंतु कैकई ने इसमें बाधा डाली। उसने दशरथ से दो वर मांगे, प्रथम राम के बदले में अपने पुत्र भरत को राजसिंहासन और द्वितीय राम को चौदह वर्ष का वनवास। राम अपनी पत्नी सीता और छोटे भाई लक्ष्मण के साथ वन में चले गये। भरत ने राजपद ग्रहण नहीं किया। पुत्र के वियोग में दशरथ की मृत्यु हो गयी। राम सीता व लक्ष्मण के साथ दुःख झेलते हुए दक्षिण तक बढ़ गये। लंका के राजा रावण ने सीता का अपहरण किया। राम ने वानरों के नेता हनुमान और राजा सुग्रीव की सेना की सहायता से रावण पर आक्रमण किया। अंत में रावण पराजित हुआ और राम सीता व लक्ष्मण के साथ अयोध्या लौट आये। रावण के यहां रहने से सीता की आलोचना हुई। राम ने गर्भवती सीता को त्याग दिया। वह ऋषि वाल्मिकी के आश्रम में रहने लगी। वहां उसने लव व कुश को जन्म दिया। राम ने जब अश्वमेध यज्ञ किया तब लव-कुश ने यज्ञ के घोड़े को रोक लिया। राम की सेना व लव कुश में युद्ध हुआ। अंत में राम स्वयं उनसे मिलने आये और उनको अयोध्या ले गये।

11.4.2 महाभारत

महाभारत का कथानक इस प्रकार है। हस्तिनापुर के राजा शांतनु के पौत्र धृतराष्ट्र और पाण्डु थे। धृतराष्ट्र जन्म से अंधे होने के कारण पाण्डु राजगद्दी पर बैठे। धृतराष्ट्र के पुत्र कौरव तथा पाण्डु के पुत्र पाण्डव कहलाये। पांच पाण्डव थे, इनमें युधिष्ठर बड़े थे। कौरव सौ थे तथा दुर्योधन बड़ा था। प्रारंभ से ही इनमें वैमनस्य था। पाण्डवों को राज्य से निकालना, द्रोपदी का अर्जुन से विवाह, पाण्डवों द्वारा इंद्रप्रस्थ को

राजधानी बनाना, पांडवों का जुए में हारना, पुनः 13 वर्ष का वनवास, पुनः राज्य प्राप्ति हेतु श्रीकृष्ण की मध्यस्थता के प्रयास परन्तु असफलता के कारण महाभारत का युद्ध, श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को गीता का उपदेश, पाण्डवों की विजय, युधिष्ठिर द्वारा अश्वमेघ यज्ञ करना, पाण्डवों का परीक्षित को राज्य सौंपकर हिमालय में जाना व वहीं उनका देहावसान होना आदि प्रमुख घटनाओं का महाभारत में उल्लेख हुआ है।

11.5 महत्व

दोनों महाकाव्य ऐतिहासिक, साहित्यिक, दार्शनिक व धार्मिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। भारतीय संस्कृत साहित्य की ये सर्वोत्कृष्ट कृतियां हैं। भारतीय साहित्यकारों के लिये ये प्रेरणा स्रोत हैं। भारतीय नीति और दर्शन के भी ये मूल स्रोत हैं। महाभारत को समस्त दर्शनों का सार, स्मृतियों का विवेचन ग्रंथ एवं पंचम वेद माना गया है। वैष्णव, शैव व अन्य धर्मों पर भी ये प्रकाश डालते हैं। महाभारत में कर्म, तप, ज्ञान, भक्ति आदि का समावेश है।

सांस्कृतिक दृष्टि से रामायण के बाद महाभारत का ही स्थान आता है, लेकिन वास्तविक दृष्टि से महाभारत रामायण से भी बढ़कर है। भगवद्गीता हिन्दुओं की आचार संहिता ही नहीं वरन् वेद के समकक्ष एक धर्मग्रंथ है। महाभारत में विभिन्न संस्कृतियों का समन्वय दिखाई देता है। दण्ड नीति की विस्तृत व्याख्या हुई है। राजधर्म का उपदेश भी इसमें दिया गया है। साथ ही मोक्ष-धर्म की भी चर्चा हुई है। इसमें एक तरफ कर्ममार्ग है तो दूसरी ओर ज्ञान मार्ग भी है। एक तरफ श्रीकृष्ण, भीष्म, अर्जुन, युधिष्ठर जैसे अनुकरणीय पात्र हैं तो दूसरी ओर दुःशासन, शकुनि जैसे पात्र भी हैं।

रामायण भारतीय संस्कृति का दर्पण है। यह उच्च मानवीय आदर्शों से ओत-प्रोत है। प्रत्येक हिन्दु के घर में यह विद्यमान रहती है।

रामायण केवल वीर काव्य ही नहीं है, आचार शास्त्र एवं धर्मशास्त्र भी है। इसमें मानव जीवन के विभिन्न आदर्श बताए गये हैं। इसमें प्राचीन भारतीय संस्कृति, धार्मिक जीवन, नैतिक मूल्यों की चर्चा हुई है। सामाजिक दृष्टि से यह पति-पत्नी के संबंध, पिता-पुत्र के कर्तव्य, गुरू-शिष्य का पारस्परिक व्यवहार, भाई का भाई के प्रति कर्तव्य, व्यक्ति का समाज के प्रति उत्तरदायित्व, आदर्श पिता-माता, पुत्र-भाई-पति एवं पत्नी का चित्रण, आदर्श ग्रहस्थ जीवन की अभिव्यक्ति करता है। इसमें राजा का प्रजा से सौहार्द्र उल्लेखनीय है। राम राज्य का आदर्श बताया गया है। राजा के कर्तव्य और अधिकार, राजा-प्रजा संबंध, उच्च नागरिकता, सैन्य संचालन आदि विषयों पर भी महत्वपूर्ण प्रकाश डाला गया है। इसमें प्राचीन भारतीय सभ्यता, नगर, ग्रामादि, निर्माण सेतुबंध, वर्णाश्रम व्यवस्था आदि विविध पक्षों से संबंधित विवरण मिलता है।

दोनों महाकाव्यों में गृहस्थ जीवन के उच्च आदर्शों को अपनाया गया है। इनके अधिकतर पात्र किसी न किसी उच्च आदर्श को स्थापित

करते हैं। दोनों महाकाव्यों ने भारतीय सभ्यता और संस्कृति की रक्षा करने में योगदान दिया है। इनमें वर्णित, धर्म, आचार-विचार, संस्थाऐं, प्रथाऐं, प्रणालियां और आदर्श सदियों से भारतीयों को प्रभावित करते आ रहे हैं।

11.6 महाकाव्य : ऐतिहासिक स्रोत के रूप में

तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक स्थिति व आध्यात्मिक विचारधारणाओं के विषय में बहुमूल्य सामग्री प्राप्त होती है। इनमें ऐतिहासिक घटनाओं के साथ-साथ तत्कालीन नैतिक, धार्मिक, दार्शनिक, आदर्शों को भी संग्रहीत किया गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से श्री राम की दक्षिण यात्रा आर्यों के दक्षिण विजय का प्रथम वर्णन है। यह भी स्पष्ट हो जाता है कि सुदूर दक्षिण में आर्यों के उपनिवेश स्थापित करने में राम अग्रणी रहे। महाभारत में कौरव पाण्डवों के पारस्परिक राजनीतिक संघर्ष का इतिहास है। इसके अलावा इसमें ऐतिहासिक महत्व की घटनाऐं वर्णित की गयी हैं। महाकाव्यों से प्राचीन भारतीय सभ्यता और संस्कृति का संपूर्ण चित्र हमारे समक्ष उपस्थित हो जाता है। अब हम विभिन्न शीर्षकों में इसका वर्णन करेंगे :-

11.6.1 राजनीतिक जीवन :

इस समय तक आर्य लोगों ने पूर्व की और अधिक विस्तार कर लिया था। कुरू, पांचाल, कौशम्बी, कौशल, काशी, विदेह आदि इस युग के विशाल राज्य थे। महाभारत की भौगोलिक सीमाऐं रामायण से अधिक व्यापक हैं। साम्राज्य विस्तार की भावना ने जोर किया। श्री राम और युधिष्ठर ने अश्वमेघ यज्ञ किये। यह यज्ञ साम्राज्यवादी भावना का प्रतीक है। महाभारत में रामायण की अपेक्षा बहुत से क्षेत्रों, जैसे राजनीति, युद्धकाल, कूटनीति आदि में अधिक विकसित सभ्यता दिखाई देती है। महाभारत में विकसित राजनीतिक चिंतन दिखाई देता है। भीष्म को इन विचारों का प्रतिपादक बताया गया है। महाभारत के शांतिपर्व के राजधर्मानुशासन पर्व में महत्वपूर्ण राजनीतिक चिंतन मिलता है। राजसंस्था की उत्पत्ति के बारे में भी विचार विमर्श हुआ है। राजा को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। सभा और मंत्रीपरिषद् का राज्य निति निर्धारण में महत्वपूर्ण स्थान था। महाभारत में गणतंत्र पद्धति का भी उल्लेख है। शांतिपर्व के 81 वें अध्याय में अठधक, वृार्ष्ण, यादव कुकुर, भोज इन पांच गुणों के संयुक्त शासन का उल्लेख मिलता है। गणतंत्रों की उन्नति के लिए बहुत सी महत्वपूर्ण बातों का उल्लेख महाभारत में हुआ है। भीष्म-पितामह कहते हैं कि गण के लोगों को आपस में मेल रखना चाहिए, बडे लोगों को तुरंत ही फूट का अंत कर देना चाहिए, शासकों पर विश्वास रखना चाहिए, कोष भरा रहना चाहिए और सबसे बडी बात यह है कि एकता रखनी चाहिए (महाभारत, महापर्व 5)। गणतंत्र शासन व्यवस्था में सत्ता किसी एक व्यक्ति के हाथ में केन्द्रित न होकर विविध जातियों अथवा वंशों के अनेक प्रतिनिधियों के हाथ में रहती थी। महाभारत में कहा गया है कि बहुसंख्यक राजसत्ताधारी प्रतिनिधियों के होने के कारण ही गणराज्यों में बहुधा भेद हो जाता है और उनकी

मंत्रणा गुप्त नहीं रह पाती है। (महाभारत शांति पर्व 107,8,24) महाभारत में करों के सम्बन्ध में भी विस्तृत विवेचन मिलती है। भीष्म के निर्देश महत्वपूर्ण हैं। करों को राजा द्वारा की गई प्रजा की रक्षा रूपी सेवा व वेतन माना है। कर न्यायपूर्ण तरीकों से ही लगाने चाहिए। सेना, युद्ध, कूटनीति, गुप्तचर व्यवस्था आदि पर भी महाकाव्यों में विस्तृत विवेचन मिलता है। महाभारत में व्यूहों की रचना, मंडल सिद्धांत, अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के छः प्रकार भी बताए गये हैं, जो निम्न है :- संधि, युद्ध, आसन (तटस्थता) यान (सैनिक अभियान), संक्षय (शक्तिशाली राजा की शरण लेना), द्वैधीभाव (कभी शत्रुता और कभी मित्रता का व्यवहार करना)।

11.6.2 सामाजिक जीवन :

रामायण व महाभारत दोनों में ही सामाजिक जीवन व संस्थाओं के बारे में विस्तृत विवेचना मिलती है। रामायण के पात्र पारिवारिक या सामाजिक जीवन के ऊंचे आदर्श प्रस्तुत नहीं करते। महाभारत का महत्व इस काल में है कि उसमें हमें सामाजिक जीवन एवं संस्थाओं के संबंध में महत्वपूर्ण चिंतन मिलता है।

साधारणतया लोग गांवों में निवास करते थे। गांव आत्मनिर्भर थे। नगरों का सामाजिक जीवन भी वैभव तथा सम्पन्नता से परिपूर्ण था। जनसाधारण में शाकाहारी भोजन ही अधिक लोकप्रिय था। क्षत्रियों में मांसाहारी भोजन का भी प्रचलन था। लोगों की वेशभूषा सादी थी। अधिकतर सूती, ऊनी, रेशमी वस्त्रों का उपयोग होता था। लोगों का जीवन नैतिकता से ओत-प्रोत था। उनका दृष्टिकोण आशावादी था। महाभारत में भाग्य की अपेक्षा पुरूषार्थ पर बल दिया गया है वर्णाश्रम व्यवस्था का प्रचलन था। रामायण व महाभारत दोनों में ही चारों वर्णों की उत्पत्ति ब्रह्मा के विभिन्न अंगों से बतायी गई है। ब्राह्मणों को समाज में उच्च स्थान प्राप्त था। लेकिन इसका आधार, उनका स्वाध्याय, तप तथा अच्छे कर्म थे। रामायण में भी उल्लेख है कि वर्ण के विरूद्ध कार्य करने वाला ब्राह्मण शूद्र से भी अधिक निंदनीय है। (रामायण 3-313) 1117 स्पष्ट हो जाता है कि व्यवस्थाकार पूर्व नियोजित कार्य विभाजन में उजर फेर नहीं चाहते थे। (पाण्डेय, विमल चन्द्र, प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास - पृ० 214) महाभारत में क्षत्रियों के लिए वीरता, तेज, धैर्य, दान, युद्ध से न भागना आदि गुण आवश्यक माने गये हैं। दुष्टों का दमन, साधुओं की रक्षा, वर्ण संकर को रोकना ये क्षत्रियों के प्रमुख कर्तव्य माने गये हैं। महाभारत में दोनों वर्णों के बीच सौहार्दपूर्ण संबंध स्थापित करने के प्रयास दिखाई देते हैं। महाभारत में जन्मजात वर्णव्यवस्था के विरूद्ध विद्रोह दिखाई देता है। इसमें शूद्रों की स्थिति में सुधार है। सदाचारी शूद्रों को समाज में सम्माननीय स्थान प्राप्त था। विदुर, कायव्य और भतंग इन तीन जन्मजात शूद्रों को सदाचार के बल पर आदर प्राप्त था। भीष्म शांतिपर्व में राजा की 37 सदस्यों की परिषद में 3 शूद्र अमात्यों की नियुक्ति का भी आदेश देते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि एक वर्ण का व्यक्ति दूसरे वर्ण के कार्य नही कर सकता। द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा, परशुराम, क्षत्रिय के कार्य करते थे। इस समय तक कई विदेशी जातियों (यवन, शक, पड्लव, किरात आदि)

का प्रादुर्भाव हो चुका था। ये भारतीय समाज में समाहित हो चुकी थीं। महाकाव्यों में आश्रम व्यवस्था प्रचलित थी। ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम, सन्यासआश्रम चारों के लिए 25-25 वर्ष का समय निर्धारित था। गृहस्थाश्रम को शेष अन्य आश्रमों का आश्रम तथा लौकिक जीवन का आधार बताया गया है। यह व्यवस्था व्यवहारतः समाज में प्रचलित थी। वानप्रस्थाश्रम में कभी-कभी महिलाऐं आश्रम प्रणाली के अतिरिक्त समाज में अनेक संस्कार भी प्रचलित थे। यज्ञों का भी प्रचलन था। महाकाव्य काल में यद्यपि स्त्रियों की स्थिति में गिरावट दिखाई देती है। लेकिन कुछ स्त्रियों को उच्च प्रतिष्ठा प्राप्त थी। सीता, सावित्री, देवयानी, कुन्ती, द्रोपदी आदि ऐसी ही स्त्रियां थी।

समाज में बाल विवाह का अभाव था। स्त्रियों का शिक्षा पर ध्यान दिया जाता था। समाज में आठ प्रकार की विवाह प्रथाऐं प्रचलित थीः- ब्रह्मा, देव, आर्ष, प्राजापत्य, गांधर्व, असुर, राक्षस, पैशाच व अहर्भ्य। ब्राह्म विवाह को ही सर्वश्रेष्ठ माना जाता था। इसमें माता-पिता के संरक्षण में विवाह होता था। समाज में अंतर्जातीय विवाह प्रथा का प्रचलन था। फिर भी प्रतिलोम विवाह प्रणाली दिन-प्रतिदिन कम होती जा रही थी।

महाकाव्यों में शिक्षा को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। अनावीक्षकी (दर्शनशास्त्र व तर्क शास्त्र), त्रयी (वेद), वार्ता (कृषि, वाणिज्य आदि) और दण्ड नीति (रानीतिशास्त्र) को शिक्षा के पाठ्यक्रम में प्रमुख स्थान प्राप्त था।

11.6.3 आर्थिक जीवन :

महाकाव्यों में कृषि व पशुपालन का महत्वपूर्ण स्थान था। जाति प्रथा के विकास के साथ-साथ अनेक उद्योगधन्धों का प्रचलन हुआ। इनमें मुख्य थे - जुलाहे, लोहे, शीशे, रांगे आदि धातुओं की वस्तुऐं बनाना, कुम्हार, धोबी, स्वर्णकार, वैद्याआदि। आर्थिक समृद्धि व वैभव कायम था। महाकाव्यों में वर्णित समृद्धि की पुष्टि पुरातात्विक साक्ष्यों से नहीं होती है। विभिन्न व्यवसायों को राज्य का संरक्षण प्राप्त होता था। देश के अधिकांश व्यवसायी श्रेणियों में संगठित थे। इन श्रेणियों के अध्यक्ष थे जो "मुख्य" कहलाते थे। रामायण व महाभारत दोनों में ही श्रेणी मुख्यों का उल्लेख है। लंका से अयोध्या लौटने पर राम का स्वागत श्रेणी मुख्यों ने किया था। रामायण, लंकाकाण्ड 129 महाकाव्यों में वाणिज्य का उल्लेख है। महाभारत में उल्लेख है कि पाण्डवों को उपहार में पूर्वी देशों के हाथी, काम्बोज, गान्धार, बाह्लीक तथा प्राग्ज्योतिष के घोड़े, पश्चिमी देशों के ऊँट, कम्बोज से रूबी वस्त्र, बाह्लीक तथा चीन के रेशमी वस्त्र, सिन्धु के शील तथा मूलेच्छ देश के मोती आदि मिले थे। ये वस्तुए कृष्ण तथा पाण्डवों के सहयोगी एवं आश्रित राजाओं ने उन्हें दी थी। (महाभारत-आदि पर्व 199, 221, सभापर्व, 28, 30, 31, 49, 51) रामायण में भी काम्बोज और बाह्लीक अपने घोडों के लिए प्रसिद्ध थे। (रामायण, बालकाण्ड 6) व्यापार, समुद्री मार्ग से होता रहा होगा। महाभारत में समुद्रयात्राओं का वर्णन है। (महाभारत 3, 6, 4, 23-28.)

11.6.4 धार्मिक जीवन :

वैदिक युग से महाकाव्य काल के धार्मिक जीवन में काफी परिवर्तन हुआ था। कई नवीन धार्मिक प्रवृत्तियां विकसित हुई। कई नवीन दैवी देवताओं की पूजा प्रारंभ हो गयी थी। बहुदेववाद की प्रवृत्ति का विकास हो गया था। महाकाव्य काल में ईश्वर की तीन प्रमुख शक्तियां, सृजन शक्ति, भरण-पोषण शक्ति और संहारक शक्ति के प्रतीक ब्रह्मा, विष्णु और महेश हो गये थे। अवतारवाद की अवधारणा भी विकसित हुयी। ईश्वर के प्रतीक विष्णु का महत्व बढ़ गया था। इस समय यज्ञों का स्वरूप सरल होता दिखायी देता है। उत्तर वैदिक युग के रक्तिम यज्ञों के स्थान पर अब संयम और चरित्र, शुद्धि पर अधिक बल दिया जाने लगा था। यज्ञों का महत्व भी क्रम होने लगा था। इसके स्थान पर उच्च विचारधाराओं का विकास होने लगा था।

11.7 अनुभागीय इकाई का सारांश

भारतीय जीवन में रामायण और महाभारत का महत्वपूर्ण स्थान है। इन दोनों ग्रंथों का वर्तमान रूप एक ही समय में तैयार नहीं हुआ है। महाकाव्यों से तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक राजनीतिक व धार्मिक जीवन की झांकी मिल जाती है। महाकाव्यों में वर्णित, धर्म, आचार विचार संस्थाऐं प्रणालियां और आदर्श भारतीयों को प्रभावित करते आ रहे हैं। महाकाव्यों ने भारतीय संस्कृति को जीवित बनाये रखा है। रामायण में इक्ष्वाकु वंशीय दशरथ व उसके पुत्रों की कथा है। दशरथ राम को राजा बनाना चाहते थे, लेकिन उनकी रानी कैकयी भरत को शासक बनाना चाहती थी। उन्होंने राम को चौदह वर्ष का वनवास दिलवाया। सीता का अपहरण लंका के शासक रावण ने कर लिया। रावण पर विजय प्राप्त कर राम, लक्ष्मण सहित अयोध्या लौट आये। रावण के यहां रहने से सीता की आलोचना हुई, इसलिए राम ने उसका परित्याग कर दिया। वाल्मिकी आश्रम में उसने लव-कुश को जन्म दिया। राम ने जब अश्वमेध यज्ञ किया तब लव-कुश ने उनकी सेना के साथ युद्ध किया अंत में राम उनको अयोध्या ले आये। महाभारत में धृतराष्ट्र और पाण्डु की संतान - कौरव और पाण्डवों के संघर्ष की कहानी है। महाभारत की प्रमुख घटनाऐं निम्न हैं - पाण्डवों का राज निष्कासन, द्रोपदी का अर्जुन से विवाह, पाण्डवों द्वारा इन्द्रप्रस्थ को राजधानी बनाना, पांडवों, का जुए में हारना, पाण्डवों का तेरह वर्ष का वनवास, महाभारत का युद्ध, श्री कृष्ण द्वारा अर्जुन को गीता का उपदेश देना आदि। दोनों ही ऐतिहासिक दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। तत्कालीन राज्यों की स्थिति का इसमें अच्छा चित्रण हुआ है। तत्कालीन राजनीतिक चिंतन के बारे में भी इनसे जानकारी हो जाती है।

अभ्यास कार्य :-

निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर दीजिए :-

1. महाकाव्य क्या है इसकी रचना कब हुई। (100 शब्द)
2. महाकाव्यों के ऐतिहासिक महत्व को बताइए। (500 शब्द)

11.8 अर्थशास्त्र

प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिंतन की दो प्रमुख परंपराऐं थी - अर्थशास्त्र परम्परा व धर्मशास्त्र परंपरा। कौटिलीय अर्थशास्त्र - अर्थशास्त्र परंपरा का प्रतिनिधित्व करती है।

11.8.1 अर्थशास्त्र का कृतित्व :

प्राचीन काल से ही कौटिल्य या विष्णुगुप्त या चाणक्य को अर्थशास्त्र का प्रणेत माना जाता रहा है। कौटिल्य का वास्तविक नाम विष्णुगुप्त था। जिसका उल्लेख कामंदक ने अपने नीतिसार में किया है। बौद्ध तथा जैन साहित्य में चाणक्य के नाम का उल्लेख मिलता है। और उसका चन्द्रगुप्त के साथ संबंध बताया गया है। कादम्बरी मुद्राराक्षस तथा पंचतंत्र आदि में "कौटिल्य" शब्द का प्रयोग मिलता है। स्पष्ट हो जाता है कि विष्णुगुप्त, कौटिल्य, चाणक्य को एक ही व्यक्ति मानना होगा।

भारतीय ऐतिहासिक परम्परा कौटिल्य को चन्द्रगुप्त मौर्य के साथ संबंध करती है। कौटिल्य के चन्द्रगुप्त मौर्य के साथ घनिष्ठ संबंध थे। विष्णुपुराण में उल्लेख आया है - "कौटिल्य नाम का एक ब्राह्मण नन्दवंश का अंत करेगा। नंदवंश का अंत होने पर मौर्य राजा पृथ्वी का भोग करेंगे। कौटिल्य ही चन्द्रगुप्त मौर्य को मगध के राजपद पर अभिषक्त करेगा। (विष्णु पुराण 24, 6-6) इस कथन की पुष्टि अन्य पुराणों से भी होती है। मत्स्य, ब्रह्माण्ड तथा भागवत् पुराण भी इसी प्रकार का उल्लेख करते हैं। पुराणों के कथन की पुष्टि बौद्ध तथा जैन साहित्यिक परंपरा से भी होती है। इनमें भी चन्द्रगुप्त व चाणक्य का उल्लेख है। कामंदकीय नीतिसार में चाणक्य के बारे में निम्न उल्लेख है

नीतिशास्त्रामृत - धीमानर्थशास्त्रमहोदधे।
समुद्रधे नमस्तस्मै विष्णुगुप्ताय बेधसे॥

इससे स्पश्ट हो जाता है कि कौटिल्य का वास्तविक नाम विष्णुगुप्त था। और उसने अर्थशास्त्र की रचना की। दण्डी, बाण, विष्णुशर्मा, विशारवदत्त भी कौटिल्य को अर्थशास्त्र का रचियता मानते हैं। स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय साहित्यिक परंपरा अर्थशास्त्र के निर्माण का श्रेय विष्णुगुप्त या कौटिल्य को देती है। इस कथन की पुष्टि अर्थशास्त्र के आंतरिक साक्ष्य से भी हो जाती है।

अर्थशास्त्र में कई महत्वपूर्ण उल्लेख प्राप्त होते हैं जिससे हमें इसके रचियता का बोध होता है। इसके प्रथम अधिकरण के प्रथम अध्याय के अंत में कौटिल्य इस शास्त्र के प्रणेता बताए गए हैं :-

सुखग्रहणविज्ञेयं तत्वार्थपदनिश्चितम्।
कौटिल्येन कृतं शास्त्र विमुक्तग्रन्थविस्तरम्॥

श्लोक का अर्थ इस प्रकार से है :- "इस अर्थशास्त्र में तत्वार्थ और पदों का प्रयोग किया गया है। व्यर्थ विस्तार से यह ग्रंथ सर्वथा मुक्त है। इसे सरलता से समझा जा सकता है। इस अर्थशास्त्र की रचना कौटिल्य

ने की है। द्वितीय अधिकरण के 10वें अध्यास के अंत में भी उल्लेख आया है :

सर्वशास्त्राण्यनुक्रम्य प्रयोगयुपलम्य च।
कौटिल्येन नरेन्द्रार्थ शासनस्य विधि कृतः॥

इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार है :- आचार्य कौटिल्य ने सम्पूर्ण शास्त्रों का विधिवत् अध्ययन करके और उसके प्रयोग की अच्छी तरह परीक्षा करके ही राजाओं के लिए इस शासन विधि की रचना की है।" अर्थशास्त्र के 15वें अधिकरण का श्लोक भी दृष्टवय है। येन शास्त्रं च शास्त्रं च नन्दराजगता च भूः। अमर्षेणोदधृतान्याशु तेन शास्त्रमिदम कृतम॥

"जिसने शास्त्र, शास्त्र तथा नन्दराजा के अधीन हुई भूमि का क्रोधपूर्वक शीघ्र उद्धार किया, इसी ने इस शास्त्र की रचना की है।"

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि कौटिल्य जिन्होंने नंदवंश का उन्मूलन किया था अर्थशास्त्र के प्रणेता है। कौटिल्य ही चन्द्रगुप्त मौर्य के गुरू तथा मंत्री थे। चन्द्रगुप्त मौर्य का राज्यारोहण 322 ई. पू. माना जाता है। स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र का रचना काल भी इसी तिथि के आस-पास है।

11.8.2 अर्थशास्त्र विषयक विवाद :

अर्थशास्त्र और उसके निर्माता कौटिल्य के संबंध में जितना विवाद रहा उससे कहीं अधिक भ्रमपूर्ण धारणाऐं उसके स्थितिकाल के संबंध में प्रचारित हुई। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के सम्बन्ध में देशी व विदेशी दोनों विद्वानों में विवाद रहा है। कौटिल्य अर्थशास्त्र के रूप में पं. शामशास्त्री का नाम अमर है। उन्होंने अर्थशास्त्र के संदर्भ में तीन बातों का उल्लेख किया है - चन्द्रगुप्त मौर्य के अमात्य थे, अर्थशास्त्र कौटिल्य की ही कृति है व अर्थशास्त्र का यही प्रमाणिक मूल पाठ है। डॉ शामशास्त्री ने अपने संस्करण में चाणक्यकृत 571 सूत्रों का संग्रह किय है लेकिन यह कहना कठिन है कि इन सूत्रों का कौटिल्य से क्या संबंध है। चाणक्य की बहुत सी नीतियां प्रचलित हैं। निसंदेह ये नीतियां कौटिलीय अर्थशास्त्र के बहुत वाद की है और कहावतों के रूप में प्रचलित रही है। (काणे, पी. वी, धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृ. 34

इतिहासकारों के एक वर्ग ने जिनमें हिलब्रान्ट, याकोबी, स्मिथ आदि है। उन्होंने शामशास्त्री के निष्कर्षों से सहमति प्रकट की है। दूसरे वर्ग जिसमें डां. जाली, कीथ, विंटरनित्स है, के इतिहासकारों ने अर्थशास्त्र और उसकी प्रामाणिकता एवं रचनाकाल के बारे में संदेह प्रकट किया इनके अनुसार कौटिल्य, ग्रंथाकार का वास्तविक नाम न होकर एक कल्पित नाम है और अर्थशास्त्र तीसरी शताब्दी ई. का रचा हुआ एक जाली ग्रंथ है। "जायसवाल नीलकंठशास्त्री आदि भारतीय विद्वानों ने जाली तथा अन्य विद्वानों के मत का विखंडन किया है। (देखिए डां. जायवसाल, हिन्दु राजतंत्र परिशिष्ट "ग" पहला खण्ड नीलकंठशास्त्री वेद मौर्य युग, मौर्यन शासन प्रणाली अध्याय)

अर्थशास्त्र के संबंध में इस विवाद का हम विस्तार से उल्लेख करंगे। डां. जाली के अनुसार कौटिल्य एक काल्पनिक नाम है यह ऐतिहासिक वास्तविकता नहीं है। कौटिल्य का अर्थ कुटिलता है। डां. जाली ने मैगस्थनीज व कौटिलीय अर्थशास्त्र की असंगति पर भी बहुत जोर दिया है लेकिन इस संदर्भ में यह ध्यात्व्य है कि मैगस्थीज की मूल कृति हमें उपलब्ध नहीं है। इसके अलावा कौटिल्य एवं मैगस्थनीज के विवरणों में कुछ समानताऐं भी हैं। मैगस्थनीज ने नगर ग्राम आदि के पदाधिकारियों का उल्लेख किया है, जिसकी पुष्टि अर्थशास्त्र भी करता है।

जाली ने अर्थशास्त्र को ई.पू. तीसरी शताब्दी न रखने के संदर्भ में बहुत से तर्क दिए हैं। लेकिन ये सभी एक पक्षीय प्रतीत होते हैं। अर्थशास्त्र के अंतरंग साक्ष्य से यह मनुस्मृति व याज्ञवलक्य स्मृति से भी प्राचीन रचना लगती है। अर्थशास्त्र में वेद, वेदांग, इतिहास, पुराण, सांख्य, योग, लोकायत आदि का भी उल्लेख है, इससे इसकी प्राचीनता स्पष्ट हो जाती है। भारतीय साहित्यिक परंपरा के साक्ष्य के आधार पर अर्थशास्त्र को चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रधानामात्य कौटिल्य की कृति मानना ही उचित है।

11.8.3 अर्थशास्त्र का प्रभाव :

अर्थशास्त्र का संस्कृति साहित्य के रचनाकारों की कृतियों पर पर्याप्त प्रभाव पडा है। इससे अर्थशास्त्र की सार्वभौमिकता स्पष्ट हो जाती है। कालीदास, याज्ञवलक्य, वात्स्यायन, विष्णुशर्मा, विशाखदत्त, बाण, आदि स्मृतिकारों नें गद्यकारों नाटककारों की कृतियां अर्थशास्त्र से प्रभावित हैं। ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी से सातवीं शताब्दी ई. की अधिकतर रचनाओं पर कौटिल्य का प्रभाव दिखाई देता है। कालीदास के रघुवंश, कुमारसंभव, अभिज्ञान-शाकुन्तलम, अर्थशास्त्र से प्रभावित हैं - वात्सायन के कामसूत्र व विष्णुशर्मा के पंचतंत्र पर भी अर्थशास्त्र का प्रभाव है। विशाखदत्त के मुद्रा राक्षस व बाण की कादम्बरी भी अर्थशास्त्र से प्रभावित लगती है।

कौटिलीय अर्थशास्त्र व स्मृति-साहित्य में विशेष रूप से साम्यता दिखाई देती है याज्ञवल्वयस्मृति का व्यवहार विषयद् वर्णन कौटिलीय अर्थशास्त्र से काफी साम्यता रखता है। भाषा संबंधी समानता भी दिखाई देती है। संभवतः याज्ञवलक्य ने ही कौटिलीय अर्थशास्त्र से बहुत सी बातें गृहण की।

11.8.4 अर्थशास्त्र की विषयवस्तु :

अर्थशास्त्र में कुल 15 अधिकरण, 150 अध्याय, 180 विषय एवं 6000 श्लोक हैं। श्लोक अनुष्टुम जाति में अधिक है। कौटिलीय अर्थशास्त्र ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। यह ग्रंथ प्राचीन भारत के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं धार्मिक जीवन पर मूल्यवान प्रकाश डालता है। इसमें मानव जीवन के विभिन्न विषयों पर प्रकाश डाला गया है। प्रथम अधिकरण में राजा द्वारा शास्त्राध्ययन, आन्वीक्षिकी एवं राजनीति का स्थान, गुप्तचर संस्था, राजा की सुरक्षा आदि पर विचार हुआ है। दूसरे अधिकरण में ग्राम निर्माण, दुर्ग, भूमि, खानों, वनों, आय-व्यय

का निरीक्षण आदि का उल्लेख है। तीसरे अधिकरण में न्यायशासक, विधि विवाह के प्रकार, स्त्रीधन आदि से संबंधित वर्णन है। चौथे अधिकरण में कंटक निष्कासन, राष्ट्रीय विपत्तियों, राजकीय विभागों की रक्षा विविध प्रकार के दोषों के लिए अर्थदण्ड आदि का वर्णन है। पांचवें में राजकर्मचारियों के आचरण, वेतन, योग्यताऐं आदि बताई गयी है।

छठे में मंडल रचना, सप्तांग राज्य की अवधारणा, षड्विध राजनीति आदि का उल्लेख है। 7वें में नीति के छः गुण बताए जाते है। संधि, विग्रह, यान, आसन-शरण, गहना एवं द्वैधीभाव राजा एवं राजमण्डल आदि का वर्णन हैं। 8वें अधिकरण में राजा एवं राज्य के कष्ट आदि के बारे में विवरण है। 9वें अधिकरण में आक्रमणकारी के कार्य, आक्रमण के समय आदि के बारे में बताया गया हैं। 10वें अधिकरण में सेना के अभियान का उल्लेख है। 11वें अधिकरण में नगरपालिकाओं आदि का उल्लेख है। 12वें अधिकरण में शक्तिशाली शत्रु के बारे में दूत भेजना, गुप्तचर आदि का उल्लेख है। 13वें अधिकरण में दुर्ग को जीतना, फूट उत्पन्न करना, विजित राज्य में शांति उत्पन्न करना आदि का उल्लेख है। 14वें अधिकरण में गुप्त साधन, शत्रु की हत्या के उपाय, औषधियां, मंत्र प्रयोग आदि का वर्णन है। 15वें अधिकरण में इस कृति का विभाजन एवं उसकी युक्तियां उल्लखित हैं। अर्थशास्त्र की विषयवस्तु पर दृष्टिपात करने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि इसमें विभिन्न विषयों का समावेश है।

प्राचीन भारतीय सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, प्रशासनिक पक्षों पर कौटिलीय अर्थशास्त्र से महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है।

11.9 अर्थशास्त्र : ऐतिहासिक स्रोत के रूप में

कौटिल्य ने चारों वेदों, अर्थवेद, के मंत्र प्रयोग, छः वेदांगों, इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र एवं अर्थशास्त्र की चर्चा की है। इसमें सांख्य, योग एवं लोकायत की शाखाओं की ओर भी संकेत आया है। अर्थशास्त्र में ज्योतिष व धातुशास्त्र का भी उल्लेख हुआ है। कौटिल्य के समय संस्कृत ही जन भाषा थी। अर्थशास्त्र में कई भौगोलिक क्षेत्रों का भी उल्लेख हुआ है। इसमें चीन के रेशम एवं नेपाल के कम्बल की चर्चा हुई है। अर्थशास्त्र (11.1) में वृष्टियों के "संघ" कम्बोज एवं सुराष्ट्र के आयुध जीवी (युद्ध जीवी) एवं वार्ताजीवी (कृषि, व्यापार, जीवी) क्षत्रियों की श्रेणियों तथा लिच्छिविद, वृजिक, मल्लक, भद्रक, कुकुर तथा कुरूपन्चालों का वर्णन आया है। कौटिल्य (अर्थशास्त्र 3.13) म्लेच्छ जाति का भी उल्लेख करते हैं। जिसमें संतानों की बिक्री हो सकती है और उन्हें बन्धक रखा जा सकता है।

बौद्धों के विषय में कोई विशिष्ट विवरण नहीं मिलता है। एक जगह यह उल्लेख अवश्य मिलता है कि उस व्यक्ति को एक सौ पण देना पड़ेगा जो अपने घर में देवताओं या पितरों के सम्मान के समय बौद्ध (शाक्य) आजीवक या शुद्र साधु को भोजन के लिए निमंत्रित करता है। (कौ. 3-20) इससे स्पष्ट हो जाता है कि इस समय बौद्धों की सम्माननीय स्थिति नहीं थी।

कौटिल्य को जड़ी बूटियों का आश्चर्यजनक ज्ञान था। कौटिलीय अर्थशास्त्र में एक महत्वपूर्ण बात है दुर्ग में मंदिरों की स्थापना होना। विभिन्न विवरणों से अर्थशास्त्र की प्राचीनता सिद्ध हो जाती है।

कौटिल्य ने प्राचीन कालीन समाज में प्रचलित वर्णाश्रम व्यवस्था का समर्थन किया है। उसके अनुसार वर्णाश्रम से मर्यादित समाज सुखकर और मुक्तिदायी है। (अर्थशास्त्र, पृ० 13.)

प्राचीन शासन व्यवस्था का संपूर्ण चित्र कौटिलीय अर्थशास्त्र में प्राप्त होता है। मंत्रीपरिषद के सहयोग से ही राजा शासन कार्य चलाता था। कौटिल्य मंत्र की गोपनीयता पर भी जोर देते हैं। उनके अनुसार यदि कार्यान्वित होने से पहले ही किसी गुप्त योजना का फूट जाना, राजा और मंत्रिपरिषद दोनों के लिए अनिष्ट का कारण हो सकता है। (अर्थशास्त्र पृ. 43) अर्थशास्त्र में एक ऐसे विराट साम्राज्य की स्थापना का प्रयास किया गया है जिसकी शासन सत्ता निरकुंश हो। फिर भी उसमें लोककल्याण की भावना विद्यमान रहे। कौटिल्य ने राजा का पहला कर्तव्य प्रजा को प्रसन्न करना माना है। इसके अलावा राजा के प्रमुख कर्तव्य हैं - यज्ञ, प्रजापालन, न्याय, दान, शत्रु मित्र से उचित व्यवहार, विभिन्न विषयों के प्रकांड विद्वानों को उनके उपयुक्त स्थानों पर नियुक्त करना। (अर्थशास्त्र, पृ. 63-64)

कौटिल्य अर्थशास्त्र में राजदूत को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। (अर्थशास्त्र पृ. 50) परराष्ट्र संबंधी कार्यों में वह राजा का प्रतिनिधित्व करता है। गुप्तचरों को भी महत्वपूर्ण स्थना प्राप्त था।

कौटिलीय अर्थशास्त्र में न्याय व्यवस्था की विस्तार से विवेचना हुई है। न्याय व्यवस्था को दो भागों में बांटा गया है :-

(1) व्यवहार

(2) कण्टकशोधन

नागरिकों के पारस्परिक कलहों के मूल कारणों का पता लगाकर उनकी विवेचना करना और दोषी को दण्ड प्रदान करना व्यवहार के अंतर्गत आता है। कण्टकशोधन का संबंध राजकर्मचारियों से है। साथ ही इसमें पूंजीपति और दुर्जन, लोगों का भी समावेश है। राजकर्मचारियो व्यवसायियों, दुर्जनों से प्रजा की रक्षा करने के लिए ही कण्टशोधन स्थापित किए गए थे। समाज में होनें वाले शोषणों का कौटिल्य ने बहुत बारीकी से अध्ययन किया है।

कौटिल्य की दण्ड व्यवस्था के तीन अंश है अर्थदण्ड, शरीर दण्ड और कारागार दण्ड। अपराध के अनुसाद दण्ड दिया जाता था। अपराधियों के सुधार और बंदीग्रहों की सुव्यवस्था पर भी कौटिल्य ने ध्यान दिया है। कौटिल्य की दण्ड व्यवस्था बहुत वैज्ञानिक है। कौटिल्य ने चार विद्याओं (आन्वीक्षकी, गमी, वार्ता, दण्डनीति) में दण्डनीति को प्रमुखता प्रदान की है क्योंकि इसके द्वारा ही शेष तीनों विद्याओं का सुविधापूर्वक संचालन किया जा सकता है। (अर्थशास्त्र 12) वास्तव में कौटिल्य की दण्ड-व्यवस्था लोकत्याग के सिद्धांत पर आधारित है।

अर्थशास्त्र में राजा कानूनों का निर्माण तो कर सकता है, लेकिन वह ऐसा कानून नहीं बना सकता है। जो धर्म के विरूद्ध हो। (अर्थशास्त्र पृ. 259) न्यायिक कार्यों का संपादन सभा करती थी। सर्वप्रधान न्यायाधीश प्राइविवाक होता था। धर्मशास्त्र विभाग का मंत्री होता था जो धर्माधिकारी कहलाता था। न्याय का अंतिम निर्णयकर्त्ता राजा ही होता था। प्रधान न्यायाधीश का कर्तव्य था कि वह प्रत्येक निर्णित मुकदमें का पुनर्निरीक्षण करे। कौटिल्य की न्याय व्यवस्था बडी प्रभावशाली थी। यह कहते हैं - "जब राजा किसी निरपराध व्यक्ति को दण्ड देता है तो उस किये गये अर्थदण्ड का तीस गुना द्रव्य राजा को वरूण देवता के निमित्त जल में फेंकना पडता है, जिसे बाद में ब्राह्मणों में बांट दिया जाता है।' (अर्थशास्त्र पृ. 402) दण्ड के समक्ष राजा को भी रियासत नहीं दी जाती थी। कौटिल्य ने स्वयं राजा के लिए भी दण्ड व्यवस्था स्थापित की है एक सामाजिक व्यक्ति का परिवार के प्रति माता-पिता, पति-पत्नी, पुत्र शासक, शासित, नौकर, श्रमिक, व्यापारी, कलाकार, धोबी, ग्वाला, ग्राहक के प्रति क्या कर्त्तव्य है। इसकी भी व्याख्या कौटिल्य ने की है।

कौटिल्य की सामाजिक व प्रशासनिक व्यवस्था का आधार आर्थिक व्यवस्था है। कौटिल्य की अर्थनीति के तीन प्रमुख सिद्धांत है - प्रथम वर्ग के उद्योगों का संचालन राज्य द्वारा किया गया है। इनमें सोना, चांदी, शिलाजीत, तांबा, शीशा, टिन, लोहा आदि आकर उद्योग (Industry of Mines) आ सकते हैं। दूसरे प्रकार के उद्योगों पर जनता का ही स्वामित्व होता है। इनमें खेती, सूत, शिल्प, गोपालन, अश्वपालन, हस्तिपालन, सुरा, मांस, वेश्यालय आदि को रखा जा सकता है। इन्हें नागरिकों की निजी संपत्ति (Private Property) के रूप में माना गया है। कौटिल्य की अर्थनीति का तीसरा सिद्धांत समाज में ऐसी सुव्यवस्था बनाये रखने से संबंध है। जिसके अनुसार राज्य के समस्त उत्पादन (Production) वितरण (Distribution) और उपभोग (Consumption) पर राज्य का नियंत्रण हो। अर्थ-विभाग का सबसे बडा अधिकारी समाहार्ता कहा गया है। और भी बहुत से कर्मचारी होते थे। राजकोष की आय का स्रोत उपर्युक्त वर्णित उद्योगों के अलावा अर्थदण्ड, नाम-तौल का कर, नागरिकों द्वारा प्राप्त राज्यांश, कृषिकर उपज अंश, बलि कर, धार्मिक कर, वणिक कर आदि थे। इसके अलावा व्यावसायिक वस्तुओं के आयात-निर्यात से आमदनी होती थी।

11.10 धर्मशास्त्र

11.10.1 धर्म :

वेदों के बाद धर्मशास्त्र ग्रंथों का महत्वपूर्ण स्थान है। इनमें धर्म की व्याख्या की गयी है। इन ग्रंथों को स्मृति नाम से भी जाना जाता है। धर्मशब्द "धृ" धातु से बना है, जिसका तात्पर्य है धारणकरना, आलम्बन देना, पालन करना। प्राचीन काल में धर्म का अर्थ "निश्चित नियम" (व्यवस्था का सिद्धांत) या आचरणनियम से भी माना जाता था। धर्मशास्त्र ग्रंथों का प्रणयन उन ऋषियों द्वारा हुआ है जो वेदों के मर्मज्ञ थे। धर्म की परिभाषा में समयानुसार परिवर्तन होते रहते हैं। अंत में

धर्म मानव के विशेषाधिकारों, कर्तव्यों, बंधनों का द्योतक, आर्यजाति के सदस्य की आचार-विधि का परिचायक एवं वर्णाश्रम का द्योतक हो गया। (प्रों काणे, धर्म शास्त्र का इतिहास भाग (पृ० 2)

धर्मशास्त्रों का धर्म सम्प्रदाय विशेष व्यवस्था आधुनिक अर्थ में समझा जाने वाला धर्म नहीं था। प्राचीन भारत में चार पुरूषार्थों की अवधारणा विद्यमान थी। (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) इसी के माध्यम से लौकिक व पारलौकिक उपलब्धियां संभव थी। व्यक्ति का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है व प्रथम तीन पुरूषार्थ उसकी प्राप्ति के साधन हैं। याज्ञवलक्य ने (याज्ञवल्क्य स्मृति 1/122 व 3/66) सामान्य रूप में धर्म के अंतर्गत नैतिक नियमों का समावेश किया है। अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, पवित्रता, इन्द्रियों का संयम, दान देना, दया और धैर्य धारण करना ये सभी व्यक्तियों के लिए धर्म के साधन माने गये हैं तथा कहा गया है कि व्यक्ति को धर्म मन और वचन से यत्नपूर्वक धर्म का आचरण करना चाहिए।

धर्म के इस साधारण रूप के अलावा एक विशेष प्रकार के धर्म का प्रचलन प्राचीन काल में था। जैसे वर्णधर्म, आश्रम धर्म, राजधर्म, स्मृति धर्म, इसके वे कर्तव्य हैं जो वर्णाश्रम धर्म से संबंधित हैं और जिनका उल्लेख स्मृतियों में हुआ है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र चारों वर्णों के कर्तव्यों का विधान (निमित्त धर्म आदि)। इसमें वे प्रायश्चित होते थे जो निर्धारित कर्तव्यों का पालन न करने के फलस्वरूप करने पड़ते थे।

स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन काल में धर्म के अंतर्गत कर्तव्यों की एक लम्बी श्रृंखला थी। धर्मशास्त्रीयों में धर्म का स्वरूप संकीर्ण नहीं हैं, यह समस्त जीवन की आचरण संहिता है। धर्मशास्त्रियों में निम्न विषयों की चर्चा मिलती है - वर्ण आश्रम उनके कर्तव्य, उत्तरदायित्व एवं विशेषाधिकार, संस्कार (गर्भाधान से अन्त्येष्टि तक), स्नातक के कर्तव्य, वानप्रस्थआश्रम, संयासआश्रम, विवाह, गृहस्थ के कर्तव्य, शौच, पंच महायज्ञ, दान, शुद्धि, अशौच, स्त्री धर्म, स्त्रीपुंसधर्म, प्रायश्चित, कर्मविपाक, शान्ति।

1.1.10.2 धर्मशास्त्रों का परिचय :

धर्मशास्त्रों के अंतर्गत धर्मसूत्र व स्मृतियां आती हैं। धर्मसूत्रों में बहुत से ग्रंथ पाये जाते हैं, जिनमें बौधायन धर्मसूत्र, गौतम धर्मसूत्र एवं आपस्तम्ब धर्मसूत्र प्रमुख हैं। धर्मसूत्रों का रचनाकाल 600 ई.पू. के बीच माना जाता है। स्मृतियों का विकास श्रुति (वेद) से हुआ है। वैदिक परंपरा के साथ-साथ स्मृतियों में देश व काल की परिवर्तित परिस्थितियों का भी चित्रण हैं। ताल्कालीन हिन्दु समाज में धर्म से संबंधित नवीन प्रावधानों को लेखबद्ध करने की इच्छा से स्मृतियों का विकास हुआ।

स्मृतियों की संख्या बीस से अधिक है - लेकिन प्रमुख स्मृतियां निम्न हैं --मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, नारदस्मृति, विष्णु स्मृति, आत्रिस्मृति, हरीत स्मृति, काव्यापन स्मृति, बृहस्पति स्मृति, पाराशर स्मृति, व्यास स्मृति, शंख स्मृति, लिखित स्मृति, दक्ष स्मृति, वशिष्ठ स्मृति। सब स्मृतियों में सर्वाधिक प्रमाणिक और मान्य मनु और याज्ञवल्क्य की स्मृतियां हैं। इनमें मनुस्मृति सर्वाधिक प्राचीन है। इसमें बारह अध्याय हैं। जिनमें

आचार, व्यवहार, प्रायश्चित पर विचार किया गया है। मनुस्मृति से प्रमाणित है–अन्य सभी स्मृतियों में इसी को आधार माना गया है। मनुस्मृति को भृगु द्वारा संशोधित माना गया है। मेधातिथि, गोविन्दराज व कुमार भट्ट ने इसके ऊपर टीकाएं लिखी हैं।

मनुस्मृति के बाद याज्ञवलक्य स्मृति को महत्वपूर्ण माना गया है इसके भी तीन कांड हैं– आचार, व्यवहार, प्रायश्चित। याज्ञवल्क्य मनुस्मृति के बहुत से पक्षों पर सहमत हैं, लेकिन वे कई पक्षों पर अहसमत भी हैं। वियोग, उत्तराधिकार, जुआ, आदि बहुत से विषयों पर वे मनु से आधारित हैं। अपर्राक, मिताक्षरा इसके टीकाकार है। इनमें मिताक्षरा सबसे अधिक प्रमाणिक हैं। नारदस्मृति में व्यवहार पर ही चर्चा की गयी है। नारद स्मृति के अनुयायी ही प्रतीत होते हैं। नारद स्मृति के व्यवहार के 18 नामों में मनुस्मृति से थोड़ी भिन्नता मिलती है नारद नियोग, स्त्री के पुनः ———जुआ खेलने की कुछ विशेष परिस्थितियों में स्वीकृति देते हैं।

बृहस्पति स्मृति को रंगास्वामी आयंगर ने संकलित किया है। बृहस्पति स्मृति में 7 कांड हैं – व्यवहार, आचार, संस्कार, श्राद्ध, अशौच, आपदधर्म और प्रायश्चित। इसका अधिकांश भाग गद्य में लिखा गया है, लेकिन कहीं–कहीं पर पद्य भी हैं। बृहस्पति ने मनु का ही अनुगमन किया है, उन्हें मनुस्मृति का वर्तिकाकार कहा गया है। बृहस्पति स्मृति मनुस्मृति की ही पूरक मानी जाती है। मनु की तरह बृहस्पति भी नियोग के विरूद्ध है। उन्होंने व्यवहार के अठारह शीर्षकों को दो भागों में विभाजित किया है– चौदह को दीवानी (धनमूलक) व चार को (फौजदारी) में बृहस्पति ने दिव्य भी नौ प्रकार के बताए हैं। कात्यायन स्मृति के व्यवहार काण्ड को पी. वी. काणे ने संकलित किया है। कात्यायन का विवरण मनु, बृहस्पति, नारद व कौटिल्य से काफी समानता रखता है। काल्यायन स्मृति की प्रमुख विशेषता स्त्रीधन की व्याख्या है। नारद, याज्ञवल्क्य, कौटिल्य व धर्मसूत्राकार, बौधायन व गौतम की तरह कात्याय ने कुछ विशेष परिस्थितियों में नियोग का समर्थन करती हैं।

11.10.3 धर्मशास्त्र ग्रन्थों का निर्माण काल :

धर्मशास्त्र ग्रन्थों का निर्माण कब हुआ यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है। यास्क को निरूक्त में उत्तराधिकार के विषय में एक उद्धरण दिया है, जिसे ऋचां न कहा जाकर श्लोक कहा गया है। (निरूक्त 3.4.5) यदि वास्तव में धर्मसंबंधी विषयों के ग्रंथ यास्क के पूर्व विद्यमान थे तो धर्मशास्त्रीय ग्रंथों की तिथि बहुत प्राचीन मानी जायेगी। गौतम, बौधायन तथा आपस्तम्ब के धर्मसूत्र निश्चित रूप से ईसा पूर्व 600 और 300 के बीच के हैं। स्मृति ग्रन्थों के निर्माणकाल को लेकर भी बहुत मतभेद है। मनुस्मृति सबसे प्राचीन मानी गयी है। प्रो. काणे ने प्रमुख स्मृतियों का रचनाकाल इस प्रकार माना है – मनुस्मृति 200 ई पू. से लेकर 100 ई.पू. के मध्य, याज्ञवल्क्य स्मृति 100 ई.पू. से 300 के मध्य, नारद स्मृति 100–400 ई.पू. के मध्य बृहस्पति स्मृति 300–500 ई.पू. के मध्य (धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृ. 14)

11.11 ऐतिहासिक स्रोत के रूप में धर्मशास्त्र

सामान्यतया यह माना जाता है कि धर्मशास्त्र साहित्य में केवल धार्मिक बातों का ही उल्लेख किया गया है। लेकिन यह धारणा सही नहीं हैं। प्राचीन काल में धर्म का स्वरूप व्यापक था, जैसा कि हमने पूर्व में उल्लेखित किया है। इसके अंतर्गत संपूर्ण व्यवस्था आती थी। अर्थशास्त्रों में प्राचीन भारतीय सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक व राजनीतिक स्थिति का चित्रण हुआ है।

गौतम, बौधायन, आपस्तम्ब एवं वशिष्ठ के धर्मसूत्रों में निम्नलिखित विषयों का चित्रण है– वर्णाश्रम व्यवस्था, वर्णों के कर्तव्य एवं उत्तराधिकार, संस्कार (गर्भाधान से अन्त्येस्टि तक) ब्रह्मचारी कर्तव्य, अनध्याय (अवकाश के दिन) स्नातक (जिसका प्रथम आश्रम समाप्त हो जाता था) के कर्तव्य, विवाह,गृहस्थ कर्तव्य (द्वितीय आश्रम), शौच, पंच, महायज्ञ, दान, भक्ष्याभक्ष्य, बुद्धि अन्त्येष्टि, श्राद्ध, स्त्रीधर्म, स्त्रीपुंस धर्म, क्षत्रियों एवं राजाओं के धर्म, व्यवहार (कानून विधि, अपराध दण्ड, साझा, बंटवारा, दायभाग, गोद लेना, जुआ आदि) चार प्रमुख वर्ण,वर्णसंकर, उनके व्यवसाय, आपदधर्म प्रायश्चित कर्मविपाक शांति, वानप्रस्थ कर्तव्य (तृतीय आश्रम) संयास (चतुर्थ आश्रम) स्मृति साहित्य में भी इन विषयों पर चर्चा की गयी है। स्मृतियों में उपर्युक्त विषयों के अलावा प्रायश्चितों का भी विधान है। इनमें राजधर्म, और व्यवहार की भी व्यापक विवेचना हुई है। स्मृति साहित्य में प्राचीन काल की बहुत सी जातियों का उल्लेख भी हुआ है। धर्मशास्त्रसाहित्य से प्राचीन काल की स्त्रियों की स्थिति व शूद्रों की स्थिति का भी बोध हो जाता है। स्मृतियों में आर्यो की प्राचीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, जीवन की संरचना से संबंधित कानूनों का विवेचन है। सभी स्मृति ग्रंथों में व्यक्ति, समाज, वर्ण, जाति, धर्म, राजा के कर्तव्य राजा प्रजा संबंध न्याय विधान आदि पर बहुत से नियम और उपनियम एवं निषेध आदि का विवेचन है। प्राचीन भारतीय धार्मिक प्रथाओं और रूढ़ियों की भी इनमें विवेचना हुई है। स्मृतियों में दीवानी व फौजदारी धार्मिक प्रथाओं और रूढ़ियों की भी इनमें विवेचना हुई है। स्मृतियों की हम तत्कालीन सामाजिक, आचार विचार व्यवहार, सामाजिक एवं स्मृतियों तक आते ज़ाते भारतीय समाज में बहुत से नवीन परिवर्तन उत्पन्न हो गये थे। समाज को नवीन परम्पराओं व विचार धाराओं के साथ संगठित करना आवश्यक था। इनके साथ वैदिक परंपरा को भी अक्षुण रखना आवश्यक था।

11.12 स्मृति ग्रन्थों में वर्णित जीवन

प्राचीन भारतीय जीवन जो स्मृतियों में दिखाई देता है उसे हम निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत रख सकते हैं ।

1.12.1 आर्य संस्कृति का क्षेत्र

स्मृतियों में प्राचीन भारत की भौगोलिक स्थिति दिखाई देती है। मनुस्मृति में ब्रह्मावर्त, ब्रहमार्षि देश, मध्य देश और आर्यावर्त का उल्लेख है।

उत्तरी भारत के ये चार प्रमुख भाग माने गये हैं :– ब्रह्मावर्त तथा सरस्वती नदी और दशव्दती नदी के बीच में थ। आधुनिक पंजाब तथा उत्तर प्रदेश का अवध, रूहेलखण्ड का भाग ब्रह्मार्षि देश कहलाता है। इसमें कुरूक्षेत्र पांचाल मत्स्य और शूरसेन नामक आर्यों के राज्य हैं। सरस्वती नदी तथा प्रयाग के बीच के क्षेत्र को मध्य देश कहा जाता था। लगभग समस्त उत्तरी भारत को विन्ध्या और हिमालय के बीच के प्रदेश को आर्यावर्त माना जाता था। विष्णु स्मृति में आर्यावर्त आदि क्षेत्र अधिक व्यापक माना गया। इसमें लगभग समस्त भारतवर्ष सम्मिलित कर लिया गया।

इससे आभास होता है कि विष्णु स्मृति में रचनाकाल में आर्यसन्तुति का प्रसार दक्षिण भारत में हो गया था।

11.12.2 राजनीतिक जीवन

इस समय देश में कई छोटे–छोटे राज्य थे। प्रत्येक राज्य को "राष्ट्र" कहा जाता था। बड़े साम्राज्यों का अभाव था। देश में एक दृढ़ केन्द्रीय सत्ता और शासन नहीं था। धर्मशास्त्रों में राजा को देव–स्वरूप माना गया है। उसका प्रमुख कर्तव्य धर्म की रक्षा, प्रजा–पालन और रक्षण था। राजा निरंकुश नहीं हो सकता था। मन्त्रिपरिषद उस पर नियंत्रण रखती थी। वीरता पूर्वक युद्ध करना और अपने राज्य का विस्तार करना राजा का प्रमुख कर्तव्य था। मंत्रिपरिषद में 7 या 8 अमात्य होते थे। परिषद का प्रधान "मुख्यामात्य" कहलाता था। राज्य विभिन्न प्रशासनिक इकाईयों में विभाजित था। ग्रामीण, दशी, विंशी, शतेश, सहस्रेश आदि ग्रामीण पदाधिकारी होते थे। नगरों व ग्रामों की सुरक्षा के लिए सैनिक रखे जाते थे। राज्य की आय का प्रमुख साधन भूमिकर था। मनु ने ब्राह्मणों को राज्य कर से मुक्त माना है। लेकिन विष्णु स्मृति में ब्राह्मणों को कर मुक्त नहीं किया गया है। धर्मशास्त्रों में स्वायत्त शासन भी दिखाई देता है। कुल जाति, श्रेणी, व्यावसायिक संघ आदि के अपने अपने नियम होते थे। इनके विवादों को हल करने में इनका ध्यान रखा जाता था। राजा के न्यायालय के अतिरिक्त कुल श्रेणी, जनपद आदि के भी न्यायालय होते थे। बृहस्पति स्मृति में (प्रतिष्ठित अचल व अप्रतिष्ठित) अचल दो प्रकार के न्यायालय बताये गये हैं। स्मृतियों में विधि का अठारह शीर्षकों के अंतर्गत वर्गीकरण मिलता है। अपनी निर्दोषता साबित करने के लिए विभिन्न प्रकार के दिव्यों (परीक्षाओं) का प्रचलन था। न्यायालयों में साक्ष्य की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। याज्ञवल्क्य स्मृति में लिखित प्रमाण (Documentary Evidence) के सन्दर्भ में विस्तृत स्मृति में लिखित प्रमाण अपराधों के लिए भिन्न भिन्न दण्डों की व्यवस्था थी। साधारणतया दण्ड विधान कठोर था। मृत्यदंड अंतिम था, उससे पूर्व वाक, धिक, धन, दण्ड की व्यवस्था थी।

11.12.3 सामाजिक जीवन

धर्मशास्त्रकालीन भारत में दो ही वर्ग महत्वपूर्ण थे आर्य व अनार्य (म्लेच्छ) प्रथम वर्ग स्मृद्ध व सम्पन्न था।

समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, चार वर्णों का अस्तित्व था। स्मृति साहित्य में विभिन्न वर्णों के कर्तव्य बताये गये हैं। लोगों का जीवन वर्णाश्रम व्यवस्था पर आधारित होता था। चार आश्रमों का नेतृत्व माना जाता था – ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम और संयास आश्रम। प्रत्येक के कर्तव्य व विधि विधानों का उल्लेख स्मृतियों में मिलता है। उपनयन संस्कार के बाद ब्रह्मचर्य आश्रम की कुछ बात मानी गयी है। मनुस्मृति में विद्यार्थी जीवन के विभिन्न नियमों का विशद वर्णन है। विद्यार्थी गुरू–गृह में रहकर, वेदांग, दर्शन, उपनिषद आदि का भी उल्लेख स्मृतियों में हुआ है। गृहस्थ को सन्तानोत्पत्ति, अतिथि सत्कार, यज्ञ, हवन, अनुष्ठान, विविध संस्कार आदि कार्य संपन्न करने पड़ते थे। वानप्रस्थ व संयास आश्रम, परम ब्रह्म की खोज के लिए था। विभिन्न स्मृति ग्रंथों में स्त्रियों के कर्तव्य और अधिकारों के विषय में जनमत प्रतिपादित किये गये हैं। स्त्री के प्रति मनु के विचार अवश्य समुचित है। उन्होंने उसकी स्वतंत्रता का विरोध किया है। उन्होंने बाल–विवाह का भी समर्थन किया है। कन्या–विक्रय की प्रथा भी दिखाई देती है। मनु इसका विरोध करते हैं। वे कहते हैं एक दास को भी अपनी कन्या के लिए मूल्य नहीं होना चाहिए। इससे प्रकट होता है कि तत्कालीन समाज में कुछ लोग वर पक्ष से धन लेकर कन्याओं का विवाह करते थे। धर्मशास्त्रों में स्त्री के पतिव्रत्य धर्म और सतीत्व का अधिक महत्व बताया। व्याभिचारिणी स्त्री के लिए कठोर दण्ड व्यवस्था थी। मनु का विधवा विवाह व नियोग प्रथा का समर्थन नहीं किया है। नारद व यज्ञवल्क्य ने दोनों का समर्थन किया है। स्मृतियों में पर्दा प्रथा का समर्थन नहीं किया गया है। सती प्रथा का भी विस्तृत विवेचन नहीं किया, इससे स्पष्ट हो जाता है कि धर्मशास्त्र काल में इन प्रथाओं का अत्यधिक प्रचलन नहीं था। याज्ञवल्क्य ने विधवा स्त्री के संपत्ति अधिकारों को माना है। वैदिक काल की तुलना में इस समय स्त्रियों की स्थिति में गिरावट आ गयी थी। धर्मशास्त्रों में सदाचार का महत्व माना गया है। मनुस्मृति में सदाचार का महत्व बताया गया है। मनु के अनुसार सदाचार से मनुष्य दीर्घायु होता है। अभिष्टसंतान पाता है। और अक्षय धन प्राप्त करता है। धर्मशास्त्रों में जाति प्रथा का भी पूर्ण विकास हो जाता था।

11.12.4 आर्थिक जीवन

स्मृति साहित्य में ग्रामों के साथ–साथ नगरों का भी विकास हो रहा था। विभिन्न व्यवसायों का विकास हो चुका था। कृषि व पशुपालन तो लोगों का प्रमुख धंधा था ही। इसके अलावा समाज में विभिन्न प्रकार के उद्योग व्यवसाय प्रचलित थे। इनमें स्वर्णकार, लोहकार, ठठेरा, जुलाहा,दर्जी, सुनार, धनुषबाण बनाने वाले आदि मुख्य थे। सोना, चांदी, तांबा आदि विभिन्न प्रकार की धातुओं का भी कार्य होता था। शासकीय नियन्त्रण में खानों से बहुमूल्य रत्न और पाषाण निकाले जाते थे। वाणिज्य और व्यापार का विकास भी हो चुका था दुर्भिक्ष के समय व्यापारिक वस्तुएं विदेशों को नहीं भेजी जाती थीं। वस्तु विनिमय के साथ साथ मुद्राओं का भी प्रचलन था। विष्णुस्मृति में यवा, कृष्णाल, याशा, स्वर्ण, निष्क

आदि सिक्कों का उल्लेख है। नारद स्मृति में दिनार, पण, कार्षापण आदि मुद्राओं का उल्लेख है। अधिकारियों को वेतन नकदी सिक्कों की अपेक्षा भूमि के रूप में होता था। राज्य की आय का प्रमुख स्रोत भूमिकर था। कुल उत्पाद का 1/4 या 1/8 या 1/16 भूमिकर के रूप में राज्य लेता था। व्यापारिक माल पर भी कर लगता था। स्थान–स्थान पर चुंगी–चौकियां स्थापित कर दी गयी थीं।

11.13 भास का काल

भास प्राचीन काल के संस्कृत के प्रहित्यकार हैं। महाकवि कालिदास ने अपने नाटक "मालविकाग्निमित्र" में प्रख्यात यश भारत का उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कालीदास के समय में भारत के नाटक प्रख्यात हो चुके थे। बाणभट्ट ने भी अपने ग्रन्थ में "रामचरित" की भूमिका में भास के नाटक – गुणों का संक्षिप्त परिचय दिया है। राजशेखर ने भी 'स्वप्नवासवदत्त" की स्तुति की है। कवि जयदेव आदि भास की कविता कामिनी का ह्रास कहा है – "भासो हासः" । हास्य के प्रतीक विदूषक का अभिनव "स्वप्नवासवदत्त" में प्रशंसनीय है।

भास के समय का निर्धारण सरल नहीं है। श्रीगणपति शास्त्री का विचार है कि भास कौटिल्य और पाणिकी से भी प्राचीन है। इन्होंने भास का समय 5वीं श. ईसा पूर्व माना है। डा. बार्नेट के अनुसार भास 7वीं शती के एक केरलीव कवि से अभिन्न हैं। लेस्नी प्रिन्टज सुकंधकर आदि विद्वानों ने भास के नाटकों की भाषा संबंधी अंतरंग परीक्षा के आधार पर माना है कि भास कालीदास से भी प्राचीन है। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में भास के एक श्लोक को उद्धत किया है। इस आधार पर विद्वानों का विचार है कि भास कौटिल्य से भी पहले हुए थे। भास ने प्रद्याते, उदयन और दर्शक का आपकी रचनाओं में उल्लेख किया है। भास के दो नाटक स्वप्नवासवदत्त और प्रतिज्ञा यौगन्धरायण ऐतिहासिक घटना पर निर्भर है। भास की पूर्वसीमा भी इनके द्वारा निर्धारित की जा सकती है। भास ने तीन राजाओं का उल्लेख किया है –

(1) कौशाम्बी के उदयन (2) उज्जयिनी के प्रधोत (3) मगध के दर्शन। इन तीनों राजाओं का उल्लेख पुराणों, बौद्ध तथा जैन ग्रन्थों में मिलता है। उदयन और प्रद्योत समकालीन थे। बौद्ध व जैन ग्रन्थों के अनुसार प्रद्योत और अज्ञातशत्रु में दोनों बुद्ध महावीर के समकालीन थे। प्रद्योत दर्शक और उदयन ये तीनों 475 ई. पू. से 450 ई. पू. के मध्य में समकालीन रहे हैं।

अतः भास का समय 450 ई. पू. से पहले नहीं माना जा सकता है। पूर्व सिद्ध होता है। संभवतः भास उदयन का आश्रित कवि था। उसने अपने आश्रयदाता को अमर बनाने के लिए स्वप्नवासवदत्त और प्रतिज्ञायौगन्धरायण – इन दोनों नाटकों की रचना की है। भास का समय 450 ई. पू. के लगभग माना जा सकता है।

11.14 भास की रचनाएँ

भारत की तेरह रचनाएं केरल से प्राप्त हुई हैं। 1909 ई. में श्री टी0 गणपतिशास्त्री ने ट्रावनकोर राज्य से हन्हें प्राप्त किया, जो इस प्रकार है :–

(1) प्रतिमा
(2) अभिषेक
(3) पन्चराग
(4) मध्यभव्यायोग
(5) दूत घटोत्कच
(6) कणभार
(7) दूतवाक्य
(8) उरूभंग
(9) बालचरित
(10) दरिद्रचारूदत्त
(11) अविभारक
(12) प्रतिज्ञायौगन्धरायण
(13) स्वप्नवासवदत्त

प्रमुख नाटकों की विषयवस्तु पर प्रकाश डाला जा सकता है :–

प्रतिमा : इस नाटक में भास ने राम के वन गमन की घटना से लेकर रावण की मृत्यु तक की घटनाओं का वर्णन किया है।

अभिषेक : राम के अभिषेक का वर्णन किया गया है।

पंचराग : जब द्रोण ने पांडवों को आधा राज्य देने के लिए दुर्योधन से कहा । तब दुर्योधन ने यह प्रस्ताव रखा कि यदि पांच रात्रि में पांडव जग गये तो मैं उन्हें आधा राज्य दे दूँगा। द्रोण के प्रयत्न से पाण्डव जग भी गये और दुर्योधन ने उन्हें आधा राज्य दे दिया । महाभारत में इस घटना का उल्लेख नहीं है। मध्यमव्यायोग, दूतघटोत्कच, कर्णभार, दूतवाक्य और उरूभंग – वे नाटक महाभारत की विशिष्ट घटनाओं से अंतद्वन्द हैं ।

बालचरित : यह नाटक कृष्ण के बालचरित से संबद्ध हैं ।

दरिद्रचारूदत्त : इसमें चारूदत्त ब्राह्मण जो दरिद्र हैं किन्तु चरित्रवान हैं, मेनका और नगरवेश्या बसंतसेना के विशुद्ध प्रेम का वर्णन है।

आविमारक : यह भी प्रेम कथा से संबंधित हैं।

प्रतिज्ञायोगन्धरायण : इसमें वत्सराज उदयन के नीतिनिपुण मंत्री यौगन्धरायण की कूटनीतिक चालों का सुन्दर ढंग से प्रदर्शन हुआ है।

स्वप्नवासवदत्त : यह भास का सर्वाधिक महत्वपूर्ण नाटक है। इसमें वत्सराज उदयन का मगध की राजकुमारी पद्मावती से विवाह का वर्णन मिलता है। वासवदत्ता के जीवित रहते उदयन दूसरा विवाह नहीं करना चाहते थे। पद्मावती से विवाह करने के बाद भी वे वासवदत्ता को भूले नहीं हैं। उदयन के विलासमय जीवन व्यतीत करने के उपरांत आरूणि ने उनका राज्य का अधिकांश भाग छीन लिया था। उदयन के स्वामीभक्त मंत्री यौगन्धरायण मगधराज दर्शक की बहिन पद्मावती से उदयन का विवाह कराना चाहते थे। उसका एकमात्र ध्येय शत्रु को हराकर राज्य का उद्धार करना है। उसने वासवदत्ता को मृत घोषित करवा कर पद्मावती के आश्रम में रखा। वासवदत्ता के प्रेम में त्याग निहित हैं। जब देश का अधिकांश भाग छिन गया, केवल कौशाम्बी बची, तब उसने पति के सम्मान और प्रजा के हित की रक्षा के लिए मंत्री की योजना को सफल बनाने में सहयोग दिया। अंत में उदयन ने सफलता प्राप्त की। वे एक वीर व उदार शासक हैं। उन्होने शत्रु की वीरता को सराहा है। महासेन पद्योत के संदेश में उनकी वीरता की प्रशंसा की गयी है। लेकिन उदयन युद्ध में सफलता का श्रेय प्रद्योत, दर्शक, यौगन्धरायण और रूमण्वान को देते हैं। भास के नाटकों में ह्रास का पुट दिखायी देता है। स्वप्न वासवदत्ता में विदूषक का अस्तित्व है। जो राजा का मनोविनोद करता है। विकृत अंग, वाक्य और वेष से वह दर्शकों को हंसाता है। बसंतक प्रतिभाशाली व प्रत्युत्पन्नभति है। वह उदयन को उचित मंत्रणा भी देता है।

भास के नाटक ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। तत्कालीन समाज की राजनीतिक व सांस्कृतिक जीवन की झांकी हमें इनसे मिलती है। स्वप्नवासवदत्ता व प्रतिज्ञायौगन्धरायण दोनों का कथानक ऐतिहासिक है। इनमें वत्सनरेश उदयन व वासवदत्ता का प्रेम दर्शाया गया है।

यद्यपि लेखक ने अपनी कल्पना शक्ति व अलंकारिक भाषाशैली से ऐतिहासिक कथानक चित्रित किया है। प्राचीन भारतीय कवियों का दृष्टिकोण किसी भी ग्रंथ को काव्यात्मक आधार पर उत्कृष्टता प्रदान करना होता था। इसी आधार पर कई स्थानों पर ऐतिहासिक तथ्यों की उपेक्षा भी कर दी जाती थी।

11.15 इकाई का सारांश व अभ्यास कार्य :

प्रस्तुत इकाई में हमने महाकाव्यों, कौटिलीय अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र व भास के साहित्य की ऐतिहासिक विवेचना की है। महाकाव्यों (रामायण व महाभारत) में भारतीय संस्कृति व सभ्यता समाहित है। आज भी भारतीय समाज में इनका महत्व बना हुआ है। कौटिलीय अर्थशास्त्र मौर्यकाल की रचना है। इसमें प्राचीन भारतीय राजनीतिक व्यवस्था के साथ-साथ सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था से संबंधित विवरण भी उपलब्ध होता है। धर्मशास्त्रों में प्राचीन भारतीय धर्म का चित्रण हुआ है। प्राचीन भारतीय धर्म का अर्थ वर्तमान की भांति संकीर्ण नहीं था। धर्म एक व्यवस्था का पर्याय था। जिसके अन्तर्गत व्यक्ति के कर्तव्य-विशेषाधिकार, आचार विधि, वर्णाश्रमआदि सभी आ जाते थे। धर्मशास्त्र साहित्य बहुत

विस्तृत हैं। इसके अंतर्गत धर्मसूत्र स्मृतियां आदि आते हैं। लेकिन धर्मशास्त्रों के अंतर्गत मुख्यतः स्मृतियां ही प्रमुख मानी गयी है। स्मृतियों में मनु, याज्ञवल्क्य, नारद, बृहस्पति, कात्यायन की स्मृतियां ही उल्लेखनीय है। धर्मशास्त्रों में प्राचीन भारतीय सामाजिक व्यवस्था के साथ-साथ राजनीतिक व विधिक व्यवस्था का भी विवरण मिलता है। धर्मशास्त्रों में आर्य संस्कृति के भौगोलिक क्षेत्र का भी परिचय मिलता है। ब्रहावर्त, आर्यावर्त आदि नाम भौगोलिक क्षेत्र के ही है। देश में कई छोटे-छोटे राज्य विद्यमान थे। सामाजिक क्षेत्र में वर्णाश्रम व्यवस्था का प्रचलन था। नैतिक नियमों के साथ-साथ सदाचार पर जोर दिया गया था। ग्रामों के साथ-साथ नगरों का भी विकास हो चुका था। विभिन्न उद्योग व्यवसाय जैसे स्वर्णकार लोहकार, ठठेरा, जुलाहा, दर्जी आदि का प्रचलन था। खानों से भी धातुऐं निकाली जाती थी। वस्तु-विनियम के साथ-साथ मुद्राओं का प्रचलन भी हो चुका था।

भास की रचनाऐं भी ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। उनके समय के बारे में विवाद बना हुआ है। ये कालीदास से पूर्व ही ख्याति प्राप्त कर चुके थे। इनकी बहुत सी रचनाऐं हैं, जिनमें प्रतिज्ञायोगन्धरायण व स्वप्नवासवदत्त उल्लेखनीय है। इनके कथानक ऐतिहासिक हैं। तत्कालीन समाज का चित्रण इनमें हुआ है।

अभ्यास कार्य :

निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर दीजिए :-

1. धर्मशास्त्र क्या है? इनकी विषयवस्तु क्या है? (100 शब्द)
2. "स्मृतियां ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। इस कथन की व्याख्या कीजिए। (150 शब्द)
3. महाकवि भास पर एक लेख लिखिए। (200 शब्द)

11.16 प्रासंगिक पठनीय ग्रंथ

1. काणे, पी. वी., **धर्मशास्त्र का इतिहास**, वोल्यूम I, II एवं III
2. गैरोला, वाचस्पति, **संस्कृत साहित्य का इतिहास**
3. **अर्थशास्त्र आफ कौटिल्य**, सं. आर. शामशास्त्री
4. शर्मा, डी.पी., **दि रामायण आफ वाल्मिकी**
5. मजूमदार, आर. पी., (i) **दि क्लासिकल एज** (ii) **दि एज आफ इंपीरियल यूनिटी**

इकाई — 12

कालीदास - साहित्य, पुराण व हरिषेण की प्रयागप्रशस्ति की ऐतिहासिक विवेचना

इकाई संरचना

12.0 उद्देश्य

12.1 प्रस्तावना

12.2 कालीदास

12.2.1 काल निर्णय

12.2.2 कालीदास की रचनायें

12.2.3 कालीदास की रचनाओं का ऐतिहासिक महत्व

12.3 पुराण

12.4 पुराणों का ऐतिहासिक महत्व.

12.5 हरिषेण की प्रयागप्रशस्ति

12.6 प्रयागप्रशस्ति का ऐतिहासिक महत्व

12.7 इकाई सारांश व अभ्यास कार्य

12.8 प्रासंगिक पाठनीय ग्रंथ

12.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप यह जान सकेंगे कि —

(1) कालीदास की कौन–कौन सी रचनायें हैं?

(2) ऐतिहासिक दृष्टि से ये कितनी उपयोगी हैं?

(3) पुराण क्या हैं?

(4) हरिषेण की प्रयागप्रशस्ति का क्या महत्व है?

12.1 प्रस्तावना

प्राचीन भारतीय इतिहास के निर्माण के लिए हमें साहित्यिक व पुरातात्विक साक्ष्यों का सहारा लेना पड़ता है। साहित्यिक ग्रंथों में यद्यपि ऐतिहासिक घटनाओं का अलग से उल्लेख नहीं हुआ है फिर भी प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप से ऐतिहासिक तथ्यों की विवेचना हुई है। कालीदास संस्कृत के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं जिन्होंने विशाल साहित्य की रचना की है। इनमें बहुत से ऐतिहासिक तथ्य बिखरे पड़े हैं। तत्कालीन समाज के विभिन्न पहलुओं की झॉकी इनमें मिल जाती है। पुराण साहित्य हमें प्राचीन भारतीय धार्मिक मान्यताओं से परिचित कराता है। इसके अलावा उनसे तत्कालीन भौगोलिक, राजननीतिक, सामाजिक स्थिति का भी बोध होता है। हरिषेण गुप्तकालीन कवि हैं। उनकी प्रयाग प्रशस्ति में गुप्त शासक समुद्र गुप्त की उपलब्धियों का बोध होता है। प्रयागप्रशस्ति में वर्णित घटनाओं की पुष्टि अन्य साक्ष्यों से भी हो जाती है।

12.2 कालीदास

कालीदास संस्कृत के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी है। महाकाव्य, नाटक तथा गीति काव्य सभी क्षेत्रें में उनकी रचनायें अनुपम हैं। कालीदास उस समय के प्रतिनिधि कवि हैं जब भारतीय संस्कृति अपने उत्कर्ष पर थी। ऐसी महान् विभूति के जीवन और स्थान के संबंध में पर्याप्त विवाद है। उनके जीवन के साथ बहुत सी कहानियां घटनाओं के रूप में जोड़ दी गयी हैं। इन कहानियों में प्रारंभ में उन्हें मूर्ख बताया गया है और बाद में विद्वान। किंवदंती है कि महाकवि कालीदास बाल्यकाल में अत्यंत मूर्ख थे। अपने समय की विदूषी और ज्ञानगर्विता विद्योत्तमा नाम की राजकुमारी के साथ उनके विवाह का षडयंत्र रचा गया। पंडितों ने मूक शास्त्रार्थ का आयोजन किया और उसमें कालीदास को विजयी घोषित कराया। विवाहोपरांत पत्नी द्वारा तिरस्कृत होने पर कालीदास ने कालीदेवी

की उपासना की और विद्या प्राप्त की। वह अपूर्व कवित्व क्षमता के धनी थे जो अधूरे श्लोक को तत्काल पूरा कर देते थे। उनके ग्रंथों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने वेदों, दर्शनों, उपनिषदों, रामायण, महाभारत, गीता, पुराणों, आयुर्वेद, धनुर्धय, संगीत विद्या, ज्योतिष व्याकरण आदि का गम्भीर अध्ययन किया। एक उपाख्यान में यह भी वर्णन आया है कि उनकी हत्या एक लोभी वेश्या द्वारा लंका में कर दी गयी थी। दूसरी ओर यदि उनके ग्रंथों पर विचार किया जाए तो हमें काश्मीर, हिमालय, कलिंग, सिंधु, के प्रदेशों की भौगोलिक झांकी प्राप्त होती है। उन्होंने प्रकृति का इतना सजीव चित्रण किया है कि लगता है उन्होंने स्वयं इन स्थानों का भ्रमण किया होगा। तत्कालीन समाज के विभिन्न पहलुओं की झांकी हमें उनकी रचनाओं में मिलती है। महाकवि के जन्म के इतिहास के बारे में निश्चित ज्ञान नहीं है। सम्भवतः उज्जयिनी ही उनका निवास स्थान रहा होगा, क्योंकि इस नगरी में उनकी विशेष रूचि दिखायी देती है।

12.2.1 काल निर्णय

भारतीय जनश्रुति के अनुसार कालीदास विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों में से थे। विक्रमादित्य की उपाधि धारण करने वाला कौन सा शासक था? इस प्रश्न पर भी इतिहासकारों में मत विभिन्न है। कुछ विद्वान उन्हें प्रथम शताब्दी ईस्वी पूर्व का मानते हैं। परमारवंशीय महेन्द्रगुप्त के पुत्र विक्रमादित्य प्रथम शताब्दी ईस्वी पूर्व में उज्जयिनी के शासक हुए, जिन्होने शक विजय के उपलक्ष्य में विकम संवत् चलाया। जैन साहित्य में इस विक्रमादित्य का उल्लेख हुआ है। कई इतिहासकार कालीदास को इसी विक्रमादित्य का समकालीन मानते हैं। इस संदर्भ वे कालीदास के ग्रंथ विक्रमोर्वशीय का उल्लेख भी करते हैं। लेकिन यह मत ऐतिहासिक दृष्टि से सही नहीं है।

आधुनिक इतिहासकार उपर्युक्त मत को नहीं मानते हैं। उनके अनुसार कालीदास गुप्त शासक चन्द्रगुप्त द्वितीय (375-413 ई.) के समकालीन थे। कालीदास के ग्रंथ मालविकाग्निमित्र का नायक अग्निमित्र था और एहोल प्रशस्ति में इन्हें कवि स्वीकार किया गया है। स्पष्ट है कि कालीदास को अग्निमित्र (150 ई. पू.) और एहोल अभिलेख (634 ई.) के बीच में रखा जा सकता है। इनका नाम उस समय तक प्रसिद्धि पा चुका था। अन्तेकर के अनुसार कालीदास की उपयुक्त तिथि 4 थी श. ई. के अंत में है। (दि वाकाटक गुप्त एज, पृ. 405) डा. देवस्थली कालीदास का समय 100 ई. पू. से 450 ई के बीच निर्धारित करते हैं। (दि क्लासिकल एज पृ. 303) लेकिन कालीदास की रचनाओं

के आंतरिक साक्ष्य से स्पष्ट हो जाता है कि कालीदास चन्द्रगुप्त द्वितीय के समकालीन थे। "विक्रमादित्य" का विरुद–धारण करने वाला कालीदास की रचनाओं पर बौद्ध कवि अश्वघोष (प्रथम शताब्दी ईस्वी) की रचनाओं का प्रभाव स्पष्ट दिखायी देता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कालीदास अश्वघोष के बाद में हुए थे। कालीदास रघुवंश में 'हूण' नामक जाति का उल्लेख करते हैं। यह जाति गुप्त काल में ही भारत आयी थी। परंपरा के अनुसार वे विक्रमादित्य के दरबारी कवि थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय को ही उपाधि विक्रमांक अथवा विक्रमादित्य थी। वासुदेव विष्णु मिराशी का अनुमान है कि इस सम्राट ने कालीदास को अपने नाती प्रवरसेन द्वितीय का शिक्षक नियुक्त किया था। यही नरेश सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'सेतुबन्ध' का प्रणेता था। सेतुबंध के टीकाकार ने लिखा है कि ग्रंथ की रचना के समय प्रवरसेन से अशुद्धियाँ हो रही थीं। फलतः महाराजाधिराज विक्रमादित्य की आज्ञा से कालीदास ने प्रवरसेन के निमित्त इस ग्रंथ का प्रणयन किया।

(इह तावन्महाराजप्रवरसेन निमित्तं महाराजाधिराज विक्रमादित्येनाज्ञप्तौ निखिलकविचक्रचूडामणिः कालिदासमहाशयः सेतुबंधप्रबन्ध विकीर्षुः सेतुबन्ध, पृ. 3)

कालीदास ने 'कुन्तलेश्वरदौत्य' नामक काव्य भी लिखा था। लेकिन इसकी कोई भी पाण्डुलिपि प्राप्त नहीं हुयी है। इसके एक श्लोक को क्षेमेन्द्र ने अपने औचत्यविचरिचर्चा नामक ग्रंथ में उद्धृत किया है। इन श्लोकों से स्पष्ट हो जाता है कि विक्रमादित्य नामक नरेश ने कालीदास को अपना राजदूत बनाकर कुन्तल प्रदेश के शासक के पास भेजा था। वहां से आने के बाद कालीदास ने विक्रमादित्य के समक्ष कुन्तल दरबार का वर्णन किया – कुन्तल प्रदेश का प्रतिनिधित्व वर्तमान के कनाडी जिलों के द्वारा किया जाता है। गुप्तकाल में वहां कदम्ब वंश राज्य कर रहा था। इस राजवंश के शासक काकुस्थवर्मा की पुत्री गुप्त–राजकुल में ब्याही गयी थी। यह घटना चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समय की लगती है। कई इतिहासकार यह मानते हैं कि उनकी पत्नी अनन्तदेवी सम्भवतः कदम्ब राजकुल की कन्या रही होगी। कालीदास का कुन्तलेश्वर काकुत्स्थवर्मा रहा होगा। इस प्रमाण से भी कालीदास चन्द्रगुप्त द्वितीय के समकालीन लगते हैं। कालीदास की रचनाओं में जिस सामाजिक जीवन का वर्णन है वह बहुत शांत, सुखी और समृद्ध दिखायी देता है। यह अवस्था चन्द्रगुप्त द्वितीय के ही शासनकाल की है।

12.2.2 कालीदास की रचनायें

कालीदास ने बहुत नाटकों व काव्यों की रचना की है। इन्होंने रघुवंश, कुमारसंभव, ऋतुसंहार और मेघदूत जैसे काव्यों

और अभिज्ञान शाकुन्तलम्, मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशी नामक नाटकों की रचना की। कालीदास के ग्रंथों से समकालीन समाज की झांकी प्राप्त होती है। इनके ग्रंथों में वैदिक साहित्य, षडदर्शन, नाट्यशास्त्र, व्याकरण, ज्योतिष शास्त्र तथा ललितकलाओं की भी विवेचना की गयी है। कालीदास की रचना शैली व विचारधारा दोनें ही बहुत उत्कृष्ट हैं। इनके विविध अलंकारों के प्रयोग में उपमा का स्थान सर्वोपरी है। एक स्थान पर यदि कोई उपमा प्रयुक्त हुयी है तो वह दौबारा अन्य स्थान पर दिखायी नहीं देती है। इनकी प्रमुख रचनाओं का परिचय इस प्रकार है —

ऋतुसंहार — यह गीतिकाव्य है, इसमें ग्रीष्म ऋतु से लेकर बसंतऋतु तक छः ऋतुओं का वर्णन है।

कुमारसंभव — यह महाकाव्य है। इसमें शिव पार्वती के विवाह, कार्तिकेय के जन्म तथा तारकासुर के वध की कथा का वर्णन है। इसमें हिमालय के सौंदर्य का सुंदर चित्रण हुआ है।

रघुवंश — यह महाकाव्य है। जिसमें सूर्यवंशी राजा दिलीप, रघु, अज, दशरथ तथा राम के वंशज राजाओं का चरित्र वर्णित है। राम के चरित्र का भी वर्णन किया गया है। दिलीप के पुत्र रघु द्वारा भारत की दिग्विजय का उल्लेख किया गया है। कालीदास के इस ग्रंथ से स्पष्ट हो जाता है कि रघुवंशी बहुत उदार तथा प्रजापालक थे।

मेघदूत — यह गीतिकाव्य का अनुपम उदाहरण है। इसमें एक यक्ष वर्षा ऋतु आने पर मेघ के द्वारा अपनी प्रिया को संदेश भेजता है।

कालीदास ने बहुत से नाटक भी लिखे हैं जिनमें निम्नलिखित महत्वपूर्ण हैं —

मालविकाग्निमित्र — यह एक ऐतिहासिक नाटक है। इसका विषय शुंगवंशीय राजा अग्निमित्र तथा मालविका की प्रेम कथा है। मालविका एक परिचारिका है जो अपने सौंदर्य से अग्निमित्र को प्रभावित करती है। यह एक उत्कृष्ट नाटक है जिसके संवाद बहुत आकर्षक है। शुंगकालीन इतिहास की कई महत्वपूर्ण सूचनायें इस नाटक से मिलती हैं। मौर्य साम्राज्य के बाद शुंग एक महत्वपूर्ण शक्ति के रूप में उदित हुए। पुष्यमित्र मगध साम्राज्य की सैनिक शक्ति को सफलतापूर्वक सिंधु के तट तक ले गया और अपनी विजयों की पूर्णाहुति उसने दो अश्वमेघ यज्ञों से की। (मजूमदार, रमेशचन्द्र : प्राचीन भारत पृ. 94) पतंजलि का महामात्य व मालविकाग्निमित्र से भी इस तरह से संकेत मिलते

हैं। मालविकाग्निमित्र में उल्लेख है कि पुष्यमित्र के वीर पौत्र और विदिशा के शासक अग्निमित्र के पुत्र वसुमित्र ने यज्ञ के घोड़े की रखवाली का काम किया था। साथ ही उसने सिंधु तट पर यवनों से घोर युद्ध कर उसकी रक्षा की। शुंग शासनकाल में यवनों से निरंतर लड़ाईयां होती रहीं। यह वह समय था जब मगध का राजनीतिक प्रभुत्व क्षीण होता जा रहा था। विदेशी आक्रमण और सत्ता के लिए संघर्ष यही पाटलिपुत्र की नियति बन गयी थी। सर्वत्र स्वतंत्र राज्य उदित हो रहे थे जिनमें राजतंत्रात्मक के साथ–साथ लोकतंत्रात्मक स्वरूप के भी थे।

विक्रमोर्वशीय – इस नाटक में राजा पुरूरूवा तथा उर्वशी अप्सरा के प्रेम की कथा का वर्णन है।

अभिज्ञानशाकुन्तलम् – यह समस्त संस्कृत साहित्य का सर्वोत्कृष्ट नाटक है। इसमें हस्तिनापुर के शासक दुष्यंत तथा शकुन्तला के प्रेम वियोग तथा पुनर्मिलन को दर्शाया गया है। अभिज्ञानशकुन्तलम् में संवाद रोचक, स्वाभविक तथा चित्रात्मक है। इस नाटक में प्रकृति का भी सजीव चित्रण किया गया है। प्रकृति का मानव भावनाओं के साथ तादात्म्य स्थापित किया गया है। कालीदास सौंदर्य का सजीव चित्रण किया गया है। नारी सौंदर्य में भी उनकी रूचि है। सौंदर्य से तात्पर्य शारीरिक सौंदर्य ही नहीं है वरन् स्त्री का सच्चा सौंदर्य चरित्र है। कालीदास ने नारी को भोग्या नहीं माना है वरन् उसे 'गृहिणी, सचिव तथा सखा के रूप में देखता है। कालीदास ने अपनी रचनाओं में सच्चे प्रेम का आदर्श प्रस्तुत किया है। कालीदास स्वच्छंद प्रेम का समर्थन नहीं करते हैं। उनके अनुसार केवल विषयवासना से युक्त प्रेम ही सच्चा नहीं है। वियोग के अग्नि में वासना के जल जाने पर ही सच्चा प्रेम निखरता है।

12.2.3 कालीदास की रचनाओं का ऐतिहासिक महत्व

साहित्यिक व सांस्कृतिक दृष्टि से कालीदास की रचनायें महत्वपूर्ण हैं। साहित्यिक क्षेत्र में तो वे अतुलनीय हैं ही वे भारतीय संस्कृति के उत्कर्ष काल का चित्रण करती है। उनकी रचनाओं में तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक जीवन का सच्चा चित्रण मिलता है। तत्कालीन सामाजिक जीवन वर्णव्यवस्था पर आधारित था। समाज में चार प्रमुख वर्ण थे। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। सभी लोगों के कर्म उनके वर्णों के अनुरूप होते थे। परंपरागत् जीविका के माध्यम को छोड़ा नहीं जाता था। लेकिन परिवर्तनशीलता भी परिलक्षित होती है। वर्णव्यवस्था के बंधनों की कठोरता कम हो गयी थी। व्यवसाय

का चयन समय एवं परिस्थितियों के अनुसार निर्धारित होने लगा था। प्राचीन मान्यताओं का परित्याग कर नवीन वातावरण एवं परिस्थितियों के सांचे में ढलने का सुंदर उल्लेख मालविकाग्निमित्र में मिलता है। इसमें परिपार्श्वक सूत्रधार से यह प्रश्न करता है कि भास, सौमिल्लक एवं कतिपुत्र सह यशस्वी प्राचीन कवियों के नाटकों को छोड़कर लोग आजकल के इस नए कवि कालीदास के नाटक को क्यों खेलने जा रहे हैं। इस पर सूत्रधार उसे फटकारता हुआ कहता है — लगता है आपकी बुद्धि कहीं विश्राम करने चली गयी है। देखिए, पुराने होने से ही न तो सब लोग अच्छे हो जाते हैं और न नए होने से बुरे हो जाते हैं — समझदार लोग तो दोनों की पहले भली–भाँति पहचान करते हैं। उनमें उन्हें जो अच्छा लगता है, उसे वे अपना लेते हैं। परंतु जिनके पास अपनी बुद्धि नहीं होती, उन्हें दूसरे जैसा समझा देते हैं, उसे ही वे ठीक मान लेते हैं। पुराणमित्येव न साधु सर्व न चापि काव्यं नवमित्य — सतः परीक्ष्यान्यतरंभज भूदः परप्रत्ययनेयबुद्धिः।।

मालविकाग्निमित्रम्, प्रथम अंक, श्लोक 2।

शूद्रक के मृच्छकटिक में भी परिवर्तनशीलता दृष्टिगोचर होती है। इसमें उज्जयिनी के चारूदत्त नामक ब्राह्मण का उल्लेख है जो सार्थवाह (व्यापारी) का कार्य करने लग गया था। कालीदास गुप्तकाल के कवि हैं। इस युग के ठाठवाट एवं समृद्धि का परिचय हमें कालीदास के अलावा वात्सायन के काम सूत्र व शूद्रक के मृच्छकटिक में भी मिलता है।

कालीदास की रचनाओं में आश्रम व्यवस्था का भी उल्लेख है। भारतीय जीवन में चार पुरूषार्थ — धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष प्रतिष्ठित थे। व्यक्ति का लक्ष्य इनकी साधना होता था। मानव जीवन को चार भागों में बांटा गया था — ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास। सामान्यतः 25 वर्ष की आयु तक ब्रह्मचर्य, 25 से 50 तक गृहस्थ, 50 से 75 तक वानप्रस्थ तथा 75 से 100 तक सन्यास आश्रम की व्यवस्था की गयी थी।

कालीदास कालीन समाज में नारी को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। स्त्रियां शिक्षित होती थीं। अभिज्ञानशकुन्तलम् की शकुन्तला, प्रियंबदा व अनुसूया शिक्षित थीं। स्त्रियां संगीत, चित्रकला आदि में प्रवीण होती थीं। विवाह व्यस्कता प्राप्त कर लेने के उपरांत ही होते थे। गांधर्व विवाहों का समाज में प्रचलन था। समाज में पर्दा–प्रथा का प्रचलन था। लेकिन यह प्रथा उच्च वर्गों में अधिक प्रचलित थी। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में शकुन्तला को दुष्यंत के समक्ष पर्दा करते हुए दिखाया गया है। बहुविवाह का भी

प्रचलन था। तत्कालीन समाज में आश्रमों को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। आश्रम शैक्षणिक व आध्यात्मिक गतिविधियों के केंद्र थे। इनका वातावरण बहुत शांत होता था।

कालीदास कालीन आर्थिक जीवन उन्नत था। पाटलिपुत्र व उज्जयिनी दो प्रमुख नगर थे। कालीसाद के ग्रंथों में उज्जयिनी की बहुत प्रशंसा हुयी है। कालीदास ने मेघदूत में कहा है कि यह स्वर्ग का चमकता हुआ टुकड़ा है जिसके उपभोग निमित्त देवता लोग स्वर्ग को छोड़कर पृथ्वी पर उतर आए थे।

कालीदास की सभी रचनाओं में आर्थिक समृद्धि का माहौल दिखायी देता है। शूद्रक के मृच्छकाटिक वात्सायन के कामसूत्र व भास की रचनाओं में भी आर्थिक समृद्धि का चित्रण है। उन्होंने भौतिकवाद व आध्यात्मिक मूल्यों के बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया है। उनकी रचनाओं में लोक कल्याण का आदर्श ही सर्वोपरि है।

12.3 पुराण

पुराण का शाब्दिक अर्थ प्राचीन है। इनमें प्राचीन कथानक, वंशावली, इतिहास, भूगोल, ज्ञान–विज्ञान आदि सभी प्राचीन तत्वों का समावेश है। पुरानों के संबंध में बहुत सी परिभाषायें दी गयी हैं। जैसे — प्राचीन आख्यान, प्राचीन समय में सजीव, संसार की उत्पत्ति और विकास कम का बोधक, पुरूष और प्रकृति के चिंतन में संलग्न, प्राचीन परंपरा के प्रतिपादड ग्रंथ, विश्व रचना का इतिहास आदि। विष्णु पुराण में प्रतिवाद्य विषयों के आधार पर पुराण के लक्षण बताए गए हैं —

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो भन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पन्चलक्षणम्।।

पुराणों में निम्न पांच बातें होनी चाहिए —

(1) सर्ग — सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन (2) प्रतिसर्ग — प्रलय एवं सृष्टि का पुनः प्रादुर्भाव (3) वंश — देवों और ऋषियों की वंशावली (4) मन्वन्तर — प्रत्येक मनु का काल और उस समय की प्रमुख घटनायें (5) वंशानुचरित — सूर्य और चंद्रवंशी राजाओं का जीवन चरित। ये पांचो लक्षण विष्णु पुराण पर ही घटित होते हैं। अन्य पुराणों में इनके अतिरिक्त भी बहुत से विषय शामिल किए गए हैं। जैसे — प्रार्थना, उपवास, व्रत, तीर्थ, भौगोलिक स्थान, ज्योतिष, शरीर विज्ञान, आयुर्वेद, व्याकरण, काल शास्त्र आदि का वर्णन।

पुराणों का रचनाकाल :

इनकी पूर्व सीमा 600 ई. पू. के लगभग है और अंतिम सीमा 800 ई. के लगभग है। धर्मसूत्रों व महाभारत में पुराणों का उल्लेख है। धर्मसूत्रों का समय 500 ई. पू. से पहले का है, अतः पुराणों का प्रारम्भ लगभग 600 ई. पू. में हुआ होगा। स्पष्ट है कि पुराण सामग्री का निर्माण काफी लंबे समय में हुआ। पुराणों की कुछ सामग्री तीसरी सदी ई. पू. की भी है।

विषयवस्तु :

पुराणों में मुख्य रूप से निम्नलिखित बातों काप उल्लेख है :

(1) किसी देव या देवी का उपासना। उसी को सबसे बड़ी शक्ति मानना।

(2) ब्रह्मा, विष्णु, महेश में से किसी एक को इष्टदेव मानना।

(3) सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय का वर्णन करना।

(4) देवों, ऋषियों और महर्षियों की वंशावली तथा उनका जीवन–वृत्त देना।

(5) प्रत्येक मनु का नाम, उसका समय, उस समय की प्रमुख घटनायें।

(6) नंद, मौर्य, शुंग, आन्ध्र और गुप्त आदि सूर्यवंशी एवं चंद्रवंशी राजाओं का वर्णन।

व्रत, जाप, उपवास, प्रार्थना, उपासना एवं विभिन्न अनुष्ठानों का वर्णन करना।

(8) अवतारवाद मूर्तिपूजा की स्थापना।

(9) सगुणोपासना – व भक्ति मार्ग पर जोर देना।

(10) दार्शनिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं आचार्यशास्त्रीयत्वपूर्ण विषयों का विश्लेषण।

(11) व्याकरण, काव्य, शास्त्र ज्योतिष, शरीर, विज्ञान, आयुर्वेद आदि विषयों से संबंध तथ्यों का संकलन करना।

पुराणों की संख्या :

पुराण साहित्य काफी विस्तृत है। इसमें 18 पुरान एवं 100 से अधिक उप–पुराण आते हैं। यह माना गया है कि प्रारम्भ में केवल एक पुराण था और उसी से संपूर्ण पुरान साहित्य का विकास हुआ। इस एक पुराण की विषय सामग्री के विषय

में पुराणों में यह कथा दी गयी है कि व्यास कृष्ण द्वैपायक ने वेद को चार भागों में विभाजित किया। इसके बाद उन्होंने आख्यानों, उपाख्यानों, गाथाओं एवं कल्पजोरियों से पुराण संहिता की रचना की। अठारह पुराण निम्नलिखित हैं :

(1) मत्स्य	(2) मार्कण्डेय	(3) भविष्य
(4) भागवत्	(5) ब्रह्माण्ड	(6) ब्रह्मवैवर्त
(7) ब्रह्म	(8) वामन	(9) वराह
(10) विष्णु	(11) वायु (शिव)	(12) अग्नि
(13) नारद	(14) पद्म	(15) लिंग
(16) गरूड	(17) कूर्म	(18) स्कंद

गरूष्ड पुराण के अनुसार 18 उपपुराणों के नाम इस प्रकार हैं – सनतकुमार, नारसिंह, स्कांद, शिवधर्म, आश्चर्य, नारकीय, कापिल, वामन, औशनस, ब्रह्माण्ड, वारूण, कालिडा, माहेश्वर, साम्ब, सौर, पराशर, मारीच, भार्गव। इनके नाम, संख्या, महापुराण या उपपुराण में गणना हेतु विषय में पर्याप्त मतभेद हैं। विभिन्न पुरानों का संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार हैं :

(1) **विष्णु पुराण** –

इसके रचयिता पराशर हैं। इस पुराण का साहित्यिक, दार्शनिक और ऐतिहासिक महत्व है। इसमें वैष्णव धर्म की प्रधानता है। इसमें पुराण के सभी लक्षण मिलते हैं। इसमें मौर्य राजाओं की प्रामाणिक वंशावली दी गयी है। शंकराचार्य ने केवल इस पुराण से ही उद्धरण दिए हैं, अन्य किसी से नहीं। प्रमाणिकता व प्राचीनता की दृष्टि से यह उल्लेखनीय है।

(2) **भागवत् पुराण :**

यह भी वैष्णव धर्म को प्रमुखता देता है। इसमें 12 स्कंधों में 18 हजार श्लोक हैं। इसमें कृष्ण लीलाओं का चित्रण दिया गया है। इसकी शैली अत्यंत परिष्कृत है। बीच–बीच में गम्भीर दार्शनिक विवेचन भी मिलता है।

(3) **अग्निपुराण :**

उपयोगिता की दृष्टि से यह महत्वपूर्ण है। इसे विश्वकोष कहा जा सकता हैं यह संकलन ग्रंथ प्रतीत होता है। इसमें विभिन्न विषयों (काव्य, व्याकरण आयुर्वेद, ज्योतिष, स्थाप्त्य, वैदिक कर्मकाण्ड) आदि का समावेश है।

(4) **मत्स्य पुराण :**

ऐतिहासिक दृष्टि से यह महत्वपूर्ण है। इसमें आन्ध्र राजाओं की प्रामाणिक वंशावली दी गयी है। इसमें दक्षिण भारत की मूर्तिकला, वास्तुकला एवं स्थापत्य कला का सुंदर वर्णन है। इसमें जैन धर्म व बौद्ध धर्म तथा दक्षिण भारत का भी उल्लेख हुआ है।

(5) **मार्कण्डेय पुराण :**

इसमें इन्द्र, ब्रह्मा, अग्नि और सूर्य दो प्रमुख देवता मानकर उनकी स्तुती की गयी है। देवी दुर्गा की स्तुति भी मिलती है।

(6) **भविष्य पुराण :**

इसमें भविष्य वाणियाँ हैं। चारो वर्णों के कर्तव्य भी मिलते हैं।

(7) **ब्रह्माण्ड पुराण :**

इसमें तीर्थ महात्म्य और उपाख्यानों का संग्रह है। इसमें 7 खण्डों में अध्यात्म रामायण भी दी हुयी है।

(8) **ब्रह्मवैवर्त पुराण :**

इसमें सृष्टि को ब्रह्म का विवर्त माना है। इसमें चार खण्ड हैं – ब्रह्म खण्ड, प्रकृति खण्ड, गणेश खण्ड, और कृष्ण–जन्म खण्ड।

(9) **ब्रह्म पुराण :**

इसे आदि पुराण भी कहते हैं। इसमें उडीसा के तीर्थों का महत्व वर्णित हैं।

(10) **वामन पुराण :**

इसमें विष्णु के वामन अवतार का वर्णन है।

(11) **वराह पुराण :**

विष्णु के वराहवतार का वर्णन है।

(12) **वायु (शिव) पुराण :**

इसमें 112 अध्याय हैं।

(13) **नारद पुराण :**

यह वैष्णव पुराण हैं। इसमें उसृवीं, पर्वों, समाधि एवं ईश्वर भक्ति से मोक्ष प्राप्ति का वर्णन है।

(14) **पदम पुराण :**

केवल इसी पुराण में राधा का कृष्ण की पत्नी होने का उल्लेख है।

(15) **लिंग पुराण :**

इसमें शिवलिंग की पूजा पर जोर दिया गया है।

(16) **गरूड पुराण :**

इसमें गणित, ज्योतिष, श्राद्ध, तर्पग, व्याकरण आर्युवेद आदि विविध विषयों का वर्णन हैं।

(17) **कूर्म पुराण :**

इसमें शिव के अवतार का वर्णन है।

(18) **स्कंद पुराण :**

यह विशालकाय पुराण है, जिसमें शिव भक्ति का वर्णन है। इसमें भारत के सभी तीर्थों का वर्णन है। इसका भौगोलिक महत्व अधिक है।

12.4 पुराणों का ऐतिहासिक महत्व :

वस्तुतः पुराणों को धार्मिक दृष्टि से ही महत्वपूर्ण माना जाता है। इनमें सनातन धर्म की व्याख्या की गयी है। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, गणेश, सूर्य की उपासना पद्धति का प्रामाणिक बोध पुराणों से ही होता है। पुराणों का धार्मिक दृष्टि से ही महत्व नहीं है। वरन् भौगोलिक, सामाजिक, शैक्षणिक व ऐतिहासिक दृष्टि से भी ये महत्वपूर्ण हैं। पुराण प्राचीन भारतीय इतिहास के महत्वपूर्ण स्रोत हैं। बलदेव उपाध्याय (पुराण विमर्श) के अनुसार पुराण वास्तविक इतिहास है। पुराणों में प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृति के लगभग हर पहलू से संबंधित विषय सामग्री मिलती है। जैसे – वर्णव्यवस्था, आश्रम व्यवस्था, संस्कार, जातिप्रथा आदि से संबंधित सामग्री पुराणों में बिखरी पड़ी है। प्राचीन भारत के राजनीतिक इतिहास लिखने में 'वंशानुचरित्र' का प्रयोग किया जा सकता है। पुराणों में दी गयी राजवंशावली महाभारत युद्ध के बाद परीक्षित के काल तक जाती है। इस वंशावली से प्राचीन भारत के राजाओं का पूर्वापर काल निर्धारित किया जाता है। छठीं सदी ई. पू. से लेकर आंध्र सातवाहन वंश के पतन तक के राजवंशों और उनके राजाओं के नाम पुराणों में मिलते हैं। साथ ही उनके विषय में कहीं–कहीं ऐतिहासिक तथ्य भी प्रस्तुत किए गए हैं। मत्स्य, वायु, ब्रह्माण्ड, विष्णु, भागवत, गरूड और भविष्य पुराणों में ऐतिहासिक राजाओं की वंशावली

प्राप्त होती है। इतिहास से संबंधित तथ्य भी प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप से पुराणों में उपलब्ध होते हैं। भूगोल, आयुर्वेद, नीतिशास्त्र, राजधर्म, शिल्पशास्त्र, नृत्य, संगीत, भवन निर्माण कला आदि विषयों का विस्तृत विवरण भी पुराणों में उपलब्ध है।

12.5 हरिषेण की प्रयागप्रशस्ति :

यह गुप्त काल की कृति है। साहित्यिक दृष्टि से गुप्तकाल अत्यंत समृद्ध काल है। इस समय प्रतिभाशाली सम्राट के साथ–साथ कवि, गद्यकार, वैज्ञानिक आदि भी हुए। साहित्यिक क्षेत्र में यह काल पेरिक्लीज, आगस्टस, एलिजाबेथ आदि महत्वपूर्ण कालों की याद दिलाता है। इस युग के प्रमुख साहित्यकार हैं – हरिषेण, वीरसेन, वत्समार्द्ध, वासुल भास, कालीदास, शूद्रक, विशाखदत्त, आदि। गुप्तकाल को भारतीय इतिहास का स्वर्णिम काल माना जाता है। इस समय बहुत से साहित्यकारों ने जन्म लिया होगा, लेकिन उनकी पूरी तरह जानकारी हमारे पास नहीं है। बहुत से लेखकों के प्रमाण विनष्ट हो गए हैं।

हरिषेण :

समुद्रगुप्त का परराष्ट्र मंत्री (संधिविग्रहिंक सचिव) था। यद्यपि इस कवि की कोई कृति प्राप्य नहीं है। फिर भी प्रयागप्रशस्ति उसके काव्य गुणों को चिरस्मरणीय बनाने हेतु पर्याप्त होगी। निस्संदेह यह प्रशस्तिकार उच्चकोटि का अभिलेख चम्पूशैली साहित्यकार होगा। उन्होंने अन्य ग्रंथों की भी रचना की होगी। इसका प्रथम भाग पद्य में एवं द्वितीय भाग गद्य में लिखा हुआ है। पद्यांश वैदर्भी शैली का दृष्टांत है। इस अभिलेख की कई पंक्तियां खण्डित हो चुकी हैं। अवशिष्ट पंक्तियां उसकी कवित्व क्षमता की परिचायक है। इस अभिलेख के श्लोक सुधारा, मन्दाक्रांता एवं शार्दूलविकीडित आदि के सुंदर उदाहरण हैं। इस प्रशस्ति से स्पष्ट हो जाता है कि हरिषेण को प्राचीन भारत की भौगोलिक एवं राजनीतिक अवस्था का अच्छा ज्ञान प्राप्त था। हरिषेण के पिता का नाम ध्रुवभूति था। उनका जन्म खाद्यतपाकिव वंश में हुआ था। यह समुद्रगुप्त के दरबार में कुमारामात्य एवं संधिविग्रहिक थे। यह स्तम्भ 35 फीट ऊंचा है। इस बालूदार स्तम्भ का निर्माण अशोक के काल में हुआ। उस समय यह कौशाम्बी में था। इस पर अशोक का एक महत्वपूर्ण अभिलेख उत्कीर्ण है। 7वीं शताब्दी के ह्वेनसांग तथा 11वीं सदी के अल्बरूनी ने प्रयाग वर्णन के प्रसंग में किसी अशोक स्तम्भ के वहां होने के कोई प्रमाण नहीं है। यह अनुमान लगाया जाता है कि अकबर अथवा जहांगीर के राज्यकाल में यह इलाहाबाद के किले की शोभा बढ़ाने के लिए लाया गया था।

इस पर जहांगीर काल का भी एक लेख मिलता है। अशोक एवं जहांगीर के अभिलेखों के बीच समुद्रगुप्तकालीन लेख प्राप्य हैं। प्रयागप्रशस्ति की प्रारम्भिक पंक्तियां नष्ट हो गयी हैं।

12.6 प्रयागप्रशस्ति का ऐतिहासिक महत्व :

प्रयागप्रशस्ति समुद्रगुप्त कालीन इतिहास का प्रमुख ऐतिहासिक स्रोत है। इस अभिलेख के अभाव में हम समुद्रगुप्त की उपलब्धियों से अनजान रहते। इस अभिलेख में कहां भी तिथि का अल्लेख नहीं है। यह भी उल्लेखनीय है कि इस उल्लेख में कहीं भी अश्वमेघ यज्ञ का उल्लेख नहीं है। यही प्रतित होता है कि अश्वमेघ यज्ञ के संपादन से पूर्व उसके राज्यकाल में ही यह अभिलेख उत्कीर्ण हो चुका था। हरिषेण समुद्रगुप्त का आश्रित कवि था, उसने ही अपने जीवन काल में इस प्रशस्ति की रचना की थीं।

इस प्रशस्ति के विषय में कहा जा सकता है कि इसमें कवि की चाटुकारिता झलकती है। समुद्रगुप्त के लिए बहुत सी उपलब्धियां बतायी गयी हैं। जैसे – 'सर्वाटविकराज' (संपूर्ण वनमय प्रदेशों के नरेश), 'सर्वदक्षिणापथराज–ग्रहणे' (संपूर्ण दक्षिण भारतवर्ष के शासकों को पराजित करना) एवं सर्वद्वीपवासी (सभी देशों के निवासी) आदि। इन उपाधियों को अतिरंजित कहा जा सकता है। अन्य कई स्थानों पर भी हरिषेण का वर्णन संतुलित नहीं लगता है। जैसे – समुद्रगुप्त को 'कविराज' कहा गया है और उसके काव्य को 'विद्वानों की जीविका का साधन' बताया गया है। हरिषेण स्वयं भी लिखता है कि परमभट्टारक (समुद्रगुप्त) के चरणों के समीप परिसर्पण (निवास) के कारण उसकी बुद्धि उन्मीलित हो गयी थी। फिर प्राचीन भारत से ही यह प्रवृत्ति रही है कि कवि अपने आश्रयदाता की प्रशंसा में कुछ न कुछ लिखते रहते थे। यह स्वाभाविक भी था। लेकिन यहां यह बात भी दृष्टव्य है कि किसी भी काव्य रचना में उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का प्रयोग किया जाना स्वाभाविक था।

हरिषेण ने अनुप्रास, उपमा, रूपक का प्रयोग किया है जिसमें समुद्रगुप्त को उत्तराधिकारी बनाए जाने का उल्लेख है। इस अवसर पर वृद्ध चन्द्रगुप्त प्रथम का हृदय आनंद से गदगद हो गया था। हर्ष से शरीर रोमांचित हो गया था। सभा के सभासदों का हृदय आनंद से उच्छवासित हो गया था। उसी वंश के समान अधिकार संपन्न अन्य राजकुमारों के मुख कमल ईर्ष्या एवं दुःख से मुरझा गए थे। ऐसे समय में स्नेह से व्याकुल, प्रेमाश्रु से भरे तथा तत्वदर्शी नेत्रों से पुत्र को देखते हुए चन्द्रगुप्त ने कहा था – "हे आर्य! इस प्रकार संपूर्ण पृथ्वी

का पालन करो।" इस श्लोक से पाठकों के समक्ष एक चित्रमय दृश्य उपस्थित हो जाता है।

(आर्यों हीत्युपगुह्य भावशिशुनैरूत्वातैः रोमाभिः
सभ्येपूच्छ्वसितेषु तुल्यकुलजम्लाननोव्दीक्षितः।

स्नेहव्याकुलितेन वाष्पगुरूणा तत्वेक्षिणा चक्षुषा
यःपित्राभिहितो निरीक्ष्य निखिला पाह्येवमुर्वीमिति।।)

हरिषेण तथा कालीदास की रचनाओं में कई स्थानों पर काफी समानतायें हैं। कालीदास और हरिषेण के दिग्विजय के वर्णन में इसकी समानता है कि मालूम होता है मानो कालीदास के सामने हरिषेण की रचना विद्यमान हो। (वासुदेव उपाध्याय, गुप्त साम्राज्य का इतिहास, पृ. 80)

इस आधर पर हम हरिषेण की रचना को ऐतिहासिकता पर संदेह नहीं कर सकते हैं। हरिषेण चूँकि समुद्रगुप्त का समकालीन था इसलिए वह व्यक्तिगत रूप से समुद्रगुप्त की उपलब्धियों से परिचित था। उसके द्वारा वर्णित घटनायें व तथ्य ऐतिहासिक हैं।

इस संदर्भ में उल्लेखनीय है कि प्रशस्ति के वर्णन की पुष्टि समुद्रगुप्त की की मुद्राओं में भी हो जाती है।

12.7 इकाई सारांश व अभ्यास कार्य :

प्रस्तुत इकाई में हमने कालीदास की रचनाओं की ऐतिहासिक दृष्टि से विवेचना की है। प्राचीन भारतीय इतिहास जानने के महत्वपूर्ण स्रोत पुराण भी हैं। इनकी संख्या बहुत अधिक है। लेकिन मुख्यतः 18 पुराण ही उल्लेखनीय हैं — वायु, मत्स्य, विष्णु, ब्रह्माण्ड, मार्कण्डेय, गरूड, भगवत्, अग्नि, नारद, वामन, कूर्म, पद्म, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त, लिंग, स्कन्द, वाराह, शिव। पुराणों की विषय सामग्री को पांच भागों में विभाजित किया जा सकता है — सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर, और वंशानुचरित। पुराणों से प्राचीन राजवंशों की वंशावलियां भी इनमें प्राप्त होती हैं। इसके अलावा नीति, धर्म, नृत्य, संगीत, स्थापत्य आदि का भी इनमें विवरण है। हरिषेण की प्रयागप्रशस्ति भी ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है। इसके माध्यम से हमें ज्ञात होता है कि हरिषेण गुप्त शासक समुद्रगुप्त का समकालीन था। उसके विवरण के महत्व को हम नजर अंदाज नहीं कर सकते हैं।

अभ्यासकार्य :

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर दीजिए –

1. पुराण क्या है? उनका महत्व बताइए। (100 शब्द)
2. हरिषेण की प्रयाग प्रशस्ति के बारे में आप क्या जानते हैं? (100 शब्द)

12.8 प्रासंगिक पाठनीय ग्रंथ :

1. काणे, पी. वी., **धर्मशास्त्र का इतिहास**, वोल्यूम I, II, III
2. गैरोला, वाचस्पति, **संस्कृत साहित्य का इतिहास**
3. मजूमदार, आर. सी., **दि क्लासिकल एज**
4. **कालीदास और उनका युग**, भारतीय विद्या भवन
5. गोयल, श्रीराम, **गुप्त और वाकाटक साम्राज्यों का युग**

इकाई 13

फाहियान, युवानच्वांग और ई-त्सिंग की भारत यात्रा वृतांत

इकाई की रूपरेखा

13.0 उद्देश्य

13.1 प्रस्तावना

13.2 फाहियान

13.2.1 मध्य एशिया

13.2.2 अफगानिस्थान और सीमाप्रांत

13.2.3 भारत में प्रवेश : पंजाब और मथुरा

13.2.4 मध्यप्रदेश

13.2.5 पाटलिपुत्र

13.2.6 कठिनाइयां

13.2.7 विभिन्न संप्रदाय तथा पूजा पद्धतियां

13.2.8 प्रशासन

13.2.9 समाज

13.3 युवान–च्वांग

13.3.1 कन्नौज की राजगद्दी पर बैठना

13.3.2 राजनैतिक दशा

13.3.3 विजयें और साम्राज्य

13.3.4 प्रशासन

13.3.5 कन्नौज की महत्ता

13.3.6 कन्नौज की सभा

13.3.7 प्रयाग की सभा

13.3.8 हर्ष का धर्म

13.3.9 देश की धर्मिक स्थिति

13.3.10 विद्या का संरक्षक

13.3.11 सामाजिक दशा

13.3.12 आर्थिक दशा

13.4 ई–त्सिंग

13.4.1 बौद्ध धर्म

13.4.2 नालंदा विश्वविद्यालय और शिक्षा पद्धति

13.4.3 सफाई व्यवस्था

13.4.4 उत्पादन

13.4.5 वस्त्र

13.4.6 राजनैतिक घटनायें

13.5 अभ्यासार्थ प्रश्न

13.6 संदर्भ ग्रंथ

13.0 उद्देश्य :

(i) प्राचीन भारतीय इतिहास जानने के श्रोत के रूप में चीनी यात्रियों के वृतांतों से अवगत करवाना।

(ii) चीनी यात्रियों की दृष्टि में भारतीय राजनीति, समाज, धर्म, शिक्षा, अर्थव्यवस्था को समझना।

(iii) प्राचीन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति का विवरण एवं विश्लेषण करना।

13.1 प्रस्तावना :

चीनी यात्री फाहियान, युवान्–च्वांग और ई–त्सिंग पक्के बौद्धभिक्षु थे और भारत में उनके आगमन का उद्देश्य बौद्ध–स्थलों की यात्रा करना तथा भारत से बौद्ध ग्रंथों को चीन ले जाना था। वे यहां पर बहुत वर्ष रहे और भाषायें सीखीं। उन्होंने अपनी भारत की यात्रा के आधार पर चीनी भाषा में ग्रंथ लिखे। युवान्–च्वांग द्वारा लिखित सी–यू–की और हुइ–ली द्वारा रचित "युवान्–च्वांग का जीवन–चरित" प्रसिद्ध हैं। इन ग्रंथों का अंग्रेजी में भी अनुवाद हो गया है। ये ग्रंथ ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। इन चीनी यात्रियों ने भारत में बौद्ध धर्म एवं स्तूपों, विहारों, संप्रदायों, धर्मिक ग्रंथों, कर्मकाण्ड एवं रीति–रिवाजों आदि का व्यापक तथा बारीकी से वर्णन किया है। इनका दृष्टिकोण धार्मिक रहा है। फाहियान और ई–त्सिंग ने तो देश के राजा व राजाओं के नाम का भी उल्लेख नहीं किया है। इसमें संदेह नहीं कि युवान्–च्वांग ने अपने आश्रयदाता हर्षवर्धन और अन्य समकालीन राजाओं के बारे में रोचक जानकारी दी है। उसने बहुत से राज्यों की राजनैतिक स्थिति का भी उल्लेख किया है जिनमें से वह गुजरा है। इनके बौद्ध धर्म संबंधी कथन को पूर्ण रूप से स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि वे अपने धर्म को ही सर्वोच्च समझते थे। उन्होंने प्रसंगवश अपने यात्रा–वर्णन में लोकपरक विषयों पर भी लिखा है जो ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

13.2 फाहियान :

चीनी यात्री फाहियान दस वर्ष (400-411 ई.) से अधिक भारत में ठहरा। उसने विशेषकर बौद्ध स्थलों की यात्रा की जिनका उसने विस्तृत रोचक वर्णन किया है। उससे पता चलता है कि बौद्ध धर्म के हीनयान संप्रदाय का अब भी प्रभाव बना हुआ था तथा महायान का उत्थान हो रहा था। उसने बौद्ध–स्तूपों, विहारों, संप्रदायों, भिक्षुओं और श्रावकों का अपने वृत्तांत में उल्लेख किया है। कुछ स्थलों पर तो वह अध्ययन हेतु रूका।

फाहियान अपने धर्मिक उद्देश्य में इतना दत्तचित्त रहा कि उसने अपने समय के प्रसिद्ध गुप्तसम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय का नामोल्लेख तक भी नहीं किया। उसने मध्यदेश की राजनैतिक स्थिति का प्रत्यक्ष वर्णन न करके प्रसंगवश लोगों का किया है जो ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। वह समुद्र–मार्ग से लंका होता हुआ वापिस चीन लौट गया।

13.2.1 मध्य एशिया :

फाहियान मध्य एशिया होता हुआ भारत पहुंचा। इस क्षेत्र में उस समय बौद्ध–धर्म का अधिक प्रचार था। वह शानशान गया जहां उसे हीनयान मत के 4,000 बौद्धभिक्षु मिले। खोतान में हजारों बौद्धभिक्षु रहते थे। यहां के राजा और लोग दोनों बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। प्रत्येक गृहद्वार के सन्मुख छोटा स्तूप बना होता था। यहां पर चार बड़े विहार थे जिनमें सबसे प्रसिद्ध गोमती विहार था। इस विहार में 3,000 भिक्षु निवास करते थे। यहां पर एक नया मठ भी था जिसके निर्माण में करीब 80 वर्ष लगे। कला एवं स्थापत्य की दृष्टि से यह शानदार भवन था। पूर्वी तुर्कीस्तान के छः राजाओं ने अपनी संपत्ति का बहुत कुछ दान इस विहार को दे दिया। खोतान में बौद्धों का विशाल रथयात्रा का वार्षिक जलूस भी निकलता था। रथ के मध्य में बुद्ध की मूर्ति रखी जाती थी तथा दोनों ओर बौद्धसत्व। गोमती के महायान भिक्षु रथ के आगे चलते थे तथा रथ मूर्ति के सम्मुख नमता था। राजा और रानी भी इसमें भाग लेते थे। काश्गर में उसने एक हजार बौद्धभिक्षु देखे और वहां का राजा भी बौद्ध था जो हीनयान शाखा का अनुयायी था। भारतीय संस्कृति का मध्य एशिया पर इतना प्रभाव था कि उसने कई बौद्धभिक्षुओं को भारतीय भाषा और पुस्तकें पढ़ते देखा।

13.2.2 अफ़गानिस्थान और सीमाप्रांत :

फाहियान ने खोतान से उत्तर–पश्चिमी भारत का सीधा और कम दूरी का मार्ग चुना। इस क्षेत्र के वर्णन से ज्ञात होता है कि समस्त क्षेत्र पर बौद्ध धर्म का प्रभुत्व था। अफ़गानिस्थान में उसने महायान और हीनयान शाखाओं के 3,000 भिक्षु देखे। उसने बन्नू की यात्रा भी की और वहां भी बहुत से बौद्धभिक्षु थे। फाहियान द्वारा अफ़गानिस्थान के वर्णन से पता चलता है कि यह प्रदेश उत्तर–भारत का अंग था। यहां के लोग मध्य देश की भाषा का प्रयोग करते थे। साधारण लोगों का खानपीन और वस्त्र भी मध्यदेश के लोगों के समान था। उसने गंधार, तक्षशिला और पेशावर की यात्रा की और उन स्थानों पर असंख्य बौद्ध स्मारक थे।

13.2.3 भारत में प्रवेश : पंजाब और मथुरा :

फाहियान ने भारत में कश्मीर की ओर से प्रवेश किया। पंजाब में उसने कई बौद्ध विहार देखे और इनमें अनुमानतः 10,000 से भी अधिक भिक्षु थे। मथुरा के मार्ग में उसे अनेक बौद्धभिक्षु और मठ दिखे। अनेक स्थानों पर राजा इस धर्म के दृढ़ अनुयायी थे तथा वे भिक्षुओं का सम्मान करते थे। कुछ विहारों की व्यवस्था हेतु भूमि दान देते थे। भिक्षु अनुशासन का पालन करते थे। श्रावक भी चैत्य और स्तूप बनवाते थे और उनकी पूजा करते थे। केवल मथुरा में ही उसने 20 विहार देखे जिनमें 3,000 बौद्धभिक्षु थे।

13.2.4 मध्यदेश :

मथुरा से दक्षिण की ओर का प्रदेश मध्यदेश कहलाता था। फाहियान ने इस प्रदेश की भी यात्रा की और वह यहां पर पांच वर्ष से अधिक रहा। श्रावस्ती में उसने कई बौद्ध स्मारक देखे। लुंबिनी, वैशाली, नालंदा, बोध गया, राजगृह आदि बौद्ध स्थानों की यात्रा की। श्रावस्ती, बोध गया, कपिलवस्तु और कुशीनगर अब उजाड़ और खाली थे। बहुत थोड़े भिक्षु और उनके सेवक अब भी उनकी पवित्रता और श्रद्धा के कारण वहां रहते थे और वे दान पर निर्वाह करते थे। फाहियान के वर्णन से यह पता नहीं चलता कि मध्यदेश में चन्द्रगुप्त के समय ब्राह्मण धर्म मुख्यतः प्रचलित था।

13.2.5 पाटलिपुत्र :

फाहियान पाटलिपुत्र भी गया और वह अशोक के महल से अत्यंत प्रभावित हुआ जो उस समय सुरक्षित था। उसके विचार से कई भवनों वाला महल भूतों ने बनवाया था। अशोक द्वारा बनाया हुआ एक स्तूप भी था। उसने दो विहार भी देखे जिनमें से एक में महायान शाखा के और दूसरी में हीनयान शाखा के बौद्धभिक्षु रहते थे। दोनों विहारों में करीब छः–सात सौ भिक्षु रहते थे। वे अपनी विद्वत्ता के लिए इतने प्रसिद्ध थे कि दूर–दूर से विद्यार्थी एवं जिज्ञासु ज्ञान प्राप्त करने हेतु उनके पास आते थे। स्वयं फाहियान तीन वर्ष यहां ठहरकर संस्कृत सीखा और विनय सूत्रों की नकल की। बीस बड़े और सुसज्जित रथों वाले विशाल जलूस की भी उसने बहुत सराहना की। उसमें गायक और संगीतज्ञ भी सम्मिलित होते थे। ताम्रसिप्ति में वह सूत्रों की नकल करने हेतु दो वर्ष रूका।

13.2.6 कठिनाइयाँ :

फाहियान ने अपने वृतांत में मार्ग की कठिनाइयों का भी उल्लेख किया है। कभी–कभी आकाश के उपर हवा में कोई उड़ता हुआ पक्षी नहीं दिखता था और न जमीन पर कोई पशु। मार्ग के नदी–नालों को पार करने में भी उसे कठिनाईयों का सामना करना पड़ा। मार्ग की यात्रा में जिन दु:खों को सहना पड़ा, वह मानव जीवन में असमानांतर है।

13.2.7 विभिन्न संप्रदाय तथा पूजा पद्धतियां :

फाहियान ने हीनयान और महायान संप्रदायों का विभिन्न स्थानों पर प्रभाव तथा विभिन्न पूजा पद्धतियों का भी उल्लेख किया है। उसने लोबनोर, दरड़, उद्यान, गंधार, बन्नु, कन्नौज ओर कौशाम्बी में पूर्णरूप से हीनयान के सर्वास्तिवाद की लोकप्रियता को देखा तथा अफगानिस्थान, पंजाब (भिंड), मथुरा और पाटलिपुत्र में दोनों हीनयान और महायान संप्रदायों का। लंका में स्थविरवाद का जोर था। सारीपुत्र, मोगालन तथा आनंद और अभिधम्म विनय तथा सूत्रों के रचयिताओं के सम्मान में भी स्तूप बनाए जाते थे। भिक्षुणियां आनंद के स्तूपों की पूजा करती थी और नए भिक्षु राहुल के स्तूप की। महायान सप्रदाय के लोग प्रज्ञापार मित्र (तारा), मंजुश्री और अवलोकितेश्वर को उपहार चढ़ाते थे।

13.2.8 प्रशासन :

देश में शांति, समृद्धि और संतोष था। लोगों की जनसंख्या अधिक थी और वे सुखी थे। गृह की रजिस्ट्री नहीं करानी पड़ती थी तथा न न्यायाधीशों के यहां उपस्थिति देनी पड़ती थी और न ही उनके नियमों का पालन करना होता था। जो लोग राज्य की भूमि में खेती करते थे वे उससे प्राप्त लाभ का कुछ अंश देते थे। यदि वे जाना चाहते तो चले जाते थे तथा रहना चाहते तो रहते थे। प्राण–दण्ड या अन्य शारीरिक दण्ड के बिना ही राजा राज्य करता था। अपराधियों पर उनके अपराध की परिस्थितियों के अनुसार भारी या हल्का जुर्माना लगाया जाता था। बार–बार विद्रोह करने पर भी केवल उनका दाहिंना हाथ काट दिया जाता था। राजकीय कर्मचारियों को निश्चित वेतन दिया जाता था और प्रजा से धन लेकर निर्वाह करने पर उन्हें अवसर नहीं दिया जाता था। क्रय–विक्रय में कौड़ियों का प्रयोग होता था।

13.2.9 समाज :

जनता साधारणतः शाकाहारी थी और अहिंसा के सिद्धान्त का आचरण करती थी। बाजार में मास नहीं बिकता था तथा मद्य की दुकानें भी नहीं थीं। लोग सुअर तथा मुर्गी नहीं पालते थे। वे प्याज और लहसुन नहीं खाते थे । वे सुरापान नहीं करते थे। चांडाल समाज से बहिष्कृत समझे जाते थे।। वे मांस बेचा करते थे तथा आखेट करते थे। वे नगर से बाहर रहा करते थे तथा आखेट करते थे। वे नगर से बाहर रहा करते थे तथा अस्पृश्य माने जाते थे। जब वे नगर तथा बाजार में जाते थे तो अपने आने की सूचना में उन्हें लकड़ी से आवाज करनी पड़ती थी, ताकि दूसरे लोग उनके साथ लगकर अपवित्र न हो जाय।

राजा वृद्ध तथ भद्र व्यक्ति धार्मिक स्थान बनाते थे। वे भूमि , घर और बाग ीाी दान में देते थे। खेती के लिए भूमि तथा अन्य आदमी भी देते थे। पक्के पट्टे लिख दिए जाते थे। और बाद में राजा भी उनका उल्लंघन करने का साहस नहीं करते थे। लोग सड़कों के किनारों पर या उनसे दूर दानगृह बनवाते थे जहाँ यात्री और भिक्षु ठहरते थे। उन्हें कमरे, बिस्तर और भोज्य पदार्थ दिया जाता था। स्थायी भिक्षुओं को विहारों में कमरे दिए जाते थे। उन्हें बिस्तर, चारपाइयाँ, खाना, पेय पदार्थ आदि भी मिलते थे। वे अपना समय दया-धर्म के काम करने, धार्मिक पुस्तकों का पाठ करने और आत्मचिंतन में व्यतीत करते थे। यदि कोई विदेशी यात्री किसी विहार में आता था तो वहाँ के उच्च पुरोहित उसे अतिथि गृह तक छोड़ने जाते थे और उसके वस्त्र तथा दान पात्र भी उठाते थे। वे उसे पैर धोने के लिए पानी और मालिश के लिए तेल देते थे और उसके लिए विशेष खाना बनाया जाता था।

फाहियान से ज्ञात होता है कि राजधानियों में धनी लोगों ने निःशुल्क औषधालय खोल रखे थे जहाँ निर्धन व असहाय रोगी, अनाथ, विधवायें और पुगु आते थे और उनकी भलीभाँति से देखभाल होती थी। वैद्य उनकी चिकित्सा करता था। खाना और औषधियां उनको आवश्यकतानुसार निःशुल्क दी जाती थी। जब वे ठीक हो जाते तो चले जाते थे।

13.3 यंवान् – चवांग :

युवान्–च्वांग 630 ई0 में चीन से भारत आया और 644 ई. तक यहाँ ठहरा। वह यात्रियों का राजकुमारःनीति का पंडित और "वर्तमान शाक्यमुनि" कहा जाता है। वह ताशकंद, समरकंद और बलख होता हुआ 630 में गंधार में पहुँचा

वहां से वह कश्मीर पहुंचा जहां वह दो वर्ष रहा। वह पंजाब भी गया। उसने कपिलवस्तु, बनारस, गया और कुशीनगर की यात्रा की। नालंदा विश्वविद्यालय में वह बहुत समय तक ठहरा। उसने दक्षिण तथा पश्चिमी घाट की भी यात्रा की। उसने लगभग सारे देश में भ्रमण किया। उसकी यात्रा वर्णन का उद्देश्य भारत में बौद्ध धर्म की जानकारी देने का था। इसके अतिरिक्त युवान्–च्वांग ने भारत की राजनैतिक दशा का वर्णन किया है। उसने अपने आश्रयदाता हर्षवर्धन और भारत के अन्य समकालीन राजाओं के बारे में भी रोचक जानकारी दी है। उनका वृतांत भारत की धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है।

13.3.1 कन्नौज की राजगद्दी पर बैठना :

युवान्–च्वांग के विवरण से पता चलता है कि हर्ष कन्नौज की राजगद्दी पर किस प्रकार ईठा? राजश्री दारूण विपत्तियों और बौद्ध उपदेशों के परिणामस्वरूप शासन का भार ग्रहण करने को तैयार नहीं थी। कन्नौज के मौखरी राजा ग्रहवर्मन् के उत्तराधिकारी के अभाव में पोनी के नेतृत्व में कन्नौज के मंत्रियों और राजनीतिज्ञों ने हर्ष से राजकुल का मुकुट स्वीकार करने की प्रार्थना की। वह एकाएक इसके लिए तैयार नही हुआ। बोधिसत्व अवलोकितेश्वर के अनुरूप उसने शासन की बागडोर तो सम्भाली किंतु वह न तो गद्दी पर बैठा और न महाराज की उपाधि धारण की। उसने केवल शीलादित्य काविरूद तथा कुमार की उपाधि धारण की। ऐसा प्रतीत होता है कि कालांतर में जब हर्ष की शक्ति भली–भाँति से प्रतिष्ठित हो गयी और उसने अपनी राजधानी धानेश्वर से हटाकर कन्नौज में स्थापित की और पूर्ण सम्राट के विरूद धारण कर वह इस नए राज्य का स्वामी बन गया।

13.3.2 राजनैतिक दशा :

युवान्–च्वांग ने उस समय की उत्तर–भारत की राजनैतिक दशा का प्रसंगवश संक्षेप में वर्णन किया है। उसने उन राज्यों का उल्लेख किया है जिनमें बौद्ध स्थान स्थित थे। कई बार उसने इन राज्यों की राजनैतिक स्थिति का भी उल्लेख किया है जो ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

युवान–च्वांग ने हिन्दुकश पहाड़ के दक्षिण में स्थित शक्तिशाली राज्य कपिशा (आधुनिक अफगानिस्तान) राज्य का उल्लेख किया है जो क्षत्रिय राजा के अधीन था। इसके समीप उद्यान राज्य था। पूर्वी–पंजाब में मुख्य राजों के नाम थे – छट्टे–क

(VDd), कश्मीर, चि–न–पुट्ट–ति, जालंधर कुलुत और शतद्र के राज्य थे। चूंकि हर्ष इनकी राजनैतिक स्थिति को नहीं बतलाता, संभव है ये राज्य हर्ष के साम्राज्य में सम्मिलित थे। यमुना के पूर्व में मो–ति–पु–लो (पश्चिमी रोहिल खण्ड), सु–फ–ल–न–कु–त–लो (सुवर्णगोत्र) नेपाल और कामरूप के राज्य थे। मो–ति–पु–लो पर शूद्र राजा का शासन था, तथा सुवर्ण गोत्र पर स्त्रियों का।

उत्तर प्रदेश, बिहार और बंगाल में अन्य राज्यों के नाम दिये हैं किंतु उनकी राजनैतिक स्थिति का कुछ उल्लेख नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि इनमें से अधिकतर राज्य हर्ष के साम्राज्य के अंग थे।

उस समय का राज्य जिनमें बुंदेलखण्ड, ग्वालियर और उज्जैन सम्मिलित थे, ब्राह्मण राजा राज्य करते थे। पश्चिमी भारत मे सबसे शक्तिशाली मो–ल–पो (पश्चिमी मालवा) का राज्य था जिसका कच्छ (खेड), आनंदपुर और सुराष्ट्र पर अधिकार था। इसके अतिरिक्त पश्चिमी में वलभी, भड़ोच, गुर्जर और सिंधु के राज्य थे। पि–तो–विह–लो और अफन–तु सिंधु के अधीन राज्य थे।

13.3.3 विजयें और साम्राज्य :

युवान–च्वांग के वृतांत में हर्ष के कुछ विजय प्रसंग हैं। वह लिखता है कि हर्ष पूर्व की ओर बढ़कर उसने उन राज्यों पर आक्रमण किया जिन्होंने उनकी आधीनता स्वीकार न की। जब तक उसने पांच भारतों (सौराष्ट्र, कान्यकुब्ज, गौड़, मिथिला और उड़ीसा) पर अधिकार न कर लिया, छः वर्षों तक निरन्तर राज्य करता रहा। वह लिखता है कि शीघ्र उसने अपने भ्राता की मृत्यु का बदला ले लिया और वह "भारत का स्वामी" बन गया। फिर वह लिखता है कि शीलादित्य महाराज ने अब तक पूर्व से पश्चिम तक के देश जीत लिये थे और दूरस्थ प्रदेशें तक धावे मारे थे। ऐसा प्रतीत होता है कि राज्यारोहण के वर्ष 606 ई० और 612 ई० के बीच उसके ये युद्ध समाप्त हो गये। इसी प्रसंग में युवान–च्वांग के दूसरे वक्तव्य के अनुसार उसने 30 वर्ष तक बिना अस्त्र उठाये शांतिपूर्वक राज्य किया। हर्ष को दूसरी बार पूर्व में मगध, उड़ीसा और कोभोद के विरूद्ध 641 के पश्चात लड़ना पड़ा जिसका भी युवान–च्वांग उल्लेख करता है।

हर्ष के जीवन वृत्तांत (हुइली) से प्रकट है कि स्वयं हर्ष ने इस मोहा–ल–च (महाराष्ट्र) के पु–लो–किशा (पुलकेशिन द्वितीय) के विरूद्ध सैन्य संचालन किया परन्तु परिणाम विरूद्ध हुआ और

दक्षिणाधिश ने उसे बुरी तरह परास्त कर गहरी क्षति पहुंचाई। यह युद्ध 634 ई० के पूर्व ही कभी हुआ होगा। क्योंकि इस वर्ष के ही रविकीर्ति के ऐहोस के अभिलेख में इस घटना का वर्णन है।

युवान–च्वांग के वृत्तांत के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि हर्ष के साम्राज्य में उत्तर प्रदेश (मथुरा और मतिपुर को छोड़) बिहार, बंगाल, कोंगोद अथवा गंजाम के साथ उड़ीसा शामित थे। इसकी पुष्टि अभिलेखों तथा साहित्यिक सामग्री से भी होती है।

13.3.4 प्रशासन :

विस्तृत साम्राज्य की व्यवस्था के लिए हर्ष ने अपना प्रशासन सुधारा। युवान–च्वांग लिखता है कि राज्य की सीमाएं बढ़ने पर उसने अपनी सेना की संख्या में वृद्धि की। पहिले उसके पास 5,000 हाथी, 2000 घुड़सवार और 5,000 पैदल सैनिक थे। बाद में उसके पास 60,000 हाथी और 1,00,000 घुड़सवार हो गए। इस विशाल सेना–शक्ति पर साम्राज्य की रक्षा निर्भर थी।

प्रशासन की सुव्यवस्था और सफलता हर्ष के श्रम और उदाचरण पर निर्भर था। हर्ष अपने विस्तृत साम्राज्य की आवश्यकता जानकारी के लिए सचेत रहता था। दिन को उसने राजकार्य और धर्माचरण के लिए अनेक भागों में विभक्त कर लिया। दिन का विस्तार उसके कार्य के लिए सर्वथा बहुत कम था। उसे राजप्रसाद में बैठ, दूर से शासन करने में संतोष नहीं था। अपितु वह सर्वत्र दण्डनीयों को दण्डित करने और भलों को पुरस्कृत करने हेतु स्थान–स्थान की यात्रा किया करता था। अपनी इन परिवेक्षण यात्राओं में वह अपने राज्य की प्रजा के निकट संपर्क में आता था तथा साथ में प्रजा को भी अपनी असुविधाओं को प्रस्तुत करने को पर्याप्त अवार मिल जाते थे।

युवान–च्वांग के लेखानुसार पोनी के नेतृत्व में मंत्रियों तथा राजनीतिज्ञों ने हर्ष को राजमुकुट प्रदान किया था। उसने तो यहां तक लिखा है कि देश का स्वामित्व अधिकारियों के हाथ था। संभवतः हर्ष के शासन कार्य में मंत्री–परिषद् सहायता करती थी, तथा उसका कुछ अंकुश भी हो सकता है।

युवान–च्वांग ने हर्ष के प्रशासन की प्रशंसा की है। उसका दण्ड–विधान हल्का था। कुलों की रजिस्ट्री नहीं होती थी और बेगारी भी नहीं ली जाती थी। अतिशासन की दुर्व्यव्यवस्था न होने के कारण लोग स्वतंत्र रूप से विचरते थे। उनका नैतिक विकास किसी प्रकार अवरूद्ध न था। लगान कम था और पैदावार

का छठा भाग वसूल किया जाता था। राज्य की आय के आधार थे – खेत की उपज, व्यापारियों की विक्रय की वस्तुओं पर चुंगी और घाटों तथा प्रादेशिक सीमाओं पर लगने वाले कर। हर्ष के शासन का उदार रूप इससे भी प्रकट होता है कि उसने विभिन्न धर्मावलम्बियों को दान तथा विद्वानों को प्रभूत पुरस्कार की व्यवस्था की थी।

व्यवस्थित शासन प्रबंध के कारण लोगों में परस्पर सदभाव था और लड़ाई झगड़े अथवा मारपीट के अपराध बहुत कम थे। इसके उपरांत भी राजपथ और जलमार्ग सुरक्षित थे। लुटेरों का भय प्रायः बना रहता था। स्वयं युवान–च्वांग अनेक बार उनसे लुट गया था। एक बार तो उसकी बलि तक दी जाने लगी थी। अपराधों का कानून बड़ा कड़ा था। कानून के विरूद्ध आचरण राजद्रोह का साधारण दण्ड आमरण कैद थी। सामाजिक अत्याचार के विरूद्ध अपराध तथा अविश्वसनीय आचरण और व्यभिचार का दण्ड नाक, कान, हाथ, पैर काट लेना अथवा अपराधी को देश निष्कासन या बनवास था। साधारण अपराध का दण्ड जुरमाना था। अग्नि, जल, तौल, विष आदि के प्रयोग से अभियुक्त की निर्दोषता आंकी जाती थी। दण्ड की कठोरता के कारण भी अपराधों की संख्या में कमी हो गई थी।

13.3.5 कन्नौज की महत्ता :

युवान–च्वांग ने कन्नौज की महत्ता का भी गुणगान किया है। यह उत्तर–भारत का प्रमुख नगर हो गया था। इस नगर में सौ विहार थे और भिक्षु 10,000 से अधिक संख्या में रहते थे। देव मंदिर प्रायः दो सौ थे। बौद्धेतर साम्प्रदायिक लोग कई हजार थे। नगर बीस ली अथवा आठ किलोमीटर लम्बा और पांच ली (2 किलोमीटर) चौड़ा था। इसके निर्माण की योजना व्यवस्थित थी। इसमें भव्य उद्यान तथा स्वच्छ जलपूरित सरोवर थे। साधारण तथा गृहस्थों के घर सादे, स्वच्छ और आरामदेह थे। नागरिक सुसंस्कृत थे। वे सुचिक्कण कापाय वस्त्र धारण करते थे। वे सर्वथा स्पष्ट और शुद्ध भाषा बोलते थे। उनके स्पष्ट सही उच्चारण आदर्श माने जाते थे।

13.3.6 कन्नौज की सभा :

युवान–च्वांग से पता चलता है कि हर्ष ने 643 ई० में एक सभा का 23 दिन के लिए आयोजन किया। इसका मुख्य उद्देश्य महायान सिद्धांतों का प्रचार करना था तथा साथ में युवान–च्वांग की विद्वत्ता को प्रदिर्शत करना था। इस सभा में

अनेक नरेश, बौद्ध भिक्षु तथा पुरोहित सम्मिलित हुए। हर्ष ने लोगों को बैठने हेतु दो बड़े सभागृह बनवाये। बीच में एक बुर्ज था जिसके नीचे राजा के आकार की बुद्ध की स्वर्ण प्रतिमा स्थापित की गई थी। जलूस में हर्ष और भस्करवर्मन क्रमशः शक और ब्रह्मा के रूप में उसकी सेवा में संलग्न थे। उसके पीछे ऊंचे गजों पर राजा, पुरोहित और राज्य कर्मचारी चले। जलूस के अंत में हर्ष ने मूर्ति की पूजा की और एक बड़ा भोज दिया।

इसके बाद अधिवेशन आरंभ हुआ और युवान–च्वांग को सभापति बना दिया गया। उसने महायान के गुणों का विस्तृत विवेचन कर उपस्थित जनों को अपना प्रतिवाद करने की चुनौती दी परन्तु किसी ने उसके तर्क का उत्तर नहीं दिया। वह पांच दिनों तक निर्विवाद स्वामी बना रहा। जब हर्ष को युवान–च्वांग के प्रतिस्पर्धियों के जान से मारने के षडयंत्र का पता चला तो उसने तत्काल घोषणा की कि यदि किसी ने उसके अतिथि को तनिक भी क्षति पहुंचाई तो वह उसे प्राणदण्ड देगा। इस घोषणा के परिणाम स्परूप शेष 18 दिनों तक किसी ने युवान–च्वांग के विचारों का विरोधर नहीं किया। इस प्रकार जीवन वृत्तांत के अनुसार अधिवेशन का कार्य सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ। सी–यू–की का वृत्तांत इससे भिन्न है और उससे विदित होता है कि अधिवेशन में असाधारंण घटनाओं द्वारा अंत हुआ। ऊंचे बुर्ज में एकाएक आग लग गई और विद्यार्थियों के प्रति हर्ष की उदासीनता के फलस्वरूप उसके प्राण लेने का भी प्रयत्न किया गया। तब उसने पांच सौ ब्राह्मणों को बंदी बना कर उन्हें देश से बाहर कर दिया। शेष को उसने क्षमा कर दिया। इस अधिवेशन से युवान–च्वांग के भाषण का हर्ष पर बहुत प्रभाव पडा। हर्ष ने उसका बड़ा आदर किया। वह युवान–च्वांग को बहुमूल्य रत्न प्रदान करना चाहता था किंतु उसने त्याग की भावना के कारण मना कर दिया।

13.3.7 प्रयाग की सभा :

युवान–च्वांग ने 643 ई० में हर्ष द्वारा आयोजित की गई छठी पंचवर्षीय दान वितरण प्रयाग की सभा का भी वर्णन किया है जिसको देखने के लिए वह आमंत्रित किया गया था। इसमें वलभी के राजा ध्रुवभट, आसाम के राजा भाष्करवर्मन और पांचों भारतों के राजा हर्ष के निमंत्रण पर सम्मिलित हुए। इसमें पांच लाख से भी अधिक व्यक्ति जैसे – ब्राहमण, नास्तिक, निर्गन्थ, दरिद्र और अनाथ उपस्थित थे। यह अधिवेशन 75 दिन तक चलता रहा। पहले दिन बुद्ध की मूर्ति की पूजा की गई और लोगों में असंख्य वस्त्र और बहुमूल्य वस्तुएं बांटी गई। दूसरे और तीसरे दिन क्रमशः सूर्य और शिव की मूर्तियों का सम्मान

किया गया किंतु दान का धन क्रमशः पहले दिन से आधा कर दिया गया। चौथे दिन दस हजार बौद्ध भिक्षुओं को दान दिया गया। अगले दिन ब्राहमणों को दान दिया गया। जैन धर्म तथा अन्य धर्मावलंबियों को भी दान दिया गया। निर्धन, अनाथ और पंगु लोगों को सहायता दी गई। यह सब 75 दिन तक चलता रहा। इस प्रकार राज्य का पांच साल का संचित किया हुआ विस्तृत कोष दान में समाप्त कर दिया जाता था। इसके उपरांत हर्ष ने अपने व्यक्तिगत रत्न और वस्तुएं भी दान में दे डाली। सब कुछ देने के बाद उसने अपनी बहिन राज्यश्री से एक पुराना वस्त्र पहिनने को मांगा। इस प्रकार हर्ष का इतिहास में व्यक्तिगत दान का एक आदर्श उदाहरण है।

13.3.8 हर्ष का धर्म :

ऐसा प्रतीत होता है कि हर्ष आरंभ में परम माहेश्वर था किंतु बाद के दिनों में वह बौद्धधर्म की ओर अधिकाधिक आकृष्ट होता गया और अंत में वह प्रायः बौद्ध हो गया। इसकी पुष्टि युवान्–च्वांग के वृतांत से भी होती है। कश्मीर का उसने बुद्ध का दाँत बलपूर्वक स्वायत्त कर उसे कन्नौज के संधाराम में सुरक्षित किया था। उसका प्रतिवर्ष कथोपकथन आदि के लिए बौद्धभिक्षुओं का आमंत्रण, बौद्ध विहार तथा स्तूप निर्माण और पशु वध तथा मांस–भक्षण के विरूद्ध कठोर दण्ड–विधान आदि उसकी बौद्ध होने की रूचि को प्रकट करते हैं। गरीबों और रोगियों के लिए निःशुल्क भोजन तथा औषतिधयां और पुण्यशालाओं का निर्माण भी बौद्ध आदर्शों से अनुप्राणित था। कन्नौज के अधिवेशन को भी उसने महायान के सिद्धांतों के प्रचारार्थ बुलाया था, तथा युवान–च्वांग की विद्वत्ता को प्रदर्शित करने का भी प्रयत्न किया था। प्रयाग की सभा में भी हर्ष ने पहले दिन बुद्ध की प्रतिमा की पूजा की तथा बौद्ध भिक्षुओं को अन्य की तुलना में अधिक दान दिया।

हर्ष की संरक्षता में ही बौद्धधर्म कन्नौज में अधिक फलाफूला यद्यपि अन्य प्रदेशों में उसका ह्रास हो चला था। हर्ष बौद्धधर्म का अनुयायी होने पर भी धार्मिक विषयों में उदार था। उसने कन्नौज की सभा में शुक्र और ब्रह्मा को बुद्ध के पार्षद बनाये। प्रयाग की सभा में भी बुद्ध की मूर्ति की पूजा के पश्चात सूर्य और शिव की मूर्तियों का सम्मान किया गया तथा ब्राह्मणों और निग्रन्थों को भी दान दिया गया।

13.3.9 देश की धार्मिक स्थिति :

युवान–च्वांग भारतवर्ष में बौद्धधर्म की बहुत कुछ सही जानकारी देता है। इस धर्म के मुख्य सम्प्रदाय महायान और हीनयान थे, जिनमें से प्रथम का विशेष प्रचार हुआ था। यात्री

ने उसकी 18 शाखाओं का भी वर्णन किया है जो अपने क्रिया–अनुष्ठानों में एक–दूसरे से भिन्न थे और जिनमें से प्रत्येक अपनी बौद्धिक महत्ता की घोषणा करता था। युवान–च्वांग ने इन सम्प्रदायों से संबंधित केन्द्रित स्थानों का भी उल्लेख किया है। कूची, बलख, कश्मीर, स्थानेश्वर, श्रुघ्न, प्रयाग और कोशाम्बी लगातार हीनयान सम्प्रदाय की विशेष शाखा सर्वास्तवादिन के केन्द्र बने रहे। बभिआन में लोकोत्तरवादिन बौद्ध बसे हुए थे। कपिशा, जालंधर, मथुरा, साकेत, नेपाल, पुण्र्डवर्धन, कोकणपुर, महाराष्ट्र और उज्जैन में हीनयान और महायान दोनों शाखाओं का प्रभाव था। लंप, तक्षशिला, कुल्लु, मगध, उडीसा और विदर्भ में महायान शाखा के अनुयायी देखे जाते थे। सम्मितीय सम्प्रदाय का महत्व बहुत हो गया था। इसके अनुयायी अनेक स्थानों पर जैसे विशोक, अहिच्छत्र, संकास्य, श्रावस्ति, कपिलवस्तु, वाराणसी, वैशाली, कर्णसुवर्ण, मालव, वलभी, हयमुख, आनन्दपुर, सिन्ध, कच्छ और अवन्त। समतट और द्रविड़ में स्थविर बसते थे। अन्दरब और धनकटिक (अमरावती) में भी महासंधिकों का प्रभाव कम हो रहा था।

युवान–च्वांग का कश्मीर के राजा द्वारा बडा सम्मान किया गया। उसने यात्री के लिए बौद्ध ग्रंथों की नकल कराने हेतु बीस पंडित नियुक्त किये। दो साल वहां रहकर वह सियालकोट आ गया। यहां पर दो वर्ष तक भिक्षु विनीत प्रभु से अभिधर्मपिटक का अध्ययन किया। वह श्रुघ्न में रहकर बौद्ध भिक्षु जयप्रभ से तथा मतिपुर में मित्रसेन से बहुत कुछ सीखा। वह तीन मास कन्नौज में भी रहा। नालंदा के प्रसिद्ध कुलपति शीलभद्र का भी वह शिष्य रहा।

यद्यपि युवान–च्वांग ने भारतवर्ष में बौद्ध धर्म का शानदार वित्रण प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है, उसके वृत्तांत से साथ में यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि बौद्धधर्म की उन्नति में एक प्रकार की रोक लग गई थी। इस धर्म का प्रभाव लोगों में कम होता जा रहा था। भारत के उत्तर–पश्चिम के हिस्सों में विशेषकर नगरकोट, गंधार, उद्यान और तक्षशिला में विहार खण्डहर अवस्था में पडे थे और वीरान हो गये थे। यही स्थिति पूर्व में श्रावस्ती, वैशाली, चंपा और पुडवर्धन स्थानों की थी। दक्षिण में धनकटक (अमरावती, चोलप्रदेश और मलकूट) पांडयप्रदेश मे बहुत कम बौद्ध भिक्षु रहते थे।

युवान–च्वांग के वृत्तांत में बौद्ध धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मों का भी वर्णन किया गया है। दिगम्बर जैनधर्म का प्रभाव वैशाली, पौंडवर्धन और समतट में था। दक्षिण में भी अनेक

दिगम्बर जैन बसते थे। जीवन वृत्तांत में भी भूतों कापलिकों, जुतिकों, सांख्यकों, वैशेषिकों आदि का वर्णन है। इन विविध वर्ग के परिधान, विश्वास तथा क्रियानुष्ठान भिन्न–भिन्न थे। ये भिक्षाटन करते थे, और बिना वयक्तिगत आवश्यकताओं की परवाह किये अपने दृष्टिकोण से सत्य की खोज में लगे रहते थे।

13.3.10 विद्या का संरक्षक :

युवान–च्वांग से ज्ञात होता है कि हर्ष विद्या का संरक्षक था, और वह राजकीय आय का चौथा भाग विद्वानों को पुरस्कृत करने में व्यय करता था। उसके जीवन–वृत्तांत के अनुसार उसने उदारतापूर्व प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान जयसेन को 80 बड़े नगरों की आय दान कर दी यद्यपि उसने उसे स्वीकार नहीं किया। युवान–च्वांग से यह भी पता चलता है कि हर्ष प्रसिद्ध नालंदा विश्वविद्यालय का आश्रयदाता था। उसने वहां शानदार विहार बनवाया तथा कांसे का मंदिर भी।

युवान–च्वांग ने उन ब्रहामणों की विद्वता की सराहना की जो समस्त जीवन अध्ययन में व्यतीत करते थे और गरीबी से रहते थे। नालंदा विश्वविद्यालय के स्थानीय बौद्ध भिक्षुओं का न केवल ज्ञान किंतु उच्च चरित्र होने के कारण सम्मान किया जाता था। नालंदा विश्वविद्याालय में प्रवेश पाने हेतु बाहर से भी विद्यार्थी आते थे। पाठ्यक्रम में न केवल बौद्धधर्म के ग्रंथ अपितु वेद, हेतुविद्या, शब्दविद्या, चिकित्साविद्या, अथर्वविद्या, सांख्य आदि सम्मिलित थे। नालंदा विश्वविद्यालय को चलाने के लिए 200 ग्राम दान में दिये हुए थे।

13.3.11 सामाजिक दशा :

युवान–च्वांग ने न केवल भारतीय समाज के जन्मजात चार वर्णों का किंतु साथ में उनके धंधों का उल्लेख किया है। ब्राहमण धर्म–कर्म, क्षत्रिय शासन, वैश्य व्यापार तथा शूद्र खेती और परिचर्या का कार्य करते थे। एक ही जाति के विभिन्न वर्गों में विवाह सीमित थे। विधवा विवाह की प्रथा नहीं थी। गणिका के साथ देवदासी की प्रथा भी थी। सिंध के समीप एक नगर के सूर्य मंदिर में देवदासियाँ रखी जाती थी। लोग प्रायः सच्चे और विश्वस्त थे। अपने आचरण में वे धोखेबाज नहीं थे। व्यवहार में वे सर्वथा स्पष्ट और न्यायसंगत एवं बहुत सदाचारी और शीलवान थे।

शारीरिक सफाई का वे बहुत ध्यान रखते थे। खाने से पहले वे हाथ–मुंह धो लेते थे। जूठन वे कभी नहीं खाते थे।

मिट्टी के बर्तनों को नष्ट कर दिये जाते थे तथा धातु के बर्तनों को रगड़कर मांजा जाता था। खाने के बाद वे अपने मुंह को दातुन से साफ करते थे और हाथ–मुंह धो लेते थे।

लोगों का मुख्य आहार था – गेहूं की चपातियां, भुने हुए दाने, चीनी, घी और दूध के पदार्थ। कुछ अवसरों पर मछली, मृग और भेड़ का मांस भी खाया जाता था। ग्राम तथा कुछ जंगली जानवरों का मांस पूर्णतः वर्जित था। प्याज और लहसुन बहुत कम काम में आते थे। जो व्यक्ति नियमों का उल्लंखन करता था, उसे निष्कासित किया जा सकता था। युवान–च्यांग बताता है कि रेशम, ऊन और सूत के कपड़े बनाने की कला अत्यंत परिष्कृत थी। युवान–च्यांग के अनुसार राजा तथा उच्च व्यक्तियों के आभूषण असाधारण थे। कीमती पत्थरों का "तारा" और हार उनके सिर के आभूषण थे और उनके शरीर अंगुठियों, कंगनों तथा मालाओं से सुसज्जित थे। धनवान व्यापारी लोग केवल कंगन पहिनते थे।

13.3.12 आर्थिक दशा :

भारत की स्मृद्धि से युवान–च्वांग अत्यधिक प्रभावित हुआ। वह हमें बताता है कि लोगों का जीवनस्तर बहुत ऊंचा था। कौड़ियां और मोती भी मुद्रा के रूप में प्रचलित थे। भूमि उर्वर थी और उत्पादन बहुत अधिक था।

युवान–च्वांग से हमें सातवीं सदी में जो पैदावार होती थी, उसकी जानकारी मिलती है जैसे – चावल, गेंहू, अदरक, सरसों और कद्दू, फलों में आम, तरबूज, नारियल, कटहल, इमली, सेव, अनार तथा नारंगी। युवान–च्वाग ने धातुओं की खानों का भी वर्णन किया है। उससे ज्ञात होता है कि सोना चांदी का भारतवर्ष में बहुतायत से उत्पन्न होता है। उत्तर–पश्चिमी भारत में उद्यान और दरेल, व्यास और सतलुज के बीच के टक्क और सिंधु से सोना चांदी प्राप्त होता था। तांबा और लोहा व्यास और सतलुज के बीच पाया जाता था। तांबा नेपाल और कलूत (कुलुदेश) में भी प्राप्त होता था। युवान–च्वांग की नालंदा यात्र के समय वहां पूर्णवर्मन द्वारा निर्मित बड़ी भारी तांबे की मूर्ति तथा शिलादित्य (हर्ष) हर्ष द्वारा निर्मित पीतल का मंदिर विद्यमान था। औद्योगिक जीवन जातियों तथा बड़ी–बड़ी श्रेणियों तथा निगमों पर आधारित था।

राज्य की आय कैसे खर्च होती थी, इसका अनुमान युवान–च्वांग के वर्णन से लगाया जा सकता है। एक भाग आर्थिक कृत्यों तथा सरकारी कामों में खर्च होता था। दूसरा भाग बड़े–बड़े

सार्वजनिक अधिकारियों पर खर्च होता था। तीसरा भाग विद्वानों को पुरस्कार और वृत्ति देने के लिए था और चौथा भाग दान–पुण्यादि में काम आता था।

युवान–च्वांग के वृत्तांत से कुछ राजनैतिक घटनाओं का पता चलता है। उसके अनुसार हूणराजा मिहिरकुल ने बौद्धों पर अन्याय व अत्याचार किये। उसने बौद्धों को मरवाये और उनके स्तूप और विहार नष्ट किये। बालादित्य नाम के राजा ने उसका विरोध किया और उसको कर देने से मना कर दिया। जब मिहिरबालादित्य की पहिचान गुप्त सम्राट बुद्धगुप्त के उत्तराधिकारी नरसिंहगुप्त (486 ई०) से की जाती है।

13.4 ई-त्सिंग

ई–त्सिंग एक चीनी यात्री था जिसने 672 और 688 ई० के मध्य भारत के भ्रमण किया था। उस समय के भारतियों की धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक अवस्था का उसने सजीव चित्रण किया है। प्रसंगवश उसने भारत की राजनीतिक स्थिति का भी वर्णन किया है।

13.4.1 बौद्धधर्म :

ई–त्सिंग ने तुर्कीस्तान में बौद्धधर्म का प्रभाव और भारत के साथ उसके संपर्क का उल्लेख किया है। तुखार लोगों ने अपने देश के भिक्षुओं हेतु भारत में एक मंदिर बनवाया। यह मंदिर स्मृद्धि आर व्यवस्था की तुलना में अन्य मंदिरों से श्रेष्ठ था। जब उत्तर के भिक्षु यहां आते थे तो वे इसी मंदिर में ठहरते थे। इन लोगों ने एक प्रकार का जातीय समुदाय बना लिया था और वे विहारस्वामी कहलाते थे। ई–त्सिंग यह भी बतलाता है कि बोध गया में कपिशा मंदिर था जहां उत्तर के लोग रूकते थे। सुमात्रा में स्थित श्रीविजय बौद्धधर्म का एक बहुत बड़ा केन्द्र हो गया था। श्रीविजय के राजा के अधिकार में भारत और श्रीविजय में चलने वाले व्यापारी जहाज थे।

13.4.2 नालंदा विश्वविद्यालय और शिक्षा पद्धति :

ई–त्सिंग नालंदा विश्वविद्यालय के बारे में जानकारी देता है। वह स्वयं इस स्थान पर 10 वर्ष बौद्ध ग्रंथों के अध्ययन एवं नकल हेतु ठहरा। इस विश्वविद्यालय में आवासियों की संख्या 3000 से अधिक थी। इसमें आठ सभा भवन थे जिनमें तीन सौ कमरे थे। इसके अधिकार में 200 से अधिक ग्राम थे जो कई पीढियों के राजाओं ने उसे प्रदान किये थे। चन्द्रकीर्ति, शांतिदेव और शांतरक्षित यहां के इस समय प्रसिद्ध आचार्य थे।

60 विदेशी बौद्धयात्री जो भारत आये थे, उनमें से बहुत से बौद्ध ग्रंथ के अग्रिम अध्ययन हेतु यहां ठहरे हुए थे।

ई–त्सिंग ने उस समय की शिक्षा प्रणाली का भी वर्णन किया है। विद्यार्थी को छठे वर्ष में सिद्धिरस्तु को पढ़ाया जाता था, जिसे वह छः महिने में पूरा कर लेता था। वह आठ वर्ष की आयु में पाणिनि सूत्र और धातुपाठ को पढना शुरू करता था और आठ मास में पूरा कर लेता था। पन्द्रह वर्ष की आयु में बालक "काशिकावृत्ति" पढना शुरू करता था और पांच वर्ष में उसे पूरी तरह समझ लेता था। इसके पश्चात विद्यार्थी पद्य तथा गद्य रचना, तर्क, आध्यात्म विद्या आदि का अध्ययन करता था।

ई–त्सिंग ने भर्तृहरि द्वारा लिखित एक ग्रंथ का उल्लेख किया है। उसमें 25,000 श्लोक थे। भर्तृहरि सारे भारत में बहुत प्रसिद्ध था और उसकी मृत्यु 650 ई० में हुई थी। उसने यह भी लिखा है कि शीलादित्य ने बोधिसत्व जीभूतवाहन की कथा को काव्य–बद्ध किया और उसे मंच पर खेला।

आचार्य और शिष्य अनुशासन के नियमों का दृढ़ता से पालन करते थे। ई–त्सिंग उनके पारस्परिक संपर्कों के बारे में भी जानकारी देता है। विद्यार्थी आचार्य की सेवा करता था। वह उसकी मालिश करता था, उसके कपड़े तह करता था और कभी–कभी कमरों तथा आंगन को साफ करता था। वह गुरू को शुद्ध जल लाकर देता था। इसके साथ–साथ आचार्य भी अपने शिष्य के आचरण पर दृष्टि रखता था और उसके दोष बताता था। वह उसके साथ पुत्र जैसा व्यवहार करता था। वह यदि बीमार हो जाता था, तो उसे औषधियां दिलवाता था और उसकी सेवा भी करता था।

विहारों के अधिकार में भूमि होती थी। जब भी संघ द्वारा किसी खेत में फसल लगाई जाती थी तो सेवकों को बैल तथा अन्य सहायता दी जाती थी। प्रायः उन्हें उपज का छठा भाग दिया जाता था।

13.4.3 सफाई व्यवस्था :

ई–त्सिंग भारतीयों के सफाई तरीकों का भी उल्लेख करता है। वे मकान की फर्श को गोबर से लेपते थे। वे खाने के पहले स्नान करते थे। खाने के पहले और बाद में मुह को साफ करते थे। वे खाने के मिट्टी के बर्तनों का प्रयोग के पश्चात फेंक देते थे, तथा धातु के बर्तनों को मल कर साफ करते थे। वे लहसुन नहीं खाते थे।

13.4.4 उत्पादन :

ई–त्सिंग के वृत्तांत से ज्ञात होता है कि भारत में [illegible], तरबूज और गन्ना बहुत पैदा होता था। अनेक प्रकार के फल भी बहुत उत्पन्न होते थे किन्तु ज्वार बहुत कम। इसके अतिरिक्त यह भी पता चलता है कि उत्तर पश्चिम में गेंहू, पश्चिम में जौ और चावल और मगध में चावल उत्पन्न होता था।

13.4.5 वस्त्र :

ई–त्सिंग बताता है कि सारे भारत में लोग दो कपड़े पहिनते थे। वे चौड़ी सिनन के थे और आठ फुट लम्बे थे। वे कमीजें और पायजामें पहिनते थे। घाघरा शरीर के निचते भाग के चारों और बांध लिया जाता था। ई–त्सिंग के अनुसार भारत के चिकित्सा विज्ञान में वैद्य रोगी का इलाज औषधियों के द्वारा करता था। उपवास के द्वारा भी रोग का निदान किया जाता था। अपने स्वास्थ्य के लिए साधारण लोग सैर के लिए जाया करते थे।

13.4.6 राजनैतिक घटनायें :

ई–त्सिंग ने प्रसंगवश कुछ राजनैतिक घटनाओं तथा व्यक्तियों का भी उल्लेख किया है जो ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। वह उल्लेख करता है कि श्रीगुप्त नाम के राजा ने चीनी यात्रियो के लिए एक मंदिर बनवाया और उसको 24 ग्राम दान में दिए। कुछ विद्वान इस राजा की पहिचान गुप्तवंश के संस्थापक श्रीगुप्त से करते हैं। यह मंदिर मगध में स्थित था। समतट के राजा राजभट का उल्लेख भी ई–त्सिंग ने किया है। जो खड्गवंश का राजा राजभट हो सकता है। पूर्वी–भारत का राजा देववर्मा और देवखड्ग एक हैं।

13.5 अभ्यासार्थ प्रश्न :

(1) फाहियान की भारत यात्र वृतांत का ऐतिहासिक श्रोत के रूप में महत्व स्थापित कीजिये

(2) युवान–च्वांग द्वारा वर्णित भारत की राजनैतिक, प्रशासनिक एवं धार्मिक स्थितियों का विवरण दीजिए।

(3) ई–त्सिंग के यात्र वृत्तांत का विवरण दीजिऐ।

13.6 संदर्भ ग्रंथ :

1. Giles, HA : The Travels of Fa-hien or Record of Buddhist Kingdoms Cambridge, 1923

2. Legge, J.H. : Record of the Buddhistic Kingdoms, being an account of the Chines monk Fa-hien's travels, Oxford 1886.

3. Beal, S : Si-yu-ki Buddhist Records of the Western world Trans from the Chinese of Hiven Tsang, 2 Vols, London, 1966.

4. Beal, S : Life of Hiven Tsang by the Shaman HWUI-Li London, 1911.

5. Watters, T : On Yuan Chwang's Travels in India Ed. by T.W. Rhys Davids and S.W. Bushell, 2 Vols London 1904, 1905

6. Takakusu, J.A. : Record of the Buddhistic Religion as practised in India and the Malay Archipelago, by I-tsing Oxford, 1896.

7. Chavaness, E : Memoire compose a lepoquedela grande dynastic Tiang Sur les Religion Eminents qui ALlerent chercher a loi dans les pays d accident, par Itsing, Paris 1896, (A summary in English of this work is given in Beal's life Intr.)

MAHY-03

उ० प्र० राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

एम. ए. पाठ्यक्रम

(इतिहास)

खण्ड–4

इकाई संख्या	पृष्ठ संख्या
इकाई 14	
बाबरनामा, अकबरनामा तथा सुजन राय भन्डारी की कृति खुला सतुन्तवारीख	3-17
इकाई 15	
राजस्थान का ख्यात एवं बात साहित्य	18-30
इकाई 16	
गुजराती रासमाला साहित्य का ऐतिहासिक महत्व	31-42
इकाई 17	
भारतीय इतिहास एवं इतिहास लेखन का यूरोपीय मत	43-49
इकाई 18	
स्वातंत्रय - पूर्व भारत में राष्ट्रवादी इतिहास लेखन - आर.सी. दत्त एवं दादा भाई नौरोजी	50-62

इकाई - 14

बाबरनामा, अकबरनामा तथा सुजन राय भन्डारी की कृति खुलासतुत्तवशिख

इकाई की रूपरेखा:

14.0 उद्देश्य

14.1 प्रस्तावना

14.2 ऐतिहासिक स्रोतों में बाबर नामा, अकबरनामा तथा खुलासतुत्तवशिख का महत्व

14.3 बाबरनामा - बाबर के बौद्धक जीवन पर आनुवंशिक्ता तथा वातावरण का प्रभाव

14.4 बाबर की उपलब्धियां - विद्धता के क्षेत्र में

14.5 बाबरनामा

14.6 बाबरनामा एक ऐतिहासिक ग्रन्थ के रूप में

14.7 अकबरनामा

14.8 अबुलफ़ज़ल की जीवनी

14.9 अबुलफ़ज़ल की कृतियां

14.10 खुलासतुत्तवशिख के लेखक सुजन राय

14.11 खुलासतुत्तवशिख एक ऐतिहासिक ग्रंन्थ के रूप में

14.12 अभ्यासार्थ प्रश्न

14.0 उद्देश्य

इस इकाई से हमारा उद्देश्य आप को मुगल काल के तीन ऐतिहासिक स्रोतों की जानकारी देना है। ऐतिहासिक स्रोत वैसे भी अपने युग विशेष का दर्पण होते है परन्तु यह तीनों कृतियां समकालीन होने के अतिरिक्त बहुमूल्य ज्ञप्ति से भरपूर है। इस इकाई का अध्ययन कर लेने पर आप को निम्नलिखित बातों का ज्ञान हो जाएगा।

- ऐतिहासिक स्रोतों में बाबर नामा, अकबार नामा तथा खुलासतुत्तवशिख का महत्व
- इन तीनों स्रोतों के लेखकों तथा उनकी जीवनी तथा दृष्टिकोण एवं अभिवृत्ति का बोध
- ऐतिहासिक सूचनायें तथा उनकी विवेचना
- स्रोतों के गुणों-दोषों पर विश्लेषणात्मक टिप्पणी

14.1 प्रस्तावना

अतीत के दिग्दर्शन के लिए साहित्य एवं इतिहास एक महत्वपूर्ण स्रोत हैं। बाबरनामा आत्मकथा है तो अकबरनामा एक दरबारी द्वारा रचित कृति-खुलासतुत्तवशिख पूर्ण रूप से देहली के इतिहास पर आधारित एक रचना। यह तीनों स्रोत अपने अपने ढंग से मुगल काल का चित्रण करते हैं। अकबर महान ने इतिहास के महत्व को समझते हुए ही यह आदेश दिया था कि जो व्यक्ति भी उसके तथा पूर्वजों के वृतान्त लिखेगा उसे पूर्ण सुविधा दी जाऐगी। इसीलिए अकबर के युग में इतिहास कृतियां बहुत रचित हुई उसके पश्चात भी यह प्रथा चलती रही जिस से इतिहासकारों का कार्य आसान हो गया। मुगल काल की लगभग सभी कृतियां फारसी भाषा में लिखी गई और इन पर फारसी इतिहास कारों का प्रभाव भी हैं। इन एतिहासिक स्रोतों में कुछ दरबार में लिखी गई कुछ निजी, कुछ गोपनीय (जैसे बदायूनी की मुनतखिबुत्तवशिख एवं ख़फी खां की मुनतखिबुल्लुबाव) तथा कुछ यात्रियों के वृत्तान्त अथवा यात्रा विवरण एवं पत्र संग्रह इत्यादि सभी सम्मिलित हैं। मलफूज़ात साहित्य अर्थात सन्तों की जीवनी में जनसाधारण के रहन सहन दुख-सुख का ज्ञान होता है। इस प्रकार सभी साहित्यिक कार्य भी महत्वपूर्ण है, क्योंकि समाज का दर्पण है। अकबर ने ही सोच कर अनुवाद के लिए खोले गए विभाग में सभी प्रकार के धार्मिक, लौकिक, साहित्यिक तथा ऐतिहासिक ग्रंन्थों का अनुवाद संस्कृत से फारसी तथा फारसी से संस्कृत में कराया था। जिसे उस के 'इतिहासकारों' ने पूर्ण रूप से प्रचुरता सहित प्रयोग किया तथा साहित्य और इतिहास में डाल दिया।

14.2 तीनों स्रोतों का महत्व

'बाबरनामा' का रचयिता केवल साहित्यकार कवि तथा विद्वान ही नहीं, भारत में मुगल साम्राज्य का संस्थापक था। इसिलिए 'बाबरनामा' न केवल एक प्रत्यक्षदर्शी विवरण है बल्कि आवेष्ठित मानव का एक

भावप्रवण प्रस्तुतिकरण है। यह अकेला स्रोत है जो 15वीं शताब्दी के अन्त में 19वीं शताब्दी के दो दशकों का बहुमूल्य वर्णन दे कर बाबर के दृष्टिकोणों तथा विश्लेषण के साथ-साथ अन्य भारतीय (राजपूत तथा अफ़ग़ान) स्रोतों का संपूरक भी बनता है।

अकबरनामा यद्यपि दरबारी इतिहास की श्रेणी में आता है पर उसमें अच्छे ऐतिहासिक ग्रंन्थ के सभी गुण पाए जाते हैं। अबुलफ़ज़ल तथा उस का परिवार दरबार से जुड़ा था अेर आध्यात्मिक, धार्मिक, प्रशासकीय तथा आयोजन नियोजन सम्बन्धी सभी दायरों में शामिल था। अबुलफजल स्वयं भी अकबर का विश्वासपात्र सुयोग्य उपायुक्त था। यही कारण है कि बाबरनामा अन्य इतिहास ग्रंन्थो के मुकाबले ज्यादा व्यापक, विस्तृत, यथा तथ्य, कालक्रमानुसार, बहुकोणीय पुस्तक है। संशोधित होने के कारण इस में सुव्यवस्था, शब्दों का ज्ञानकृत चयन तथा सुचनाओं का भन्डार है।

सुजनराय की खुलासतुत्तवशिख भारत में लिखी गई भारतीय द्वारा रचित पहली फारसी की पुस्तक है। जिससे भारतीय दृष्टि कोण का आभास होता है। दरबार से दूर लिखी गई यह पुस्तक देहली नरेशों के व्याख्यान के साथ-साथ भारत की भौगोलिक स्थिति, सांस्कृतिक तथा अन्य पहलुओं का वर्णन देती है।

14.3 बाबरनामा : बाबर के बौद्धिक जीवन पर प्रभाव — आनुवंशिक्ता तथा वातावरण का

बाबर का जन्म एक ऐसे परिवार में हुआ था जहां शिक्षा तथा विद्या सम्बन्धी योग्यतायें प्राथमिकता रखती थी। बाबर के नाना तथा दादी विशेषकर माता कुतलुक बाबर के चहुं ओर जिन प्रतिभाशाली लोगों का झुरमुट था और जिन्होंने उस के नन्हें मस्तिष्क पर अपने-अपने ढ़ंग से प्रभाव डाला था वे उसके सगे-सम्बन्धी भी थे तथा अमीर भी। यूं तो बाबर को अपने पूर्वजों अमीर तीमूर, उलुग़ बेग, यूनुस खां, त्रैसुंक़ररमिज़ों इत्यादि की विचारणा एवं बुद्धि सम्पन्नता से भी कुछ दाय प्राप्त हुआ था। परन्तु विशेष रूप से 15वीं शताब्दी के अन्तिम दशकों में सुलतान हुसैन बैकरा अर्ब्दुरहमान जामी, अलीशेर नवाई, ख्वाज़ा उबदुल्ला अहरार इत्यादि ने मध्य एशिया में जो विद्वता का वातावरण बना रक्खा था उस ने बाबर की क्षमताओं को चमकाने में सहायता दी। बाबर को अपने वातावरण से उच्च दीक्षा, विचार व आर्दश प्रवीणता तथा कानून के प्रति आज्ञाकारिता प्रदान की जिस से उस की कला और भी निखर आई।

14.4 बाबर की उपलब्धियां विद्वता के क्षेत्र में :

बाबर केवल विजेता, राजनीतिज्ञ एवं मुगल राज्य का संस्थापक ही नहीं बेजोड़ लेखक, कवि, विद्वान भी था। वह अरबी, फारसी तथा तुर्की भाषाओं का प्रखर था। उसने बहुत सी पुस्तकें लिखी हैं जिनमें उसकी आत्मकथा, मुबच्चन, दीवान इत्यादि सम्मिलित हैं। काबुल विजय के पश्चात बाबर ने नस्ख के समान एक नबीन लेख कला का आविष्कार किया जिसे उसने "रक्ते बाबरी" खत्ते बाबरी का नाम दिया था।

14.5 बाबर नामा:

बेविरिज ने बाबर नामा को पूर्ण रूप से एक "अमूल्य ग्रन्थ" बताया है जो "सेन्ट आगस्टाइन, रूसो, गिब्बन तथा न्यूटन की आत्मकथा के समान अनूठी, रोचक एवं भारत में तो क्या समस्त एशिया में अपने तौर की पहली पुस्तक है"। इलियट और डाउसन का विचार है कि "बाबर नामा अपने महत्व के एतबार से तीमूर तथा जहांगीर की आत्मकथा से उत्तम, ज़ेनोफ़ीन के बराबर तथा सीज़र की टिप्पणी के कुछ ही कम है।" लेनपूल का कथन है कि "यदि किसी एक एतिहासिक स्त्रोत का नाम पूछा जाए जिस पर पूर्ण रूपसे अकेले बिना सत्यापन प्रमाणन के भरोसा किया जा सकता है तो वह है बाबर नामा। बाबर से पूर्व या उसके पश्चात् कोई आत्मकथा इतनी रोचक तथा विश्वसनीय नहीं हैं।

अपनी आत्मकथा के प्रति बाबर का स्वयं विचार है कि जो कुछ उसमे लिखा गया है वह सत्य पर आधारित है। ओर यह कि उस ने प्रत्येक घटना उसी प्रकार लिखी व आंकी है जैसे कि वह घटी है। प्रत्येक मानव की बुराई अच्छाई भी उस ने इसी प्रकार आंकी है।

बाबर ने अपनी आत्मकथा चग़ताई तुर्की में लिखी थी जिस का अनुवाद अकबर के आदेश पर अर्ब्दुरहीम ख़ानख़ाना ने फ़ारसी में किया और 1583 में अक़बर को भेंट किया। यह अनुवाद अबुलफ़ज़ल के प्रयोग के लिए तैयार हुआ था ऐसा कहा जाता है। बाबारनामा की तुर्की भाषा सारगर्भित, सुबद्ध, शब्दमितव्ययी है। शैली अत्यन्त सुगम एवं प्रचुर है। बाबरनामा तीन भागों में विभाजित हैं - मध्य एशिया, समरक़न्द, फरग़ाना इत्यादि। काबुल तथा भारत। प्रथम भाग की शैली दूसरे ओर मुख्यतः तीसरे भाग की शैली से भिन्न है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रथम भाग हम तक संशोधित पहुंचा है जबकि दूसरे तथा तीसरे भाग के संशोधन का बाबर के पास समय नहीं था। यही कारण है कि बाद की घटनायें एक मसौदे, या रूपरेखा के समान है जबकि प्रथम भाग अलंकृत शुद्ध तुर्की में सुन्दर छन्दों से सुसज्जित है। बाबर ने अपनी आत्मकथा का क्या नाम रक्खा इस पर इतिहासकारों में मतभेद है। बाबर की आत्मकथा के लिए जो नाम प्रयोग में लाए जाते हैं वे हैं : बाबरनामा, वाक़याते बाबरी, तुज़ुके बाबरी।

बाबरनामा की रचना की तिथि पर भी मतभेद है। कुछ इतिहासकारों का कथन है कि यह आत्मकथा विभिन्न समयों तथा तिथियों पर लिखी गई। दैनिकी के समान प्रतिदिन नहीं - कभी-कभी बहुत दिन के पश्चात् भी। वृतान्त को अचानक छोड़ दिये जाने या फिर प्रारंभ करने का कोई कारण नहीं दिया गया है। कभी किसी नाजुक स्थिति में वर्णन समाप्त हो गया है फिर अकस्मात ही पहले की घटनाओं के चक्र को पूरा किए बिना शुरू हो जाता है। यह भी विवादस्पद है कि बाबरनामा दैनिकी है या आत्मकथा का जीवन वृत्त संस्मरण या दोनों का सम्मिप्रण। बेवरीज ने इसे दोनों का समन्वय बताया है।

बाबरनामा अन्तराल के कारण कुछ अधूरा सा लगता है। बाबर के 47 वर्ष सैंतालिस वर्ष दस महीने की अवधि (बाबर की जन्म तिथि फरवरी 14, 1483 से मृत्यु 26 दिसम्बर 1530 तक) में से केवल 18 बर्षों का ही विवरण उपलब्ध है इसमें भी विभिन्न स्थानों पर अन्तराल है। यह रिक्तियां पृष्ठों के खो जाने या नष्ट जो जाने के कारण विदित होती हैं क्योंकि अधूरे वाक्य तथा अपूर्ण व्याख्यान इसी प्रकार की हानि के द्योतक हैं। कहीं कहीं केवल कुछ पृष्ठ और कहीं कहीं 18 महीनों या 6 और 11 वर्षों का। इस के अतिरिक्त प्रारंभ में 12 वर्षों का और अन्त में 16 महीनों का वृतान्त नहीं मिलता। हो सकता है, कि बाबरनामा को यह हानि पहुंची हो हिसार में 1512 में उस के कैम्प की बरबादी के समय, अथवा 1529 में जब उस के पुस्तकालय की बरबादी के समय - या फिर हुमायूं के भारत से भागते समय या उसके ईरान वापसी के समय। इस रिक्ति, से इतिहासकारों को कठिनाई भी हुई हो पर बाबर के प्रति भी भ्रान्ति पूर्ण धारणायें बनने लगी। उदाहरण स्वरूप 714 से 825 की रिक्ति के प्रति यह सोचा गया कि बाबर ने शाह इस्माइल का आधिपत्य माना तथा सोने के सिक्के उस ईरान सम्राट के नाम से भी चलाए इसी अवधि में तो शायद जान बूझ कर मौन धारण कर लिया हो। परन्तु यह सन्धि तो कुछ ही दिन की थी। उससे पहले एवं उस के बाद भी जब बाबर के उत्थान का समय था ऐसे अन्तराल क्यों हैं। इसी प्रकार बाबर तथा आलमखां के सम्बन्धों के लिए यह समझना कि बाबर आलम खां की चाटुकारी कर रहा था सही नहीं। फिर भी बाबर नामा के कुछ विलोपन खलते अवश्य है जैसे यूनुस खां तथा ख्वाजा उबैदुल्ला अहरार की जीवनी तथा मृत्यु के प्रति उदासीनता, स्वयं अपने जीवन के मुख्य वर्षों पर कुछ न लिखना विशेष कर प्रारंभ के 12 सालों पर चुप्पी साध लेना इत्यादि।

14.6 बाबरनामा - एक ऐतिहासिक ग्रन्थ के रूप में

'बाबरनामा' एक विजेता का संस्मरण है इसकी ऐतिहासिक महत्ता इसलिए और बढ़ जाती है। बाबर ने अपनी आत्मकथा में भारत का जो रोचक विवरण दिया है और जिस प्रकार भारत का नक्शा खींचा है वह स्वयं में एक वृत्त चित्र है। बाबर का अपना चरित्र, रोमान्टिक तथा पेचीदा था वह एक ही समय में सिपाही, शिकारी राजनीतिज्ञ, दार्शनिक, कवि, लेखक, मानव को पहचानने समझने वाला सभ्य, सौम्य परन्तु जिज्ञासु प्रवृत्ति का मानव दृष्टिगोचर होता है। उसने अपने विचारों, भावनाओं, संसार तथा लोगों के प्रति अपनी धारणाओं का शक्तिशाली चित्रण किया है। उसकी आत्मकथा के दर्पण में उस के व्यक्तिगत प्रभावों का विश्लेषण तो होता ही है साथ में भारत का प्राकृतिक सौन्दर्य, जीव जन्तु वनस्पति, इमारतों उद्यानों नरेश तथा उनकी दुर्बलताओं भारत के विभिन्न आर्थिक सामाजिक तथा सांस्कृतिक पहलुओं पर भी रोशनी पड़ती है।

प्राकृतिक सौन्दर्य का पुजारी बाबर जिन स्थानों से गुज़रा वहां के दृश्य का चित्रण उस ने बाबरनामा में अंकित कर डाला। लड़ाईयों के मध्य भी वह भारत के प्राकृतिक लुभावने दुश्य का आन्नद लेता। ऐसे ही समय पर उसने लिखा कि "मैंने भारत में 32 प्रकार के लाला

देखें हैं।" बाबर को जब ज़हर दिया गया था और मुजरिमों को सजा दी जा रही थी क्योंकि बाबर पर ज़हर का असर हो चला था, ऐसे संकट के समय भी बाबर बाग में जाकर पत्तियों की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए लिखता है "कैसा भी दक्ष चित्रकार क्यों न हो उतना कला पूर्ण चित्रण नहीं कर सकता"। बाबर बागवानी का शौकीन था। उस के वृतान्त में प्राणि समूहके साथ साथ वनस्पति पेड़ फल फूल पौधे सभी जीव जन्तुओं का आकर्षक चित्रणा मिलता है। भारत की बरखा ऋतू बाबर को प्रिय थी यद्यपि नमी से उस के तीन जरा बुक्तर, कपड़े फरनीचर सभी बेकार से हो जाते फिर भी सुगन्धित, सोहवना सोंधा वातावरण बाबर को मोह लेता। आंधी के झक्कड़ गर्मी की लू धूप सभी का विवरण मिलता है। आर्य लोगों के समान उसने भी भारतवासियों को सुन्दर नहीं बताया। चूंकि एक भी मनुष्य बाबर तथा उसके साथियों को खाद्य सामग्री तथा चारा देने को तैयार न थे। बाबर ने उन्हें अमैत्रीपूर्ण व्यवहार का दोषी बताया कि उन में लिबास विशेषकर धोती, लंगोटी, डेवटी (चिराग़, दिया) सभी कुछ बाबर के लिए नए थे। यद्यपि वह लिखता है कि भारत में सोने, चांदी का अभाव नहीं यह एक समृद्ध देश है पर यहां उसे अच्छे घोड़ों, बाजारी, नान-रोटी, अंगूरों, सर्दी अन्य फलों, ठण्डे बर्फ के पानी, हमाम, मोमबती सभी का अभाव नजर आया। बाबर भारत तथा मध्य एशिया के बीच की साँस्कृतिक व रहन सहन की विभिन्न्ताओं से परेशान मालूम होता है। बाबर भारत तथा अपने देश की तुलना करते करते कभी कभी गृह विरह की स्थिति में आ जाता है फिर भी कहीं-कहीं उस की आलोचना गृह विरह का परिणाम नहीं मालूम होती। बाबर को भारत की जातिप्रथा, व्यावसायिक गतिशीलता का अभाव ऐसे नये अद्भुत लक्षण लगे कि उस ने आश्चर्य व्यक्त किया है। इसी प्रकार भारत की विजय के संदर्भ में इब्राहीम लोदी की सेना की त्रुटियां भारतीय राजाओं के पारस्परिक द्वन्द्व, लोदी राजा की कंजूसी जिस ने सेना को अप्रसन्न कर दिया, तुलुगमा पद्धति इत्यादि सभी का विस्तार से विवरण दिया है। जिन नरेशों ने पत्र लिखा था उसे भारत आने की स्वयं दावत दी उसका भी उल्लेख मिलत है। बाबर ने भारत के कारीगरों को बहुतायत तथा वंशानुगत होने का भी जिक्र किया है। पर वह उन्हें मध्य एशिया के कारीगरों से कम निपुण बताता है शायद इस लिए कि कारीगरी के नमूने उन स्थानों पर नहीं थे जहां बाबर गया। इसी प्रकार बाबर ने अच्छे झरने व आबशार भारत में नदेखे और भारत में उनके न पाए जाने का ज़िक्र किया है। बाबर ने गुणदोष सभी का वर्णन इमानदारी से कर दिया है। बाबर की शराब के प्रति अरूचि तथा अपने भाईयों के हाथों उस का शराब पीना, पत्नी के प्रति उस की भावना, सौतेली मां के दुर्व्यवहार पर अपने सदाचार से उसे लज्जित करना। सगे सम्बन्धियों के लिए उस की उदारता - सभी मानवीय पारस्परिक सम्बन्धों पर अच्छी टिप्पणी है। बाबरनामा लरजा देने वाली घटनाओं से परिपूर्ण है। जो अल्फ लैला के समान रोमांचकारी बना देती है जैसे बाबर का भेस बदल कर अपनी बहन खानजादा से मिलने जाना जो उसे के शत्रु शैबानी के साथ थी। इसी प्रकार बाबर अपने शत्रुओं के हाथ पड़ जाने पर खामोशी से स्रोता बना उन की

स्वयं को हत्या की प्लान बनाते सुनता रहा। अन्ततः उसने पूछा कौन है जो उस पर पहले आक्रमण करेगा?

बाबर के व्यक्तिगत गुणों उसकी नेतृत्व की योग्यता, सहनशीलता, सौहाद्र, अपार साहस, धैर्य, तथा अनुशासन शामिल थे। इसका प्रदर्शन भली भांति आत्मकथा से होता है। ऐतिहासिक एतबार से यह आत्मकथा बहुत महत्वपूर्ण है मुख्यतः इस लिए भी कि यह तारीखेरशीदी के अतिरिक्त इस समय का अकेला स्रोत मुग़लों द्वारा व मुगलों के विषय में है।

14.7 अकबरनामा

14.7 **अबुलफ़ज़ल की जीवनी** — अकबरनामा के लेखक अबुलफ़ज़ल का जन्म 14 जनवरी 1551 को आगरा में हुआ। उस के पिता शेख़ मुबारक तथा भाई फ़ैज़ी अपनी बहुमुखी प्रतिभा के लिए प्रसिद्ध है। अबुलफज़ल ने उन दोनों से अधिक ख्याति प्राप्त की। यद्यपि अबुलफ़ज़ल ने कोई बड़ा मनसब नहीं प्राप्त किया पर उसकी व्यक्तिगत विशिष्टता ने उसे अकबर के दरबार का मुख्य आकर्षण बना रखा था। बदायुनी के साथ-साथ अबुलफ़ज़ल बीसती (20) का मनसब प्राप्त कर दरबार में दाखित हुआ। वर्ष 1585 में उसे एक हजार का 1593 में दो हज़ार का तथा 1602 में उसे 5 हजार का मनसबदार बनाया बया परन्तु उसकी राजनैतिक महिमा इस से कई गुना थी। उलमा वर्ग अबुलफज़ल, शेख मुबारक एवं फैज़ी की प्रति उनके महदवी एवं प्रबुद्ध विचारों के कारण कुछ वैमनस्य रखता था ऐसा बताया जाता है। यह शीत युद्ध बहुत दिन चलता रहा। अबुलफ़ज़ल एक महान विद्वान होने के अतिरिक्त राजनेता भी था। दक्षिण में उसकी राजनैतिक विदग्धता तथा कुशाग्रता का आभास भली भांति को जाता है। अकबर अबुलफ़ज़ल का कद्रदान था। जब अकबर तथा सलीम के बीच भ्रम तथा अनबन हुई और अबुलफ़ज़ल को इस का दोशी ठहराकर सलीम की इच्छा पर बीर सिंह बुन्देला द्वारा उस का बद्ध कराया गया तो अकबर फूट-फूट कर रोया और कहा कि "सलीम स्वयं मुझे मार देता तो अच्छा था कि अबुलफ़ज़ल बच तो जाता"। अबुलफ़ज़ल का देहान्त 12 अगस्त 1602 को सराय बार में जख्मी होने के बाद तुरन्त ही हो गया। अबुलफज़ल को अकबर का जानाथन बताया गया और सभी धार्मिक तजरबों में अबुलफ़ज़ल और उसके कुटुम्ब का ज़िम्मेवार बताया गया है।

14.8 अबुलफज़ल की कृतियां —

वैसे तो अबुलफ़ज़ल ने बहुत सी पुस्तकें लिखी हैं परन्तु उसकी ख्याति का आधार और क्षमता का सही प्रमाण उसकी पुस्तक अकबरनामा तथा आईने अकबरी से प्राप्त हो जाता है। अकबरनामा का प्रथम भाग तो अकबर के पूर्वजों के हूमायू तक तथा दूसरा भाग अकबर के राज्य के 46वीं वर्षगांठ तक तेथिक क्रम में लिखा गया है। अकबरनामा की रचना 1592 में प्रारंभ कर ली गई थी। परन्तु पांचवें संशोधन के पश्चात् 1602 में सम्पन्न हुआ। यद्यपि अबुलफ़ज़ल की असामयिक व आकस्मिक मृत्यु के कारण यह कार्य अधूरा छोड़ गया था पर इसे 'तकमीले अकबरनामा" ने किसी हद तक पूरा कर दिया। इनायतल्ला हेब्बे अली

ने लिखा था आईने अकबरी को अकबरनामा का तीसरा भाग बताया जाता है। अबुलफ़ज़ल का इरादा अकबरनामा को 5 भागों में लिखने का था पर यह न हो सका। अकबरनामा दरबारी इतिहास की श्रेणी में भले ही आता हो पर उस को ऐतिहासिक वैभव को नकारा नहीं जा सकता। अकबर कालीन इतिहास का इतना भरपूर, संपूर्ण, विस्तृत तथा कालक्रमानुसार एवं विश्वसनीय वृतान्त कहीं और नहीं मिलता।

बेविरिज का कथन कि अकबरनामा में केवल चाटुकारी है सही नहीं। यद्यपि अबुलफ़ज़ल की लेखनी अकबर की श्रद्धा से ओत प्रोत है इससें इनकार नहीं पर अबुलफ़ज़ल के अपने परिसमिन भी थे स्वयं अपने-अपनी स्थिति के क्योंकि वह अकबर का प्रिय दरवारी ही नहीं अन्तरंग मित्र, विश्वासपात्र, राजनैतिक तथा आध्यात्मिक परीक्षण का भागीदर भी था अबुलफ़ज़ल ने अकबर को मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में देखा व अकबर नामा में दर्शाया हो या नहीं पर अकबर को एक आदर्श मानव, श्रेष्ठतम आत्मा के रूप में अंकित अवश्य किया है जो यथार्थता पर आधारित है। अबुलफ़ज़ल ख़फी खां तथा फरिशता के समान वस्तुगत निष्पेक्षता के लिए नहीं सराहा जाता पर अन्ध भक्ति तथा पक्षपात का आरोप भी उस पर नहीं लगाया जा सकता।

कुछ इतिहासकार यह भी कहते हैं कि अबुलफ़ज़ल द्वारा अकबर की प्रशंसा तो समझ में आती है पर कहीं कहीं वह ऐसी घटनाओं का जिन से अकबर पर आंच आती हो उल्लेख ही नहीं करता जैसे जागीर भूमि को खालसा में बदलना, करोडियों का परेशान किया जाना, या 24 वें प्रशासनीय काल में जागीर का दोबारा शुरू किया जाना जब कि इन सूचनाओं की यथार्थता तथा तफसील हमें बदायोनी, विज़ामुद्दीन तथा टोडरमल एवं फतेहल्ला शीराजी की रिपोर्ट से भी मिल जाती है।[1] इसी प्रकार सद्र के विभाग मे किए गये सुधार अकबरनामें में नहीं मिलते परन्तु आईने अकबरी में हैं। इसी प्रकार इबादत खान के वाद-विवाद स्वयं को मजतहिद एवं इमाये इादिल बताने वाला महजर, तौहीदे, इलाही इत्यादि पर इत्तेला अकबरनामा में नहीं बल्कि बदायूनी में मिलती है। शेरशाह की उपलब्धियों का वर्णन भी निष्पक्ष नहीं। इस संदर्भ में यह बताना आवश्यक है कि भूमिगत या राजस्व सम्बन्धी सुधारों का अच्छा ब्योरा अबुलफ़ज़ल द्वारा दिया गया है।" धार्मिक क्षेत्र में अकबर की "सत्य की खोज" का परीक्षण भी अकबरनामा में दिया गया है।

अकबर से पूर्व कई तीमूरी नरेश स्वयं खुतबा पढ़ कर और स्वयं को दैवी शक्ति का खजाना बताकर मध्य एशिया में यह महत्व प्राप्त करने की चेष्टा कर चुके थे। यह भी कहा जाता है कि अकबरनामा ही था आइने अकबरी दोनों ही अकबर के राज्यकाल से जुडी पुस्तकें हैं साधारण जन्ता से नहीं। आईने अकबरी में यद्यपि सभी प्रकार की आर्थिक, सामाजिक स्थिति का दिग्दर्शन है पर साधारण मनुष्य के जीवन तथा उसके संसाधनों, मजदूर को मज़दूरी कीमतों का उतार चढ़ाव कही नहीं मिलता। यह सभी एतराज इस लिए निराधार है कि मध्यकालीन इतिहास में जन्तावादी इतिहास तथा जनसाधारण के दुखों के प्रति उदासीनता सार्वभौमिक व समापर्वतक हैं। फिर भी आईने अकबरी संसार

में अनोखी ऐतिहासिक धरोहर इसलिये है कि उस में लगभग सभी प्रकार की सूचनायें मिल जाती है। ब्लाकमैन का कथन है कि अबुलफ़ज़ल की कृतियों में सबसे अधिक अच्छाई है उन के विषय तत्व की शुद्धता। कहीं भी स्त्रियों का अनादरपूर्ण प्रसंग में ज़िक्र न होगा न ही उसकी पुस्तकों में अनैतिकता या व्यभिचार के प्रति उदासीनता नहीं मिलती। सत्य के प्रति उस का प्रेम उदासीनता नहीं मिलती। सत्य के प्रति उसका प्रेम एवं उसके जज़बात की श्रेष्टता भी उसकी कृतियों में दृष्टिगोचर होती हैं। हफ्त इकलीम में लिखा है कि अबुलफ़ज़ल लेखक के रूप में अनुपम था। उस का स्टाइल शानदार तथा अन्य मनुष्यों की तुच्छ बनावट तथा तकनीकी पेचदिगी से मुक्त था। उस के शब्दों की शक्ति, वाक्यों का सुसंगठन, गठजोड़ तथा शब्दों का चयन ऐसा था कि कोई उस की नकल नहीं कर सकता। अब्दुल्ला खां उजबेक (जो बुखारी का नरेश था और अकबर का समकालीन) सदैव यह कहता था कि "वह अकबर की तलवार से ज्यादा अबुजफ़ज़ल के क़लम से भयभीत रहता है।"

अकबरनामा की प्रथम जिल्द में तीमूर बाबर सूर राजाओं तथा हमायूं के इतिहास के दूसरे में अकबर के 46 वर्षों का वृतन्त है। तीसरी जिल्द आईने अकबरी है जिस को इतिहास की पुस्तक पूर्णरूप से भले ही न कहा जाए पर उसमें गजेटियर के समान सभी रिपोर्ट मौजूद हैं। ब्लाकमैन ने सम्राटों के प्रति चाटूकारी, दरबारी इतिहास का ढर्रा बताते हुए अबुलफ़ज़ल को इस इज़ाम से इस लिये मुक्त करता है कि अबुलफ़ज़ल को सच में अकबर के समान एक हीरो मिला था जिसकी प्रशंसा न करना ग़लत होता। अकबरनामा में अबुलफ़ज़ल ने बहुत से ऐसे किस्से शामिल किये हैं जिसमें अकबर दैवी शक्ति के साथ-साथ एक महापुरूष मालूम होता है।

वैसे तो अबुलफ़ज़ल की पुस्तकों में अयारे दानिश जामे उल लुगात (कोश कला पर) भी है तथा कँशकोल भी। उस ने तारीख अलफी में भी मदद की थी। अन्य पुस्तकों में विभिन्न रूप से उस का सहयोग बताया जाता है, परन्तु अकबरनामा तथा उस की तीसरी जिल्द आईन अत्यन्त महत्वपूर्ण बताई जाती है।

अकबरनामा की तीसरी जिल्द आईने अकबरी का समापन अकबर के 42वें शासकीय वर्ष में हो गया था कुछ ही अंश 43वें साल में हुए, क्योंकि बिरार की विजय (1586-7) में हुई। जबकि इतिहास में सदैव ही मिलिट्री बुलेटिन के समान युद्ध की, बदलते खानदानों गिरते उठते भाग्य की तसवीर रहती है, आईने में कुछ दूसरा रंग है। आईन में राजाओं तथा हकुमत करने वाले समस्त वर्ग को जैसे जनसाधारण के पास ला खड़ा किया गया हो जो नाट्य कला के चरित्रों के समान आँखों के सामने कार्यान्वित नजर आते हैं। केवल रंग बिरंगी सूचनायें ही आईने को अहम नहीं बनाती बल्कि उस की प्रमाणीक्ता उसकी यथा तथ्यता। अबुलफ़ज़ल इतने मुख्य पद पर आसीन था कि सभी प्रकार के अभिलेखों तक उसकी पहुंच थी। दरबार के हर छोटे बड़े विभागों तथा उनकी कार्यवाही से जानकारी रखता था वह आईने अकबरी को अबुलफ़ज़ल ने 5 भागों में बांटा है जिसमें प्रथम भाग अकबर के साम्राज्य के विभिन्न

भागों, विभागों, शाहीमहल, दंकशाला खाद्य तथा अन्य सामग्री, चित्रकारी, आयुधशाला, सुलेखन, इमारतों की सामग्री, मजदूरों की मजदूरी की दर इत्यादि पर, दूसरा भाग मनसबदार तथा मनसबदारों पर, तीसरा भाग फौजदार कोतवाल इत्यादि तथा राजस्व नीति, दुहसाला बन्दोबस्त, चौथा भाग हिन्दुओं की सभ्यता, दर्शन, खगोल विज्ञान, दवाईयों, तथा पांचवां भाग अकबर के कथनों, उक्तियों तथा अकबर के दरबार के विशेष लोगों की जीवनियों पर आधारित है। आईने में मुगलाई खानों पर भी एक अलग भाग है।

अबुलफ़ज़ल की आईने अकबरी अपने तौर की प्रथम पुस्तक है जिसमें लेखक ने प्रशासन सम्बन्धी सभी ब्योरे तफसील से दिये हैं। भारत की भौगोलिक स्थिति, प्राकृतिक सम्पत्ति, जनसंख्या धार्मिक तथा दार्शनिक वृतान्त, प्रत्येक मुगल प्रान्त का स्थान विवरिणका, मनसबदारी, मालगुज़ारी, करों की दर, सरकारी अनुसन्धान, आदेश, भारतीय विभिन्न त्योहार, नहान, हिन्दू दर्शन शास्त्र, सामाजिक प्रथा, आचार विचार सभी पर अलबरूनी से अच्छा ब्योरा प्रदान किया है। इस प्रकार उसकी ऐतिहासिक क्षेत्र की व्याप्ति कहीं अधिक थी। आईन में अकबर के समय के सभी गणमान्य व्यक्तियों, कलाकारों चित्रकारों, सन्तों, साधुओं का उल्लेख भी है। कवियों की जीवनी भी। इस प्रकार आईने अकबरी अकबर के समय में रचित वह ग्रन्थ है जिस में प्रत्येक पहलू पर पूर्ण रूप से सूचना मिलती है।

अबुजफ़ज़ल की तीसरी कृति उसके लिखे हुए पत्रों का संकलन "इन्शाए अबुलफ़ज़ल" है जिस का प्रथम भाग अकबर के नाम से लिखे गए (इरान तूरान, काशगर के राजाओं अथवा अन्य महत्वपूर्ण समकालीन लोगों को) तथा द्वितीय भाग अबुलफ़ज़ल द्वारा (विभिन्न पत्र, अकबर व शहजादों, अमीरों के नाम) लिखे गए तथा तीसरा भाग अबुलफ़ज़ल की गद्य लिखने की क्षमता को दर्शाता है। इसमें विभिन्न पुस्तकों की भूमिका इत्यादि है। प्रथम दो भाग तो ऐतिहासिक सूचना की खान है।

14.9 अबुलफ़ज़ल इतिहासकार के रूप में

मुगल कालीन इतिहासकारों में अबुलफ़ज़ल की कृतियाँ अपने बौद्धिक मूलतत्व, विवेकशीलता, राजनैतिक व प्रबंधात्मक वास्तविकताओं को ध्यान में रखते हुए अपनायी गयी शैली तथा युक्तियुक्त दृष्टिकोण के लिए प्रसिद्ध है। अबुलफ़ज़ल की भाषा फारसी है। अलंकृत शब्द बहल तथा अरबी तुर्की शब्दों से सुसज्जित। वह बरनी तथा बदायोनी के समान अत्यंत स्वानुभूतिमूलक है पर उनके समान अबुलफ़ज़ल अपने समय की अंतारत्मा में नहीं उलझ जाता। अबुलफ़ज़ल पहला भारतीय इतिहासकार है जिसने घिसे पिटे इतिहास लेखन को तजकर इतिहास के प्रति लौकिक तथा बुद्धि संपन्न व्यक्तिक शैली धारण की। उसने इतिहास को धर्मतत्वज्ञ से नहीं दर्शनशास्त्र से जोड़ा। उसके लिए लड़ाईयाँ धार्मिक रंग में रंगकर नहीं उभरती बल्कि वह विनाशकारी तत्त्वों तथा स्थायित्व की शक्तियों के बीच की रस्साकशी या द्वन्द्व रहता है। अबुलफ़ज़ल ने ऐतिहासिक क्षेत्र को अधिक विस्तृत कर दिया तथा उसे राजनैतिक लड़ाइयों की नीरसता तक सीमित न रखकर सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक,

राजनैतिक, दर्शनात्मक, प्रशासनीय सभी प्रकार की जानकारी अबुलफ़ज़ल ने दी है परन्तु खोजबीन, शोधात्मक अनुसन्धान के पश्चात। यद्यपि कहीं-कहीं अबुलफ़ज़ल ने भी सामान्यानुमान का प्रयोग किया है पर वह भी सत्य पर आधारित है। अबुलफ़ज़ल ने इतिहास लेखन के प्रति अपने विचार अकबरनामा के दूसरे भाग में व्यक्त किए हैं कि 'इतिहास को मिथकशास्त्र बनाने के बजाए विवेचनात्मक बुद्धि सम्पन्न तथा लौकिक रूप से ही आंकना व दर्शाना चाहिए' उस का अकबरनामा इसीलिए एक विश्वसनीय प्रामाणिक शोध ग्रंथ है। उसने इतिहास को घटनाओं का क्रमचक्र समझा है पर उस में नीति शक्ति भी ढूंढी है।

अबुलफ़ज़ल कभी एक या दो ग्रन्थों पर ही अपने निष्कर्ष नहीं निकालता था। उसने स्वयं कुछ प्रश्न तैयार कर रक्खे थे जिन पर वह प्रत्येक सूचना की यर्थाता को आंकता था। उसने सभी प्रकार के ऐतिहासिक साधनों स्रोतों का प्रयोग किया था। रिर्पोट, फरमान, निशान, कार्यवृत्त पुस्तकें स्मारपत्र, प्रलेख, विचरण पत्र, वाक़िया नवीस द्वारा लिखे अभिलेखन सभी को उसने पढ़ा, जांचा, तुलनात्मक अध्ययन किया तथा तर्कसंगत विश्लेषण किया। इसीलिए उसकी पुस्तकों में संशद्धता चरम सीमा पर मिलती है। अकबर के राज्य के 19 वें वर्ष एक अभिलेखागार प्रारम्भ हुआ जहां सभी घटनाओं का लेखा तैयार किया जाता। यह तथा सभी आवेदन पत्र, इक्ता के आर्डरों की छान-बीन कर के सूक्ष्मता व यथा तथ्यता से उन का प्रयोग करने में ही अबुलफ़ज़ल की दक्षता व विशिष्टता जानी जाती है। अबुलफजल ने मनुस्मृति, साहित्यदर्पण इत्यादि जैसे हिन्दी स्रोतों को भी पढ़ा था। उसने पुराने दरबारियों, शाही खानदान के लोगों तथा महल के अन्य लोगों से पूछताछ द्वारा भी सूचनाएँ एकत्रित की हैं। यद्यपि उस पर यह आरोप है कि उसने अपने सूचना के साधनों का कभी भी जिक्र नहीं किया पर ऊसूले इसनाद फारसी इतिहासकारों में उतना आवश्यक नहीं समझा गया जितना अरबी में।

अबुलफ़ज़ल के धार्मिक विचार एक रहस्यमय पहली बने रहे। कुछ लोग (जैसे ख़ाने आज़म अथवा जहांगीर) उसे इस्लाम का सही अनुयायी नहीं मानते थे कुछ ने उसे हिन्दू, कुछ ने नास्तिक, नुक़तवी या कुछ और बताया, शहनवाज़ खां के विचार से वह एक सर्वधर्मसम्भाव एवं वसुन्धरा कुटुम्बम का स्वतंत्र आत्मा स्वरूप था। यही अबुलफ़ज़ल ने भी अपनी पुस्तक में लिखा है या नहीं आभास अवश्य ऐसा ही दिया है। उसकी लिखी हुई 'मुनाजात' जो उसके अपने धार्मिक विचारों का आईना है उसे एकेश्वरवादी पर सत्य की खोजी आत्मा दर्शाती है। इसमें अबुलफ़ज़ल का परम्पराओं एवं बाह्य आडम्बरों का विरोध, तथा विवेकशीलता की प्रधानता दृष्टिगोचर होती है। वह सन्तों तथा धर्मात्मा व आध्यात्मिक गुरूवरों के प्रति भक्ति भावना वाद-विवाद धार्मिक पृष्ठभूमि पर केवल इसलिए था कि वे एक दूसरे के प्रति भ्रमग्रस्त थे क्योंकि वे पूर्ण रूप से एक दूसरे की भाषा धर्म परम्पराओं से अवगत न थे। अबुलफ़ज़ल की उदार-वादिता तथा धर्मनिर्पेक्षता पूर्ण रूप से उस की कृतियों में झलकता है।

खुलासतुत्तवशिख़

14.10 लेखक खुलासतुत्वशिख के सुजन राय

यद्यपि अधिकतर प्रतिलिपियों में खुलासतुत्तवशिख़ के लेखक के विषय में कोई सूचना तो क्या उसका नाम भी नहीं मिलता परन्तु ज़फर हसन द्वारा प्रयोग किए पांच नुस्खों में से एक नुस्ख़ा सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। औरंगज़ेब के समय में लिखी गई यह पुस्तक औरंगज़ेब के राज्यारोहण तथा शाहशुज़ा एवं दारा शिकोह का पीछा करने तक की घटनाओं को देती है तथा दारा के थट्टा से गुजरात जाने तक के वाक़ये के पश्चात् अकस्मात ही औरंगज़ेब की मृत्यु पर टिप्पणी है। डाऊसन के अनुसार यह किसी मुंशी ने किताब नक़ल करते समय बढ़ा दिया था और तत्पश्चात् सभी लिपिकों में यह मिलता है। परन्तु फिर भी लेखक का नाम कहीं नहीं मिलता। पुस्तक के मज़मून तथा विस्तृत भूमिका (जो लेखक द्वारा ही लिखित है) में भी यद्यपि, पुस्तक की रचना की तिथि नाम का कारण एवं अन्य सभी आवश्यक सूचनायें हैं परन्तु लेखक का नाम नहीं है। केवल कुछ ही प्रतिलिपियों में कातिब द्वारा लिखा नाम मिलता है, उदाहरणतया 26 शाबान इतवार 10200 हिजरी में अकबर शाह पुत्र शाह आलम ग़ाज़ी महाराजधिराज राज राजेन्द्र श्री स्वामी जगत सिंह बहादुर के काल में सवाई जयपुर नामी बलवे में लिखी गई पुस्तक खुलासतुत्तवशिख में कातिब ने लेखक का नाम 'मुन्शीउलमनाशी (मुनशियों के मुन्शी) सुजन राय भन्डारी साकिन बटाल सूबा पंजाब' दिया है। डाऊसन ने इस नाम को सुब्हान राय तथा बठाला को पटियाला पढ़ा है। परन्तु ज़फर हसन की शोधोपरान्त यह सिद्ध हो गया है कि लेखक का नाम सुजन राय भन्डारी है जो बटाला का रहने वाला था। चूंकि भूमिका में हिन्दी सन भी है इससे विदित होता है कि किताब किसी हिन्दू ने ही लिखी है। अपने प्रति लेख ने खुलासतुत्तवशिख़ में केवल इतना ही लिखा है कि जब से उसने होश सम्भाला बड़ा समझदार हुआ वह सदैव ही नाज़िमा की सेवा में रहा। उसके नाम के साथ शायद मुंशी इसीलिए जुड़ा है। सुजन राय ने अपना नाम क्यों छिपा कर रखा और रिवाज के अनुसार भूमिका में क्यों नहीं अपना नाम दिया इस संदर्भ में जफ़र हसन का कथन है कि सुजन राय चूंकि एक अत्यंत साधारण व्यक्ति था और इसीलिए वह यह जानता था कि उसकी रचना का कोई महत्त्व न होगा उसके अपने नाम लिखने से रचना द्वारा उसका ध्येय धनोपार्जन, इनाम की लालसा तथा प्रसिद्धि का प्रलोभन भी नहीं था। एक सच्चे इतिहाकार के समान वह केवल यथार्थवादी, सत्य पर आधारित ऐतिहासिक वास्तविकताओं से परिपूर्ण एक पुस्तक लिखना चाहता था। जब हम इस दृष्टिकोण से उस की रचना को देखते हैं तो आभास होता है कि शायद उसकी रचना सभी प्रकार की अतिश्योक्ति तथा अतिरंजन से पवित्र विशुद्ध यथार्थता पर आधारित होगी मुख्यतः औरंगज़ेब के विवरण में तो वह सभी घटनाओं का स्वयं साक्षी है तथा आंखों देखा हाल प्रस्तुत कर रहा है। अपनी पुस्तक में सुजन राय लिखता है कि यद्यपि उसने कई ऐतिहासिक ग्रन्थों का अध्ययन किया है परन्तु उसने कहीं से भी कुछ चोरी नहीं किया सभी कुछ स्वयं ही लिखा है। सुजन राय हिन्दी, संस्कृत तथा फ़ारसी का विद्वान था ऐसा बताया जाता है।

14.11 खुलासतुत्तवशिख एक ऐतिहासिक ग्रन्थ के रूप में

खुलासतुत्तवशिख औरंगज़ेब के चालीसवें शासकीय वर्ष में अर्थात् 1695-96 (1207 हिज़री) में लिखी गई। यह वैसे तो विशेषतयः दिल्ली नरेशों के विस्तृत विवरण पर आधारित है और युधिष्ठिर से लेकर (दिल्ली स्थापित हुई थी) औरंगज़ेब के समय तक सभी देहली सम्राटों का उल्लेख करती है पर इस में ऐसे समस्त राज्यों का भी वृत्तांत संक्षिप्त रूप में मिलता है जिन्हें दिल्ली राजाओं ने विजय किया या विलय किया। यह पुस्तक शुद्ध तथा सजीव फारसी शैली में लिखी गई तथा उचित छन्दों से सुसज्जित है। लेखक ने इस पर संशोधन परिशोधन में ही दो वर्ष लगाए ऐसा बताया जाता है। पुस्तक का विभाजन स्थिति तथा परिस्थिति के अनुसार तीन भागों में किया गया है। प्रथम भाग भारत की औरंगज़ेब के समय की भौगोलिक स्थिति पर दूसरा भाग पांडवों के इतिहास से लेकर पृथ्वी राज राय पिथौरा तक तीसरा भाग नसिरूद्दीन सुबुकतगीन से लेकर औरंगज़ेब के समय तक के इतिहास पर समाविष्ट है।

प्रथम भाग विशेषकर अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें न केवल भौगोलिक स्थिति, भारत की पैदावार, नागरिक वर्ग की दशा पर मूल्यवान सूचनायें उपलब्ध है बल्कि 18 मुगल प्रान्तों (जो मुगल राज्य में सम्मिलित थे) में प्रत्येक का अलग विस्तृत वर्णन है। उन के विभिन्न नगरों, रोचक स्थानों, इमारतों, दरियाओं, सरकारों, महलों, मालगुजारी,- सफर के लिए रास्तों तथा विभिन्न सुन्द भव्य स्थलों का भी पूर्ण विवरण है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे यह आईने अकबरी का एक नीवनतम संस्करण है। इसमें बहुत सी नई सूचनायें हैं तथा विस्तृत जानकारी मिलती है। विशेषकर पंजाब की भौगोलिक स्थिति, लाहौर प्रान्त और उसमें लेखक के वतन बटाला के प्रति अत्यन्त महत्वपूर्ण विवरण मिलता है क्यों कि उस में लेखक की व्यक्तिगत जानकारी झलकती है।

द्वितीय विस्तृत भाग भी महत्वपूर्ण है क्योंकि इस में देहली नरेशों, भारतीय सम्राटों के संक्षिप्त हालात हैं। शायद यह फारसी की प्रथम पुस्तक है जो प्राचीन भारत के इतिहास पर प्रकाश डालती है। इतिहासकारों के अनुसार यद्यपि यह ग्रन्थ केवल 'किस्सा कहानी' समान है पर उस से इस के अकेले फारसी के स्रोत होने की महिमा कम नहीं होती।

तृतीय भाग भी कम रोचक नहीं है। यद्यपि इस के अधिकतर वाक़ियात अन्य पुस्तकों व ऐतिहासिक ग्रन्थों पर आधारित हैं। और उन्हीं से निगमित हैं। इन पुस्तक स्रोतों की लिस्ट लेखक ने अपने ग्रन्थ में दी है यह 22 हैं। इसमें अकबर नामा, आईने-इक़बाल नामा, मासिरूलउमरा, मुनतखिबत्तवशिख, मुनतखिबुल्लबाब, आलमगीर नामा, ज़फ़र नामा इत्यादि अंकित हैं। फिर भी इस ग्रन्थ में बहुत सी नई इत्तला है जिससे उपलब्ध इत्तला सम्पूर्ण होती है।

ईश्वर की प्रशंसा के साथ प्रारंभ कर लेखक ने सर्वप्रथम अपनी रचना को खुलासतुत्तवशिख़ नाम क्यों दिया इस पर टिप्पणी है। लेखक अमूल्य जीवन के महत्त्व को समझने तथा उससे विद्वता प्राप्त करने में व्यतीत करने का आह्वान करते हुए पुस्तकों के लेखन तथा उन के पढ़ने,

लाभ उठाने पर जोर देता है। वह स्वयं चूंकि ऐसा पेशा पत्र लिखने का या मुंशीगीरी का करता था जिसके कारण यह आवश्यक हो गया कि वह ऐतिहासिक ग्रन्थों को पढ़ें। अतएव उसने रज़्मनाम (जो महाभारत का अनुवाद है तथा अकबर के आदेशानुसार बदायोनी तथा थानेश्वरी द्वारा तैयार हुआ था), रामायण भागवत गीता, योग वशिष्ट (जो दारा के आदेशानुसार अनुवादित है), सिंहासन बत्तीसी, पदमावत इत्यादि पढ़ा। तारीखे कशमीर तथा तारीखे बहादुरशाही का भी अध्ययन किया। इसी लिए एक ऐतिहासिक ख़ाका उस के मस्तिष्क में तैयार हो गया थोड़ा - थोड़ा सभी सम्राटों के प्रति उसने लिखा। चूंकि इस पुस्तक में रामायण से लेकर तारीखे बहादुरशाही तक का प्रयोग व अध्ययन करके इस ग्रन्थ में औरंगज़ेब के काल तक के विभिन्न सम्राटों का संक्षिप्त व्याख्यान (खुलासा) है इसी लिए इस का नाम खुलासतुत्तवशिख़ रखा। अर्थात् इतिहास का खुलासा भारत की प्रशंसा पर एक विभाग है जिस में वनस्पति, मौसम, खेती, गल्ला, फल-फूल के अतिरिक्त जानवरों पर; विभिन्न शास्त्रों (जैसे सांख्य शास्त्र, वेदान्त शास्त्र, कर्म भाग, मीमांसा इत्यादि) व्याकरण वैदिक विद्या, शगुन विद्या, इन्द्रजाल, ज्योतिष विद्धा, गान्धर्व विद्या सभी पर टिप्पणी हैं। भारत के दरवेशों, सन्यासी, योगी, बैरागी, गुरू नानक के अनुयायी पर अलग-अलग थोड़ा-थोड़ा वृत्तान्त है। चारों वर्णाश्रमों का ज़ौहर प्रथा, इत्यादि पर भी रोचक सूचना है।

इस ग्रन्थ का ऐतिहासिक महत्त्व विशेष रूप से इसलिए है कि यह पुस्तक किसी राजा के दरबार में नहीं लिखी गई न ही इस पर प्रशासकीय दबाव था। यह पहली पुस्तक है जो फारसी भाषा में किसी हिन्दू द्वारा लिखी गई मुसलमान सम्राटों का वृत्तान्त है। यह रोचक लगता है कि कुछ शताब्दी पहले एक हिन्दू इतिहासकार की — मुख्यतः औरंगज़ेब तथा अन्य मुग़लों तथा देहली सम्राटों के प्रति क्या भावना थी। चूंकि लेखक स्वयं दरबारी चक्र में था तथा बहुत सी घटनाओं का आँखों देखा हाल प्रस्तुत करता है पुस्तक का महत्त्व इससे और भी बढ़ जाता है। यद्यपि इसमें अन्य पुस्तकों का निचोड़ है। परन्तु बहुत कुछ नया भी है जैसे खुसरो के वध की घटना में सुजन राय के विचार। शाहजहाँ के लिए मुख्यतः सुजनराय ने वारिस के बादशाहनामा का प्रयोग किया है। उत्तराधिकार के युद्ध में सुजन राय का विचार है कि यशवन्त सिंह के युद्ध से भाग जाने में उसके साथियों विशेषतया राजा राय सिंह सिसोदिया एवं सुजन सिंह चन्द्रावत के अपसरण का दखल है। यह भी सुजन राय ने नहीं कहा कि दारा शिकोह हाथी से ख़लीलुल्ला खाँ के कहने पर उतरा था। इस पुस्तक का अन्त दारा की सिन्ध से गुजरात की ओर पलायन के साथ हो जाता है एवं लेख अकस्मात ही टिप्पणी करता है कि औरंगज़ेब का देहान्त दक्षिण में अहमद नगर में 1707 में 92 वर्ष की आयु में हुआ। उसकी सल्तनत 50 वर्ष दो महीने 28 दिन रही। खुलासतुत्तवशिख में विभिन्न प्रकार की प्रकीर्ण सूचनायें मिलती हैं। कुम्भ मेले का वर्णन भी है जो हरिद्वार में प्रत्येक 12 वें वर्ष मनाया जाता है। कुछ ऐसी सूचनायें भी हैं जो दुष्प्राप्य हैं जैसे सुल्तान जलालुद्दीन फ़ीरोज ख़लजी का क़लीज खाँ के बजाए चंगेज के दामाद ख़ालिज खाँ की नस्ल से होना। इस प्रकार खुलासतुत्तवशिख ऐतिहासिक ग्रन्थ के रूप में महत्वपूर्ण पुस्तक है।

14.12 अभ्यासार्थ प्रश्न

(i) बाबरनाम के प्रति व्यक्त विभिन्न धारणाओं पर टिप्पणी कीजिए।

(ii) बाबरनामा का ऐतिहासिक ग्रंथ के रूप में मूल्यांकन कीजिए।

(iii) अकबरनामा पर टिप्पणी कीजिए।

(iv) अबुलफ़ज़ल की इतिहासकारिता का परीक्षण कीजिए।

(v) खुलासतुत्तवशिख़ के लेखक के विषय में आप क्या जानते हो?

(vi) खुलासतुत्तवशिख़ के ऐतिहासिक महत्त्व पर निबन्ध लिखिए।

इकाई — 15
राजस्थान का ख्यात एवं बात साहित्य

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य

15.1 प्रस्तावना

15.2 ख्यात साहित्य सामान्य परिचय

15.2.1 विषयवार वर्गीकरण
15.2.2 शैलीगत वर्गीकरण

15.3 ख्यात साहित्य की प्राचीनता एवं उसके लेखक

15.4 ख्यातों की विषय-वस्तु

15.4.1 राजवंश सम्बन्धी ख्यातों की विषय-वस्तु
15.4.2 शासक विशेष सम्बन्धी ख्यातों की विषय-वस्तु
15.4.3 स्थान विशेष सम्बन्धी ख्यातों की विषय-वस्तु
15.4.4 जाति विशेष सम्बन्धी ख्यातों की विषय-वस्तु

15.5 कुछ प्रसिद्ध ख्यातकारों का सामान्य परिचय

15.5.1 मुहता नैणसी
15.5.2 दयालदास सिंढायच
15.5.3 बांकीदास

15.6 बात साहित्य

15.6.1 बातों का वर्गीकरण

(क) ऐतिहासिक बातें
(ख) अर्द्ध ऐतिहासिक बातें
(ग) अन्य विषयों की बातें

15.7 सारांश

15.8 शब्दावली

15.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

15.10 प्रासंगिक पठनीय ग्रंथ

15.0 उद्देश्य

इस ईकाई के अन्तर्गत मैं आपकों राजस्थान के एक ऐसी दिलचस्प ऐतिहासिक साधन-स्रोत से परिचित कराऊंगा जो प्राचीनकाल से जनता और विद्वानों के लिए इतिहास की जानकारी देने का लोकप्रिय माध्यम रहा है और यहां के प्रसिद्ध इतिहासकारों ने अपने इतिहास-लेखन में इनसे पर्याप्त सहायता ली है।

15.1 प्रस्तावना

ख्यात और बात साहित्य में मुख्य अन्तर यही है कि ख्यातें किसी राजवंश, जाति विशेष या शासक विशेष का सम्पूर्ण वृत्तांत विस्तार से प्रकट करती है और बात किसी व्यक्ति विशेष या घटना विशेष का वर्णन संक्षेप में करती है। ख्यातें सौ पृष्ठों से लेकर पांच सौ पृष्ठों तक की होती हैं, वहां बात 10-15 पृष्ठों में समाप्त हो जाती है। अध्ययन की सुविधा के लिए पहले हम ख्यात साहित्य को लेते हैं।

15.2 ख्यात साहित्यः सामान्य परिचय

'ख्यात' मूलतया संस्कृत भाषा का शब्द है। यह 'ख्या' प्रकथने धातु से 'क्त' प्रत्यय होने पर निष्पन्न होता है। यह शब्द ख्याति अथवा विशिष्ट उपब्धियों को उजागर करने वाला ग्रंथ ख्यात कहा गया है। इन ख्यातों की विषय-वस्तु और शैली के विस्तार में जाने के पहले उनका वर्गीकरण यहां प्रस्तुत किया जाता है, जिससे आपको उनकी संरचना और विविधता का भी अनुमान हो जायेगा।

15.2.1 विषयवार वर्गीकरण

(क) राजवंश सम्बन्धी ख्यातें
(ख) शासक विशेष सम्बन्धी ख्यातें
(ग) स्थान विशेष सम्बन्धी ख्यातें
(घ) जाति विशेष सम्बन्धी ख्यातें

विषयवार वर्गीकरण में सर्वप्रथम राजवंश सम्बन्धी ख्यातों का उल्लेख किया गया है। ये ख्यातें प्रायः राजस्थान की शासकीय जातियों से सम्बन्ध रखती है, जैसे कच्छवाहों री ख्यात जिसमें जयपुर राज्य का इतिहास समाविष्ट है। राठोड़ां री ख्यात जिसमें जोधपुर, बीकानेर, किशनगढ़ आदि भूतपूर्व राज्यों के इतिहास का समावेश किया गया है। इसी प्रकार भाटियों, सीसोदिया, देवड़ों तथा बीकानेर के राठोड़ों आदि की ख्यातें उपलब्ध होती है।

शासक विशेष से सम्बन्धित ख्यातें भी बड़ी संख्या में उपलब्ध होती हैं जिनमें राजस्थान के प्रसिद्ध शासकों की राजनैतिक उपलब्धियों के अतिरिक्त उसकी सांस्कृतिक व पारिवारिक झांकी भी प्रस्तुत की जाती है। जैसे - महाराजा मानसिंह री ख्यात, महाराजा जसवंत सिंह (प्रथम), री ख्यात, महाराजा तखत सिंह री ख्यात, आदि।

स्थान विशेष सम्बन्धी ख्यातों का विषय मूलतः राजस्थान के बड़े ठिकाने हैं। जिनमें वहाँ के जागीरदारों की विभिन्न उपलब्धियों का वर्णन रहता है। असल में ये राज्य विशेष की ख्यात के पूरक ग्रंथ हैं। ठिकाणा रायपुर री ख्यात, ठिकाणा आऊवारी री ख्यात, ठिकाणा झींतड़ा री ख्यात, ठिकाणा खेजड़ला री ख्यात आदि।

जाति विशेष सम्बन्धी ख्यातों से तात्पर्य राजवंशों के अतिरिक्त छोटी बड़ी राजपूत अथवा अन्य जातियों के वृतांत से है। राजपूत जातियों में धांधलां री ख्यात, सोनगरों री ख्यात आदि नामों से मिलती हैं। इन राजपूत जातियों के अलावा अन्य जातियों की ख्यातें भी मिलती हैं, जैसे – ओसवालों री ख्यात, पालीवाल ब्राह्मणों री ख्यात, पुरोहितों री ख्यात आदि।

15.2.2 शैलीगत वर्गीकरण

(क) सूत्रबद्ध ख्यात

(ख) स्फुट ख्यात

दूसरा वर्गीकरण शैलीगत किया गया है, जिसके मुख्य दो भेद हैं– प्रथम सूत्रबद्ध और दूसरा स्फुट। सूत्रबद्ध ख्यात में किसी राजवंश के शासकों का सिलसिलेवार व्यस्थित वर्णन होता है, जैसे जोधपुर राज्य री ख्यात जिसमें राव सीहा से लेकर महाराजा तखतसिंह तक का पूरा वृत्तांत क्रमशः दिया गया है। स्फुट ख्यात में इस प्रकार का सिलसिला नहीं रहता, इतिहास प्रेमी लोग अपनी जानकारी अथवा यारदाश्त के लिए कुछ ऐतिहासिक व्यक्तियों अथवा घटनाओं सम्बन्धी संक्षिप्त जानकारी का संग्रह लिपिबद्ध कर लेते थे। उनमें किसी प्रकार का कोई तारतम्य नहीं होता, एक घटना बीकानेर की तो दूसरी जैसलमेर की ओर तीसरी जयपुर की लिखी मिलती है। बांकीदास री ख्यात इसका एक उदाहरण है जिसमें एक पंक्ति से लेकर 10-12 पंक्तियों तक की विभिन्न प्रकार की असंबद्ध जानकारी संगृहीत है।

15.3 ख्यात साहित्य की प्राचीनता एवं उसके लेखक

आपको यह जानकार आश्चर्य होगा कि राजस्थान में इतिहास लेखन की परम्परा केवल आधुनिक काल से ही प्रारम्भ नहीं हुई है, अपितु शताब्दियों पहले से यहाँ ऐतिहासिक ग्रंथ रचे जाते थे। गद्य और पद्य दोनों ही माध्यमों से यहाँ ऐतिहासिक साहित्य बहुत बड़ी संख्या में लिखा गया है। पद्य की परम्परा तो हमें जहां 13 वीं शताब्दी में ले जाती है वहीं गद्य की परम्परा 15 वीं शताब्दी से प्रारम्भ होती है। 17 वीं शताब्दी के पहले ख्यातों की सुस्पष्ट परम्परा तो नहीं मिलती परन्तु ऐतिहासिक बातों की परम्परा अवश्य मिलती हैं। इतिहासकारों का यह मन्तव्य है कि बादशाह अकबर ने जब अबुलफ़ज़ल को अकबरनामा फारसी ग्रंथ लिखने का आदेश दिया तो उसके आदेश से राजस्थान के राजवंशों की ख्यातें यहाँ के शासकों ने लिखवाई। बादशाह के आदेश से यह ख्यात लिखने की परम्परा प्रारंभ नहीं भी हुई हो तो भी ख्यात लेखन की स्पष्ट परम्परा 17 वीं शताब्दी के पहले नहीं मिलती। सम्भव है अकबर का इतिहास-प्रेम इनके लेखन के पीछे कुछ प्रेरणा का काम कर गया हो। ख्यात लेखन का कार्य प्रायः चारण

या पचोली लोग करते थे, परन्तु इनके अतिरिक्त भी कई इतिहास-प्रेमी लोगों ने स्वतंत्र रूप से ख्यात लेखन का कार्य किया जिनमें मुहता नैणसी का नाम प्रसिद्ध है। नैणसी की ख्यात में जिन साधनों से सामग्री जुटाई गई है उनमें अनेक इतिहास संग्रहकों के नाम भी अंकित हैं। इसी तरह महाराजा मानसिंह री ख्यात के सहलेखक जोसी साहिबदाम और जैसलमेर की ख्यात के लेखक मेहता अजीत सिंह का नाम भी उल्लेखनीय है। चारण ख्यात लेखकों में चैनदान, जादूदान और दयालदास सिंढ़ायच के नाम उल्लेखनीय हैं। वीठू पना ने अनेक ख्यातों की प्रतिलिपियां की और उनमें संशोधन भी किया।

15.4 ख्यातों की विषय-वस्तु

ऊपर ख्यातों के वर्गीकरण में जो विषयवार विभाजन किया गया है उनमें ख्यातों की विविधता का मोटे रूप में संकेत किया जा चुका है। राजवंश की ख्यातों में यह प्रवृत्ति रही है कि वे पौराणिक आख्यानों के आधार पर अपना सम्बन्ध सूर्यवंश, चंद्रवंश, या अग्निवंश से जोड़ते हैं। और अपना आदि पुरूष किसी दिव्य शक्ति वाले महापुरूष को बताते हैं। इतना ही नहीं पुराणों के आधार पर ख्यात में वंशावलियाँ देने का प्रयास भी किया जाता रहा है। राठोड़ों, कच्छवाहों और जैसलमेर के भाटियों की ख्यात में ये उदाहरण सुस्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं। डा० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा का मानना है कि 13 वीं शताब्दी तक की ये वंशावलीयाँ प्रामाणिक नहीं कही जा सकती क्योंकि इनका आधार भाटों और बड़वों की बहियाँ हैं जिनमें सुनी-सुनायी बातों के आधार पर ये वंशावलियाँ अंकित कर दी गई हैं। 13 वीं शताब्दी से 19 वीं शताब्दी के अंत तक प्रायः वंशावलियाँ सही पायी जाती हैं। ख्यातों में प्रायः राजवंश के शासक की उपलब्धियों का वर्णन मुख्य रूप से रहता है परन्तु उसके साथ ही उसके पुत्रों, प्रमुख सामंतों और अन्य राजवर्गीय कर्मचारियों के क्रियाकलापों का उल्लेख भी यथा स्थान मिलता है। इन ख्यातों में वंश के राज्य विशेष की राजनैतिक हलचलों के साथ अन्य कितनी ही जानकारियाँ अंकित रहती हैं जो विशेष रूप से मध्यकालीन राजस्थान के राजनैतिक ढांचे को समझने में बड़ी सहायक होती हैं, जैसे — किस राज्य में कब सामन्तों की कैसी भूमिका रही, समाज में किन मान्यताओं का निर्वाह होता रहा, आर्थिक व धार्मिक स्थिति क्या थी आदि। अनेक शासक विद्या-प्रेमी व कला-प्रेमी हुये हैं इन क्षेत्रों में उनकी देन का भी उल्लेख यथा स्थान किया गया है, जैसे-अनेक शासकों ने चारणों और भाटों को उनके उच्चकोटि के काव्य-सृजन के लिए पुश्तैनी तौर पर जागीरें दी और लाख पसाव देकर सम्मानित किया इनका उल्लेख इनमें मिल जाता है। इसके अतिरिक्त राजकीय कुरब-कायदे और राज्य स्तरीय रीति-रिवाजों का प्रामाणिक उल्लेख इन ख्यातों में हुआ है जो न केवल उस समय के प्रशासन बल्कि सामाजिक ढाँचे को समझने के लिए भी महत्त्वपूर्ण साधन हैं।

15.4.1 राजवंश सम्बन्धी ख्यातों की विषय वस्तु

इन ख्यातों में मध्यकालीन राजस्थान की हलचलों को विस्तार के साथ दर्शाया गया है। साथ ही इनमें यहाँ के किसी राज्य की व्यवस्था

में वहां के सामंतों की क्या भूमिका रही है, इसके अध्ययन के लिए पर्याप्त सामग्री पाई जाती है। उदाहरण के लिए जोधपुर राज्य की ख्यात (जोधपुर का राठौड़ राजवंश) को ही लें तो उससे पता चलता है कि राव जोधा ने जोधपुर और आसपास के भू-भाग पर कब्जा करने के पश्चात् अलग-अलग भू-खंण्ड अपने भाईयों और लड़कों में बांट दिये और उन्हें जागीरदार बनाकर शासन का जिम्मा सौंपा तथा राज्य से उनके स्थाई सम्बन्ध कायम करते हुये डावी और जीवणी (बायीं और दायीं) मिसलों की संरचना की जिसके अनुसार राव जोधा के वंशज डावी मिसल में बैठते थे और भाई और उनके वंशज जीवणी मिसल में बैठते थे। राजा सूरसिंह के प्रधान भाटी गोयन्ददास ने इस व्यवस्था को स्थायी रूप प्रदान किया और अन्य करब-कायदे सुनिश्चित किये जिससे राज्य व्यवस्था को सुदृढ़ आधार मिला। इसके अलावा समय-समय पर सामन्तों और शासक के बीच राजनैतिक आधार किस प्रकार के रहे इसका इनुमान भी ख्यातों से मिल जाता है। राजा सूरसिंह तक राजवंश के बड़े जागीरदार अपने आपको राज्य-व्यवस्था का सहभागी मानते थे परन्तु राज सूरसिंह के समय में भाटी गोयन्ददास ने जो व्यवस्था कायम की उसके अनुसार इन जागीरदारों को एक मातहत का दर्जा दिया गया और समस्त राज्य ईकाई के पूर्ण राजनैतिक अधिकार शासक के हाथ में केन्द्रित हो गये, जिसके अनुसार किसी को जागीर प्रदान करना या ज़ब्त करना शासक की इच्छा पर निर्भर हो गया, यद्यपि परम्परा के आधार पर किसी पुश्तैनी जागीरदार को बेदखल करना काफी कठिन था क्योंकि वे लोग उसे अपनी वतन-जागीर कह कर उस पर अपना वंशानुगत अधिकार का दावा प्रस्तुत करते थे ओर अन्ततोगत्वा उन्हें वह जागीर पुनः प्राप्त भी हो जाती थी परन्तु अब शासक को अप्रसन्न करना किसी भी जागीरदार के लिए जोखिम की बात हो गई थी। इस समय से यह प्रथा भी प्रचलित हो गई थी कि जागीरदार की मृत्यु के पश्चात् उसके लड़के को या गोद लिए हुए पुत्र को गद्दी पर बैठने के पहले शासक से हुकमनामा प्राप्त करना पड़ता था और उसके लिए कुछ राशि भी नजर करनी पड़ती थी।

ख्यातों में इन जागीरदारों द्वारा शासक को गांव की आमदनी के अनुसार प्रतिवर्ष रेख की जो नकद राशि देनी होती थी उसका उल्लेख भी यत्र-तत्र मिलता है। अंग्रेजी शासन के दौरान जिस प्रकार यहां के रजवाड़े अपनी स्वंय की सुव्यवस्थित सेना रखते थे, उस प्रकार की व्यवस्था मुगलकाल में नहीं थी। शासक लोग सैन्यबल के लिए अपने जागीरदारों पर निर्भर करते थे और जागीर के अनुसार शासक के पास चाकरी के रूप में भेजने के लिए घुड़सवार व पैदल सैनिकों की संख्या निश्चित की हुई थी। युद्ध के समय इन जागीरदारों को शासक की ओर से खलीता भेजा जाता था, तब उन्हें वे सैनिक तुरंत भेजने पड़ते थे। कहने का तात्पर्य यह है कि उस समय के राज्य का ढ़ाँचा किस प्रकार का था इसका ब्यौरा इन ख्यातों में मिल जाता है।

यह तो आपको ज्ञात ही है कि मुगलकाल में राजस्थान के शासकों को सम्राट की ओर से मनसब दिया जाता था और उस मनसब के

अनुसार उन्हें फौज रखनी होती थी तथा उसके निर्देश पर उन्हें फौजी मुहिम पर देश के किसी भी भाग में फौज सहित जाना पड़ता था, इस व्यवस्था का भी अच्छा चित्रण इन ख्यातों में मिलता है। किस शासक को कब मनसब मिला और उसमें कौन सी कारगुजारी के कारण कब-कब वृद्धि या गफलत के कारण कमी हुई यह भी इनसे ज्ञात होता है। इस काल में शासकों के मुगल दरबार से घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण वहाँ की राजनैतिक औपचारिकताओं रहन-सहन, खान-पान, आमोद-प्रमोद आदि का स्थानीय शासकों पर क्या प्रभाव पड़ा इसका संकेत भी इन ख्यातों में देखने को मिलता है।

शासकों की मृत्यु के पश्चात् गद्दीनशीनी के लिए निश्चित परम्परा से हटकर किस कारण से कब-कब दूसरे दावे प्रस्तुत हुए और उनसे उत्पन्न कलह का राजनैतिक परिणाम क्या हुआ इसका भी बड़ा दिलचस्प वर्णन इन ख्यातों में मिलता है।

उस समय में प्रचलित बहुविवाह प्रथा, दास-दासियों की प्रथा, पड़ौसी राज्यों से सम्बन्ध, राज्यों की आपसी प्रतिस्पर्द्धा और ईर्ष्या-द्वेष के कारण घटने वाली घटनाओं की भी पूरी जानकारी इन ख्यातों से की जा सकती है। मुगलकाल में जोधपुर और जयपुर के शासकों के बीच जो प्रतिस्पर्द्धा रही है उसके संकेत मारवाड़ की ख्यात और कच्छवाहों की वंशावली में देखने को मिलते हैं।

इस प्रकार ख्यात किसी राजवंश से संबंधित ऐतिहासिक घटनाओं का वृत्तांत ही न होकर वह उस समय को समझने का एक महत्त्वपूर्ण साधन भी है।

15.4.2 शासक विशेष सम्बन्धी ख्यातों की विषय वस्तु

शासक विशेष से सम्बन्धित ख्यात में केवल उस शासक के जीवनकाल की घटनाओं का ब्यौरा रहता है, परन्तु उसमें भी सीमित समय (शासनकाल) के अन्तर्गत विषय-वस्तु लगभग वैसी ही होती है, जिसका वर्णन ऊपर किया गया है। इस प्रकार की ख्यातों में महाराजा अभयसिंह री ख्यात, महाराजा मानसिंह री ख्यात, महाराजा तखतसिंह री ख्यात आदि उल्लेखनीय हैं।

15.4.3 स्थान विशेष सम्बन्धी ख्यातों की विषय-वस्तु

कुछ छोटी ख्यातें किसी गांव, कस्बे या परगने को लेकर भी लिखी हुई मिलती हैं जैसे ठिकाने झींतड़े री ख्यात, ठिकाणे राजयपुर री ख्यात आदि। इनमें उस ठिकाने से सम्बन्धित जागीरदारों का वृत्तांत अंकित रहता है। इसका विस्तार राजवंश की ख्यात की अपेक्षा बहुत छोटा होता है परन्तु उनमें कुछ स्थानीय विषमताओं और मान्यताओं का उल्लेख अवश्य मिलता है। इस प्रकार की ख्यातें उस गांव के जागीरदार की पीढ़ियों की जानकारी के अलावा समय-समय पर उनके द्वारा राज्य को दिये गये सहयोग एवं वीरतापूर्ण कार्यों का वर्णन अवश्य मिलता है, इसके साथ ही उनके द्वारा किये गये जनहित के कार्यों का भी उल्लेख

मिलता है। ये ख्यातें किसी राज्य विशेष में प्रचलित सामन्ती प्रथा के सम्बन्ध-सूत्रों को जोड़ने और उन्हें ठीक से समझने में सहायक सिद्ध होती हैं।

15.4.4 जाति विशेष सम्न्धी ख्यातों की विषय-वस्तु

जाति विशेष की ख्यातों में ओसवालों, पंचोलियों और जैनगच्छों की ख्यातें भी मिलती हैं जो उस जाति विशेष के ऐतिहासिक पुरूषों और महत्त्वपूर्ण घटनाओं का दिग्दर्शन कराती हैं। पंचोलियों और ओसवालों की ख्यातों का सम्बन्ध किसी राजवंश विशेष को भी उजागर करता है और उस राज्य से उनके सम्बन्धों को भी रेखांकित करता है। ऐसी ख्यातों में इन लोगों द्वारा राज्य विशेष में की गई विशिष्ट सेवाओं और राज्य से प्राप्त जागीर, कुरब व अन्य सामान का उल्लेख विशेष रूप से देखने में आता है। इन ख्यातों के माध्यम से सम्बन्धित जाति विशेष की धार्मिक मान्यताओं और रीति-रिवाजों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। जैन-गच्छों सम्बन्धी ख्यातें जैन-धर्म के प्रचार-प्रसार और उनके प्रभाव को समझने के लिए बड़ी उपयोगी है।

इस प्रकार ख्यात साहित्य राजस्थान के इतिहास का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण साधन-स्रोत हैं और उनके विस्तृत अध्ययन एवं उपयोग के बिना राजस्थान के इतिहास को सर्वांगीण रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता।

15.5 कुछ प्रसिद्ध ख्यातकारों का सामान्य परिचय

राजस्थान में यूं तो कई छोटे-बड़े ख्यात-लेखक हुए हैं परन्तु तीन ख्यात लेखक अत्यधिक प्रसिद्ध हैं —

15.5.1 मुहता नैणसी

मुहता नैणसी जोधपुर का निवासी था। यह जोधपुर के महाराजा जसवन्त सिंह (प्रथम) का समकालीन था। इसका पिता जयमल भी राज्य में उच्च पदों पर कार्य कर चुका था। नैणसी ने जोधपुर राज्य के दीवान पद पर कार्य किया और अनेक युद्धों में भी भाग लिया, उसे इतिहास में बड़ी रूचि थी। इसके द्वारा लिखी गई ख्यात नैणसी की ख्यात के नाम से प्रसिद्ध है। कर्नल टाड के अलावा यहां के सभी इतिहासकारों ने इसका किसी न किसी रूप में उपयोग किया है। ख्यात की उपयोगिता और इसका महत्त्व इस बात से ही प्रकट होता है कि गौरीशंकर ओझा ने इसकी प्रशंसा करते हुए लिखा है कि यदि यह ख्यात कर्नल टाड को उपलब्ध हो गई होती तो उसका 'राजस्थान' कुछ और ही ढंग का होता। यह ग्रंथ रामनारायण दूगड़ द्वारा दो भागों में सम्पादित (हिन्दी अनुवाद) होकर काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा संवत् 1982 में प्रकाशित हुआ था। मूल राजस्थानी में यह ग्रंथ बदरीप्रसाद साकरिया द्वारा सम्पादित होकर राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान जोधपुर से चार भागों में पूर्ण सन् 1967 तक प्रकाशित हुआ। इस ख्यात में राजस्थान के प्रायः सभी रजवाड़ों के राजवंशों का इतिहास नैणसी ने लिखा है।

इसमें. सीसोदियों, राठौड़ों और भाटियों का इतिहास अधिक विस्तार के साथ लिखा गया है। पहले राजवंश की वंशावली देकर बाद में प्रत्येक शासक की उपलब्धियों को 'बात' शीर्षक के अन्तर्गत लिया गया है जैसे— बात राव जोधा री आदि। मुहणोत नैणसी सम्वत् 1727 तक जीवित था अतः ख्यात में 18 वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक की घटनाओं का ही उल्लेख मिलता है। इसमें 13 वीं शताब्दी तक की वंशावली और संवत् इतने प्रामाणिक नहीं कहे जा सकते परन्तु उसके बाद के संवत् और घटनाएं विश्वसनीयमानी जाती हैं। नैणसी ने जिन व्यक्तियों के सहयोग से ख्यात की सामग्री का संकलन किया उनके नाम भी उसने यथा स्थान दिये हैं। ख्यात की भाषा टकसाली राजस्थानी है, जिसमें अरबी फारसी के कुछ शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। यह ग्रंथ राजस्थान की राजपूत जाति, यहाँ की सामाजिक संरचना, आक्रांताओं से संघर्ष, जाति-प्रथा धार्मिक मान्यताएँ, भौगोलिक स्थिति और सांस्कृतिक परिवेश सम्बन्धी सूचनाओं से भी परिपूर्ण हैं।

नैणसी का दूसरा ग्रंथ 'मारवाड़ रा परगना री विगत' है, जिसमें महाराजा जसवन्त सिंह (प्रथम) के अधीन सात परगनों का विस्तार से वर्णन किया गया है। यह एक प्रकार से मारवाड़ का गजेटियर है। जिसमें प्रत्येक परगने का प्रारम्भ में इतिहास दिया गया है और फिर खालसा और जागीर के गांवों की अलग-अलग आमदनी आदि संक्षेप में अंकित कर परगने के अर्न्तगत आने वाले प्रत्येक गांव की भौगोलिक स्थिति के साथ उसकी रेखा, पांच वर्ष की आमदनी ओर गांव की उपज आदि विशिष्ट बातें भी अंकित हैं। इसमें जाति के अनुसार गांवों आबादी और पीने के पानी के साधनों का भी उल्लेख किया गया है। यह ग्रंथ मारवाड़ की सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक और प्रशासन सम्बन्धी सामग्री का अत्यंत प्रामाणिक साधन-स्रोत है। इस ग्रंथ का सर्वप्रथम सम्पादन डा० नारायण सिंह भाटी ने करके विस्तृत भूमिका सहित तीन भागों में (सन् 1968-74) राजस्थानी प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान जोधपुर से प्रकाशित करवाया।

15.5.2 दयालदास सिंढ़ायच

यह बीकानेर के महाराजा रतनसिंह, सरदार सिंह व डूंगरसिंह का समकालीन था। इसका जन्म बीकानेर के कुड़िया ग्राम में हुआ तथा मृत्यु सन् 1891 में 93 वर्ष की आयु में हुई। इसने राजाश्रय में रह कर बीकानेर के राठौड़ राजवंश की विस्तृत ख्यात लिखी। इस ख्यात की प्रारम्भिक सामग्री, वंशावली और राव जोधा के पूर्व के शासकों से सम्बन्धित हैं, राव बीका से लेकर महाराजा रतनसिंह तक का वृत्तांत विस्तार से दिया गया है। जोधपुर राज्य की ख्यात की तरह ही यह ख्यात बीकानेर राज्य के इतिहास को समझने के लिए बड़ी उपयोगी है इसमें बीकानेर के शासकों के मुगलों के साथ सम्बन्ध पर विस्तार से सामग्री दी गई है और उसकी पुष्टि के लिए कई फरमान आदि भी उद्धृत किये गये हैं। लेखक ने बीकानेर की प्राचीन ख्यातों खासतौर से 'सुजानसिंह सूं गजसिंह जी तांई री ख्यात' तथा अन्य दस्तावेजों से भी

पूरी सहायता ली है। दयालदास जाति से चारण थार और उसे डिंगल काव्य का अच्छा ज्ञान था इसलिए उसने जगह-जगह पर ख्यात में घटना विशेष के समकालीन कवियों द्वारा कहे गये डिंगल गीत व दोहे आदि अपने मत की पुष्टि के लिए उद्धृत किये हैं। नैणसी की अपेक्षा इसकी भाषा सरल राजस्थानी है। इस ख्यात की मूल प्रति अनूप संस्कृत लाइब्रेरी बीकानेर में सुरक्षित है। बीकानेर के राठौड़ राजवंश के इतिहास को समझने के लिए यह एक आधार भूत ग्रंथ है परन्तु इनकी क्रमबद्ध प्रेषणीयता अपनी अलग विशेषता रखती है। वैसे यह ख्यात लेखन परम्परा की अंतिम प्रौढ़ रचना है।

दयालदास का दूसरा ग्रंथ 'देश दर्पण' है जिसमें बीकानेर के भूगोल और वहाँ के ठिकानों आदि का वर्णन हैं। इसने आर्याख्यान कल्पद्रुम ग्रंथ भी लिखा।

15.5.3 बांकीदास

यह जोधपुर के महाराजा मानसिंह का राजकवि था। उच्चकोटि का कवि होने के साथ ही इतिहास-प्रेमी होने के कारण इसने अपनी याददास्त के लिए छोटी-बड़ी अनेक बातों का संग्रह किया जो राजस्थान की रियासतों के इतिहास को समझने में तो सहायक सिद्ध होती ही हैं परन्तु साथ ही अनेक सामाजिक व सांस्कृतिक सूचनाएँ भी इससे मिलती हैं। इनेक ऐतिहासिक पुरूषों की पारिवारिक जानकारी और छोटी-बड़ी शाखाओं की वंशावलियां इतिहास के सम्बन्ध-सूत्रों को जोड़ने में सहायक होती हैं। यह ग्रंथ प्रो० नरोत्तम दास स्वामी द्वारा सम्पादित होकर राजस्थान प्राच्य विद्या-प्रतिष्ठान जोधपुर से संवत् 2013 में प्रकाशित किया गया। डा० ओझा ने इसके महत्त्व को प्रतिपादित करते हुये इसे इतिहास का एक खजाना कहा है।

15.6 वात साहित्य

राजस्थानी वात साहित्य भी राजस्थान के इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण साधन है। वात शब्द संस्कृत के वार्ता शब्द से बना है। वात से तात्पर्य यहाँ हल्के-फुल्के किस्से कहानी से नहीं है। जिन बातों की चर्चा हम यहां कर करहे हैं उनका मूल आधार यहां के प्रसिद्ध ऐतिहासिक पुरूष और ऐतिहासिक घटनाएँ हैं। कुछ बातें ऐसी भी हैं जिनका आधार प्रामाणिक इतिहास नहीं है परन्तु उनकें सांस्कृतिक विषयों की महत्त्वपूर्ण सामग्री संचित है। ये बातें पुराने जमाने में मौखिक परम्परा पर जीवित थी, चारण और भाट लोग प्रायः ये बातें कह कर वंश विशेष के लोगों को उनके पूर्वजों की उपलब्धियों और चारित्रिक विशेषताओं से अवगत कराते थे, बाद में ये बातें सुरक्षा की दृष्टि से ग्रंथों में लिपिबद्ध भी होने लगीं। राजस्थान के विभिन्न ग्रंथागारों में ऐसी बातों की कई पोथियाँ आज भी सुरक्षित हैं आजादी के पहले इतिहास-प्रेमी लोग इन बातों को पढ़ने का शौक भी रखते थे, इसलिए इनकी कई प्रतिलिपयाँ बनकर दूसरे लोगों के हाथों में भी पहुंच जाती थीं।

15.6.1 वातों का वर्गीकरण

इन वातों को तीन भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है –

(क) **ऐतिहासिक वातें**

वे बातें जो विशेष रूप से किसी ऐतिहासिक पुरूष की उपब्धियाँ अथवा घटना विशेष को प्रकाश में लाने के लिए लिखी गई हैं। इन बातों में कोई चरित्र काल्पनिक नहीं होता। ये बातें 3-4 पृष्ठों से लेकर 10-12 पृष्ठों तक लिपिबद्ध मिलती हैं। 15 वीं शताब्दी से लिपिबद्ध होने वाली ये बातें 20 वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक लिपिबद्ध होती रही हैं। मुहणोत नैणसी ने अपनी ख्यात में इन बातों का खूब प्रयोग किया है। इन बातों में राव रिड़मल री बात, राव जोधाजी रे बेटां री बात, राव मालदे री बात, राव चन्द्रसेन री बात, राजा उदैसिंघ री बात, महाराजा सूरजसिंहजी रै राज री बात, राव लाखै री बात राणै कूंभे री बात, राजा मानसिंह कछावै री बात, राजा अनूपसिंह रे कवंरां री बात आदि उल्लेखनीय हैं। इन बातों में मुख्य रूप से जहॉ ऐतिहासिक तत्व की प्रधानता रहती है वहीं यहां की संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में जीवन-मूल्यों के संकेत भी मिलते हैं। साथ ही उस समय के रहन-सहन, खान-पान, वस्त्राभूषण, अस्त्र-शस्त्र, युद्ध के तौर-तरीके और सामंतों के आपसी सम्बंधों विषयक सामग्री भी होती है। इनकी भाषा-शैली प्रभावशाली होती है। युद्ध आदि के वर्णन चित्रोपम होते हैं। एक उदाहरण प्रस्तुत है–

'तरै घोड़ा री खुरी कराय नै मुगलां री फौज मांहे घोड़ौ नांखीयौ। ऊपर लोह री घणी झीख पड़ी। पिण बाढीजतौ कूटीजतौ तेजसीजी हाजीखान थौ तठै गयौ। उठे जाय नै कहंण लागौ–कठे सिंधुड़ो? तरै हाजीखांन संभलीयौ। तेजसीजी नुं दीठौ। तरै हाजीखांन आपरा साथ नुं कह्यौ – साबास तान्तुं, भली भांत आयौ, हिमै हुं ई आऊं छूं, बुरौ मत बोल। तरां पछै हाजी खांन पिण हाथी थी उतरीयौ ने घोड़ै चढीयौ। हाजीखांन तेजसी नुं वाही सु. टोप माथै लागी, नै कितरीहेक निलाड़ में लागी। दोय दांत पाड़ीयां। हाजीखांन तो बचीयौ। पाखती रा तेजसी नुं कूट पाड़ीयौ।

आपने उपरोक्त उदाहरण में देखा होगा कि इसमें वाक्य छोटे हैं और भाषा में प्रवाह है। इतिहास की रूखी घटनाओं को दिलचस्प बनाकर प्रस्तुत करना इनका उद्देश्य रहा है, इसलिए इनमें वार्तालाप शैली का भी कहीं-कहीं सहारा लिया गया है।

(ख) **अर्द्ध ऐतिहासिक वातें**–

इन वातों का भी आधार तो इतिहास ही होता है परन्तु किसी घटना या चरित्र को रोचक बनाने के लिए उसमें कल्पना-तत्व का भी काफी सहयोग रहता है। फलस्वरूप ये बातें विशुद्ध इतिहास की दृष्टि से उतनी उपयोगी नहीं हो सकतीं, परन्तु इनमें तत्कालीन सामाजिक मान्यताओं और यहां की संस्कृति से संबन्धित बड़ी उपयोगी सामग्री मिल जाती है। कुतुबद्दीन शाहजादेरी बात, जखड़ा मुखड़े री बात, एक

राजपूत री बात, नर्बद सुपियाददे री बात, लाला मेवाड़ी री बात, बीकाजी कुंपावत री बांत, राठौड़ सुन्दरदास बीकूपुरी री बात, आदि बातें इस श्रेणी में रखी जा सकती हैं।

(ग) अन्य विषयों की वातें—

इन वातों का मुख्य आधार यहां की संस्कृति है। प्रेम, श्रृंगार, नीति आदि इनके प्रमुख विषय हैं। इनके कई चरित्र नायक इतिहास में ज्ञात हैं तो कई अज्ञात हैं। इस प्रकार की बाततों में ढोला-मारू री बात, जलाल बूबना री बात, बींजे सोरठ री बात, जेठवा ऊजली री बात, नापे सांखले री बात, राज भोज री बात आदि उल्लेखनीय हैं। इन बातों में प्रेम, वीरता, दान शीलता, गुण-ग्राहकता, वचन पालना आदि कई तथ्यों का उल्लेख मिलता है। जो राजस्थानी संस्कृति के विशेष जीवन-मूल्य रहे हैं और जिन्होंने कई ऐतिहासिक घटनाओं को भी प्रभावित किया है। नीतिगत बातों में राजनीति सम्बन्धी की शिक्षा देने में सक्षम हैं। इस प्रकार इन बातों की अपनी अलग विशेषता हैं और उसी के अनुसार इनकी उपयोगिता भी आंकी जानी चाहिए।

जब राजस्थान अथवा उसके किसी भू-भाग का सर्वांगीण इतिहास लिखना हो तो इन बातों का उपयोग किया जा सकता है।

15.7 सारांश

सार रूप में यह कहा जा सकता है कि राजस्थानी ख्यातें और बातें अपने में इतिहास की महत्त्वपूर्ण सामग्री संजोए हुए हैं। यह सामग्री जहां इतिहास के त्रुटित सम्बन्ध सूत्रों को जोड़ने में सहायक सिद्ध होती है वहीं इतिहास में सामन्तों, मुत्सद्दियों और अन्य लोगों की भूमिका को भी उजागर करती है। उस समय के वातावरण, सामाजिक मान्यताओं और सांस्कृतिक मूल्यों के अध्ययन के लिये तो इनका उपयोग अत्यंत आवश्यक है। मध्यकालीन इतिहास-लेखन में फारसी तवारीखों और उसी प्रकार के अन्य साधनों का उपयोग अधिक होता रहा है, जिससे राजस्थान के इतिहास सम्बन्धी अनेक तथ्य ठीक से प्रस्तुत नहीं किये जा सके हैं, अतः यहां का संतुलित इतिहास लिखने हेतु इन स्थानीय संसाधनों का उपयोग अब आवश्यक समझा जाने लगा है। ख्यात व बात का इतिहास में प्रयोग करते समय उनकी प्राचीनता और प्रामाणिकता की परीक्षा अवश्य कर ली जारनी चाहिए। साथ ही उनमें जो अतिश्योक्तिपूर्ण अथवा काल्पनिक वर्णन कहीं-कहीं आ गये हैं, उनको भी सतर्कता पूर्व नजर अंदाज किया जाना चाहिए, जिससे वास्तविक तथ्य को ग्रहण किया जा सके।

15.8 शब्दावली

कुरब-कायदे

रजवाड़ों में बरती जाने वाली राजकीय औपचारिकताएँ, जिसके अंतर्गत अलग-अलग स्तर के जागीरदारों तथा राज्य-कर्मचारियों को

राजदरबार में शासक की ओर से व्यावहारिक सम्मान दिया जाता था तथा वे नियम जिनसे राजकीय गरिमा को बनाया रखा जाता था।

लाखपसाव—

चारण व भाट कवियों को राज्य की ओर से दिया जाने वाला सर्वोच्च सम्मान, जिसके अन्तर्गत रोकड़ राशि के अलावा हाथी, घोड़ा, जागीर व वस्त्राभूषण कवि को दिये जाते थे परन्तु इन सब का मूल्य लाख रुपये से कम ही होता था।

मिसल (डावी व जीवणी) —

जोधपुर राज-दरबार में सामन्तों के बैठने की वह व्यवस्था जिसमें शासक के सम्मुख राव रिड़मल के वंशज दायीं ओर बैठते थे और राव जोधा के वंशज बांई और बैठते थे। यह व्यवस्था राव जोधा के समय से प्रारम्भ हुई परन्तु इसको निश्चित स्वरूप राजा सूरसिंह के समय में दिया गया।

हुकमनामा —

किसी जागीरदार की मृत्यु के उपरान्त उसके पुत्र या दत्तक पुत्र को जागीर की गद्दी पर बैठने की शासक द्वारा दी जाने वाली स्वीकृति, जिसके लिए गद्दी पर बैठने वाले को एक निश्चित राशि भी राज्य-कोश में जमा करानी होती थी।

खलीता—

शासकी की ओर से जागीरदार को भेजा जाने वाला एक प्रकार का आदेश पत्र।

मनसब—

मुगल शासन प्रणाली की वह व्यवस्था जिसके अनुसार उसके सेवकों को सेवा के बदले निश्चित राशि अथवा उस राशि के पेटे जागीर दी जाती थी। राजस्थान के शासकों द्वारा मुगल-साम्राज्य को जो सैनिक सेवाएं दी जाती थीं उसके उपलक्ष में उन्हें 500 रुपये से लेकर 5,000/- रूपये तक का मनसब और जागीरें अकबर के समय में दी जाती थीं। यहां के शासकों को मालवा, गुजरात आदि सूबे समय-समय पर मनसब के अधीन प्राप्त हुए थे। शासकों को मनसब के अनुसार पैदल व घुड़सवारों की निश्चित फौज तैयार रखनी पड़ती थी जिसका निरीक्षण मुगल अधिकारी करते थे।

15.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

1 ख्यात साहित्य किसे कहते हैं? ख्यातें कितने रूपों में मिलती हैं, उनके महत्त्व को उदाहरण सहित प्रस्तुत कीजिये?

2 राजवंशों सम्बन्धी ख्यात साहित्य की विषय-वस्तु के महत्त्व पर प्रकाश डालिये?

3 इतिहास-लेखन में ख्यातों के योगदान पर विचार प्रकट कीजिये?

4 मुहणोत नैणसी, दयालदास सिढ़ायच, बांकीदास इनमें से किसी एक पर टिप्पणी लिखिये?

5 ऐतिहासिक बातों की विशेषताओं पर प्रकाश डालिये?

6 राजस्थान से सांस्कृतिक इतिहास लेखन में 'बातें' किस प्रकार उपयोगी सिद्ध हो सकती हैं। इस पर प्रकाश डालिये?

7 अर्द्ध ऐतिहासिक बात का इतिहास लेखन में उपयोग किस प्रकार किया जाना चाहिए?

15.10 प्रासंगिक पठनीय ग्रंथ

(1) मुहणौत नैणसी री ख्यात-
सम्पादक - बदरी प्रसाद साकरिया
प्रकाशक - राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर

(2) बांकीदास री ख्यात
सम्पादक - नरोत्तमदास स्वामी
प्रकाशक - राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर

(3) महाराजा मानसिंह की ख्यात
सम्पादक - डा० नारायणसिंह भाटी
प्रकाशक - राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर

(4) जैसलमेर री ख्यात
सम्पादक - डा० नायाणसिंह भाटी
प्रकाशक - राजस्थानी शोध संस्थान, चौपासनी, जोधपुर

(5) मुहणोत नैणसी - व्यक्तित्व राणावत
लेखक - डा० मनोहरसिंह राणावत
प्रकाशक - राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर

(6) ख्यातकार दयालदास सिढ़ायच (परम्परा विशेषांक भाग - 74-75)
लेखक - डा० घनश्याम देवड़स
प्रकाशक - राजस्थानी शोध संस्थान, चौपासनी, जोधपुर

(7) मुहणोत नैणसी (परम्परा विशेषांक भाग - 39-40)

(8) ऐतिहासिक बातां (परम्परा विशेषांक भाग - 11)

(9) तीन जूनी बातां (परम्परा विशेषांक भाग - 73)

(10) राजस्थानी बात संग्रह (परम्परा विशेषांक भाग - 6-7)
सम्पादक - डा० नारायण सिंह भाटी
प्रकाशक - राजस्थानी शोध संस्थान, चौपासनी, जोधपुर

इकाई – 16

गुजराती रासमाला साहित्य का ऐतिहासिक महत्व

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य

16.1 प्रस्तावना

16.2 गुजराती रासमाला साहित्य

16.2.1 रासमाला के आधारभूत साधन-स्रोत

16.3 रासमाला में गुजरात-सौराष्ट्र की भौगोलिक सीमा और स्थिति

16.4 रासमाला में वर्णित विभिन्न राजवंश

16.5 सल्तनत कालीन गुजरात और विशिष्ट शासक

16.6 रासमाला में प्रयुक्त विविध संवत्

16.7 रासमाला में वर्णित विशिष्ट घटनाएं

16.8 गुजरात के उद्योग धन्धे व व्यापारिक केन्द्र

16.9 गुजरात का राजनैतिक स्वरूप

16.9.1 प्रशासनिक व्यवस्था

16.9.2 राजस्व व्यवस्था

16.10 गुजरात में बसने वाली प्रमुख जातियां

16.10.1शासक जातियां

16.10.2जन जातियां

16.10.3अन्य जातियां

16.11 गुजरात का सांस्कृतिक स्वरूप

16.12 उपसंहार

16.13 अभ्यासार्थ प्रश्न

16.14 संदर्भ ग्रन्थ

16.0 उद्देश्य

इस इकाई में हमारा उद्देश्य आपको गुजराती रासमाला साहित्य के ऐतिहासिक महत्व के सम्बन्ध में संक्षेप में जानकारी देना है। भारतीय इतिहास-लेखन के सम्बन्ध में यूरोपीय तथा भारतीय विद्वानों द्वारा प्रस्तुत आधारभूत प्रमुख साधन स्रोतों का विवेचन करते हुए रासमाला में वर्णित गुजरात की ऐतिहासिक सामग्री का विश्लेषण प्रस्तुत किया जाएगा। इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आपको निम्नलिखित बिन्दुओं का ज्ञान हो जाएगा :-

— रासमाला साहित्य क्या है?

— रासमाला साहित्य में वर्णित गुजरात सौराष्ट्र की भौगोलिक स्थिति।

— रासमाला में दिग्दर्शित गुजरात के विभिन्न राजवंश, विशिष्ट शासक व विशिष्ट ऐतिहासिक घटनाएं।

— गुजरात की राजनैतिक व्यवस्था तथा वहां की जातियों की जीवन शैली (आचार-विचार, रहन-सहन, खान-पान, धार्मिक विश्वास आदि)

— विभिन्न कलाएं और उद्योग धंधे और व्यापार

— भारतीय इतिहास लेखन में रासमाला साहित्य की ऐतिहासिक उपादेयता।

16.1 प्रस्तावना

निर्धारित रीति से इतिहास लेखन का हमारे देश में अभाव रहा है इसलिए प्राचीन इतिहास जानने के लिए हमें धार्मिक और साहित्यिक ग्रन्थों पर ही निर्भर रहना पड़ता है। इसके अतिरिक्त फाहियान, ह्वान चांग, इब्नबतूता आदि कई विदेशी यात्रियों के यात्रा विवरण हमारे इतिहास के संदर्भ में उपयोगी सामग्री जुटाते हैं। मुस्लिम काल से विधिवत् इतिहास लेखन की परम्परा यहां प्रारम्भ हुई। मुस्लिम शासक इतिहास प्रेमी थे तथा कई मुस्लिम शासकों ने अपने समय का इतिहास आत्म चरित्र के रूप में लिखा एवं दरबारी इतिहासकारों से भी लिखवाया। इन ग्रंथों में मध्यकालीन भारतीय इतिहास की पुख्ता सामग्री मिलती है। मुस्लिम इतिहासकारों की भांति यूरोपीय इतिहासकारों द्वारा जो इतिहास लिपिबद्ध और क्रमबद्ध किया गया वह भी महत्वपूर्ण है।

इतिहास के साधन स्रोतों में अंग्रेजीकाल में यूरोप और इंग्लैण्ड के जिन लोगों ने भारतीय इतिहास और संस्कृति पर कार्य किया उनके कार्यों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता हैं :-

1. प्राचीन ग्रन्थों का सम्पादन, अनुवाद व प्रकाशन आदि।
2. स्वतंत्र ग्रन्थ-लेखन।

इस दिशा में बंगाल की रायल एशियाटिक सोसायटी द्वारा प्रकाशित ग्रन्थों और शोध-पत्रिका की विशेष भूमिका रही। यहां से प्रकाशित शोध-पत्रिका में फरसी स्रोतों का सम्पादन एवं भारतीय मूल की विभिन्न

प्रान्तीय भाषाओं के ऐतिहासिक महत्व के ग्रन्थों की सामग्री प्रकाशित की जाती रही इसके अतिरिक्त संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान जैकोबी ने संस्कृत ग्रन्थों का उद्धार किया वह सर्वाविदित है। निकालाओं मनुची और फ्रेंकोई बर्नियर के यात्रा वृतान्त भी तत्कालीन इतिहास के कई पक्षों को हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं।

ऐतिहासिक साधन स्रोतों की इस श्रृंखला में आरलस्टाइन ने कश्मीर के लिप, पेंटिकन्स ने हिमाचल प्रदेश के लिए, जेम्स ग्राण्ट डफ ने मराठों के इतिहास के लिए जो कार्य किया उसी प्रकार का कार्य अलक्जण्डर किन्लाक फार्बस ने गुजरात के लिए रासमाला रचकर किया।

16.2 गुजराती रासमाला साहित्य :

"रासमाला" के लेखक अलक्जेण्डर किनलाक फार्बस ने स्वयं ने इसके नामकरण के सम्बन्ध में लिखा है कि "मेरा यह संग्रह विविध रासों में से संकलित है। अतः मैंने इसका नाम रासमाला रखा है।" रासमाला की रचना, रचनाकार ने चारणों तथा भाटों से प्राप्त सामग्री, गुजरात के ऐतिहासिक काव्यों, रासडों, वार्ताओं और शिलालेखों के आधार पर की। इसमें मात्र ऐतिहासिक लेखा-जोखा ही नहीं है, काव्य और वार्ताओं का आधार लेकर भी तथ्य वर्णित किए गए है। गुजरात के इतिहास के साथ भारतीय इतिहास की सम्बद्धता तो इससे परिलक्षित होती ही है। साथ ही इसके पड़ौसी राज्य राजस्थान का इतिहास तो इससे परस्पर जुड़ा है। दोनों राज्यों की कई ऐतिहासिक घटनाएं एक दूसरे पर आश्रित ही नही गुंथी हुई हैं। गुजराती और राजस्थानी भाषा में अत्यधिक साम्यता ही नहीं है 16 वीं शताब्दी तक तो दोनों भाषाओं का स्वरूप भी एक ही सा था। अतः गुजरात के साथ-साथ राजस्थान के इतिहास को समझने में भी रासमाला साहित्य सहायक सिद्ध होता है।

16.2.1 रासमाला साहित्य के आधारभूत साधन-स्रोत :

1. फार्बस ने इस ग्रन्थ के निर्माण में यद्यपि रास या रासड़ों का मुख्य रूप से उपयोग किया है। परन्तु इसके अतिरिक्त भी जो साधन-स्रोत काम में लिए गये हैं वे निम्न प्रकार हैं :-

    1. गुजरात के ठिकानों की सामग्री
    2. चारणाभाटों की बहियों और जैन-ग्रन्थों में उपलब्ध सामग्री
    3. देवस्थानों, जलाश्यों, छतरियों के शिलालेख
    4. जातीय मान्यताओं और अन्धविश्वासों से सम्बन्धित सामग्री
    5. मौखिक परम्परा से चली आने वाली बातों, गीतों, कहावतों, दंतकथाओं पर आधारित सामग्री
    6. इंग्लैंड के इण्डिया हाऊस में संगृहीत आलेख

अब हम देखेंगे कि गुजरात के भू-भागों पर समय-समय पर शासन करने वाले राजवंशों के इतिहास और अन्य सांस्कृतिक गतिविधियों पर इन साधनों के सहयोग से लेखक ने किस प्रकार प्रकाश डाला है।

16.3 गुजरात-सौराष्ट्र की भौगोलिक सीमा और स्थिति :

पश्चिमी भारत में विंध्याचल से अरावली पर्वत श्रेणियों के मध्य फैला भू-भाग गुजरात-सौराष्ट्र के नाम से जाना जाता है। मालवा, मेवाड़ मारवाड़ रियासतें गुजरात की सीमा से लगी हुई है। खम्भात, कच्छ की खाड़ी और अरब सागर से गुजरात की पश्चिमी सीमा मिली हुई है। पर्वत श्रृंख्लाओं रणक्षेत्र तथा फलदार वृक्षों, कपास की खेती के लिए उपजाऊ काली मिट्टी के क्षेत्र से युक्त गुजरात की भौगोलिक सीमा व स्थिति ने उसे एक सुसम्पन्न प्रान्त बनाया। जलमार्ग की सुविधा से व्यापार की उन्नति हुई। इस प्रकार कृषि के साथ-साथ देश व विदेश में व्यापारिक क्षेत्र में भी विकास करने का अवसर इस प्रान्त को मिला जो कुछ इसकी भौगोलिक स्थिति से सम्भव हुआ।

16.4 रासमाला में वर्णित विभिन्न राजवंश :

रासमाला में चावड़ा वंश, सोलंकी वंश, परमार वंश, बाघेला वंश, जूनागढ़ के चूडासमा (यादव), लूणवाड़ा के सोलंकी, सोढ़ा, काठी, झाला, ईडर के राठौड़ और पीरम के गोलिह राजवंश का वर्णन विस्तार से किया गया है। इसमें अणिहिलपुर के चावड़ा वंश तथा सोलंकी वंश के राजाओं की राजवाली (वंशावली) देकर प्रत्येक शासक के शासनकाल की घटनाओं का विस्तार से वर्णन किया गया है। "अणिहिलवाड़ा राज्य का सिंहावलोकन" नामक एक पूरा अध्याय अलग से लिखा हुआ है। इसके अतिरिक्त पंचासर के शासक जयशेखर, बाल मूलराज, भीमदेव द्वितीय, वस्तुपाल तेजपाल, राजा कर्ण वाघेला पर विशेष वृतान्त उल्लखित हैं।

16.5 सल्तनत कालीन गुजरात और विशिष्ट शासक :

सल्तनतकालीन गुजरात के राजपूत सुल्तान जो टाक (तक्षक) जातीय राजपूत से मुसलमान बने, इसलिए राजपूत सुल्तान कहलायें, उनका वर्णन किया गया है इसके पश्चात् अहमदाबाद के यवन राजवंश के शासकों का उल्लेख मिलता है। यवनों ने यहां के हिन्दूओं को इस्लाम धर्म स्वीकार करने हेतु बाध्य किया और इससे प्रमुखतया यहां की शासकीय इकाई अधिक प्रभाविक हुई। इस प्रसंग में यहां एक बात द्रष्टव्य है कि कुछ लोगों ने तो सहजता से इस्लाम स्वीकार कर लिया चाहे भय से या प्रलोभन से परन्तु एक वर्ग ऐसा भी था जो न प्रलोभन से आकृष्ट हुआ न यवनों से भयाक्रान्त। इस्लाम धर्म को स्वीकार करने से जिसने मरना बेहतर समझा। अपने धर्म की रक्षार्थ सल्तनतकालीन सुल्तानों की शक्तिमान राज्य सत्ता से, कम शक्तिशाली होते हुए भी टक्कर ली। महमूद बेगड़ा ने सोरठ के राव और चांपानेर के रावल को राज्यच्युत कर दिया था परन्तु ईडर के रावों, चावड़ों झालों, गोहिलों और अन्य राजपूतों ने बार-बार आक्रमण होने के उपरान्त भी अपनी स्वतंत्रता और अपनी-अपनी भूमि पर स्वामित्व बनाये रखा।

गुजरात के सल्तनतकालीन सुल्तानों में सबसे अधिक प्रतापी सुल्तान महमूद बेगड़ा हुआ। फरिश्ता के अनुसार गिरनार और चम्पानेर के दो दुर्जय गढ़ों को जीतने के कारण उसका नाम बेगड़ा (बे+गढ़ा = दो

गढ़ों को जीतने वाला) पड़ा। महमूद बेगड़ा के सम्बन्ध में बहुत सी कथाएं प्रचलित है जो अहमदाबाद के शासकों में उसके अत्यन्त लोकप्रिय होने का प्रमाण है। इन कथाओं में उसके शारीरिक गठन, बल, शौर्य, न्याय, परोपकार, इस्लाम की आज्ञा पालन में दृढ़ता और उसके विचारवान स्वरूप का बखान मिलता है।

सल्तनलकालीन गुजरात के विशिष्ट शासकों में महमूद बेगड़ा के अतिरिक्त मुजफ्फरशाह (प्रथम), अहमदशाह, मुहम्मदशाह (प्रथम), कुतुबुद्दीन, मुजफ्फर (द्वितीय), बहादुरशाह, मुहम्मदशाह (चौथा) और मुजफ्फर (तृतीय) के नाम गिनाये जा सकते हैं। लतीफ खां इस वंश का अन्तिम प्रभावी शासक था।

मुगल सम्राट अकबर ने 18 नवम्बर सन् 1572 को अहमदाबाद पर विजय हासिल करके सल्तनतकालीन गुजरात के इस अहमदाबाद के राजवंश के प्रभुत्व का अंत किया।

16.6 रासमाला में प्रयुक्त विविध संवत् :

रासमाला में काल गणना के लिए जिन विशिष्ट सन् संवतों का प्रयोग किया गया है वे इस प्रकार हैं :-

बल्लभीसंवत्

काठियावाड़ के वल्लभीनगर के विनाश से जो संवत् चला वह "वल्ली संवत्सर" या "वल्लभी संवत्" कहलाया। यह संवत् शक संवत् से 241 वर्ष उपरान्त प्रारम्भ हुआ। वल्लभी संवत् गुप्त संवत् की भांति 26 फरवरी से प्रारम्भ होता है इन दोनों की कालगणना का प्रारम्भ एक समान होने से दोनों में बहुत अधिक साम्य है।

हिजरी सन्

यह मुसलमानी सन् जो मुहम्मद साहब के मक्के से मदीने पलायन की तिथि (15 जुलाई सन् 622 ई.) से प्रारम्भ होता है।

ईसवी सन्

ईसा मसीह की निधन तिथि से गिनी जाने वाली वर्षगणना जो अंग्रेजी वर्ष गणना के नाम से जानी जाती है। ईसा पूर्व (बी.डी) और ईसा पश्चात् (ए.डी) इन दो रूपों में इसका प्रयोग होता है। यह सन् विक्रम संवत् से 57 वर्ष पीछे है।

सिंह संवत्

सिद्धराज जयसिंह सोलंकी ने सौराष्ट्र विजय के बाद अपने नाम से "सिंह संवत्सर" चलाया। यह संवत् का आरम्भ विक्रम संवत् 1169-70 (सन् 1113-14 ई.) में हुआ था।

विक्रम संवत् :

चैत्र शुक्ला प्रतिपदा से प्रारम्भ होने वाला यह संवत् प्रारम्भ में मालवा संवत् कहलाता था। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य से विक्रम संवत् का

प्रारम्भ माना जाता है और इसी के नाम पर इसका नामकरण हुआ। यह संवत् भी कई लोग चेत्रादि से एवं कई श्रावणादि से प्रारम्भ करते हैं जिसके कारण कई बार प्राचीन ग्रन्थों में इस संवत् में कुछ महीनों का अन्तर भी दिखाई देता है।

16.7 रासमाला में वर्णित विशिष्ट घटनाएं :-

जैसाकि पहले कहा गया है गुजरात के अलग-अलग भू-भागों पर कई राजवंशों ने राज्य किया और मध्यकाल में तो मुगलों से संघर्ष होने के कारण यहां का इतिहास बड़ा रोमांचकारी रहा। फार्बस ने स्थानीय लोकगाथाओं और जनश्रुतियों के आधार पर विशिष्ट घटनाओं का बड़ा चित्रात्मक वर्णन प्रस्तुत किया है कुछ एक घटनाओं का उल्लेख यहां प्रस्तुत किया जा रहा है।

वल्लभी का विनाश वि.सं. 375 (319 ई. अणहिलपुर) अणहिलवाड़ा की स्थापना वि.सं. 802 (747 ई.) मूलराज सोलंकी का अभ्युदय, सोमनाथ पर महमूद गजनी की चढ़ाई (1024 ई.) सिद्धराज जयसिंह का अभ्युदय, मोहम्मद गौरी का आक्रमण, पृथ्वीराज चौहान तथा जयचन्द का संघर्ष (सन् 1191-1194) सल्तन्त कालीन गुजरात के राजपूत सुल्तानों तथा मेहमूद बेगड़ा का अभ्युदय तथा मुगल सम्राट अकबर द्वारा ई. सन 1572 में अहमदाबाद पर विजय प्राप्त करके अहमदाबाद के राजवंश की राजसत्ता का अन्त आदि रासमाला में दर्शायी गयी कुछ विशिष्ट घटनाएं हैं।

इन घटनाओं के दूरगामी परिणाम हुए है अनेक राजवंशों का अन्त और उदय इनके साथ जुड़ा हुआ है तथा धार्मिक व सांस्कृतिक उथल-पुथल को समझाने के लिए भी इन घटनाओं का अध्ययन अपेक्षित हैं।

16.8 उद्योग-धन्धे व व्यापारिक केन्द्र :

गुजरात भौगोलिक एवं उद्योग धंधों की दृष्टि से एक सम्पन्न प्रान्त रहा है अतः यहां कई उद्योग-धंधे पनपे हैं जो यहां के लोगों की जीविका के प्रमुख साधन हैं।

रासमाला में उल्लखित वर्णन के आधार पर गुजरात के उद्योग धन्धों, आयात निर्यात, व्यापारिक रास्तों और व्यापारिक केन्द्रों के सम्बन्ध में भी जानकारी मिलती है। सड़क मार्ग से तो गुजरात का व्यापार देश के अन्य प्रदेशों से होता ही था इसके साथ ही समुद्री मार्ग द्वारा उस समय जो व्यापार होता था वह प्रमुख था। गोगो खम्भात की खाड़ी में एक अच्छा जहाजी अड्डा था जहां के अधिकांश निवासी मल्लाह का काम करते थे। गोगों की भांति पीरम का भी उस समय व्यापारिक एवं सामरिक महत्व था।

पीरम प्राचीनकाल में जहाजी अथवा मललाही कामों के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण रहा। पीरम के गढ़ पर बैठे हुए चौकीदार के आगे खम्भात का अखात इस प्रकार आ जाता है कि गुजरात के समृद्ध बन्दरगाहों पर जाने वाले किसी भी जहाज का, दिन में सफेद झण्डा और रात में उसकी रोशनी दृष्टि में आए बिना नहीं रह सकती थी। पीरम की

महत्वपूर्ण स्थिति के कारण ही सात सौ मल्लाहों और समस्त कोलियों को मारकर मोखड़ा गोहिल ने पीरम और गोगो को अपने अधिकार में लिया और अपनी शक्ति बढ़ाई थी।

पीरम से कितने ही देशों को रास्ता जाता था और विभिन्न देशों से व्यापार होता था। पीरम के शासक के पास जहाजी बेड़ा था तथा इस मार्ग से गुजरने वाले सभी जहाजों से वह कर वसूल करता था इससे आसपास के क्षेत्रों में उसकी धाक थी।

मुहम्मद तुगलक से पीरम के राजा के झगड़े का तात्कालिक कारण यह बताया गया है कि दिल्ली का एक व्यापारी सोने का चूरा भरकर चौदह जहाज पीरम लाया था जिसे लूट लिया गया। इस प्रकार उस समय होने वाले राजमार्ग के व्यापार सम्बन्धी सूचनाएं भी मिलती है। गुजरात के सूबेदार अहमद अरूयाज के समय "मलिकु तुजर" अथवा "व्यापारियों का सरदार" पदधारी एक अमीर था जिसे सूरत के नीचे समुद्री किनारे पर स्थित नवसारी की जागीर मिली। इससे ज्ञात होता है कि उस समय गुजरात में व्यापार को कितना महत्व दिया जाता था।

गोगो और पीरम की भांति माबीड़चीन और गोधा का बन्दरगाह जो पीरम द्वीप के समीपवर्ती भाग में स्थित था और काठी जाति के लोगों के अधीन लम्बे समय तक रहे। अकबर ने बाद में जाकर उन्हें अपने अधिकार में लिया।

इन विवरणों से गुजरात के विभिन्न देशों से व्यापारिक सम्बन्धों, विविध जलमार्गों, व्यापारिक स्थिति एवं महत्व के सम्बन्ध में मिलने वाली जानकारी काफी महत्वपूर्ण है। अरब सागर के किनारे स्थित गुजरात प्राचीनकाल से व्यापार और वाणिज्य का केन्द्र रहा है। पश्चिमी जगत की ओर खुलने वाला भारत का एक महत्वपूर्ण वातायन है।

16.9 गुजरात का राजनैतिक स्वरूप :

16.9.1 प्रशासनिक व्यवस्था :

गुजरात में चावड़ा, सोलंकी, परमार, वघेला, चूडासमा आदि राजवंशों ने अपने ढंग से राजसंत्रीय प्रणाली के अनुरूप प्रशासन किया। कालान्तर में शासक एवं जागीरदारों के आपसी सम्बन्ध, सत्ता प्राप्ति के आकर्षण और महत्वाकांक्षा के कारण कटु होते गये तथा जब भी केन्द्रीय सत्ता में शिथिलता या कमजोरी देखी गयी तब काठी, गोहिल, राठोड़, झाला इत्यादि ने स्वयं अपनी स्वतंत्र सत्ता कायम कर दी।

मुसलमानों के आक्रमण से गुजरात में अव्यवस्था व अराजकता फैलती गयी। अलाउद्दीन खिलजी के आक्रमणों का गुजरात पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ा परन्तु कुतुबुद्दीन ऐबक और महमूद गजनवी के आक्रमणों के परिणामस्वरूप गुजरात की प्रशासनिक शक्ति डगमगा गयी और प्रथम सोलंकीवंश की समाप्ति हुई।

सल्तनतकाल के सुल्तानों ने गुजरात पर प्रभुसत्ता की फिर भी प्रत्येक क्षेत्र में अपनी सत्ता बनाए रखने वाले परम्परागत राजपूतों की जागीरे कायम रही। मुसलमान बादशाहों द्वारा नियुक्त सूबेदार गुजरात की प्रशासनिक व्यवस्था की देखभाल करते थे जिनका अधिकांश समय तो विद्रोहियों को दबाने में ही व्यतीत होता था। मुहम्मद तुगलक ने गुजरात में विद्रोह दबाने का कार्य स्वयं अपने हाथ में लिया पर उसे भी आंशिक सफलता ही मिली। मुसलमानों की अधीनता तो स्थानीय जागीरदारों को स्वीकार करनी पड़ी पर जब भी अवसर मिलता वे अपनी शक्ति का संचय करके उसकी अवहेलना करने से भी नहीं चूकते थे। अकबर ने उदार नीति का अनुसरण कर स्थानीय जागीरदारों को योग्यतानुसार शाही दरबार में स्थान देकर उनकी शक्ति का उपयोग अपने राज्य के संवर्द्धन हेतु किया।

औरंगजेब के राज्यकाल तक गुजरात के बहुत से जमींदार शाही खिदमत करते रहे उसके बाद वे स्वतंत्र होते गये। जब अव्यवस्था अधिक फैली तब छोटे-छोटे जमींदारों तक ने शाही सल्तनत से अपनी जमीनें बलपूर्वक वापिस छीन ली। मुसलमानों के प्रभुत्व के युग में गुजरात में शाही सूबेदार और शाही सेना की टुकड़ियां जो "थाणे" कहलाते थे, नियुक्त होते फिर भी सारा प्रदेश हिन्दू सरकारों में बंटा हुआ था। राजा, राजपूत, कोली, गरासि या सभी जागीरदारों ने शाही अधीनता व निजी स्वतंत्रता इन दो अवस्थाओं में अपना अस्तित्व कायम रखा।

16.9.2 **राजस्व व्यवस्था :**

गुजरात में अधिकतर गांवों से जो राजस्व वसूल किया जाता वह पैदावार के हिसाब से न वसूल करके एक निश्चित बंधी रकम के रूप में वसूला जाता था। कुछ गांवों की जमीन को तीन हिस्सों में बांट रखा था जो "तलपत" कहलाते थे। ये "तलपत" शाही सम्पति माने जाते थे। जिसका एक हिस्सा "बांटा" के नाम पर जमीदार को दिया जाता था। जिससे वे अपने गांव में पहरे-चौंकी का इन्तजाम करते और जरूरत पड़ने पर बादशाही खिदमत में हाजिर होते। बादशाही माताहती कबूल करने वालों को "सलामी" और "पेशकशी" भी देनी होती थी। मुगल बादशाहों ही नहीं गुजरात के सुल्तानों के समय में भी जागीरदारों से राजस्व वसूल करने के लिए सेना की आवश्यकता सदैव बनी रहती थी।

"खिडणी" या खिरनी नामक कर बड़े जमींदारों से भी वसूल किया जाता था। जिन गांवों की उपज का लेखा-जोखा लिया जाता थे "रैयती" कहलाते थे तथा जिनसे केवल कर लिया जाता वे "मेवासी" कहलाते थे। राजस्व अधिकारी को वार्षिक कर जमा कराया जाता उसे "जमाबन्धी" तथा सेना के अधिकारी जो कर वसूल करते वह "घासदाना" कहलाता था।

उपज से मिलने वाला भाग ठाकुर की आमदनी का मुख्य जरिया था। बाग, गन्ना, कपास, तमाखू, अफीम आदि फसलें जिनका कूंता करना

कठिन होता उनका नकदी में लगान वसूल होता। जब किसी ठिकाने के छुटभई को जमीन दी जाती तो प्रांत के कुछ भागों में ऐसा रिवाज था कि जिन फसलों का नकदी में लगान वसूल होता वह तो स्वयं ठाकुर लेता और जो लगान उपज की किस्म में वसूल होता वह छुटभई लेता। पड़त जमीन को खेती के योग्य बनाने वाला किसान कुछ वर्षों तक लगान "दाणा" (दाना) के रूप में न देकर "नाणा" (नकद) के रूप में ही देता। सभी वृक्षों की उपज, लावारिस माल गांव में भूल से आये ढोर का हकदार, व्यापारी के माल पर चुंगी (मापा), शराब की दुकान से कर वसूल करना और मरे हुए जानवर की खाल के बदले चमारों से कर वसूल करने का हक जमीदार का होता था। शादी-विवाह पर "लाग" फौजदारी मामलों का दण्ड और अदालती मामलों के दावों की चौथ का हिस्सा ठाकूर लेता।

सल्तन एवं मराठाकालीन गुजरात की भू-राजस्व व्यवस्था ब्रिटिश सत्ता के अन्तर्गत परिवर्तित हुयी और उसमें प्रजा विशेषकर कृषक और व्यापारियों के लिए अधिक अनुकूल सुधार किये गये तथा यूरोपीय सिद्धान्तों के आधार पर अदालते स्थापित कर भू-राजस्व वसूलने की व्यवस्था की गयी।

16.10 गुजरात में बसने वाली जातियां :

जातिप्रथा हिन्दू समाज की ऐसी व्यवस्था है जो इतिहास और संस्कृति के अध्येताओं का ध्यान अनायास ही अपनी और आकृष्ट कर लेती है। भारत में मूल रूप से चार ही जातियां थी - ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र। ब्राह्मणों का कार्य पूजा-पाठ करना, क्षत्रिय का कार्य युद्ध करना, वैश्य का कार्य कृषि और व्यापार करना तथा शूद्र का कार्य अवर कर्म करना। प्रारम्भ में जातियों का नामकरण कर्म के आधार पर हुआ बाद में वंश परम्परागत रूप से। वंश परम्परागत रूप से विभाजित विभिन्न जातियों और प्रजातियों को मुख्य रूप से निम्नांकित तीन भागों में बांट सकते हैं :-

16.10.1 **शासक जातियां** - सोलंकी, चावड़ा, वघेला, चूड़ासमा, सोढा, काठी, झाला, राठौड़, गोहिल, परमार इत्यादि जातियां गुजरात की शासक जातियों के अन्तर्गत आती हैं। जो कि क्षत्रिय वर्ण के अन्तर्गत आती है।

16.10.2 **जन जातियां** - भील, कोली, मीणा, मेर, गिरासिया आदि आदिवासी जातियों के लोग जन जातियों के अन्तर्गत आते हैं।

16.10.3 **अन्य जातियां** - ब्राह्मण, राजपूत, बनिया, भाट, बारहट, कलबी (कुणबी), ओड़, नाई, धोबी, कुम्हार, चमार आदि। इनके अलावा विभिन्न इस्लाम धर्मी जातियां भी गुजरात में बसती थी। यहां यह उल्लेखनीय है कि हिन्दू जाति के अनेक लोगों ने परिस्थितिवश इस्लाम धर्म अंगीकार कर लिया था।

16.11 गुजरात का सांस्कृतिक स्वरूप :

रासमाला में गुजरात के सांस्कृतिक स्वरूप को उजागर करने वाले विविध पक्षों (जैसे स्थापत्य कला, चित्रकला, साहित्य, पर्व, त्यौहार, लोकमान्यताएं व जन धारणाओं) का उल्लेख मिलता है जो कि इस ग्रन्थ का एक बड़ा दिलचस्प भाग है।

रासमाला में वर्णित अणहिलपुर की बसावट का वर्णन अनायास ही आधुनिक नगर स्थापत्य की याद दिला देता है - "अणहिलपुर बारह कोस के घेरे में बसा हुआ था, जिसमें बहुत से देवालय और विद्यालय थे। चौरासी चौक थे और चौरासी ही बाजार थे, जिनमें सोने रुपये की टकसालें थी। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न वर्णों के घर भिन्न चौंकों (चतुष्कों) में बने हुए थे, उसी प्रकार हाथी दांत, रेशम, हीरा मोती आदि के अलग-अलग बाजार लगते थे। सर्राफों का बाजार अलग था और सुगन्धित द्रव्यों और लेपनादि की वस्तुओं का अलग, एक बाजार वैद्यों का था एक कारीगरों का और एक सोने-चांदी के काम करने वाले सेनिकों (स्वर्णकारों) का।

इसी प्रकार राजमहल, राजमहल के समीप ही स्थित आयुधागार, फीलखाना, हस्तिशाला, घुड़शाला, रथशाला और राजकाज की कचहरियों का निर्माण कराया जाता था। अब तो उनके भग्नावशेष ही रह गये हैं परन्तु इन इमारतों के खण्डहरों, कुओं, तालाबों, कीर्ति स्तंभ तथा देवालयों के आधार पर तत्कालीन स्थापत्य की जानकारी मिलती है। जिंजुवाड़ा, डमोई के किले इत्यादि से दुर्ग स्थापत्य एवं सिद्धपुर के रूद्रमाला देवालय व मोढ़ारा के देवालय से गुजरात के मंदिर स्थापत्य की जानकारी मिलती है।

स्थापत्य की भांति ही वहां की चित्रकला और साहित्यिक काव्यकृतियों का उल्लेख भी यथा प्रसंग रासमाला में वर्णित है। स्थापत्यकला के अनेक नमूनों के फार्बस ने रेखाचित्र बनाकर अपने ग्रंथ में दिये हैं जिनसे यहां के प्राचीन कलाकौशल का अनुमान लगाया जा सकता है। देवालयों में स्थापित उपास्य एवं अलंकरण ही सुन्दर तथा कलापूर्ण मूर्तियां गुजरात की मूर्तिकला के सौन्दर्य को अभिव्यक्त करने में सक्षम हैं। नृत्य कला में गुजरात के गरबा नृत्य का अपना महत्व है।

गुजरात में मनाये जाने वाले पर्वों में नवरात्र, दशहरा, धनतेरस, काती चौदस, दीपावली, आखातीज (अक्षय तृतीया), गौरीपूजन पर्व अन्नकूट, गोवर्द्धन पूजा आदि प्रमुख हैं। इन पर्वों और त्यौहारों के अतिरिक्त विवाह की विविध रस्मों, लोकप्रचलित मान्यताओं, अंतिम संस्कार, मरणेत (मरणोत्तर) मति, स्वर्ग नर्क और मोक्ष सम्बन्धी धारणाएं, श्राद्ध भूत प्रेतादि के सम्बन्ध में प्रचलित जन-विश्वास आदि का रासमाला में विस्तार से वर्णन मिलता है जो गुजरात के सांस्कृतिक स्वरूप का सम्यक दृश्य पाठक के सम्मुख उपस्थित करता है।

10.12 उपसंहार :

अलेक्जेण्डर निकलाक फार्वस ने चारणों भाटों से प्राप्त सामग्री गुजरात के ऐतिहासिक काव्यों, रासड़ा, कर्त्ताओं और शिलालेखों के आधार

पर रासमाला की रचना की। रासमाला के चार भाग है। फार्बस ने रासमाला के तीन भागों में तो गुजरात का भौगोलिक, ऐतिहासिक और राजनैतिक विवरण प्रस्तुत किया है।

चावड़ा, सोलंकी, परमार, वाघेला, चूडा समा आदि राजवंशों द्वारा गुजरात का शासन संचालित किया गया उसका विस्तार से वर्णन रासमाला में करते हुए रासमाला के रचयिता ने सोढा काठी, झाला, लूणवाड़ा के सोलंकी ईडर के राठौड़, पीरम के गोहिलों के राजनैतिक प्रभुत्व को दर्शाया है। विशिष्ट वीरों एवं शासकों पर अलग से सविस्तार प्रकाश डालकर उनकी चारित्रिक विशेषताओं व राजनैतिक उपलब्धियों का उल्लेख करते हुए तत्कालीन गुजरात की ऐतिहासिक और राजनैतिक अव्यवस्थाओं पर विस्तार से प्रकाश डाला है। इसी क्रम में रासमाला के तीसरे भाग में सल्तनत कालीन गुजरात के राजपूत सुल्तानों और अहमदाबाद के यवन शासकों के सर्वाधिक प्रतापी सुल्तान महमूद बेगड़ा एवं अन्य शासकों का वृतांत दिया गया है।

रासमाला के चौथे और अंतिम भाग सांस्कृतिक गुजरात में जन-जन का दैनिक जन-जीवन, जातियां, रीतिरिवाज, विवाह, गृहस्थ जीवन, लेन-देन, व्यवहार, दानदक्षिणा, रोग, उपचार, मृत्यु, सती और मरणोत्तर कर्म आदि सभी मूलतः धर्मशास्त्रधारित और बाद में विकृत रूप में रूढ हुए प्रसंगों का बारीकी से चित्रण किया गया है। प्रशासक और विदेशी होते हुए भी लेखक ने गुजरात के सामाजिक और सांस्कृतिक मान्यताओं और आचार-विचारों को प्रस्तुत करने में बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से काम लिया है। फिर भी गुजरात के ऐतिहासिक और राजनैतिक स्वरूप के साथ-साथ सांस्कृतिक गुजरात की झांकी जो इसमें मिलती है वह महत्व की है।

सांस्कृतिक स्वरूप के अतिरिक्त इसी भाग में लेखक ने प्रशासन और राजस्व संबंधी प्रबंधों, ठाकुरों और छोटे-छोटे राजाओं के छोटी-छोटी बातें आपसी झगड़ों, बदले की भावना और गुजरात की क्षीण जनशक्ति की तरफ भी दृष्टिपात किया है। अंग्रेज अधिकारियों के पत्राचार से उद्दृत अंशों से उनकी राजनीतिक धारणाओं और कूटनीति का पता चलता है। भारतीयों की स्वभावगत कमजोरियों से और अराजकता पूर्ण स्थिति से अंग्रेज अधिकारियों ने जिन चतुराई से अधिक से अधिक लाभ उठाने का कार्य किया। ऐसे घटना-प्रसंग भी लेखक ने उद्धृत किये हैं जो तथ्यात्मक अध्ययन के लिए बहुत ही सहायक सिद्ध होते हैं

उपर्युक्त के आधार पर आप अनुमान लगा सकते हैं कि यह वृहत ग्रंथ न केवल गुजरात के इतिहास के लिए अपितु गुजरात के पड़ोसी राज्यों और भारतवर्ष के मध्यकालीन इतिहास के लिए एक महत्वपूर्ण साधन का काम देता है।

16.13 अभ्यासार्थ प्रश्न :

i. रासमाला साहित्य की विश्व वस्तु का विश्लेषण कीजिये।

ii. रासमाला साहित्य का ऐतिहासिक महत्व अंकित कीजिये।

16.14 संदर्भ ग्रन्थ :

रासमाला के मूल लेखक अलेक्जेण्डर फार्बस ने यह ग्रन्थ अंग्रेजी में लिखा, जिसका हिन्दी रूपान्तरण और सरस शैली में सम्पादन श्री गोपाल नारायण बहुरा ने करके गुजरात के रासमाला साहित्य की ऐतिहासिक महत्ता को चार भागों में अध्येताओं के लिए उपलब्ध करवाया।

इकाई – 17

भारतीय इतिहास एवं इतिहास लेखन का यूरोपीय मत

इकाई की रूपरेखा

17.0 उद्देश्य

17.1 प्रस्तावना

17.2 विलियम जोन्स के विचार

17.3 धर्मपरायण साम्राज्यवाद और इतिहास लेखन

17.4 उपयोगितावादी इतिहासकार जेम्स मिल के विचार

17.5 एल्फिंस्टोन का मत

17.6 भारत के प्रान्तीय इतिहास के कुछ लेखक

17.7 1850 के उपरांत यूरोपीय इतिहासकारों का अध्ययन एवं लेखन

17.8 निष्कर्ष

17.9 अभ्यासार्थ प्रश्न

17.0 उद्देश्य :

इस इकाई में हमारा उद्देश्य आपको भारतीय इतिहास और इतिहास लेखन पर यूरोपीय दृष्टिकोण के संबंध में संक्षिप्त जानकारी देना है। इस इकाई के अध्ययन में हमने कुछ प्रमुख इतिहासकारों के विचारों की विवेचना की है।

17.1 प्रस्तावना :

आधुनिक भारत में ऐतिहासिक शोध की नीवं प्रसिद्ध Orientalist सर विलियम जोन्स ने 1784 में एशियाईटिक सोसायटी ऑफ बंगाल की स्थापना करके की थी। आधुनिक भारत में यूरोपीय इतिहासकारों ने सर्वप्रथम प्राचीन काल की आलोचनात्मक अध्ययन और पुनः रचना प्रारम्भ की। प्राचीन भारतीय संस्कृति के अध्ययन के क्षेत्र में सर विलियम जोन्स निश्चित रूप से मार्ग दर्शक थे।

17.2 विलियम जोन्स के विचार :

जोन्स और उनके सहकर्मियों ने हिन्दु संस्कृति तथा सभ्यता की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। निःसन्देह जोन्स एक प्रसिद्ध Orientalist थे, किन्तु इसका मतलब यह नहीं था कि वह भ्रांत धारणा और राष्ट्रीय गर्व से मुक्त थे। भारतीय संस्कृति की प्रशंसा करके उनकी अन्तिम अभिलाषा यह थी कि भारत में अंग्रेजी स्वार्थों की हानि न हो। भारतीय संस्कृति की परम्परायें और रीति-रीवाजों की रक्षा करना अन्त में ब्रिटेन के स्वार्थ के अनुकूल होगा। फिर भी, प्राचीन भारतीय संस्कृति पर सहानुभूतिपूर्ण विचार करके जोन्स ने हमारे देश की गौरवपूर्ण अतीत के बारे में शिक्षित करवाया। यह हमारे संस्कृति विरासत को गर्व करने के लिए प्रेरित किया जो भारतीय राष्ट्रीयता के विकास में एक सहायक साधन थी।

17.3 धर्मपरायण साम्राज्यवाद और इतिहास लेखन :

विलियम जोन्स के काल में ईसाई धर्मोपदेशकवाद (evangelicalism) का भी जन्म हुआ। चार्ल्स ग्रान्ट इस सम्प्रदाय के प्रमुख प्रतिनिधि थे। उन्होंने धर्मपरायण साम्राज्यवाद (Moral imperialism) का समर्थन किया। भारतीय इतिहास में उन्होंने ऐसा कोई लक्षण नहीं देखा जिसमें धर्म ने लोगों को प्रगतिशील बनाने के लिये प्रोत्साहित किया हो। उनके अनुसार हिन्दु धर्म सामाजिक और बौद्धिक उन्नति के मार्ग में अवरोधक थी। उनके विचार में ईसाई धर्म का प्रवेश कराने से ही भारत में सामाजिक और राजनीतिक सुधारों को स्थिरता मिल सकती है।

17.4 उपयोगितावादी इतिहासकार जेम्स मिल के विचार :

भारतीय इतिहास लेखन की परम्परा जो सर विलियम जोन्स ने शुरू की थी, 19 वीं सदी में जेम्स मिल के हाथों द्वारा गहरा आघात पहुंचा। मिल एक उपयोगितावादी इतिहासकार (Utilitarian historian) थे। वह (History of British India) के रचयिता थे। मिल निश्चत रूप से जोन्स और उनके सहकर्मियों के मत को खंडन करना चाहते थे।

मुख्य रूप से मिल ने जोन्स को अपना प्रधान विरोधी माना। आधुनिक भारत में इतिहास लेखन के विकास में मिल का महत्वपूर्ण योगदान रहा। उन्होंने अपने विचारों का ऐसा नमूना प्रस्तुत किया जो माऊंट स्टुअर्ट एल्फिंस्टोन के History of India के प्रकाशित होने के उपरान्त भी प्रचलित रहा। इन दोनों लेखकों के प्रति ध्यान देना इसलिए आवश्यक है क्योंकि उनके धारणा मनोभाव और उद्देश्य का आधुनिक भारत में इतिहास लेखन के क्रमिक विकास में एक महत्वपूर्ण चरण है। मिल तथा एल्फिस्टोन के प्रवत्ति और दृष्टिकोण में काफी भिन्नता थी।

जेम्स मिल ने History of British India लिखना प्रारम्भ 1806 में किया और 1817 में समाप्त किया। ब्रिटेन में इस पुस्तक ने भारी प्रसिद्धि प्राप्त की। कुछ वर्ष बाद इस किताब की प्रशंसा करते हुये, मैकाले ने इंग्लैण्ड के कॉमन्स सभा में कहा कि अंग्रेजी भाषा में गिबन के Decline and Fall of the Roman Empire के बाद ये सबसे श्रेष्ठ ऐतिहासिक कृति है। मिल की किताब समकालीन अंग्रेजी विचार का आधार बना कि किस प्रकार भारतीयों पर शासन करना चाहिये।

अपनी कृति में मिल ने अपने मित्र Heremy Benthem के 'greatest happiness of the greatest number' के सिद्धान्त का प्रचार किया। मिल के प्रस्तावनानुसार यदि भारत के राजनीतिक व्यवस्था, आर्थिक प्रणाली, सामाजिक, धार्मिक और बौद्धिक जीवन में पश्चिमीकरण लाई जाय तो उससे भारत अत्याधिक लाभान्वित होगा। मिल ने प्राचीन भारतीय सभ्यता को कलुषित बताया। इसके विपरीत भारत में मुस्लिम सभ्यता काफी विकसित थी। मिल की उपयोगितावादी सिद्धान्तों के प्रचार से भारत में साम्राज्यवादी विचारों का विकास हुआ और भविष्य में अंग्रेजी इतिहास लेखन पर गहरा प्रभाव पड़ा। इसके अतिरिक्त मिल ने शासक और शासितों के बीच खाई उत्पन्न कर दी। अन्त में भारत में मुस्लिम शासन की उपलब्धियों की प्रचुर प्रशंसा करके और प्राचीन भारतीय सभ्यता की निन्दा करके, मिल ने भारत में दो सम्प्रदाओं के मध्य आपसी विरोध और संघर्ष का बीजारोपण कर दिया। यह भविष्य में अंग्रेजों की फूट डालों और राज करो की नीति कि अग्रदूत बन गई जो अंग्रेज शासकों के लिये अपनी भारतीय साम्राज्य को दृढ़ता से पकड़ रखने में सहायक सिद्ध हुई।

मिल की कृति में इतिहास की दृष्टि से अनेक कमियाँ थी। सामान्य रूप से जातीय प्रान्त, एक तरफा झुकाब और विषय में अज्ञानता इस ग्रन्थ का खास दोष है। इंग्लैण्ड में बैठकर भारत तथा भारतवासियों पर अपना फैसला देना ऐतिहासिक सच नहीं हो सकता।

17.5 एल्फिंस्टोन का मत :

एल्फिंस्टोन ने History of India में प्राचीन और मध्यकालीन भारत का इतिहास लिखा। भारत में एल्फिंस्टोन का विस्तृत अनुभव होने के कारण उन्होंने भारत के इतिहास को सोच और तर्क से लिखा। उनके अनुसार एक इतिहासकार अपने विवरण में काल्पनिक तथा मन गढ़ंत बाते न लिखें बल्कि तथ्यों का वर्णन करें। उन्होंने इतिहास और कल्पित कथा के बीच भेद करने को बताया।

यद्यपि एल्फिंस्टोन ने भारत के इतिहास में कुछ अवनति के उदाहरण देखे, फिर भी उन्होंने सोचा कि भारत एक उन्नतिशील सभ्यता थी जहां विद्या का आदर किया जाता था, धर्मपरायणता (Piety) प्रचलित थी और सामान्य जीवन सीधा-सादा होते हुये भी उद्धत नहीं था। एल्फिंस्टोन ने मिल के भारत के प्राचीन सभ्यता के वृतान्त को झूठा बताया। इसलिये एल्फिंस्टोन की कृति मिल की प्राचीन भारतीय इतिहास के विश्लेषण का प्रत्युत्तर था।

एल्फिंस्टोन के सम्बन्ध में हमारा विवेचना अपूर्ण रहेगा जब तक हम उनके History of India नामक पुस्तक लिखने का उद्देश्य का परीक्षण न कर लें। उन्होने अंग्रेज प्रशासकों को चेतावनी देनी चाही कि भारत पर राज्य पाश्चात्य भावना से नहीं अपितु यहां के नागरिकों की भावना से करनी चाहिये। इससे भारत में अंग्रेजी शासन को स्थिरता मिल सकती है।

एक प्रशासनिक इतिहासकार होने के नाते वह साम्राज्यवादी विचारधारा से मुक्त तो नहीं हो सकते थे, लेकिन फिर भी एक वास्तववादी की तरह उन्होंने उपरोक्त विचारधारा को दबी और चतुर शब्दों में प्रस्तुत किया।

17.6 भारत के प्रान्तीय इतिहास के कुछ लेखक :

19 वीं सदी के प्रथम पचास वर्षों में मिल और एल्फिंस्टोन के साथ-साथ अनेक विदेशी इतिहासकारों ने भारत के प्रान्तीय इतिहास का अध्ययन बड़े उत्साह से प्रारम्भ किया। इनमें सिक्खों के इतिहास रचयिता के रूप में जोसफ डेवी कनिंगघम को प्रमुख प्राथमिकता देनी चाहिये। कनिंगघम आधुनिक इतिहास लेखक विधि से परिचित थे। अधिकांश घटनाओं के विवरण को उन्होंने पादटीका (footnote) देकर प्रमाणिक बनाया। उन्होंने सहायक स्रोतों का प्रयोग भी भरपूर किया।

उनके विपरीत जेम्स टॉड ने इतिहास के माँगों को पूरा नहीं किया। इसलिये कनिंगघम की तुलना में टॉड अधीनस्थ स्थान रखते हैं। टॉड की Annals and Antiguities of Rajasthan में तथ्यों और कथाओं का मिलन है जो एक इतिहासकार को बड़ीं सावधानी तथा समझदारी से पढ़ना चाहिये। टॉड राजस्थान में अंग्रेजी शक्ति का विस्तार देखना चाहते थे।

इनके अलावा ग्रान्ट डफ ने 1826 में मराठों का इतिहास लिखा तथा मार्शमैन और स्टरलिंग ने क्रमशः से बंगाल तथा उड़ीसा का इतिहास लिखा।

इस प्रकार हम देखते है कि विदेशी इतिहासकारों ने सर्वप्रथम प्राचीन भारतीय संस्कृति का अध्ययन किया। धीरे-धीरे उन्होंने अपने अध्ययन के क्षेत्र का विस्तार करते हुये मध्यकालीन भारत का इतिहास और प्रादेशिक इतिहास को अपना विषय बनाया।

अलेक्जेण्डर डॉव से जोसफ डेवी कनिगंघम के समय तक ऐतिहासिक कृतियों की रचनाओं में काफी विकास हुआ। उपरोक्त विवेचना से यह

स्पष्ट होता है कि 1784 से 1850 के मध्य सर विलियम जोन्स, जेम्स मिल तथा माऊँट स्टुअर्ट एल्फ़िंस्टोन भारतीय इतिहास लेखन के क्षेत्र में अग्रणी रहे।

17.7 1850 के उपरान्त यूरोपीय इतिहासकारों का अध्ययन एवं लेखन:

1850 के उपरान्त जिन विदेशी इतिहासकारों ने भारत पर लिखा वह अधिकतर प्रशासन अथवा उच्च सैनिक अधिकारी थे। इसलिये वह साम्राज्यवादी भावना से प्रभावित थे। ऐसे इतिहासकार आधुनिक इतिहास लेखन विधि से अवश्य परिचित थे। परन्तु बदकिस्मती की बात यह है कि उन्होंने भारत के इतिहास को न्याय प्रियता से परीक्षण नहीं किया। यद्यपि इन इतिहासकारों की उपलब्धियों को टाल देना अनुचित होगा फिर भी वह अवश्य कहना होगा कि भारत के इतिहास को उन्होंने जिस ढंग से लिखा उसमें उनकी औपनिवेशिक स्वार्थ निहित था।

प्रशासनिक इतिहासकारों में सबसे ज्यादा प्रसिद्धि विन्सेन्ट स्मिथ को मिली। अपनी कृति Early History of India में उन्होंने जोरदार शब्दों में घोषणा की वह प्राचीन भारत का इतिहास न्यायिक ढंग से प्रस्तुत करेंगे। उन्होंने कहा कि एक इतिहासकार का कर्त्तव्य है कि वो सच को झूठ से और निश्चित को अनिश्चित से अलग करें। प्रत्येक जॉचकर्त्ता को यह समझना चाहिये कि वो न्यायाधीश के पद पर काम कर रहा है। परन्तु स्मिथ का भारत के प्रति दृष्टिकोण निष्पक्षतापूर्ण नहीं था।

स्मिथ भारत में अंग्रेजी शासन को सुदृढ़ बनाने में विश्वास रखते थे। फिर भी भारत के इतिहास के विभिन्न पहलुओं के पुनः रचना में हम स्मिथ के योगदान की उपेक्षा नहीं कर सकते हैं। Early History of India के अलावा स्मिथ Asoka, the Buddhist Emperor of India, Oxford History of India, Akbar, the great Moghul, History of Fine Art in India and Ceylon के भी रचयिता थे। उपरोक्त ग्रन्थों के अध्ययन से हमें यह ज्ञात होता है कि स्मिथ ने इतिहास जानने के भिन्न-भिन्न साधनों का परीक्षण बड़ी मेहनत से किया। इसलिए उनकी कृतियाँ शोधात्मक हैं। इसके अतिरिक्त स्मिथ ने अपनी पुस्तकों को सरल एवं स्पष्ट शैली में लिखा। एक पश्चिमी इतिहासकार होने के नाते स्मिथ ने हमेशा पाश्चात्य सभ्यता को भारतीय सभ्यता से अधिक विकसित तथा यहाँ के महत्वपूर्ण कला कृतियों और सहित्यिक रचनाओं को इससे प्रभावित बताया। स्मिथ की पुस्तकों ने हमारे इतिहासकारों को प्रेरित किया कि वो उनके विचारों का पुनः मूल्यांकन करें और पाठकों के सामने भारत के इतिहास को सही रूप में प्रस्तुत करें।

इसी कड़ी में सर विलियम विल्सन हन्टर का नाम हम अवश्य लेंगे। वह जेम्स मिल के भारत के इतिहास से सम्बन्धित विचारों के कटु आलोचक थे। हन्टर अपने समय के एक श्रेष्ठ इतिहासकार थे। उन्होंने Annals of Rural Bengal की रचना की तथा Imperial Gazetteer of India 14 खण्डों में तैयार किया। उनके निर्देशन में Rulers of India Series समकालीन इतिहासकारों के द्वारा लिखा गया। वह भारत में अंग्रेजी शासन को न्यायोचित ठहराना चाहते थे लेकिन साथ-साथ उन्होंने

अंग्रेज प्रशासकों को यह चेतावनी दी कि वो शासन भारतीयों का शोषण करके नहीं अपितु उनके सहयोग से करें। इससे ही भारत में अंग्रेजी शासन को लोकप्रिय बनाया जा सकता है।

स्मिथ और हन्टर के साथ-साथ जिस विदेशी इतिहासकार ने भारत के आर्थिक इतिहास के अध्ययन में प्रसिद्धि हासिल की उनका नाम था विलियम हौसिन मोरलैण्ड। वह लगभग 25 वर्ष भारत में आई. सी. एस. में सेवारत रहें इसमें से अधिक समय तक उनका सम्बन्ध कृषि एवं मालगुजारी विभागों से रहा। इसलिये उनकी रूचि भारत की आर्थिक समस्याओं तथा अंग्रेज प्रशासकों की भारत में आर्थिक नीतियों पर गम्भीर रूप से अध्ययन करने की ओर अग्रसर हुई। शुरू में उन्होंने तीन मैनयुअलों का संकलन किया - (i) The Agriculture of the United Provinces (1904), (ii) The Revenue Administration of the United Provinces (1911), and (iii) Notes on the Agriculture conditions and problems of the Uni. Pri. (1913) इसके तुरन्त बाद उन्होंने मध्यकालीन भारत का इतिहास लिखने की योजना बनाई। बड़े उत्साह के साथ उन्होंने इस विषय पर पढ़ना शुरू किया। उन्होंने सफलतापूर्वक फारसी, फ्राँसीसी, पुर्तगाली तथा डच भाषाओं का अध्ययन इस उद्देश्य से किया जिससे इन भाषाओं में जो स्रोत उपलब्ध थे, उनको वह पढ़ सके। उनकी पुस्तक The Agrarian system of Moslem India जो 1929 में प्रकाशित हुई तो उनके पाण्डित्य का परिचायक थी। यद्यपि हम उनके लेखों में भारतीय सिविल सर्विस के एक सदस्य की आवाज सुनते हैं, फिर भी मोरलैण्ड अपने समय के एक जाने माने आर्थिक इतिहासकार थे, हम आज तक अस्वीकार नहीं करते हैं। उनकी पुस्तकों ने भारतीय विद्वानों को प्रेरित किया कि वो मध्यकालीन भारत के आर्थिक इतिहास का अध्ययन विस्तारपूर्वक करें।

भारतीय दर्शन, चिन्तन, धर्म और साहित्य के अध्ययन के क्षेत्र में जिस जर्मन विद्वान का नाम हम हमेशा श्रद्धा से लेते हैं, वह है मैक्स मूलर। उनका भारत से असाधारण प्यार था जो उन्होंने अपने मशहूर पुस्तकों में व्यक्त किया। मैक्स मूलर की प्रख्यात पुस्तकें हैं - **Chips from German workshop, The six systems of Indian Philosophy, The Science of thought, The Science of Mythology** and **The Sacred Books of the East** इनके अलावा उन्होंने राजा राम मोहन राय और स्वामी दयानन्द सरस्वती पर जीवनी लिखी। मैक्स मूलर कभी भी भाव में बह नहीं गये और न ही वह अन्य पश्चिमी विद्वानों की भाँति सोचते थे कि प्राचीन भारतीय साहित्य और संस्कृति का जो भी विकास हुआ उसमें यूनानी सभ्यता का योगदान रहा।

मैक्स मूलर के समकालीन थे जे. पी. मूलर। वह भी एक जर्मन थे। भारतीय पुरातत्व, अभिलेख, भाषा विज्ञान, साहित्य इत्यादि के अध्ययन में वह इतिहास के पन्नों में अपनी अमिट छाप छोड़ गये हैं।

परसी ब्राऊन, ई. बी. हैवल और जेम्स फरगूसन ने बड़े अभिरूचि से प्राचीन और मध्यकालीन भारतीय स्थापत्य कला और चित्रकला का

अध्ययन किया। उन्होंने देश के विभिन्न महत्वपूर्ण कला कृतियों का न केवल वर्णन किया बल्कि उन्होंने अपनी पुस्तकों को उन कला कृतियों के खाकों और चित्रों से अलंकृत करके उत्तम बनाया।

17.8 निष्कर्ष :

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि आधुनिक भारत में ऐतिहासिक शोध की नींव यूरोपीय विद्वानों ने रखी। 1947 के बाद भारतीय इतिहासकारों ने भारत के इतिहास का अधिक परिमाण में शोध किया है। यूरोपीय इतिहासकारों के बहुत से विचारों का खण्डन किया गया है। कोई इतिहासकार इतिहास के विषय में अपना अन्तिम निर्णय नहीं दे सकते क्योंकि इस बदलते जगत में विचारों का हमेशा परिवर्तन होता रहता है। इसलिये पश्चिमी इतिहासकारों पर आक्षेप लगाना न्यायोचित नहीं होगा। भारतीय इतिहास के अध्ययन तथा इतिहास लेखन विधि के उन्नति में यूरोपीय विद्वानों के योगदान को नकारा नहीं जा सकता।

17.9 अभ्यासार्थ प्रश्न :

1. धर्मपरायण साम्राज्यवाद और इतिहास लेखन की व्याख्या कीजिये?
2. भारत के प्रान्तीय यूरोपीय इतिहासकारों के ऐतिहासिक उद्देश्य एक मत को स्पष्ट कीजिये?
3. 1850 के उपरांत यूरोपीय इतिहासकारों का विवरण दीजिये?

इकाई 18

स्वातंत्रय-पूर्व भारत में राष्ट्रवादी इतिहास लेखन आर.सी. दत्त एवं दादाभाई नौरोजी

इकाई की रूपरेखा

18.0 उद्देश्य

18.1 प्रस्तावना

18.2 स्वातंत्रय-पूर्व भारत में राष्ट्रवादी इतिहास-लेखन

18.3 आर.सी. दत्ता - उनके विचार

18.4 दादाभाई नौरोजी - उनके विचार

18.5 राष्ट्रीय ऋण

18.6 भू-राजस्व

18.7 उद्योग, वाणिज्य तथा कृषि का ह्रास

18.8 यातायात के साधन (रेलवे, सड़क तथा सिंचाई) की असंतुलित व्यवस्था

18.9 सारांश

18.10 बोध प्रश्न

18.0 उद्देश्य

इस इकाई में आप अध्ययन करेंगे कि किस तरह यूरोपीय विद्वानों ने इतिहास-लेखन की आधुनिक पद्धति भारत में प्रारम्भ की। किस तरह उन्होंने भारतीय जीवन की त्रुटियों पर ही अपना ध्यान केन्द्रित किया और भारत को हर क्षेत्र में पश्चिमी राष्ट्रों की तुलना में न्यून सिद्ध किया। किस तरह इसके प्रतिरोध में उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में आधुनिक इतिहास-लेखन के आधार पर ही राष्ट्रवादी भारतीय इतिहासकारों का उदय हुआ और उन्होंने बहुत जोर से भारतीय पक्ष का प्रतिपादन किया और प्रत्येक दृष्टिकोण (सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक) से भारतीय जीवन की श्रेष्ठता को सिद्ध किया। इन इतिहासकारों में ऐसे भी कुछ थे, जिन्होंने आर्थिक दृष्टि से अंग्रेजी शासन को भारत के लिए अत्यन्त अनिष्टकारी सिद्ध किया। इन विद्वानों में प्रमुख स्थान दादाभाई नौरोजी और आर. सी. दत्ता का है। इन विद्वानों की दृष्टि में अंग्रेजी शासन के तथाकथित लाभ आर्थिक-शोषण के कारण ऋणात्मक हो जाते हैं ।

18.1 प्रस्तावना :

इस इकाई में भारत में राष्ट्रवादी इतिहासकारों के उदय की परिस्थितियों का सिंहावलोकन होगा और किस तरह यूरोपीय नस्लवाद के विपरीत भारतीय जीवन और संस्कृति की श्रेष्ठता को भारतीय इतिहासकारों ने सिद्ध करने की कोशिश की, इस पर प्रकाश डाला जाएगा। इसी संदर्भ में प्रसिद्ध लेखक आर. सी. दत्ता और दादाभाई नौरोजी के आर्थिक विचारों पर विशेष विचार किया जायेगा और यह दिखलाया जायेगा कि किस प्रकार आधुनिक भारत में आर्थिक राष्ट्रवाद (इकोनोमिक नेशनेलिज्म) का उदय हुआ।

18.2 स्वातंत्र्य-पूर्व भारत में राष्ट्रवादी इतिहास लेखन :

पाश्चात्य विद्वानों का ऐसा मत है कि प्राचीन भारतीयों में इतिहास-बोध नहीं था। यह तो विवादास्पद हो सकता है किन्तु यह कहा जा सकता है कि मध्यकालीन भारत में ऐसे बहुत से इतिहास लेखक हुए जिन्होंने इतिहास की उत्कृष्ट पुस्तकें लिखी हैं, किन्तु लेखक भी 19 वीं शताब्दी के यूरोपीय इतिहास-लेखन की शैली से भिन्न थे। कहना नहीं होगा कि जेम्स मिल सेलेकर, इलियन्ट, डासन, मेन, स्टीफेन, ह्वीलर और दूसरे यूरोपीय इतिहासकार अनवरत भारतीय जीवन और संस्कृति पर कीचड़ उछालते रहे। इस आक्रमण के विरूद्ध पहले तो भारतीयों की प्रतिक्रिया रक्षात्मक रही। किन्तु पीछे भारतीय मस्तिष्क ने इस चुनौती का उत्तर दो तरीकों से दिया। पहले तो इसने धार्मिक उत्साह से अपने अतीत की खोज की, स्रोतों का पता लगाया, नए तथ्यों के ज्ञान के भण्डारों को खोला, पाली, प्राकृत और संस्कृत तथा दूसरी भाषाओं को सीखा और इस तरह इतिहास के अपने ज्ञान को विस्तृत

किया। फिर अपने नए ज्ञान के अस्त्रों से इसने पश्चिम द्वारा भारतीय संस्कृति पर लगाए गए आक्षेपों को निरस्त कर दिया। ऐतिहासिक विचार से इस विधि के अनुसार भारतीय मस्तिष्क का दीक्षित होना एक मिला-जुला वरदान ही सिद्ध हुआ। एक और तो इसने भारत के अति प्राचीन अतीत के विस्तृत ज्ञान-क्षेत्र का द्वार खोल दिया, जिसमें मानव जीवन के प्रत्येक विभाग में असीम विविधता और विचार की गहरायी थी, जो स्वयं में भारतीय मस्तिष्क को राष्ट्रीय गौरव और विचार की गहरायी थी, जो स्वयं में भारतीय मस्तिष्क को राष्ट्रीय गौरव और उत्साह से अभिभूत कर देने के लिए पर्याप्त थी; किन्तु साथ-ही-साथ इससे भारतीय मस्तिष्क ऐसे तार्किक और चुनौती भरी स्थिति में आ गया था, जिससे वह यूरोपीय लेखकों के तर्कों का समुचित उत्तर दे सके। दुर्भाग्य से ज्ञान के इस नवार्जित कोष का लाभकारी प्रभाव बहुत हद तक इस मनोस्थिति से कम हो गया जिससे भारतीय अपने अतीत का मूल्यांकन रंगीन चश्मों से करने लगे। यदि पश्चिमी विद्वानों को भारत के अतीत में प्रत्येक बुराई ही दृष्टिगोचर हुई तो भारतीय विद्वानों को अपने देश के अतीत में केवल अच्छाई ही दीखने लगी।

भारतीय इतिहास लेखन के प्रारम्भ में ही इस तरह की प्रवृत्ति बड़ी खतरनाक सिद्ध हुई, और भारतीय मस्तिष्क अपने को इसी तरह के बौद्धिक प्रयास में प्रसन्न मानने लगा जिसमें व्यक्ति झुकाव की ही प्रधानता थी। अब वैज्ञानिक इतिहास का मार्ग जो उचित किन्तु कठिन था वह अब अवरूद्ध हो गया। अनासक्त प्रवृत्ति, संतुलित निर्णय, उचित दृष्टिकोण और वस्तुनिष्ट तथ्य का बलिदान उन राष्ट्रवादी इतिहासकारों से हुआ जो पश्चिमी विद्वानों से संघर्ष के लिए उद्धृत थे। इतिहास का व्यवहार अब लोग कुछ दूसरे उद्देश्यों के लिए भी करने लगे। इसे समाज सुधार का एक अस्त्र बनाया गया, विदेशियों के निष्कासन के लिए इसे एक राजनीतिक साधन के रूप में अपनाया गया, कुछ लोगों ने इसे राष्ट्रीय एकता के उन्नयन के लिए उपयोग में लाया और कुछ लोगों ने पृथकतावादी उद्देश्यों के लिए व्यवहार में लाया। उदाहरण के लिए प्राचीन संस्कृति के बहुत पुरानेपन को सिद्ध करने के लिए पश्चिमी विद्वानों द्वारा निश्चित तिथि से बहुत पहले रखा गया। उदाहरण के लिए ज्योतिष पर आधारित तथ्यों को लेकर बाल गंगाधर तिलक ने यह सिद्ध करने की कोशिश की कि ऋग्वेद का प्रणयन 8000 वर्ष पहले हुआ था उसी तरह महाकाव्यों, पुराणों और दूसरी परम्पराओं को भी पश्चिमी द्वारा स्वीकृत तिथि से बहुत पहले सिद्ध किया जाने लगा। के. पी. जायसवाल जैसे विद्वानों ने यह प्रतिपादित किया कि यूरोप से पहले भारत में लोकतांत्रिक और स्वशक्ति संस्थाओं का विकास हो चुका था। इस तरह के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। आर. के. मुखर्जी ने अपनी पुस्तक, **भारत की मौलिक एकता** (दि फन्डामेंटल यूनिटी ऑफ इण्डिया) में यह दिखाने की कोशिश की कि बाह्य विविधताओं के रहते हुए भी भारत में मौलिक एकता थी। उनकी दूसरी पुस्तक, **भारतीय**

जहाजरानी का इतिहास और नाविक कार्यकलाप (इण्डियन शिपिंग एण्ड मेरीटाइम एक्टीविटी) में भी ऐसे ही सत्य का प्रतिपादन किया गया है। ऐसे सैकड़ों उदाहरण दिये जा सकते हैं।

इस काल में सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रकाश आर्थिक इतिहास पर दिया गया है। इस क्षेत्र में अंनुसंधान अधिक इस बात पर केन्द्रित रहा है कि अंग्रेजों के आर्थिक जीवन की खामियों को विशेष उजागर किया जाय जैसे - आर्थिक शोषण, भारत का द्ररिद्रीकरण, भारतीय व्यापार और उद्योग का विनाश, बहुत अधिक खर्चीला केन्द्रित शासन, सेना पर और देश के बाहर आक्रमणों पर अत्यधिक खर्च और दूसरे बहुत से साधन जिनके द्वारा भारत की जनता का निर्मम शोषण हुआ।

18.3 आर. सी. दत्ता एवं उनके विचार :

आर्थिक इतिहास की चर्चा आते ही दो ऐसे विद्वानों की चर्चा आवश्यक है जिन्होंने अंग्रेजों द्वारा भारत के आर्थिक लूट का बड़ा ही विशद् और सरकारी आँकड़ों पर आधारित अध्ययन किया है, इनमें एक तो हैं आर. सी. दत्त और दूसरे हैं - दादाभाई नौरोजी।

आर. सी. दत्ता जो भारतीय नागरिक सेवा (आई. सी. एस.) के सदस्य थे। वे प्रशासन के साथ-साथ देशभक्त भी थे, ने बड़ा ही मार्मिक चित्र उपस्थित किया है। आर्थिक इतिहास के सिवा उनकी ये कुछ पुस्तकें हैं - जैसे **कल्चरल हेरीटेज ऑफ बंगाल, सिविलाइजेशन इन एनसियेंट इण्डिया,** जिसमें उन्होंने पश्चिमी विद्वानों के बहुत से संदेहों को दूर करने की चेष्टा की है। उन्होंने अंग्रेजी पद्य में रामायण और महाभारत का अनुवाद किया है। भारतीय नागरिक सेवा से अवकाश ग्रहण करने के बाद वे कुछ समय तक लंदन विश्वविद्यालय में इतिहास के व्याख्याता भी थे और उन्होंने दो जिल्दों में ब्रिटिश शासन के अंदर भारत के आर्थिक इतिहास को लिखा है - **इण्डियन अण्डर अरली ब्रिटिश रूल** (1757-1837) जिल्द - 11, इन दि विक्टोरियन एज (1837-1900) आर. सी. दत्ता ने ब्रिटिश साम्राज्य की चमक के भीतर भारत की गरीबी और विपदा का दृश्य देखा जिस समय ब्रिटिश शासन के दूसरे भागों में विकास और स्मृद्धि के चिन्ह थे उस समय (1897) भारत एक बड़े भयानक अकाल से वीरान हो रहा था और ये अकाल 1898 तक चलता रहा। 1899 में कुछ ठहराव आया किन्तु 1900 में और भी भयानक अकाल पड़ा जो तीन वर्षों तक रहा। भारत और साम्राज्य के दूसरे भागों के बीच बढ़ती हुई आर्थिक खाई समय के साथ बढ़ती ही गई। कनाडा और दूसरे उपनिवेशों में प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष आमदनी 48 पौंड थी। ग्रेट ब्रिटेन में यह आमदनी 42 पौण्ड थी। सरकारी आँकड़ों के मुताबिक भारत में यही आमदनी 2 पौण्ड थी। दत्त को ऐसा लगा कि साम्राज्य की 5/6 जनसंख्या (जो भारत की थी) की बढ़ती हुई गरीबी और पतन पर साम्राज्य की एकता नहीं हो सकती थी। अकाल के वर्षों के अलावा भी भारतीय जनता की गरीबी सामान्य वर्षों में भी बढ़

ही रही थी। उनके अनुसार भारत में भोजन की कमी नहीं थी। अगर किसी विशेष भाग में अकाल भी पड़ता था तो वहां दूसरे भागों से पर्याप्त भोजन जा सकता था। मगर कठिनाई तो यह थी कि जनता इतनी साधनहीन थी कि उसके पास कोई बचत नहीं थी और इसलिए जब कभी दुर्भिक्ष पड़ता था तो लोग पड़ोस के क्षेत्रों से भोजन खरीदने की स्थिति में नहीं थे। दत्त को भारतीय जीवन का प्रशासनिक अनुभव था और इसके आधार पर वह कह सकते थे कि भीषण से भीषण अकाल के समय भी अगर लोगों में क्रय शक्ति रहती तो वे भोजन खरीद सकते थे। प्रशासनिक अनुभव और सरकारी आँकड़ों के अध्ययन के आधार पर दत्त यह जानते थे कि ब्रिटिश शासन से भारत में शांति तो स्थापित हुई, किन्तु इस शासन से भारत के राष्ट्रीय धन में कोई विकास या विस्तार नहीं हुआ। भारत में न तो वाणिज्य और उद्योग की दशा सुधरी और जिसका विशुद वर्णन उन्होंने - **इण्डियन अण्डर अर्ली ब्रिटिश रूल** (1757-1837) में किया। ब्रिटेन के हित में सरकार ने भारतीय उद्योगों को अंग्रेज उद्योग पतियों के लिए नष्ट किया। भारतीय माल का यूरोप में आयात बहुत अधिक चुंगी लगा कर खत्म कर दिया गया और ब्रिटिश माल का भारत के लिए निर्यात अत्यधिक कम चुंगी लगा कर बढ़ाया। प्रारम्भ में इंग्लैण्ड की वाणिज्यिक नीति यह थी कि भारत ब्रिटिश उद्योगों के लिए कच्चा माल पैदा करे और ब्रिटिश उद्योगों द्वारा तैयार माल की खपत भी भारत में हो। इस तरह ब्रिटिश उत्पादकों ने राजनीतिक अन्याय का उपयोग कर भारत को दबाये रखा और अंत में उसका गला ही घोंट दिया। महारानी विक्टोरिया के 1837 में गद्दी पर बैठने के समय यह बुराई तो हो चुकी थी फिर भी शोषण की नीति में किसी तरह की ढिलाई नहीं हुई और लगातार भारत के बदन से खून खींचने की प्रक्रिया ज़ारी रही। 1858 तक भारत वर्ष किसी तरह का उद्योग चला ही नहीं रहा था, और अब भारत के जीवनयापन का एकमात्र साधन कृषि ही रह गया। भारतीय जीवन की इस बढ़ती हुई विसंगति को समझने के लिए दत्त ने भारतीय आर्थिक जीवन का बड़ा ही विशुद्ध अध्ययन किया और उन्होंने भारतीय भू-राजस्व व्यवस्था, कृषि को अवनति, उद्योगों की अवनति, भारत के बढ़ते हुए राष्ट्रीय ऋण, अंग्रेजी सरकार की भारत के आर्थिक शोषण की नीति और भारत की गिरती हुई आर्थिक अवस्था का बड़ा ही तर्कपूर्ण और विशुद्ध विश्लेषण किया जिसका विशेष अध्ययन हम आगे चल कर करेंगे।

18.4 दादाभाई नौरोजी एवं उनके विचार :

भारत की आर्थिक दशा का दत्त जैसा ही मार्मिक और करूण चित्र खींचने वाले दादाभाई नौरोजी थे। साठ वर्ष की उम्र में दादाभाई नौरोजी कांग्रेस के स्थापकों में से एक थे; और किसी से भी अधिक उन्होंने भारतीय एकता के विकास के लिए काम किया और भारतीयों को अपने हित विरासत, आदर्शों और उद्देश्यों के प्रति सजग किया। इन्होंने **इंग्लैण्ड और हिन्दुस्तान में भारतीयों** के हित के लिए काम किया,

और अंत में कलकत्ता कांग्रेस (1906) के अध्यक्ष पद से यह घोषित किया कि स्वराज्य ही कांग्रेस का ध्येय हैं। भारतीय राष्ट्रीयता को उनकी सबसे बड़ी देन थी, कि उन्होंने सरकारी शोषणकारी, विभाजन को प्रोत्साहन देने वाली और आर्थिक दृष्टि से नाश कर देने वाली नीति का अपने विभिन्न भाषणों, कागजातों और लेखों के द्वारा इंग्लैण्ड और हिन्दुस्तान में पर्दाफाश किया। इस तरह उन्होंने राज्य के वित्तीय आधारों को उखाड़ कर साम्राज्य के नैतिक आधार को मर्मान्तिक धक्का दिया और इसकी प्रतिष्ठा छिन्न-भिन्न हो गयी। इस तरह साम्राज्य की प्रतिष्ठा के ढह जाने से अंततः इसका विनाश हो गया। अपनी महान कृति में नौरोजी के विचार संग्रहित है जिसका नाम हैं - **पोभर्टी एण्ड अन-ब्रिटिश रूल इन इण्डिया** केवल यह किताब ही दादाभाई नौरोजी को अमर बनाने के लिए पर्याप्त थी। मगर इससे उनकी देन बहुत अधिक है।

उन्होंने भारत के हित का काम इंग्लैण्ड में लगातार प्रेस, प्लेटफार्म और पार्लियामेंट के जरिए किया। दादाभाई नौरोजी इग्लैण्ड की कामन सभा के प्रथम भारतीय सदस्य थे (1892-1895) उन्होंने सदन में एक भारतीय लॉबी बनाने के लिए बहुत काम किया जिसने भारत के लिए बहुत कठिन कार्य किया। वे प्रोफैसर समाज सुधारक, विद्वान, अर्थशास्त्री, सांसद, मानवतावादी और सच्चे राष्ट्रभक्त थे। जो कोई भी उनके आर्शीवाद और परामर्श के लिए जाता था उसके वे मित्र दार्शनिक और मार्गदर्शक थे। जीवन के अंत तक वह मानसिक दृष्टि से और आत्मिक दृष्टि से उन्नयन करते रहे।

इग्लैण्ड में पहुंचते ही दादाभाई नौरोजी ने इग्लैण्ड की जनता को यह शिक्षित करना प्रारम्भ किया कि भारत के प्रति उनका कितना महत्वपूर्ण दायित्व है। उन्होंनें शीघ्र ही लंदन इण्डिया सोसाइटी की स्थापना की। फिर दादा भाई ने एक बड़ी संस्था कायम की जिसमें केवल भारतीय ही नहीं थे बल्कि ऐसे इंग्लोइंडियन भी थे, जिन्होंने भारतीय जनता के कल्याण में अपनी रूचि प्रदर्शित की थी। इस तरह सुप्रसिद्ध ईस्ट इण्डियन एसोसिएशन की स्थापना शिक्षित भारतीयों के बीच भारत की कमर तोड़ गरीबी, घोर चिंता और अत्यधिक असंतोष का विषय था। सुरसा की तरह यह गरीबी दिनों-दिन मुँह बाये जा रही थी, और आधुनिक शिक्षा प्राप्त भारतीयों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ। ऐसे लोगों में दादाभाई नौरोजी प्रथम प्रमुख भारतीय थे। जिन्होंने इस पर बहुत मेहनत की, और भारत तथा इंग्लैण्ड दोनों जगह लोगों के सामने आँकड़ों और वस्तुस्थिति के सही मूल्यांकन के द्वारा भारतीयों की घिनौनी गरीबी का दृश्य उपस्थित किया। इन्होंने गरीबी के मौलिक कारणों को ढूंढ़ निकाला, निर्भयतापूर्वक विदेशियों द्वारा भारत के प्रशासन के बुरे परिणामों को उजागर किया, और इनको दूर करने के लिए सुझाव दिया। विदेशी शासन के आर्थिक पहलू की उन्होंने वैज्ञानिक अध्ययन किया और तत्पश्चात जीवनभर इग्लैण्ड द्वारा भारत के आर्थिक शोषण के विरूद्ध विचार किया। इन्होंने धैर्यपूर्वक संबंध आँकड़ों को जमा किया और

इनके दुघर्ष तथ्यों और अकाट्य तर्कों ने उनके देशवासियों में और बहुत से अंग्रेजों के बीच भी अत्यधिक प्रभाव डाला। भारत में राजनीतिक चेतना को जगाने का श्रेय दादाभाई नौरोजी को ही है, जिससे विदेशी शासन के लिए बड़ा खतरा उपस्थित हो गया और भविष्य में भारत में ब्रिटिश शासन के विरूद्ध संवैधानिक आन्दोलन के लिए यही मुख्य मुद्दा हुआ। विचारों की इसी श्रृंखला को पीछे चलकर आर. सी. दत्त, विलियम डिग्वी (प्रोसेपरस ब्रिटिश इण्डिया) और दूसरों ने अपनाया।

27 जुलाई 1870 को दादाभाई नौरोजी ने ईस्ट इण्डियना एसोसिएसन के सामने एक निबन्ध पढ़ा जिसमें प्राप्त आँकड़ों पर विस्तृत सोच विचार कर वे इन निदान पर पहुंचे कि ब्रिटिश भारत की जनता का प्रतिवर्ष प्रतिव्यक्ति औसत आमदनी 40 शिलिंग थी। इस कठिन समस्या के जाँच पड़ताल और अध्ययन कि दिशा में यह उनका पहला ही कदम था। इस निबंध में और इसके आगे के लेखों में उन्होंने कई महत्वपूर्ण तथ्यों पर ध्यान आकृष्ट किया, भारतीय शासन का अपने खर्च पर उचित देख-रेख कि कमी बहुत बड़ी बुराई थी। भारत के वित्तीय प्रशासन में एक दूसरी कठिनाई यह भी थी कि भारतीय वित्तीय सदस्य (इण्डियन चान्सलर ऑफ दि एक्सचेकर) को दो स्वामियों की सेवा करनी पड़ती थी। जिसमें एक तो भारत में था दूसरा इग्लैण्ड में और चूंकि पिछला स्वामी ही सेवापरि होता था इसलिए इग्लैण्ड के स्वार्थ के सामने भारत के स्वार्थ कि बलि देनी होती थी। इसकी दूसरी बड़ी बुराई खर्चीला भारतीय प्रशासन था। जिसमें भारत के सभी भागों से नागरिक तथा सैनिक अफसरों का वर्ष के पहाड़ी निवासों पर भारी भरकम भीड़ एकत्रित होने पर अत्यधिक खर्च होता था। जिसके साथ ही साथ सेना पर निरन्तर बढ़ता हुआ खर्च भी था जो कुछ राजस्व का लगभग एक तिहाई था। सैनिक व्यय के महानियंत्रक ने भी यह कहा था कि सैनिक इतिहास में ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता है जिसमें सेना इस तरह से गठित हुई हो अथवा जो इतनी खर्चीली हो।

इस खर्चीले शासन और ढीले-ढ़ाले वित्तीय निरीक्षण का यह अनिवार्य फल था कि बहुत कड़ा करावधान हो जिसका भार विशेष रूप से गरीबों पर पड़ता था। नौरोजी की यह मान्यता थी कि करावधान का जो भार कृषकों पर पड़ता था वह दूसरे वर्गों पर पड़ने वाले करावधान के भार से तुलना करने पर न्यायपूर्ण नहीं था। वह भू-राजस्व की वसूली के लिए जो यन्त्र थे, उससे भी संतुष्ट नहीं थे, क्योंकि यह सस्ता नहीं था। 40 शिलिंग प्रति व्यक्ति सालाना आमदनी तो किसी तरह से जीवन को बिताने के लिए थी और जहां कहीं इसमें अकाल का धक्का लगता था, तो लोगों को टिकने की ताकत भी नहीं थी, और लाखों आदमी मर जाते थे। भारतीय जनता को पीसने वाला यह सबसे बड़ा भार था। इसी घिनौनी आमदनी से इन्हें कर भी देना पड़ता था। इस तरह से दादाभाई भारत के "आर्थिक शोषण" (इकोनोमिक ड्रेन) के अपने सिद्धान्त पर पहुंचे।

उदाहरण के लिए दूसरे-दूसरे देश जो भी राजस्व वसूल करते थे, उसका संपूर्ण राजस्व देश ही में रहता था, और लोक कल्याण पर खर्च होता था। इसलिए राष्ट्रीय पूंजी जिस पर देश का उत्पादन निर्भर करता था, में कोई कमी नहीं होती थी। दूसरी और विदेशी शासन के अंदर होने के कारण भारत में नियोजित वार्षिक 5 करोड़ पाउण्ड राजस्व से 1 करोड़ 20 लाख पाउण्ड या उससे भी अधिक प्रतिवर्ष इग्लैण्ड चला जाता था और इसलिए राष्ट्रीय पूंजी प्रतिवर्ष घटती जाती थी। इस तरह के बहुत से निबंध दादाभाई भारत की गरीबी पर पढ़ते रहे, और अंत में उनका संग्रह **प्रोभर्टी एण्ड अनब्रिटिश रूल इन इण्डिया** के नाम से प्रकाशित हुअ। इसका हिन्दी अनुवाद भी पीछे **भारत में ब्रिटिश शासन का कच्चा चिट्ठा** के नाम से हुआ। दादाभाई नौरोजी ने ब्रिटिश शासन को जितना सुन्दर समझा था उसके आर्थिक जीवन के विश्लेषण पर उन्होंने उसको उतना ही घिनौना ओर कुरूप पाया। इसलिए उन्होंने इन विसंगतियों को दूर करने के लिए अपनी पुस्तक का नाम **"प्रोभर्टी एण्ड अनब्रिटिश रूल इन इण्डिया"** रखा। जिससे यह मालूम हो सके कि भारत की यह दुर्दशा अंग्रेजी शासन में नहीं हो सकती थी। शायद भारत के जनमानस में उस समय यह बात घर कर गयी थी। क्योंकि वर्त्तमान हिन्दी गद्य के उन्नायक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, जिनकी मृत्यु 1885 ई. में ही हुई थी, ने अपनी पुस्तक **"भारत दुर्दशा"** में दादाभाई नौरोजी से ही मिलती-जुलती भावना व्यक्त की है -

अंग्रेज राज सुख साज सजै सब भारी"
"पर धन विदेश चली जात एहै अति ख्वारी"

दादाभाई नौरोजी ने अधिकारियों से तथ्य और आकड़े जुटा कर यह सिद्ध किया था कि प्रतिवर्ष भारत अधिक से अधिक गरीबी के गर्त में डुब रहा था कि देश का प्रशासन ही बहुत अंश में उसके दुख के लिए उत्तरदायी था। दादाभाई ने ऐसे बहुत से आश्चर्यकारी तथ्यों का उद्‌घाटन किया। उनकी स्थापना यह थी कि अच्छे समय में भी ऐसे भोजन और कपड़े जो कैदी को जेल में भी मिलते थे इतनी भी पैदावार नहीं होती थी कि किसान उस तरह का भोजन भी पा सके और हम इन साधारण चीजों को तो छोड़ ही दें जिनकी आवश्यकता आनन्द और गम के मौकों पर होती थी अथवा इतनी बचत जो बुरे समय में भी काम आ सकती थी। दादाभाई ने जो कुछ भारत की आर्थिक जीवन की विषमता को उजागर करने के लिए किया उसका वर्णन एक छोटे से आलेख में नहीं हो सकता है।

18.5 राष्ट्रीय ऋण अथवा लोक ऋण :

राष्ट्रीय ऋण अथवा लोक ऋण एक दूसरा मुद्दा था जिस पर भारतीय राष्ट्रवादी बहुत ही क्षुब्ध थे। देश के ऋण का भार 1869-61 में 94.56 करोड़ से बढ़कर 1901-2 में 312 करोड़ रुपया हो गया था। इससे भारतीय करदाताओं पर बड़ा भारी बोझ आ गया था। मगर

इसके वित्तीय पहलू से भी अधिक इसके नैतिक पहलू का घोर विरोध था। दत्त और दादाभाई नौरोजी दोनों ने ही इसके अनैतिकता की कड़ी आलोचना की थी। भारतीय-लोक ऋण का अधिकांश भाग पूर्व में ब्रिटेन के विजय-युद्धों के कारण बढ़ा था भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने जो युद्ध किये थे उनका खर्च, 1857 के विद्रोह का खर्च, कम्पनी के हाथ से ब्रिटिश सम्राट के हाथ भारतीय शासन के हस्तांतरण के समय कम्पनी के हिस्सेदारों को पूंजी देने का खर्च, अफगान और बर्मा युद्धों का खर्च और उसी तरह के दूसरे बहुत से खर्च भारत के खाते में डाल दिये गये थे और अधिकांशतः इग्लैण्ड में ऋण उठाकर उन्हें भुगतान किया गया था। बहुत से न्यायप्रिय अंग्रेजों ने भी इन अदायगियों के अन्याय का विरोध किया था। मगर इन विरोधों के बावजूद इग्लैण्ड के बहुमत वाले राजनीतिक दलों ने भारत के प्रति एक जैसी नीति का पालन किया था। 1867 में दादाभाई नौरोजी ने अंग्रेजों से स्पष्ट कहा था कि असंतुष्ट 20 करोड़ लोगों और 9 लाख विदेशी संगीनों के बीच संघर्ष का अंतिम फल क्या होगा इसकी भविष्यवाणी के लिए किसी पैगम्बर की आवश्यकता नहीं है एक बूँद पानी कुछ नहीं कर सकता किन्तु जब सैलाब होगा तो वह कभी-कभी हर चीज को बहा लेगा। एक असंतुष्ट राष्ट्र सैकड़ों बार असफल हो सकता है और फिर खड़ा हो सकता है मगर एक विदेशी के लिए एक दो हार ही प्राणघातक हो सकती है। भारतीयों की हर असफलता उनके बोझ को बढ़ायेगी और इस तरह से विदेशी जुए को फेंलने के लिए उनको और अधिक कर देगी वेलवी कमिशन के सामने दादाभाई नौरोजी ने बहुत ही क्रोध में कहा था कि भारतीयों के साथ इस तरह का अन्याय नहीं होना चाहिए जिसमें ब्रिटेन के पापों का भार उनको वहन करना पड़ें।

आर. सी. दत्त ने इसके शोषण के और भी अधिक उग्र परिणाम निकाले हैं, उनका कहना है कि भारत में वसूले हुए राजस्व का चौथा हिस्सा प्रतिवर्ष गृह खर्च (हाउस चार्जेज) ग्रुप में इग्लैण्ड भेज दिया जाता है और यदि इसमें उस भाग को भी जोड़ दे तो यूरोपीय आफीसर प्रतिवर्ष भारत में मिलने वाले अपने वेतन का इग्लैण्ड भेज देते हैं तो भारत से इग्लैण्ड भेजा जाने वाला राजस्व और भी अधिक बढ़ जायेगा। पृथ्वी पर का सबसे अधिक धनी देश इस पर के सबसे निर्धन देश से यह वार्षिक लूट के लिए अन्याय करता है। इससे भारत की गरीबी और बढ़ती जाती है और इस बढ़ती गरीबी के कारण इग्लैण्ड का भारत के साथ व्यापार भी घटता है। भारत की इस लूट से ब्रिटिश वाणिज्य और ट्रेड को भी कोई लाभ नहीं होता जबकि यह भारत के जीवन रक्त को लगातार निरन्तर खींचता रहता है।

जब किसी देश से कर लिया जाता है और उसी देश में वह खर्च होता है तो रुपया लोगों के बीच चालू रहता है। व्यापार उद्योग और कृषि का विकास होता है और किसी न किसी रूप में सामान्य लोगों तक को यह लाभ मिलता है। किन्तु जब एक देश में लगाये गये कर

उस देश से बाहर भेज दिये जाते हैं तो उस देश के लिए वह धन सदा के लिए नष्ट हो जाता है। इससे उस देश के वाणिज्य और उद्योग को कोई प्रोत्साहन नहीं मिलता और किसी भी रूप में वह धन लोगों के पास नहीं पहुंचता है। भारत के राजस्व का इतना बड़ा भाग देश के बाहर भेज दिया जाता है और यह क्रिया वर्षों से चलती रही है तो यह एक जादू ही होगा कि इसके बाद सबसे धनी देश भी निर्धन नहीं हो जाय।

जो गृह खर्च (होम चार्जेज) हैं वे इग्लैण्ड में खर्च किये जाते हैं। (1) भारतीय ऋण पर देय सूद के रूप में (2) रेलवे पर सूद के रूप में, (3) नागरिक और सैनिक खर्च के रूप में। किन्तु ज्ञात हो कि इसका एक बहुत छोटा भाग सैनिक और दूसरे सामान जो भारत भेजे जाते हैं उन पर खर्च होता। इस देश में भ्रम फैला हुआ है कि सम्पूर्ण भारतीय ऋण ब्रिटिश पूंजी है, जो हिन्दुस्तान के विकास में लगायी गयी है। मगर यह बात नहीं है भारत के लोक ऋण की उत्पत्ति ऐसे नहीं हुई है जब 1858 में ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारत का शासक नहीं रही तब उन्होंने भारत पर 7 करोड़ पौण्ड का ऋण लाद दिया था उसी समय उन्होंने वित्तीय दृष्टि से अन्यायपूर्ण भारत से 15 करोड़ लाख पौण्ड की सलामी ली थी, और इसमें सूद शामिल नहीं था उन्होंने भारत पर ही अफगान युद्ध, चीनी युद्ध और भारत के बाहर दूसरे युद्धों का भी भार लाद दिया था। अतः अगर न्याय की बात हो तो भारत कम्पनी शासन के अंत के समय किसी ऋण का भागी नहीं था। भारत के लोग ऋण की बात तो एक मिथक है। दूसरी और दस करोड़ पौण्ड का संतुलन उसके पक्ष में था जो धन अब तक उससे लिया गया था। सम्राट के शासन के 18 वर्षों के बाद ही भारत का लोक ऋण दूना हो गया। 1877 में जब रानी "कैसरे हिंद" हो गयी तो यह ऋण 14 करोड़ पौण्ड था। 1877 और 1900 के बीच यह लोक ऋण 13 करोड़ 90 लाख से 22 करोड़ 40 लाख हो गया। यह गारंटीड कम्पनीयों अथवा राज्य द्वारा रेलपथ निर्माण के कारण अधिकांश में हुआ जिसकी अभी भारत को नितांत आवश्यकता नहीं थी एवं जो भारत की ताकत के बाहर था यह बहुत अंशों में 1877 और 1787 के अफगान युद्धों के कारण भी हुआ। अतः भारतीय ऋण का इतिहास वित्तीय बुद्धिहीनता और अन्याय का दस्तावेज है। दत्त के शब्दों में भारत का निर्धनता आर्थिक कारणों से थी, और अगर ब्रिटेन की सारी आर्थिक कारवाईयों के बावजूद भी भारत समृद्ध रहता तो यह एक आर्थिक जादू का खेल होता किन्तु विज्ञान में जादू के लिए कोई स्थान नहीं है।

18.6 भू-राजस्व :

आर. सी. दत्त की दृष्टि में अंग्रेजों की भारतीय भू-राजस्व व्यवस्था भी उनके अपने स्वार्थ को दृष्टिकोण में रखकर ही की गयी थी। जिस तरह से उन्होंने स्वार्थपूर्ण नीतियों के द्वारा भारतीय उद्योग धंधों को चौपट कर दिया था और अंग्रेजों के उत्पादन और व्यापार को प्रोत्साहन

दिया था। उसी तरह से उन्होंने भू-राजस्व व्यवस्था को भी अपने स्वार्थ के दृष्टि में रख के किया। उनकी एक व्यवस्था तो जमीदारी व्यवस्था थी, जिसमें रैयतों और सरकार के बीच एक बिचौलियापन था जिसे जमीदार कहा जाता था। इसी व्यवस्था में कुछ हेर-फेर के साथ एक दूसरी व्यवस्था थी जिसे महालवाड़ी व्यवस्था का नाम दिया गया। चिर स्थायी प्रबन्ध वाले क्षेत्रों को छोड़कर आर. सी. दत्त के शब्दों में "भू-राजस्व की दर इतनी ऊंची थी कि तरक्की के लिए धन लगाने के लिए कुछ नहीं बचता था। बंगाल के चिर स्थायी प्रबन्ध वाले क्षेत्रों में माल गुजारी जमीन की कुल उपज के 11% से कुछ ही ऊपर था। अस्थायी वाले गुजरात में भू-राजस्व की 20% था। यही माल गुजारी उत्तर भारत में 50% थी। मध्य प्रदेश में व्यवहारिक रूप से 79% थी। बाम्बे और मद्रास में जहां रैयतवाड़ी प्रथा थी, वहां व्यवस्था और भी अधिक खराब थी और जब-जब नई व्यवस्था होती थी तो कर और भी बढ़ा दिये जाते थे। आर. सी. दत्त के शब्दों में कर का भार हमेशा बढ़ता जाता था और इन प्रान्तों में खेती की खर्च ओर सरकार का लगान देने के बाद कोई अतिरिक्त उपज नहीं बच जाती थी। इसका परिणाम पीछे बहुत भयानक हुआ। उद्योग-धन्धे और व्यापार तो पहले ही नष्ट हो चुके थे। जीवनयापन का साधन केवल कृषि ही थी और यहां पर उद्योग धन्धों के नष्ट होने के कारण कृषि पर भार बढ़ गया था। इसलिए उन्नीसवीं शताब्दी के उतरार्द्ध में इन क्षेत्रों में बार-बार अकाल पड़ने लगे थे, और लोग मरने लगे थे। यही भारत वर्ष में ब्रिटिश शासन का कच्चा चिट्ठा था।

18.7 उद्योग, वाणिज्य तथा कृषि का ह्रास :

पिछले पृष्ठों में बार-बार यह चर्चा हुई है कि अंग्रेज कम्पनी अपने आर्थिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए आयी थी, उनकी वाणिज्यिक नीति ही यह रही कि वे अपने व्यापार को बढ़ावा दे और उनकी इस नीति के कारण और भेद-भावपूर्ण चूंगी नीति के कारण भारतीय व्यापार भी नष्ट हुआ और भारतीय कुटीर उद्यागों का भी नाश हुआ। अपने राजनीतिक प्रभाव का व्यवहार कर कम्पनी की सरकार ने भारतीय उद्योग धंधों का गला घोंट दिया यह तो उन्होंने वाणिज्यिक के युग (ऐज ऐट मरकनटिलिज्म) में किया। फिर भारत के आर्थिक शोषण से इंग्लैण्ड की औद्योगिक क्रांति को बल मिला। और भारत में नये-उद्योग-धन्धों को पनपने नहीं दिया गया। कम्पनी के शासन के बाद भारत में एक नये युग का सूत्रपात हुआ वह नये साम्राज्यवाद का युग था। इसे वित्तीय पूंजीवाद (फिनेन्शियल कैपीटलिज्म) का भी युग कहते हैं। भारत की आर्थिक दशा दिनों-दिन बिगड़ती गयी। इन तीनों युगों को शोषण नीति का आर. सी. दत्त ने अपने आधुनिक भारत की दोनों जिल्दों में बड़ा ही विशद् वर्णन किया है।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारतीय कृषि का वाणिज्यिककरण होने लगा और भारतीय व्यवस्था का बहुत तेजी से औपनिवेशिकरण

होने लगा। भारत ब्रिटेन के लिए कच्चा माल पैदा करने वाला रह गया और उसके उद्योगों की खपत का बाजार हो गया। भारतीय कृषक अब ऐसी चीजों की उपज भी करने लगे जिनको बाहर ही भेजा जाने लगा। खाद्य सामग्रियों की उपज में कमी आयी। इससे भी इस युग में बार-बार अकाल पड़ने लगे।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि भारतीय कुटीर उद्योग, व्यापार और कृषि का ह्रास हुआ; और भारत की गरीबी असहनीय हो गयी।

18.8 यातायात के साधन (रेलवे, सड़क तथा सिंचाई) की असंतुलित व्यवस्था :

अंग्रेजी शासन के विनाशकारी स्वरूप का चित्र आर. सी. दत्त ने यातायात के साधनों के विकास के सिलसिले में भी खींचा है। भारत जैसे कृषि प्रधान देश में रेल पथ से सिंचाई के साधनों को बढ़ाने की बहुत अधिक आवश्यकता थी। मगर सिंचाई पर बहुत कम धन दिया गया। फिर रेल पथ का निर्माण भी सरकार के हित को भी दृष्टि में रखकर किया गया। रेल पथ को बड़े-बड़े व्यापार केन्द्रों से जोड़ दिया गया ताकि भारत का कच्चा माल बाहर जा सके और वहां से तैयार माल आसानी से देश के भीतरी भागों में पहुंचाया जा सके। फिर रेल पथों से अंग्रेजों के दृष्टिकोण से सामरिक महत्व के केन्द्रों को जोड़ दिया गया ताकि 1857 की स्थिति पैदा होने पर उसे आसानी से कुचला जा सके। रेल पथ निर्माण के समय जल के स्वाभाविक बहाव को भी ध्यान में नहीं रखा गया। जिससे पीछे बड़ी हानि हुई। इससे न तो जनता की आवश्यकताओं की पूर्ति हुई और न इसके निर्माण के लिए जनता में धन था। इसलिए सरकार ने गारंटिड कम्पनियों को न्यूनतम लाभांश का आश्वासन देकर रेल पथ निर्माण को प्रोत्साहन दिया। इस खर्च का सारा बोझ भारतीय जनता पर पड़ा, और वित्तीय शोषण से कराह रही जनता के ऊपर यह अतिरिक्त भार बढ़ा।

कहना नहीं होगा कि सरकार की यही नीति पथ-निर्माण के क्षेत्र में थी। यहां भी अंग्रेज व्यापारियों, वित्तीय निवेशकों और साम्राज्य के हित को ही सामने रखकर पूंजी लगायी गयी। भारतीयों की दशा में कोई सुधार नहीं हुआ बल्कि उनकी दशा और भी बिगड़ती गयी।

18.9 सारांश :

पिछले पृष्ठों में हम आर. सी. दत्त एवं दादाभाई नौरोजी दोनों ही के विचारों और पुस्तकों का विवेचन कर चुके हैं। पश्चिमी इतिहासकारों ने ही आधुनिक आधार पर भारत का इतिहास लिखना शुरू किया, मगर वे इतिहासकार चाहे उदार हो, अनुदार हों, दार्शनिक दृष्टिकोण वाले हों अथवा वस्तुनिष्ठ हों एक अर्थ में वे सभी एकमत थे कि भारतीय संस्कृतिहीन थी एवं भारत और पूर्वी देशों की तरह ही निरंकुशता का शिकार था, कि भारत में अंग्रेजों के पहले एकीकृत

न नहीं था कि भारत को पश्चिम की रोशनी की आवश्यकताओं और पश्चिमी शिक्षा से ही भारत का उद्धार हो सकता था कि ब्रिटिश शासन भारत के लिए वरदान था। अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त भारतीयों में इस भावना के विरूद्ध और उन्नीसवीं शताब्दी के उतरार्द्ध में प्रतिक्रिया का एक ऐसा वर्ग भी तैयार हुआ, जिसने आर्थिक दृष्टिकोण से अंग्रेजी शासन को बड़ा ही अनष्टिकारी और घोर निराशाजनक बताया। ऐसे विद्वानों में आर. सी. दत्त और दादाभाई नौरोजी प्रमुख है। दोनों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से अंग्रेजी शासन की कटु आलोचना की, उसके खोखले दावों का पर्दाफाश किया और यह स्थापित करने कि कोशिश की कि भूखे भारत से अंग्रेजी साम्राज्य को हानि होगी; और भारत की गरीबी इग्लैण्ड के लिए प्राणघातक होगी। उनकी विचारधारा आर्थिक राष्ट्रवाद (इकोनोमिक नेशनलीज्म) के नाम से जानी जाती है। इन दोनों इतिहासकारों ने बड़ा ही तर्कपूर्ण और युक्तिसंगत ढंग से ब्रिटिश शासन के खोखलेपन को उजागर किया, और साम्राज्यवाद के नैतिक आधार को समाप्त कर दिया।

18.10 बोध प्रश्न –

1. स्वतंत्रता पूर्व भारत में राष्ट्रवादी इतिहास लेखन की त्रुटियों को संक्षेप में समझायें।
2. आर. सी. दत्त द्वारा भारतीय भू-राजस्व पर किये गए सर्वेक्षण पर अपना मत लगभग दो सौ शब्दों में व्यक्त कीजिए?
3. दादाभाई नौरोजी की दृष्टि में भारत में ब्रिटिश आर्थिक नीति की सबसे बड़ी कमजोरी क्या थी, इस पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए?
4. आर्थिक शोषण (ईकोनामी ट्रेन) से आप क्या समझते हैं? इस पर आर. सी. दत्त और दादाभाई नौरोजी के विचारों को तीन सौ शब्दों में स्पष्ट कीजिए?
5. अंग्रेजों की रेल पथ निर्माण नीति क्या भारत के हित में थी? अथवा ब्रिटिश साम्राज्यवाद के लाभ को दृष्टि में रखकर दो सौ शब्दों में अपने विचार स्पष्ट करें?

MAHY-05

उ० प्र० राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

एम. ए. पाठ्यक्रम

(इतिहास)

खण्ड–5

इकाई संख्या	पृष्ठ संख्या
इकाई 19 भारतीय इतिहास लेखन में अधुनातन वृत्तियाँ- परम्परावादी, सम्प्रदायवादी, राष्ट्रवादी तथा मार्क्सवादी	3-14
इकाई 20 भारतीय लोक साहित्य का ऐतिहासिक दृष्टि से महत्व	15-24
इकाई 21 इतिहास में तथ्य	25-38
इकाई 22 इतिहास में वस्तुनिष्ठता	39-51
इकाई 23 इतिहास में कारण की अवधारणा	52-69

इकाई 19

भारतीय इतिहास लेखन में अधुनातन प्रवृत्तियाँ—परम्परावादी, सम्प्रदायवादी, राष्ट्रवादी तथा मार्क्सवादी

इकाई की रूपरेखा

19.0 उद्देश्य

19.1 प्रस्तावना

19.2 भारतीय इतिहास लेखन में अधुनातन प्रवृत्तियाँ

19.3 परम्परावादी इतिहास लेखन

19.4 सम्प्रदायवादी इतिहास लेखन

19.5 राष्ट्रवादी इतिहास लेखन

19.6 मार्क्सवादी इतिहास लेखन

19.7 सारांश

19.8 बोध प्रश्न और उनके उत्तर

19.0 उद्देश्य

- इस इकाई में आप अध्ययन करेंगे कि भारत वर्ष में अधुनातन इतिहास लेखन की प्रवृत्तियाँ क्या-क्या हैं?
- परम्परावादी इतिहास लेखन क्या है और इसकी स्थिति क्या है?
- सम्प्रदायवादी इतिहास लेखन किस तरह विकसित हुआ और इसकी वर्तमान स्थिति क्या है?
- राष्ट्रवादी इतिहास लेखन का अभी स्वरूप क्या है और इसमें और पूर्व राष्ट्रवादी इतिहास लेखन में क्या अंतर है?
- मार्क्सवादी इतिहास लेखन से भारतीय मार्क्सवादी इतिहास लेखन में क्या विशेषता है?

19.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में हम पढ़ चुके हैं कि किस तरह यूरोपीय इतिहास लेखकों की पुस्तकों में प्राचीन भारतीय जीवन और संस्कृति पर उपेक्षापूर्ण दृष्टि रखने और कीचड़ उछालने का आधुनिक रूप से शिक्षित भारतीय विद्वानों के मन पर कितना विपरीत असर हुआ और उन्होंने पश्चिमी शिक्षा के प्रभाव में किस तरह इस अनुचित प्रवृत्ति की प्रतिक्रिया मे उग्र राष्ट्रवादी भावनाओं को जन्म दिया। उग्र राष्ट्रवाद की लहर मे किस तरह भारतीय विद्वान अति दृढ़ संकल्प के साथ प्रतिक्रियावादी पश्चिमी विचारों के प्रत्युत्तर में भारतीय जीवन की श्रेष्ठता को बढ़ा-चढ़ा कर कहने लगे। अब हम यह देखेंगे कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद उस दिशा में क्या परिवर्तन हुए। आर्थिक राष्ट्रवाद के समर्थकों में आर० सी० दत्त और दादाभाई नौरोजी ने जो अकाट्य तर्क प्रस्तुत किये और किस तरह अंग्रेजी साम्राज्यवाद की नैतिक नींव की जड़ को हिला दिया यह भी हम देख चुके हैं। यहाँ हम यह पायेंगे कि भारतीय इतिहास लेखन धीरे-धीरे अधिक संतुलित हो गया, किन्तु यह बात राष्ट्रीय इतिहास लेखन और परंपरावादी इतिहास पर ही लागू होती है। संप्रदायवादी इतिहास लेखन और मार्क्सवादी इतिहास लेखन में तो नई शक्ति दृष्टिगोचर होती है। इन सभी विषयों पर हम यहाँ विस्तारपूर्वक विचार करेंगे।

19.2 भारतीय इतिहास लेखन में अधुनातन प्रवृत्तियाँ

जैसे-जैसे भारत अधिक से अधिक शिक्षित होता गया उच्च शिक्षा प्राप्त नवयुवकों की संख्या बढ़ने लगी तथा स्वायत शासन की संभावनायें बढ़ने लगीं। वैसे ही वैसे इस विशाल देश का प्रत्येक क्षेत्र, प्रत्येक जन समुदाय और प्रत्येक वर्ग अपनी अस्मिता की खोज में लीन हो गया।

स्पष्ट है कि ये सभी तत्व अतीत में अपने अस्तित्व का औचित्य ढूढ़ने लगे और फलतः इतिहास की व्याख्या अपने अपने दृष्टिकोण से करने लगे। पाठ्य पुस्तकें भी पहले की अपेक्षा अब अधिक खोजपूर्ण और तथ्यपूर्ण होने लगीं। किन्तु इन सभी प्रवृत्तियों के बीज हमें इस युग की पूर्व-पीठिका में ही मिलेंगे।

19.3 परम्परावादी इतिहास लेखन

इस प्रयास में हम सबसे पहले भारत में परम्परावादी इतिहास लेखन पर विचार करेंगे। पूर्व में हम यूरोपीय इतिहास लेखन पर विचार कर चुके हैं कि यूरोप की तुलना में भारत में इतिहास लेखन की परम्परा बहुत ही दुर्बल थी। यों उन्नीसवीं शताब्दी में पूरे यूरोप में भी इतिहास लेखन की विभिन्न प्रवृत्तियों पर बड़ा संघर्ष था। किन्तु वस्तुनिष्ठता और तथ्यों के अभिलेखागारों के आधार पर निरूपण के दृष्टिकोण से जर्मन इतिहासकार रैंके का स्थान सर्वोपरि है। प्रायः उसे प्रथम आधुनिक इतिहासकार कहा जाता है। उसकी गंभीर विद्वता का और शिक्षण विधि का गहरा प्रभाव केवल जर्मनी के शैक्षिक जीवन पर ही नहीं पड़ा, बल्कि यूरोप और अमेरिका की शिक्षा पर भी पड़ा। भारतीय शैक्षिक जीवन पर इंग्लैण्ड की छाया के फलस्वरूप भारतीय इतिहास लेखन पर भी रैंके का प्रभाव पड़ा। उसने ऐतिहासिक भ्रांतियों के विरुद्ध अनवरत संघर्ष किया। उसने आश्चर्यजनक तटस्थता, अतिदुर्लभ वस्तुनिष्ठता और सच्चाई के लिए घोर आदर का परिचय दिया। उसका मिथक से सत्य की ओर अधिक आकर्षण था। जिस तरह से घटनायें घटी उसी रूप से उनको स्थापित करने का साधन स्थापित किया। उसके उदाहरण और शिक्षा से किसी के लिए तत्कालीन इतिहास लेखन प्रत्यक्षदर्शी साक्षी के कथन और अभिलेखागार में सध्य तैयार किये हुए सच्चे दस्तावेज के बिना असंभव था। वह किसी भी प्रचलित इतिहास लेखन के सिद्धान्त जैसे ह्रीगेलवाद, उदारवाद, रोमानीवाद और प्रत्यक्षवाद (पोजिटिभिज्म) के अपने रास्ते से मुकरने वाला नहीं था। उसने राष्ट्रभक्ति की विकृतियों का खुलकर विरोध किया। वह प्रथम व्यक्ति था जिसने स्रोतों के आलोचनात्मक अध्ययन की विधि का प्रयोग किया। उसने ऐतिहासिक स्रोतों की सूक्ष्म आलोचना के आधार पर इतिहास लेखन की नई शैली स्थापित की जिससे आलोचनात्मक आधुनिक इतिहास लेखन की प्रथा का उद्भव हुआ। रैंके ने सिद्ध कर दिया कि स्रोत रूप में इतिहास की सामान्य पुस्तकें करीब करीब बेकार थीं, और इस तरह के अनुपयोगी तथ्यों को रोकने के लिए इतिहासकार को अभिलेखागारों और दस्तावेजों का ही व्यवहार करना चाहिए।

ऐतिहासिक घटनाएँ जिस तरह से घटी थीं, उसी तरह से उनको समझने के उद्देश्य से वस्तुनिष्ठ अनुसंधान ही उसका लक्ष्य था। इस तरह के लक्ष्य की प्राप्ति में किसी तरह के पूर्वाग्रह अथवा मूल्यांकन की आवश्यकता नहीं थी। रैंके की कृतियों में राजनीतिक इतिहास ही शीर्ष स्थान पर था जबकि सांस्कृतिक और आर्थिक इतिहास पृष्ठभूमि में ही थे। रैंके की दृष्टि में इतिहास का कोई दूसरा उद्देश्य नहीं था बल्कि इतिहास स्वयं अपना उद्देश्य था।

रैंके का विश्वास था कि समकालीनों के द्वारा लिखे गये इतिहास ग्रंथों का स्रोत के रूप में व्यवहार करना दोषपूर्ण है, क्योंकि इसमें वैयक्तिक और राजनीतिक द्वेष हो सकते थे, और इसलिए इनका व्यवहार सावधानी से करना चाहिए। अतीत पर लिखे गये इतिहास ग्रंथों को स्रोत के रूप में स्वीकार करने से अच्छा है कि राज्य के मौलिक दस्तावेज,

दैनिदिनी, पत्राचार, सरकारी रिर्पोट और दूसरे मौलिक चीजों का व्यवहार करे, अर्थात् ऐतिहासिक अनुसंधान के लिए दस्तावेज ही स्रेत हों। वास्तव में रैंके राजनैतिक और कूटनीतिक इतिहासकार हैं। भारतवर्ष में जो पाठ्य-पुस्तकें लिखी गयी थीं वे कुछ इसी आधार पर थीं और बहुत दिनों तक इतिहास की पाठ्य-पुस्तकें भारतीय महाविद्यालयों में इसी तरह की रहीं। रैंके के आदेशों के अनुसार इतिहास लिखने वालों को जो उग्र राष्ट्रवाद की धारा में बह नहीं गये थे उन्होंने रैंके की परम्परा को निभाया, जैसे आर० जी० भंडारकर ने। भंडारकर ने इतिहास लेखन में आलोचनात्मक और विश्लेषणात्मक सिद्धान्तों का व्यवहार किया। उन्होंने बहुत ही सावधानी से परीक्षण करने के बाद विभिन्न प्रकार के स्रोतों का व्यवहार किया और उससे तर्कसंगत और वैज्ञानिक उपसंहारों पर पहुँचे और उसे बहुत ही सहज और सुन्दर ढंग से व्यक्त किया। भंडारकर के लेखनों में पूर्ण ज्ञान, सर्वज्ञता, वस्तुनिष्ठता और खुलेपन का समिश्रण है। उनके लेखों में ब्रिटिश विरोधी भावनायें नहीं थीं बल्कि वे ब्रिटेन और जर्मनी के बड़े प्रशंसक थे। ऐतिहासिक तथ्यों को निरूपित करने की पश्चिमी विधि को उन्होंने सराहा। शायद वे पहले भारतीय थे जिन्होंने रैंके के तरीके का भारतीय समस्याओं के समाधान में प्रयोग किया। उनका स्पष्ट कहना था कि अपने देश या नस्ल को उज्ज्वल दिखाने की प्रवृत्ति से इतिहासकारों को बचना चाहिए और उसमें दूसरे किसी देश या नस्ल के प्रति द्वेष की भावना भी नहीं रखनी चाहिए। उसका उद्देश्य केवल शुष्क सत्य होना चाहिए। इतिहासकारों को जज होना चाहिए न कि अधिवक्ता। वे न तो विन्सेंट स्मिथ के स्वर को पसंद करते थे जिसमें पश्चिमी चीजों की श्रेष्ठता को सिद्ध करने की बू आती थी, न उन भारतीय इतिहासकारों को पसंद करते थे जो पूर्वी चीजों के लिए श्रेष्ठता का दावा करते थे। स्रोतों की जाँच पड़ताल में उन्होंने बड़ी ईमानदारी से आलोचनात्मक पद्धति का उपयोग किया और कुछ माने में तो प्राचीन भारत के यूरोपीय इतिहासकारों से भी वे अधिक आलोचनात्मक दृष्टि रखते थे। भंडारकर उन कुछ एक भारतीय इतिहासकारों में से हैं जिन्होंने सजगता से वस्तुनिष्ठ होने की कोशिश की और इसमें उनको सफलता मिली। निश्चित ही वे भारत के रैंके थे।

जिस समय राष्ट्रवाद के जोश से सारा वातावरण गूँज रहा था और इतिहासकार भारत के अतीत को अधिक उज्ज्वल चित्रित करने की प्रतिस्पद्धा कर रहे थे उस समय वस्तुनिष्ठता की आवाज सुनना कठिन था। लेकिन एच० सी० राय चौधरी एक अपवाद हैं, उनकी पुस्तक "प्राचीन भारत का राजनीतिक इतिहास" बहुत दृष्टियों से मूल्यवान है। शुष्क सत्य को अपना अंतिम लक्ष्य बनाने में वे भंडारकर से भी आगे थे। तटस्थता के दृष्टिकोण से उनका इतिहास आदर्श था। केवल आँकड़ों को एकत्रित करने में ही नहीं बल्कि उन आँकड़ों की वस्तुनिष्ठ समीक्षा करने में भी।

इस श्रेणी में और भी बहुत से इतिहासकारों का नाम लिया जा सकता है। परन्तु भारत वर्ष के वर्तमान परिवेश में परम्परावादी इतिहास लेखन के लिए उपयुक्त अवसर नहीं मालूम पड़ता है। नये भारत की

बहुत सी समस्यायें हैं, साम्प्रदायिक तनाव बढ़ रहा है और इसलिए अभी देश के सामने राष्ट्रीयता को और अधिक समेकित करने की आवश्यकता है। साम्प्रदायिक प्रवृत्तियाँ जो पहले दबी हुई थीं अब अधिक उभर कर सामने आ रही हैं और इसीलिए साम्प्रदायिक इतिहास लेखन की प्रवृत्ति भी बहुत स्पष्ट मालूम पड़ती है।

19.4 सम्प्रदायवादी इतिहास लेखन

इतिहास लेखन के क्षेत्र में भारत में हिन्दुओं के विपरीत मुसलमानों के इतिहास लेखन की अपनी परंपरा थी। यह दूसरी बात है कि इतिहास लेखन की पद्धति जो सदियों से मुसलमानों ने स्वीकार कर ली थी वह अपरिवर्तित रही। हालांकि इसी युग में पश्चिमी इतिहास लेखन पद्धति इस तरह के हलचल में थी कि वह लगभग हर दशक या दो दशक में बदल रही थी और पश्चिमी यूरोप के प्रत्येक भाग में एक नयी विचारधारा को विकसित कर रही थी। फलतः सम्पूर्ण उन्नीसवीं सदी को इतिहास की सदी के रूप में जाना गया जो पश्चिमी विद्वानों ने अपनी नयी अर्जित राजनीतिक अन्तर्दृष्टि को भारतीय इतिहास के परिप्रेक्ष्य में लगाया और अपने सतत् परिवर्तनशील दर्शन के प्रकाश में मुसलमान शासन का लेखा-जोखा किया तो मुसलमान इससे अप्रभावित नहीं रह सके। फिर मुसलमानी-शासन पर ब्रिटिश इतिहासकारों ने अपने आक्रमण की तीव्रता उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम भाग में बढ़ा दी मुसलमान विद्वान भी युद्धभूमि में आ गये। फिर भी यह स्थिति बीसवीं शदी के तीसरे या दूसरे दशक तक नहीं रही। यद्यपि हिन्दु विद्वानों ने यूरोपीयन लेखकों द्वारा उन्नीसवीं शताब्दी के पिछले भाग में ही लगाये गये आरोपों को अस्वीकारने की चुनौती को स्वीकार कर लिया, कुछ विशेष कारणों के चलते मुसलमान लेखक इस मैदान में तीस या चालीस वर्ष बाद में आये। भारत पर अंग्रेज़ों द्वारा विजय से हिन्दुओं से बहुत अधिक मुसलमानों का मनोबल नष्ट हो गया। भारत के मुसलमानों के लिए यह अप्रतिम व्यथा थी जिससे सदियों से बनायी हुई उनकी सारी चीज नष्ट हो गयी थी। राजनीतिक शक्ति के ह्रास, आर्थिक व्यवस्था की हानि, प्रशासनिक कार्यों की कमी, सामाजिक गरिमा की क्षति और सांस्कृतिक अधोगति के कारण मुसलमान अति निराशा के गर्त में डूब गये। अधिक शक्तिशाली सैनिक कौशल और तोप के कारण युद्ध में मुसलमानों का मान-मर्दन हुआ, हर जगह पश्चिम की चतुराईपूर्ण राजनय के कारण लगभग सभी जगह वे अपने राजनीतिक अधिकार को खो बैठे, मुगल साम्राज्य अब अतीत की चीज हो गयी थी, अंग्रेजों के अंदर कुछ देशी शासक तो ब्रिटिश के अंदर पेंशन पानेवाले नबाव हो गये थे। जमीन की नयी बंदोवस्ती के कारण मुसलमान भूमि पर के अपने अधिकार से भी वंचित हो गये थे। राज्य के ऊँचे-ऊँचे पदों से वे अब महरूम हो गये थे। सैनिक की बहाली में ब्रिटिश रिक्रूटमेंट के तरीके से सेना में भी उनकी नियुक्ति का अवसर कम हो गया था। मैकॉले के पैनल कोड के कारण मुसलमानों का कानून देश से समाप्त हो गया था। इसके शैक्षणिक सुधारों के कारण पर्सियन भाषा भी अब पदच्युत हो गयी थी और इसका स्थान अंग्रेजी ने ले लिया था, मुसलमानों के स्वाभिमान उनकी अनुदारता उनके

कट्टरपन उनकी आरामतलबी और उनके नेतापन के अभावपन के कारण वे अपने को नयी परिस्थिति में ढ़ालने से और पश्चिमी कला और विज्ञान यांत्रिकी में अपने को सम्मिलित करने को लाचार थे। जहाँ हिन्दुओं ने राजा राममोहन राय के समय से ही अपने बीच सांस्कृतिक जागरण लाये थे मुसलमान लोग इस चोट से विचलित होकर अपनी संकीर्णता में घिर गये थे और मरते हुए व्यक्ति के रूप में अपने को भाग्य पर छोड़ दिया। राम मोहन राय के पचास वर्षों के बाद सर सैयद अहमद खाँ ने मुसलमानों को नया जीवनदान दिया। दुनियाँ की वास्तविकता से उनका सामना कराया और उनको अंग्रेजों की तरह विरोधी नीति छोड़ने को मजबूर किया। उनको अंग्रेजी भाषा, पश्चिमी कला और विज्ञान सीखने को मजबूर किया। इस तरह एक नये नैतिक उत्थान के लिए नया धर्मवाद भी दिया।

फिर सैयद अहमद ने ही मुसलमानों को पश्चिम की ऐतिहासिक विद्वता से परिचय कराया। इस क्षेत्र में वे खुद अनुसंधानकर्त्ता थे और 1846 में इन्होंने "तारीखे हिन्दुस्तान" और 1847 में "जामेजम" की रचना की जो अमीर तैमूर से बहादुरशाह तक का मुगल इतिहास है। उनकी पुस्तक असारे सनादिद (1847) एक महान कृति थी जिसमें इन्होंने सम्पूर्ण मुस्लिम वास्तुकला का सर्वेक्षण किया था। यह वही कृति थी जिसने पश्चिमी विद्वानों द्वारा कला के इतिहास की पूर्व सूचना दी। सर सैयद का दृष्टिकोण आधुनिक था। इन्होंने इतिहास लेखन में पश्चिमी पद्धति का प्रयोग किया और वे अद्भुत विद्वान थे, जो धर्मशास्त्र, दर्शन, इतिहास और साहित्य में बड़े ही मेधावी थे। समाज सुधारक के रूप में वे व्यावहारिक भी थे। एक शिक्षाविद् के साथ राजनैतिक नेता भी थे। वे आधुनिक उर्दू गद्य के पिता थे और अलीगढ़ विचारधारा के संस्थापक भी थे। मुसलमानों के पुनरुद्धार के जनक थे। वे विलक्षण पुरुष थे। उनका हृदय बड़ा ही संवेदनशील तथा उनमें सुधार का उत्साह था। उनमें प्रगतिशील मस्तिष्क , पैनी बुद्धि तथा संगठन की शक्ति थी। उन्होंने मुसलमानों में आशा, विश्वास और आदर का जीवन संचार किया जिसे वे (मुसलमान) खो चुके थे। उन्होंने अपने समान विचार वालों की मंडली तैयार की जिन्होंने उनके जलाये दीप को प्रज्ज्वलित रखा। जकाउल्ला के सहयोग से इन्होंने तासीखे हिन्दुस्तान नामक किताब लिखी। विविलिथे का इंडिका सीरीज का सम्पादन किया जिसमें मध्यकाल में लिखे गये फारसी इतिहास संग्रहित है। संक्षेप में सर सैयद अहमद ने एक बेहद टूटे हुए नाव की धारा के बीच में मरम्मत की और बढ़ती हुई मुख्य धारा के साथ नाव चलती रही। मुसलमानों के इतिहास बोध में एक नया दृष्टिकोण लाना था। इस समय सर सैयद के बहुत से सहयोगी थे जो नयी रोशनी देने के लिए काफी थे। वे भारत की दूर की घटनाओं में अधिक रुचि लेते थे। खुदावक्श की "हिस्ट्री ऑफ इस्लामिक सिविलाइजेशन" और अमीर अली की "हिस्ट्री ऑफ स्क्रीणस और स्प्रिट ऑफ इस्लाम" में इस्लाम का सम्बन्ध कला, विज्ञान, साहित्य और दर्शन में भारत के बाहर से अधिक था। सर सैयद अहमद के नेतृत्व के बावजूद प्रथम विश्व युद्ध तक मुसलमान विज्ञान इस्लाम के विरुद्ध लगे पश्चिमी

आरोपों को नकारने में अधिक रुचि लेते थे वनिस्पत भारत में मुसलमान शासन के विरुद्ध पश्चिमी अभियोगों का उत्तर देने में। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद ही इन्होंने भारत में मुस्लिम सम्प्रदाय के लिए राजनीतिक अस्त्र के रूप में इतिहास के महत्व को भारत की राजनीति में उनके पृथक पहचान के रूप में अनुभव किया।

कुछ दूसरे ऐसे कारण भी थे जिनके कारण मुसलमानों ने इलियट व्हीलर, मेन और विन्सेंट स्मिथ जैसे विद्वानों के विचारों के विरुद्ध संघर्ष नहीं किया। सर सैयद अहमद ने उनके और अंग्रेजों के बीच कुछ समझौता स्थापित कर दिया था और यह तब तक रहा जब तक कि मुसलमानों का अपना घर टीक न हो जाय। इसलिए इस समझौते के तुरंत बाद मुसलमान अंग्रेजों के विरुद्ध संघर्ष में नहीं खींच जाना चाहते थे क्योंकि अभी वे (अंग्रेजों) मुसलमानों को संतुष्ट करने की मनः स्थिति में थे। ताकि वे अपना राजनीतिक संतुलन स्थापित कर सके जो अब तक बहुत अधिक हिन्दुओं के पक्ष में रहा था और जिसे वे अब साम्राज्यवादियों के स्वार्थ में बदलने की आवश्यकता समझते थे। अब जबकि काँग्रेस के उग्रवादी और इतिहास के पुनरुत्थानवादी अंग्रेजों और मुसलमानों दोनों के विरुद्ध थे तो समय की पुकार यह थी कि मुसलमान अंग्रेजों की कटु आलोचना से दूर रहे। फलस्वरूप अब वे इस्लामी इतिहास के कम हानिकारक पक्ष का इतिहास लिखें जिससे भारत में मुसलमानों के दुखती रगों को सुकून पहुँचे। दूसरा एक पक्ष यह था कि सर सैयद जागरण के क्षेत्र में मुसलमानों से हिन्दुओं के बहुत आगे निकल जाने के कारण और उनके सर्वांगीण विकास के कारण चाहते थे कि मुसलमान तब तक संघर्ष का रास्ता न पकड़े जब तक मुसलमान प्रगति के मार्ग पर हिन्दुओं के समकक्ष नहीं हो जाये। इस सिलसिले में इतिहास लेखन के पक्ष में एक और कमी थी कि भारत में मुसलमानों के विस्तार के विरुद्ध हिन्दुओं का कठिन संघर्ष हुआ था उसको बहुत उजागर करने का प्रयास किया गया था। यह सत्य है कि तुर्क-अफगान-ईरानी और मुगल इन सभी आक्रमणकारियों ने अपनी शक्ति को सुदृढ़ करने के लिए बहुत अधिक संघर्ष किया था किन्तु इस पक्ष पर अधिक जोर देना भविष्य के लिए हानिकारक हुआ। पश्चिमी विद्वानों के विचारों के विरुद्ध संघर्ष के सिलसिले में तथ्यों को तोड़ना-मरोड़ना एक बात है मगर अपने ही देशवासियों के विरुद्ध इतिहास के सत्यों को नकारना ठीक नहीं था। पहले अर्थ में तो इसका कुछ नैतिक आधार भी था कि पश्चिम ने कीचड़ उछालने का काम शुरू कर दिया था कि उसने भारत पर आधिपत्य स्थापित किया था और आर्थिक शोषण को इस सीमा तक पहुँचा दिया था कि जनता बिल्कुल निर्धन और तबाह हो गयी थी। इसीलिए विदेशियों के विरुद्ध इतिहास के साथ छेड़खानी भी क्षम्य हो सकती थी। लेकिन अपने इन देशवासियों के साथ जो इन्हीं के समान पीड़ित थे और शायद कुछ क्षेत्र में हिन्दुओं से अधिक पीड़ित थे इतिहासकारों को अधिक वस्तुनिष्ठ और सहानुभूतिपूर्ण होना चाहिए था। मगर ऐसा हुआ नहीं टॉड के "एनालस एण्ड एन्टीक्यूटिस ऑफ राजस्थान" को प्रधान स्रोत बनाकर इतिहासकारों ने राजपूतों और मुसलमानों के बीच दीर्घकालीन संघर्षों का अति रंजित विवरण दिया। जिसमें प्रायः सदा राजपूतों को

विजयी बताया गया हर राजपूत योद्धा को शूरवीर के रूप में और उसके विरोधी को शैतान के रूप में दिखलाया गया। उसी तरह से मराठों के अभियानों को भी दिखलाया गया जिससे हिन्दुओं को बड़ी प्रसन्नता होती थी और मुसलमानों को बड़ा सदमा। ये इतिहसकार मराठों के काले कारनामों को भूल गये। इसी तरह से सिक्ख इतिहास की एक ऐसी रूप-रेखा तैयार की गयी, जिसमें राजपूतों, मराठों और सिक्खों को राष्ट्रीय उत्थान का चमकता सितारा दिखाया गया और इन्हीं विचारों को नाटककार, उपन्यासकार और कवियों ने चुन लिया और अपनी कल्पना का रंग चढ़ा कर उस स्थिति को पैदा किया जिसमें भाई-भाई एक दूसरे की गरदन काटने लगे। कहा जा सकता है कि भारत विभाजन के लिए केवल जिन्ना ही उत्तरदायी नहीं थे, बल्कि वे इतिहासकार भी जो इन सम्प्रदायिक भावनाओं के जनक थे, कहा जा सकता है इन्होंने बीज बोया अंग्रेजों ने पौधों को सींचा और जिन्ना ने फसल काटी।

इसका यह अर्थ नहीं है कि मुसलमान दोषी नहीं थे। हिन्दु और मुसलमान दोनों ही दोषी थे। मुसलमान इतिहासकार भी बदला लेने के लोभ का संवरण नहीं कर सके और हिन्दुओं से कम विचारशील होने के कारण वे अपने आक्रमण में अधिक उग्र थे। इतिहास अब बौद्धिक विकास के बदले युद्धक्षेत्र हो गया। जिसमें हिन्दू और मुसलमान दोनों एक दूसरे पर अपनी श्रेष्ठता स्थापित करने के लिए गुथ्मगुत्थी करने लगे और पारस्परिक समानहित के असीमित क्षेत्र को भूल गये। इतिहास की भी हानि हुई और वह अपना उद्देश्य भूल कर सतह पर ही कुछ ऐसे सत्यों को पाने की कोशिश करने लगा जिससे हिन्दु और मुसलमान इतिहासकार एक दूसरे पर चोट कर सके और इसका दुखद फल हुआ।

यह कहा जा चुका है कि सर सैयन ने मुसलमानों का ध्यान इस्लामी और धार्मिक इतिहास की ओर आकृष्ट किया था। अब मौलाना अबुलकलाम आजान उनका ध्यान राजनीतिक इतिहास की ओर खींचा। आजाद इतिहासकार नहीं थे। किन्तु उन्होंने अपने पत्र अल-हिलाल के द्वारा मुसलमानों में राजनैतिक चेतना जगायी और इस कौम के बुद्धिजीवियों के बीच सनसनी पैदा कर दी। इन्होंने उनकी राष्ट्रवादी इतिहासकारों की प्रमुख धारा में मिलने के लिए कहा जिससे उनको राष्ट्र की सेवा कर सके और हिन्दु मुसलमान साथ-साथ होकर संयुक्त मोर्चा कायम करें, और अंग्रेजों के इस अभियोग को गलत सिद्ध करें कि भारतीय अभी भी राजनीतिक दृष्टि से अपने राष्ट्र की समस्याओं को सुलझाने में असमर्थ थे। अगर इतिहासकार एक दूसरे पर कीचड़ उछालने के लोभ का संवरण कर पाते तो वे अंग्रेजों की इस चाल को नाकाम कर सकते थे। खिलाफत आंदोलन के समय राष्ट्रीय चेतना अपनी चरमबिंदू पर थी।

मगर इसके बाद मुसलमान इतिहासकारों में एक नया झुकाव परिलक्षित होता है और उनको दोहरे आक्रमण का सामना करना पड़ा। एक तो एलफिस्टन इलियट, डार्सन, लेनपूल, इरविन, विवीरेज, हेग्रविन्सेंट, स्मिथ और मूरलैंड जैसे अंग्रेज इतिहासकारों ने पहले ही उन लोगों के मन में विष पैदा कर दिया था जो अभी भी विश्वास कर सकते

थे कि मध्यकालीन भारत के मुस्लिम शासन में कुछ अच्छाइयां हो सकती थी। दूसरी ओर हिन्दू इतिहासकार थे जिन्होंने हिन्दू संस्कृति की श्रेष्ठता का वकालत का थी, जिसका निहितार्थ यह था कि इस्लामी संस्कृति आत्मिक शक्ति से अधिक पाश्विक बल पर आधारित थी। इन रूझानों का बहुत ही अनिष्टकारी प्रभाव हुआ।

19.5 राष्ट्रवादी इतिहास लेखन

साम्प्रदायिक इतिहास लेखन के विपरीत राष्ट्रवादी इतिहास लेखकों का एक ऐसा भी समूह था जो राष्ट्रीय एकता के तत्वों पर अधिक जोर देता था। भंडारकर और राय चौधरी जैसे संतुलित इतिहासकार भी थे। जिन्होंने मध्ययुग पर कुछ लिखा ही नहीं और जिन लोगों ने इस पर कुछ लिखा जैसे यदुनाथ सरकार, ईश्वरी प्रसाद और सी. वैद्य वे अधिक संतुलित थे। इसलिए मुस्लिम पृथकतावादियों को अधिक प्रिय नहीं थे। खिलाफत के बाद इतिहास लेखन में इसलिए तीन धारायें स्पष्ट परिलक्षित होती है पहली धारा तो उन इतिहासकारों की थी जो राष्ट्रवादी इतिहास की थी और जिसमें बात पर जोर दिया कि जो मुसलमान और हिन्दु दोनों ही के बीच एकता की चीजें थी वे अधिक महत्वपूर्ण थी। बनिस्पत उन चीजों के जिसमें दोनों का साथ नहीं था। दूसरी धारा उन लोगों की थी जो हिन्दु और मुसलमानों को अलग-अलग देखते थे और जिन्होंने यह दिखलाने की प्रयत्न किया कि मुसलमानों की अपनी अलग पहचान थी और इसलिए जो उनका मेल नहीं खाता था। वह अधिक महत्वपूर्ण था। तीसरी धारा ऐसे लोगों की थी जो किसी पूर्वाग्रह से पीड़ित नहीं थे। अधिक वस्तुनिष्ठ थे। मुसलमान इतिहासकारों की विशेष देन मध्य भारत के इतिहास लेखन में है और इसमें सबसे प्रमुख नाम मोठ हबीब का एवं मोहम्मद नजीम, वही हुसैन, जहीरूद्दीन फारूकी, के० एम० अशरफ, एस० एम० जफर, इब्नहसन, आगा, महदीहुसैन, इश्त्याक, हुसैन कुरैशी, हारू खां शेरवानी, ए० बी० एम० हबीबुल्ला, अजीज अहमद, शेख अब्दुल रसीद, मोहम्मद अकबर, सलीम निजामी मुरूल हसन, इरफान हबीब इत्यादि का है। इसमें अधिक इतिहासकार राष्ट्रवादी इतिहासकार है।

मोहम्मद हबीब प्रथम मुस्लिम इतिहासकार है जिन्होंने घोषणा कि की महमूद गजनवी सच्चा मुसलमान नहीं था, क्योंकि उसने घोर इस्लाम विरोधी काम किये थे तथा यह जनश्रुति की वह इस्लाम के लिए लड़ रहा था। काल्पनिक फितूर है। हबीब का कहना था कि इस्लाम उन नैतिक, धार्मिक मूल्यों पर आधारित था जिन पर लालच, आक्रमण, अभिलाषा, तोड-फोड और मोह से कोई संबंध नहीं हैं। उनका कहना था कि ग्यारहवीं शताब्दी होते-होते कोई संबंध नहीं है। उनका कहना था कि ग्यारहवीं शताब्दी होते होते पैगम्बर की धार्मिक अर्न्तदृष्टि समाप्त हो गयी थी और उसका स्थान निहित स्वार्थ, निरकुश राजतंत्र और राजनीतिक तंत्र में आक्रामक झुकाव ने ले लिया था। हबीब ने हिन्दुस्तान के मुसलमानों को यह चेतावनी दी थी कि वे महमूद को सूरमा नहीं समझे, यह नहीं समझे कि मुसलमानों के इतिहास में उसका कोई स्थान था और यह भी न समझे कि वह सच्चा मुसलमान था। उन्होंने

मुसलमानों को चेतावनी दी, कि इस्लाम के असली दुश्मन सदा से ही इसके अपने ही कट्टर अनुगामी रहे हैं।

ऐसे राष्ट्रवादी इतिहासकार भी थे जिन्होंने राष्ट्रीयधारा से मुसलमानों के उदासीन हो जाने के अनिष्टकारी प्रभाव का अनुभव किया, और राष्ट्र के हित में हिन्दु मुस्लिम एकता को स्थापित करने के लिए उनके बीच के मतभेदों को कम करके दिखाने का और उनके बीच की सहमति को बहुत बढ़ा-चढ़ा कर दिखाने का प्रयास किया। इन लोगों ने फूट के बीज बोने वाले शैतान के रूप में अंग्रेजों को ही चित्रित किया। यह दिखलाने की कोशिश की गई कि भारत में मुस्लिम शासन को सम्पूर्ण इतिहास ऐसे युग का इतिहास है जिस समय कोई हिन्दु मुस्लिम समस्या नहीं थी। बल्कि यह समस्या अंग्रेजों के आने के बाद उठी। अंग्रेजों का यह उद्देश्य था कि वे दो भाईयों के बीच फूट डालों और शासन करो का ऐसा खेल खेले कि वे दोनों एक-दूसरे के दुश्मन हो जाये। यह दिखलाया गया कि हिन्दु लोग मुसलमानी शासक में प्रजा नहीं समझे जाते थे। शासक के परिवर्तन के साथ केन्द्र के सतह पर ही व्यक्ति का परिवर्तन हुआ था दूसरी सारी चीजे वैसी ही थी। जैसी सदियों से चली आ रही थी। डॉ० ताराचन्द्र की पुस्तक "इन्फ्युऐंस ऑफ इस्लाम ऑन इण्डियन कल्चर" इसी दिशा में एक प्रयास था। इलाहाबाद में डॉ० ईश्वरी प्रसाद और अनेक ऐसे थे जिन्होंने इस कार्य को आगे बढ़ाया। मगर उनके लेखनों से उन अधिक अनुदारवादी लेखकों का असर खत्म नहीं हुआ जो इतिहास लेखन में सम्प्रदायवादी जहर फैला चुके थे।

19.6 मार्क्सवादी इतिहास लेखन

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतीय इतिहास लेखन अधिक स्वस्थ संतुलित और आलोचनात्मक हो गया। हम पहले देख चुके हैं कि राष्ट्रीय जागरण के साथ ही पूर्वाग्रह ग्रस्त यूरोपीय विद्वानों द्वारा भारतीय इतिहास लेखन के विरूद्ध इस देश के विद्वानों में स्वाभाविक प्रतिक्रिया हुई, और इतिहास लेखन में यहां राष्ट्रीय उन्माद भी परिलक्षित हुआ और इस असंतुलित तत्व के कारण भारतीय इतिहास लेखन में सम्प्रदायवाद के चित्र भी परिलक्षित हुए जो परिस्थितिवश पीछे कलचर भारत विभाजन के लिए उत्तरदायी थे। स्वतंत्रता प्राप्ति और भारत विभाजन के पश्चात भारतीय इतिहास लेखन में दो परस्पर विरोधी तत्व बहुत प्रमुख हो गये एक तो साम्प्रदायिक इतिहास लेखन, जिसकी चर्चा हम कर चुके हैं, और अधिक स्पष्ट और उग्र हो गया, और दूसरा मार्क्सवादी इतिहास लेखन भी अब बहुत मुखर हो गया। प्रारम्भ से ही भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में तरह-तरह के समानता मूलक तत्वों का आभास हमें मिलता है और जैसे जैसे अर्न्तराष्ट्रीय क्षितिज पर मार्क्सवादी दृष्टिकोण अधिक उभरने लगा भारतीय जीवन पर भी मार्क्सवादी प्रभाव अधिक दृष्टिगोचर होने लगा। यह कोई संयोग की बात नहीं है कि 1920 के बाद भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन्र के तीनों चरण (असहयोग और खिलाफत 1920-22) नमक सत्याग्रह (1930-34) और भारत छोडों आन्दोलन (1942) के समय मार्क्सवादी विचारधारा का प्रभाव बढ़ने लगा। स्वभावतः हमारे भारतीय

इतिहास लेखन पर भी मार्क्सवादी प्रभाव उभरने लगा। किन्तु यह लेखन प्रारम्भ में राजनीति में सक्रिय रहने वाले लोगों तक ही सीमित रहा। लेनिन ने कहा था - "कम्यूनिस्ट इंटरनेशनल को बुर्जुआ लोकतांत्रिक आंदोलनों का औपनिवेशिक और पिछड़े हुए देशों में समर्थन करना चाहिए, बशर्ते कि इनमें भविष्य में सर्वहारा दलों को उदय के बीज हो। किन्तु एम० एन० राय का दृष्किोण स्वतंत्रता आन्दोलनों के प्रति नकारात्मक था और यह झुकाव बना रहा। असहयोग आन्दोलन की समाप्ति के बाद एम० एन० राय ने गांधी के नेतृत्व के वर्ग चरित्र की आलोचना की और कहा कि इन्होंने आन्दोलन को दो शक्तियों (जमींदारों और औद्योगिक वर्ग) के सामने बलिदान कर दिया। जुलाई 1924 में इन्होंने लिखा कि गांधीवाद की पराजय अपनी अन्तिम सीमा पर पहुंच गयी है। साथ ही राष्ट्रीय आंदोलन के नेता के रूप में अब गांधी का अंत है। पीछे चलकर ए. आर. देसाई ने अपनी पुस्तक भारतीय राष्ट्रवादकी सामाजिक पृष्ठभूमि में लिखा है कि गांधीवाद ने राष्ट्रीय बुजुर्आ के आवश्यकताओं की हो पूर्ति की क्योंकि इन्होंने जनसंघर्ष द्वारा साम्राज्यवाद पर दवाब डाला और दूसरी चीज यह हुई कि इन्होंने संघर्ष को सीमित कर दिया और दूसरी दिशाओं में मोड़ दिया जिससे यह भारतीय संपत्तिशाली वर्गों के विचार के लिए निरापद हो। ई० एम० एस० नम्बूदरीपाद के विचार इससे मिलते-जुलते है। आर० पी० दत्त ने अपनी पुस्तक आज का भारत में सविनय अवज्ञा आंदोलन में गांधी की भूमिका का वर्णन करते हुए विश्लेषणात्मक शैली अपनाने के स्थान पर गाली गलौज का प्रयोग किया है। और कहा है कि अनगिनत पराजयों का यह नायक, बुजुर्आ वर्ग का सौभाग्य क्रांति की दुर्जेय लहर में जन-आन्दोलन को नेतृत्व अपने हाथ में लेने की तरकीब सोच रहा था। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद मार्क्सवादी इतिहास लेखन में इस तरह के असंतुलित विवेचन बहुत कम होने लगी।

कहना नहीं होगा कि भारतीय इतिहास लेखन में मार्क्सवादी धारा को पांडित्यपूर्ण और संतुलित दिशा देने वाले डी०डी० कौशाम्बी थे। वे अदभुतमंधा के धनी थे और अनेक विषयों के अध्ययन के पश्चात उन्होंने इतिहास लेखन पर अपना ध्यान दिया था। 20वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भारतीय इतिहास लेखन में मार्क्सवादी विद्वानों ने अहम भूमिका अदा की है। इन लोगों ने बड़ी निष्ठा और कठोर परिश्रम के आधार पर वैज्ञानिक और वस्तुनिष्ठ इतिहास लेखन की चेष्टा की है। नुरूल हसन, आर.एस. शर्मा, इरफान हबीब, सतीशचन्द्र और दूसरे कई चोटी के इतिहासकारों ने भारतीय इतिहास लेखन को स्मृद्ध, संतुलित, आलोचनात्मक और वैज्ञानिक बनाया है। यहां यह बता देना समीचीन होगा कि इन लोगों ने मार्क्सवादी विचारों का अंधानुकरण नहीं किया है, और भारतीय परिवेश में मार्क्सवादी दृष्टिकोण से यहां की ऐतिहासिक समस्याओं को समझने की चेष्टा की है। उदाहरण के लिए जैसे मार्क्स ने जिस काल और परिस्थिति में एशियाई उत्पादन की विधि की चर्चा की थी, उसका इन लोगों ने पुनरीक्षण किया और आज के समय और विकास के परिवेश में उसको समझने की चेष्टा की। उसी तरह से भारतीय मार्क्सवादियों ने भारत के संदर्भ में सामंतवाद का विश्लेषण

किया। सभी साम्यवादियों में भी सामंतवाद पर मतैक्य नहीं है और वे बड़ी निर्भीकता से अपने दृष्टिकोण का निरूपण करते हैं। कहना नहीं होगा कि भारतीय मार्क्सवादी इतिहास लेखन अब अपनी किशोरावस्था को पार कर चुका है और पूर्णरूपेण व्यस्क है।

19.7 सारांश

इस इकाई में हम लोगों ने भारतीय इतिहास लेखन की हाल की प्रवृत्तियों पर विचार किया है। इन प्रवृत्तियों में परम्परावादी, राष्ट्रवादी, सम्प्रदायवादी और मार्क्सवादी इतिहास लेखन की प्रणालियां प्रधान है। जैसे-जैसे भारतीय इतिहास लेखन अधिक आश्वस्त, स्मृद्ध और गवेषणापूर्ण होता गया वैसे-वैसे प्रारम्भिक दिनों की भ्रांतियां दूर होती गयी। परम्परावादी इतिहास लेखक भी आज अधिक पूर्ण इतिवृत्तात्मक इतिहास लिखते हैं और आज की पाठ्य-पुस्तकें जो अधिकांशतः परम्परावादी शैली पर आधारित हैं, अधिकांशतः अधिक संतुलित वस्तुनिष्ठ और उचित स्रोतों पर आधारित है। राष्ट्रवादी इतिहास लेखन भी पहले के यूरोपीय इतिहास लेखन की प्रतिक्रिया में रक्षात्मक नहीं है, और अपने राष्ट्र की उपलब्धियों को अतिरंजित करके नहीं दिखाते हैं बल्कि तथ्यों पर आधारित रखते है और उनमें आत्मालोचन की झलक भी मिलती है। अब इनकी भावनाए कुठित नहीं है, और दूसरे राष्ट्र के इतिहासकारों से वे बराबरी की सतह पर आंख मिलाकर देख सकते हैं। दुःख की बात यह है कि ज्यों-ज्यों भारत स्वतंत्रता की दहलीज पर पहुंचने लगा, साम्प्रदायिक तनाव अधिक उभरने लगे और इनका परिणाम राष्ट्र का बंटवारा हुआ। विभाजन के सम्प्रदायवादी इतिहास लेखन हाल के वर्षों में बहुत अधिक आक्रामक हो गया हाल के वर्षों में विकास हुआ है, और इससे समाज के प्रबुद्ध वर्ग तथा जन-साधारण दोनों ही अधिक तथ्यपूर्ण वैज्ञानिक और तार्किक इतिहास लेखन की उपयोगिता को लोग समझने लगे है।

19.8 बोध प्रश्न

1. परम्परावादी इतिहास लेखन का क्या तात्पर्य है?
2. स्वतंत्रोत्तर भारत में राष्ट्रवादी इतिहास लेखन में क्या परिवर्तन हुआ?
3. सम्प्रदायवादी इतिहास लेखन के स्रोतों पर संक्षेप में प्रकाश डालिए।
4. मार्क्सवादी इतिहास लेखकों का भारतीय इतिहास लेखन में क्या योगदान है? इस पर तीन सौ शब्दों में अपने विचार प्रकट कीजिए।
5. भारत के विभाजन में इतिहास लेखन का क्या हाथ रहा है? इसका विवेचन संक्षेप में कीजिए।

इकाइ 20

भारतीय लोक साहित्य का ऐतिहासिक दृष्टि से महत्व

इकाई की रूपरेखा

20.0 उद्देश्य

20.1 प्रस्तावना

20.2 लोक साहित्य की परिभाषा और उसकी विधाएँ

20.3 लोक साहित्य और समाज का सांस्कृतिक प्रारूप

20.4 लोक साहित्य में वर्णित आदिम विचार

20.5 लोक साहित्य का ऐतिहासिक दृष्टि से मूल्यांकन

20.6 सारांश

20.7 बोध-प्रश्न

20.8 संदर्भ ग्रन्थ

20.0 उद्देश्य

- लोक साहित्य लोक की वस्तु है, यह मौखिक परम्परा से निरन्तरता में अनेक युगों से चला आ रहा है।

  सामान्य जन का विकास, उसके मनोभाव तथा उसकी आस्था का अध्ययन करने के लिए लोक साहित्य का विशेष महत्व है।

- मानव समाज राजनीति से इतर भी बहुत कुछ है तथा मानव की विकास यात्रा में अनेकों महत्वपूर्ण प्रसंगों का अध्ययन करने के लिए लोक साहित्य ही एक ऐसा स्रोत है जो सामाजिक इतिहास लेखन में महती भूमिका का निर्वाह कर सकता है।

- इस इकाई में लोक साहित्य की परिभाषा, उसकी विभिन्न विधाओं तथा लोक साहित्य का सामाजिक इतिहास लेखन में महत्व आदि बिन्दुओं का अध्ययन किया जाएगा।

20.1 **प्रस्तावना :**

लोक साहित्य मानव की आंतरिक संवेदनाओं का प्रतिबिम्ब होता है। इसका निर्माण केवल लौकिकता की पृष्ठभूमि में ही होता है। जैसा कि सर्वविदित है कि संस्कृति की अनेक धाराओं में एक धारा ऐसी भी होती है जो अवयवी रूप से मानव प्रकृति से जुड़ी रहती है। संस्कृति के इस स्वरूप के चारों ओर एक आर्थिक आवास और एक विशेष प्रकार की सामुहिकता गुंफित रहती है। इस विशेष धारा का अध्ययन लोक साहित्य के अनुशीलन से ही किया जाना संभव हो सकता है। इस इकाई में लोक साहित्य के इसी ऐतिहासिक सांस्कृतिक पक्ष का विवेचन किया गया है।

20.2 **लोक साहित्य की परिभाषा और उसकी विधाएँ :**

लोक साहित्य - लोक और साहित्य दो शब्दों से निर्मित हुआ है। सामान्यतया लोक साहित्य का तात्पर्य उस साहित्य से लिया जाता है जो सभ्यता की सीमाओं से बाहर है। लोक साहित्य को और व्यापक अर्थों में लिया जाए तो इसको अधोलिखित बिन्दुओं द्वारा परिभाषित किया जा सकता है -

1. लोक साहित्य ग्रामीण साहित्य है।
2. लोक साहित्य वह युग-युगीन साहित्य है जो मौखिक परम्परा से प्राप्त होता है, जिसके रचियता का पता नहीं है तथा जिसे समस्त लोक अपनी कृति मानता है।
3. लोक साहित्य वह साहित्य है जो लोक मनोरंजन के लिए लिखा गया है।

वास्तव में लोक साहित्य वह मौखिक अभिव्यक्ति है जो भले ही किसी व्यक्ति ने गढ़ी हो पर जिसे आज सामान्य लोक समूह अपना ही मानता है और जिसमें लोक की युग-युगीन वाणी साधना समाहित रहती है जिसमें लोक मानस प्रतिबिम्बित रहता है।

लोक साहित्य को अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से निम्न क्रम में विभाजित किया जा सकता है।

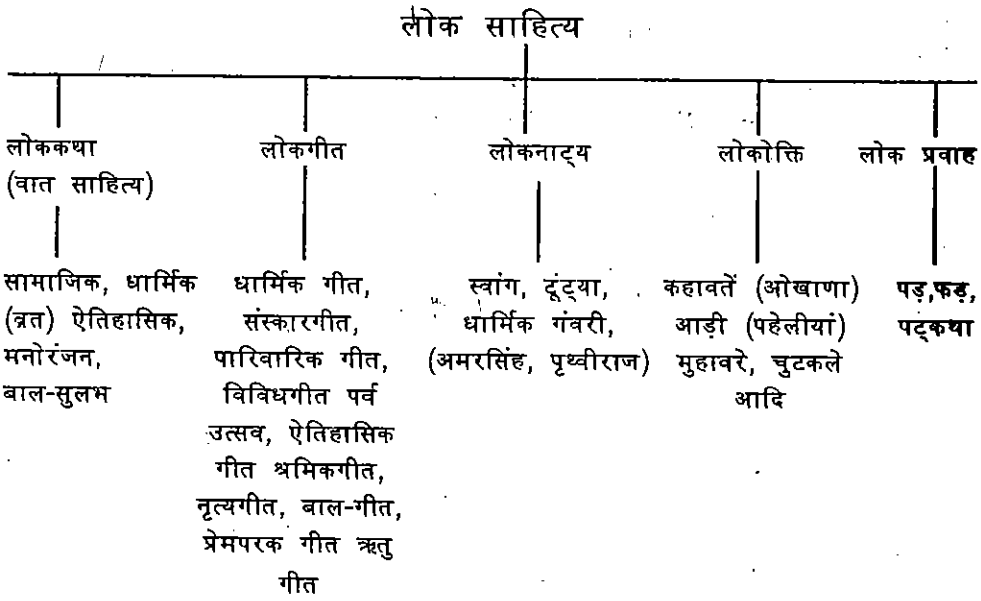

लोक साहित्य के उपर्युक्त वर्णित प्रकारों से यह सुगमता से समझा जा सकता है कि लोक साहित्य मानव समुदाय के सभी पक्षों को अभिव्यक्त करने की सामर्थ्य रखता है जिससे संस्कृति के विकास क्रम को विश्लेषित किया जा सकता है।

रामचन्द्र बोड़ा ने अपनी पुस्तक "लोक साहित्य" में, लोक साहित्य रूढ़ मान्यताओं को खण्डित करते हुए लिखा है कि "यदि लोक साहित्य के समूचे रूपों लोक-गीत, लोक-वार्ता, लोक-परम्पराएं, लोक-तरीकों का निरूपण करें तो पता चलेगा कि मानव समाज में एक ऐसा साहित्य भी सृजित होता रहा है और होता रहता है जो हमेशा अपने को कुछ सांस्कृतिक संरचनाओं, सांस्कृतिक प्रसंगों व सांस्कृतिक उपकरणों के माध्यम से जीवित रखता है।"

"अतः केवल इस प्रकार के साहित्य को, जो सांस्कृतिक ढांचों, सामाजिक प्रसंगों व सामाजिक उपकरणों के माध्यम से जीवित रहता है या रहता रहा है, वहीं लोक साहित्य कहा जा सकता है। इस तरह लोक साहित्य आदिम व प्राचीन समाज में भी था तो आधुनिक समाज में भी है और आगे भी रहेगा।"

लोक साहित्य के अध्येयताओं का मानना है कि लोक साहित्य का नृशास्त्र, समाज शास्त्र, भाषा शास्त्र, भौगोलिक ज्ञान, ऐतिहासिक खोज और सांस्कृतिक अध्ययन सभी दृष्टियों से परम महत्व है। यदि इतिहासकार को सामान्य जन की विकास यात्रा को जानना है तो उसका सही मूल्यांकन लोक साहित्य द्वारा ही किया जा सकता है क्योंकि सामान्य जन की समस्याएं सामाजिक निर्माण से घनिष्ठ रूप से जुड़ी होती है और इनका वास्तविक प्रतिबिम्ब लोक साहित्य द्वारा ही परिलक्षित हो सकता हैं।

लोक साहित्य के अन्तर्गत प्रमुख रूप से लोक कथाओं, लोक गीतों, लोक नाट्य तथा लोकोक्ति साहित्य को समाहित किया जा सकता है।

यह लोक कथाएं मनोरंजन का स्रोत होने के अतिरिक्त जहां एक और अनेक कल्याणकारी निर्देश प्रदान करती हैं तो वहीं दूसरी ओर समाज में रूढ़ हो गए पर्वों त्यौहारों और व्रतों का भी उल्लेख करती है।

इसी प्रकार लोक गीत जहां एक और जनमानस की भाव लहरियों को प्रतिबिम्बित करते है तो वहीं इनसे सामान्य जन की विकास यात्रा के इतिहास का भी ज्ञान होता है। इनसाइक्लोपीडिया ऑफ ब्रिटेनिका में, "लोक गीतों को मनुष्य की उत्पत्ति, विकास और रीति-रिवाजों की विद्या" की तरह परिभाषित किया गया है।

लोक कथा तथा लोक गीतों के समान ही लोक नाटक लोकधर्म के प्रभाव और उसकी व्यापकता को प्रमाणित करने तथा जानने का एक सशक्त माध्यम है तो लोकोक्ति साहित्य जन संस्कृति तथा जनमानस को समझने में एक प्रमुख उपकरण की तरह सहायक होता है।

अतः यह कहा जा सकता है कि लोक साहित्य की सभी विधाएँ आम जन की स्वतः स्फूर्त वाणी है तथा इनका जन मानस की सांस्कृतिक विकास यात्रा के इतिहास को जानने समझने में विशेष महत्व है।

20.3 लोक साहित्य और समाज का सांस्कृतिक प्रारूप :

मानव सामान्यतः दो प्रकार से व्यवहार करता है। मानव का पहिले प्रकार का व्यवहार वह होता है जब उसके व्यवहार में किसी भी सामाजिक उपकरण का योगदान नहीं होता है। मानव के इस व्यवहार को साधारण व्यवहार या "व्यष्टि व्यवहार" कहा जा सकता है, इसके विपरीत जब मनुष्य के कार्य अथवा व्यवहार किन्हीं सामाजिक उपकरणों के माध्यम से संपन्न होते हैं तो उसका वह व्यवहार अथवा कार्य समष्टि का अंग हो जाता है। मानव का यही व्यवहार, जो सामाजिक उपकरणों के माध्यम से संपन्न होता है, मानव संस्कृति का संवाहक होता है और इसी से समाज की सांस्कृतिक संरचना निर्मित होती है। इस सांस्कृतिक संरचना के प्रभाव क्षेत्र में आने वाला साहित्य लोक साहित्य के नाम से बोधित किया जाता है तथा इस साहित्य से मानव समाज की सांस्कृतिक विधियों को जाना व समझा जा सकता है। लोक सार की गत्यात्मकता लोक साहित्य का एक प्रमुख तत्व है यह गत्यात्मकता सामाजिक उपकरणों से गूंथी रहती है।

लोक साहित्य के सांस्कृतिक निरूपण से लोक सार का अर्थ जानना व समझना नितान्त महत्वपूर्ण है क्योंकि लोक सार वह उर्वरा भूमि है जो लोक साहित्य को सिंचित करती है। लोक सार को दूसरे शब्दों में मानव प्रकृति के नाम से जाना जा सकता है। लोक सार अथवा मानव प्रकृति एक अविच्छिन प्रवाह है तथा यह मानव जाति के समूचे विकास प्रवाह में बढ़ता रहता है। इस प्रकार से यह कहा जा सकता है कि

मानव प्रकृति अथवा लोक सार एक ऐसी योग्यता है जो मनुष्य के अपने अस्तित्व के संदर्भ को सामूहिक रूप से चलाने में योगदान देती है।

जैसा कि पूर्व में भी लिखा जा चुका है कि मानव का स्वभाव व्यक्तिगत एवं समष्टिगत दो प्रकार का होता है। मानव के ऐसे कार्य, जिन्हें वह समाज के अन्य व्यक्तियों के साथ मिलकर करता है, सांस्कृतिक प्रारूप का निर्माण करते हैं। समाजशास्त्रीय नियमों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सांस्कृतिक प्रारूपों का स्वरूप दिक्कालात्मक होता है और इस दिक्कालात्मक स्वरूप से तत्कालीन मानव के जगत दृष्टिकोण को निर्धारित किया जा सकता है। इन सांस्कृतिक प्रारूपों से व्युत्पन्न समारोह आदि उस समय तक जीवित रहते है जब तक उनमें सहज मानव प्रकृति का अंश निहित रहता है। सहज मानव प्रकृति के अंश की मात्रा घटने पर वह सांस्कृतिक प्रारूप ही समाप्त होने लगता है।

इन्हीं संदर्भों में लोक साहित्य को नृविज्ञान के द्वारा जानना व समझना आवश्यक हो जाता है। नृविज्ञान मानव का शारीरिक व सांस्कृतिक दो पक्षों में अध्ययन करता है। सांस्कृतिक नृविज्ञान का क्षेत्र प्रारम्भिक मानव की जीवन शैली, धार्मिक परम्परा आदि का अध्ययन करना होता है। यहाँ यह कहना समीचीन होगा कि जिस प्रकार से नृविज्ञानी पुरा मानव के साथ ही मानव समाज के विविध स्वरों का अध्ययन करता है उसी प्रकार लोक साहित्य का अध्येयता भी लोक साहित्य में सन्निहित सम ' में घटित होने वाले परिवर्तनों का प्रत्यक्ष या परोक्ष अध्ययन करता है।

अंततः यह कहा जा सकता है कि लोक साहित्य के विभिन्न स्वरूप लोकगीत लोक कथा, लोक वार्ता, लोक विश्वास तथा लोक परम्पराएं मानव समाज के अनेक सांस्कृतिक प्रारूपों से जुड़े रहते है लेकिन लोक साहित्य का स्वरूप सांस्कृतिक प्रारूपों की तुलना में कम स्थायी होता है। प्रायः यह देखा जाता है कि सांस्कृतिक प्रारूप, जिनमें लोकसार की गहनता होती है, स्वयं को नई संस्कृति के अनुरूप निर्मित करने का प्रयास करते रहते हैं। इसी प्रकार अनेकों बार लोक साहित्य सांस्कृतिक संशलेषण की प्रक्रिया के भी उदाहरण प्रस्तुत करता है। इस हेतु राजस्थान के एक गीत का उदाहरण दिया जा सकता है जो विभिन्न सांस्कृतिक प्रारूपों की ओर इंगित करता है।

"तालियाँ जलेबियां सलीमशाही होय बे
थारी ..... धीयड़ली हरामजादी होय बे"

इस गीत में दुल्हन को विवाह के शुभ अवसर पर "हरामजादी" कहना मुस्लिम संस्कृति के प्रभाव का द्योतक है।

अतः लोक साहित्य मानव प्रकृति में होने वाले विकास, बदलाव तथा सांस्कृतिक अंतरावलम्बन की प्रकृति को एवं सांस्कृतिक प्रारूपों को समझने का एक प्रमुख ऐतिहासिक उपकरण है। इस प्रकार लोक साहित्य मानव प्रकृति के विभिन्न पक्षों को जानने का एक महत्वपूर्ण स्रोत है। जहाँ लोक गीत पारिवारिक सम्बन्धों की मधुरता को 'ससुराजी म्हारा

घर रा राजा सासू जी ठकुराणी ओ" कहकर इंगित करते है तो वहीं दूसरी और पुत्रवधु का "..... मैं चूल्हा अलग करने वाली हूं अब तुम्हारा बेटा मेरा है" कहना पारिवारिक सच्चाई को भी इंगित करता है। इसी प्रकार लोक गीत आम जीवन में प्रयुक्त जीवकोपार्जन के तरीकों पर भी प्रकाश डालते हैं। जीवकोपार्जन से संबंधित लोक गीतों से यह ज्ञान प्राप्त होता है कि राजस्थान में अनेक ऐसी जातियाँ थी जो गीत, नृत्य और नाटक द्वारा अपना जीवकोपार्जन करते थे।

जीवकोपार्जन के अतिरिक्त अनेक ऐसे लोक गीत गायन की भी राजस्थान में परम्परा थी जिससे राजस्थानी जनमानस में व्याप्त दैवीय आस्था तथा प्रतिष्ठित लोक देवताओं के विषय में जानकारी प्राप्त होती है। ऐसे लोक गीतों के अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि राजस्थानी लोक जीवन में पौराणिक देवी देवताओं के अतिरिक्त अन्य लोक देवता जैसे रामदेवजी, भैरो जी, पाबू राठौड़, गोगा जी चौहान तेजा जी जाट, जांभो जी, केसरिया कंवर, भभूता सिंह, भोभिया, पीर और पंच पीर, जीण माता, सकराय माता, शीतला माता और करणी माता पूजे जाते थे। इसके अतिरिक्त सतीत्व रक्षा तथा पतिव्रत धर्म पालन हेतु बलिदान होने वाली सतियाँ, अविवाहित कन्याएँ थी इनके साथ-साथ पितर लोकदेवियां तथा भोमिए भी देवी देवताओं के समान पूजे जाते थे।

उपर्युक्त वर्णित विभिन्न देवी-देवताओं तथा असाधारण कार्य कर समाज में प्रतिष्ठित व्यक्तियों की पूजा करने की परम्परा के आधार पर यह निर्णय लिया जा सकता है कि राजस्थानी लोक संस्कृति धार्मिक आस्था और विश्वासों से ओतप्रोत थी। मानव जीवन के सभी पक्ष धन, संतान तथा अन्य सभी लौकिक कार्यों की सिद्धि के लिए इन शक्तियों की शरण में जाना आम मानस की प्रवृति सी बन गयी थी।

राजस्थानी लोग गीतों के अध्ययन से यह भी ज्ञान होता है कि आम जनजीवन शास्त्रीय रूप से निर्धारित षोड्स संस्कारों से प्रभावित था। इन गीतों के अध्ययन से यह पता चलता है कि तत्कालीन समाज में सीमन्तोन्नयन अर्थात् बालक के जन्म से भी पूर्व गर्भ के सप्तम अथवा अष्टम मास में शास्त्र विधि अनुसार इन्द्र विद्युत को शान्त करने हेतु मनाए जाने वाला संस्कार, जातकर्म, चूड़ाकरण, कर्णबंधन, उपनयन, विवाह तथा अन्त्येष्टि संस्कार गहरे रूप में प्रतिष्ठित थे। मृत शरीर की अस्थियों को गंगा में प्रवाहित करने और वहां से लौटने तक के गीत भी महत्वपूर्ण रहे हैं।

लोक गीतों की श्रेणी में ऐतिहासिक दृष्टि से वीर गीतों का एक विशेष महत्व है। इस सन्दर्भ में बारहवीं शताब्दी में रचित वीरगाथा 'आल्हा' का विवरण अत्यन्त महत्व का है। इस वीरगाथा की रचना मूलतः बुंदेलखंड़ी में हुई थी। बनाफर शाखा के क्षत्रिय आल्हा और उदल महोबा के परमार्दिदेव (परमाल) की सेना के प्रमुख वीर थे। परमाल की स्त्री, रानी मल्हना अत्यन्त तेजस्वी और सुन्दर थी। उसी की आज्ञा से आल्हा - उदल ने अनेक लड़ाइयाँ लड़ी और दिल्ली शासक पृथ्वीराज चौहान

से युद्ध किया। वर्तमान में इस रचना का "बुंदेलखंड़ी स्वरूप तो कहीं प्राप्त नहीं होता है लेकिन इसके भोजपूरी, कन्नोजी और छत्तीसगढ़ी स्वरूप सहज में मिल जाते हैं।"

इसी तरह पंजाब में "वार" के नाम से वीरगीत प्रचलित है। पंजाब में सबसे पुरानी वार अमीर खुसरों रचित "तुगलक शाह खुसरोखान दी लड़ाई" है। इसके अतिरिक्त गुरु गोविन्द सिंह की "चंडी दी वार" दूसरी प्रमुख रचना है। इसी प्रकार से गढ़वाल के "पंवाड़े", जिनमें हमें गढ़वाली राजा अजयपाल द्वारा गढ़वाल को एक सूत्र में एकीकृत करने की घटना का ज्ञान प्राप्त होता है, महत्वपूर्ण वीर गीत है तो दूसरी और कुमाऊं के "भेड़ों" से हम चंद राजाओं के बहादुर कार्यों का पता चलता है।

महाराष्ट्र में भी "पोवाड़ा" गाए जाने की परम्परा थी, इन पोवाड़ो का प्रारम्भिक स्वरूप जो आज उपलब्ध है, शिवाजी के समय का है, लेकिन इन सब में गुर्जरों की "हीड़" मध्यवर्ती भारत के कृषक अमीरों के संबंध में विस्तृत सुचनाएं प्रदान करती है। यह हीड़ आज भी दीपावली के दूसरे दिन गाई जाती है, इनसे यह ज्ञात होता है कि गुर्जरों के देवनारायण ने, जो गुर्जरों का देव पुरूष माना जाता है, अपने भाई भूणा के साथ मिलकर युद्ध किया था तथा शत्रु से बदला लिया था। इस विवरण से स्पष्ट होता है कि वीर गाथाएं इतिहास के उन अज्ञात पहलुओं तथा आदि जन नायकों के विषय जानकारी प्राप्त करने की एक महत्वपूर्ण सामग्री है।

पूर्ववर्ती पृष्ठों में लोक साहित्य के सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक महत्व की चर्चा से यह स्पष्ट हो जाता है कि लोक साहित्य हमारे जीवन का एक ऐसा महासमुद्र है कि उसमें हमारा भूत, भविष्य वर्तमान सभी सिंचित रहता है। वासुदेव शरण अग्रवाल के शब्दों में "लोक (संस्कृति) का कल्याण हमारी मुक्ति का द्वार है और निर्माण का नवीन रूप है।"

लोक साहित्य में सर्वाधिक महत्व लोकगीत का है क्योंकि लोकगीत संगीतमय होने के कारण स्वतः स्फूर्त होते है और इनमें मानव मन की गहरी संवेदनाओं और भावनाओं का स्वाभाविक रूप विद्यमान रहता है। इनकी इस विशेषता के कारण लोकगीतों को मानव विकास की अद्योलिखित प्रक्रियाओं को समझने में प्रयुक्त किया जा सकता है -

1. लोकगीतों से मानव सभ्यता व संस्कृति के विकास का अध्ययन किया जा सकता है।
2. लोकगीतों से संस्कृति के मौलिक स्वरूप को समझा जा सकता है।
3. लोकगीतों के माध्यम से मानव जीवन के उल्लांस, उमंग, करूणा, रूदन तथा उसके सुख-दुख की कहानी को समझा जा सकता है।
4. लोकगीतों से संस्कृति की व्यापकता व समग्रता को समझा जा सकता है।

20.4 लोक साहित्य में वर्णित आदिम विचार

लोक साहित्य मानव के आदिम विचारों को जानने समझने का एक महत्वपूर्ण स्रोत है। यदि मानव जाति के आदिम काल पर दृष्टि डाली जाए तो यह पता चलता है कि अन्य तथ्यों के अतिरिक्त आदिम विचारों की गत्यात्मकता का नियामक उस समय के व्यक्तियों का संसार के प्रति दृष्टिकोण, उनकी मानसिक योग्यता तथा समाज एवं जीवन के प्रति उनके द्वारा अपनाए गए सिद्धान्तों से निर्धारित होता है। अतः लोक साहित्य भी प्रारम्भ में इन्हीं कार्य-कारणों से निर्धारित प्रकृति की गोद में पनपता हुआ प्रकृति के जिन तत्वों के सम्पर्क में आया वह उन तत्वों का उपभोग करता हुआ, प्रकृति के विभिन्न उपादानों को प्राणवान बना उन्हें नर-नारायण का रूप देकर परिकल्पित करे तो इस पर आश्चर्य नहीं होना चाहिए। यही वह मार्ग है जो लोक साहित्य के लिए मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि का कार्य करता है। लोक साहित्य पर नृतत्वों का जो प्रभाव होता है वह समयान्तर में सामाजिक विकास के साथ अपने में नई मानसिक स्थितियों को समाविष्ट कर लेता है इसलिए आधुनिक लोक साहित्य में आदिम भाव के विचारों और विश्वास के साथ अन्य आधुनिक ऐतिहासिक तत्व अनुप्राणित मिलते हैं।

उदाहरण के लिए राजस्थान की कतिपय लोककथाओं में यह वर्णन आया है कि एक व्यक्ति के पुत्र से उत्पन्न चन्दलाई के खाने से एक कुवांरी राजकुमारी गर्भवती हो जाती है। यह विश्वास केवल राजस्थान में ही अपितु अन्य देशों की लोककथाओं में भी पाया जाता है जिससे यह सिद्ध होता है आदिम मानव के सोचने विचारने में एक सार्वभौमिकता थी। अतः यह कहा जा सकता है कि हर युग और हर काल में लोक साहित्य पर मानवीय सार और सामयिक सामाजिक और प्राकृतिक वातावरणों का निरन्तर प्रभाव रहता है। इसी गत्यात्मकता से लोकसाहित्य में अवयवी भाव बना रहता है तथा इसके माध्यम से अध्येयता संस्कृतियों के अन्तर्व्यापन और अन्तरावलम्बन का अध्ययन कर सकता है।

20.5 लोक साहित्य का ऐतिहासिक दृष्टि से मूल्यांकन

लोक साहित्य मानव जीवन के विविध पक्षों पर प्रकाश डालते हुए हमारे ऐतिहासिक ज्ञान में अभिवृद्धि करते है, इसका मूल्यांकन आगे के पृष्ठों में किया जा रहा है। सांस्कृतिक इतिहास की दृष्टि से तो इनका परम महत्व है। मानव के सांस्कृतिक जीवन के उन पक्षों को, जो लिखित परम्परा के अंग नहीं बन सके है लेकिन जिन्होंने हमारे जीवन को सूक्ष्मता से प्रभावित किया है और प्रत्येक और परोक्षतः कर रहे हैं, लोक साहित्य के माध्यम से ही अध्ययन किया जा सकता है। इस लोक साहित्य से अनेकों बार ऐसे विवरण भी प्राप्त होते हैं जो आम जन की सामायिक परिस्थितियों के प्रति समझ को भी प्रकाशित करते हैं।

राजस्थानी लोक गीतों में अनेक गीत ऐसे प्राप्त होते हैं जिनमें विदेशियों से लोहा लेने के संकल्प का विवरण प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ-

बारली तोपां रा गोला धूड़गढ़ में लागे ओ,
मायंली तोपां रा गोला तम्बू ओ - झल्ले आडेवा

राजाजी रै मैलां तो फिरंगी लड़ियो ओ - काली टोपी रो इसी तरह से प्रकृति को आधार बना डूंग जी ने अंग्रेजों की छावनी लूटने का उद्देश्य स्पष्ट किया है, यथा -

मिनखा निठगी मोठ बाजरी, धोड़ा निद्रयो घास
कुणहि जाटड़ो खेत, खड़ैला कुणहि भरैला डाण
कु एक बारगी लूंटा छावड़ी, रहा मादां में नाव

लोक साहित्य के ऐतिहासिक अध्ययन की दृष्टि से रूपमती और बाजबहादुर की प्रणय कथा भारतीय इतिहास का एक रोचक प्रसंग है। मांडू से सम्बन्धित सामग्री में रूप और बाज की प्रणय गाथा को सभी इतिहासकारों ने अपने विवरण में स्थान दियाहै। सभी के मतानुसार रूपमती अनुपम सुन्दरी, स्वर किन्नरी और कवयित्री थी। पश्चिमी जगत के अनेक विद्वानों क्रम्प, विलियम स्टर्लिग, मेजर बनर्स तथा केप्टन हेरिस ने ऐसी कहानियाँ सुनने का विवरण दिया है।

इसके अतिरिक्त भर्तृहरि का कथानक भी भारतीय इतिहास का एक ऐसा ही रोचक संस्मरण है। मर्तृहरि का यह कथानक उत्तर भारत, राजपूताना और मध्यप्रदेश के मालवा और छतीसगढ़ के भागों में जोगियों, के साहित्य से उपलब्ध होता है। उक्त गीतों की अनुरूपता लिए, भावों की दृष्टि से समान कुछ गीत अन्य जनपदों में भी मिलती है। कुछ ऐसा ही एक गीत का शिमला की पहाड़ियों और कांगड़ा जिले से देवेन्द्र सत्यार्थी ने उल्लेख किया है। गुजरात में भी इसी प्रकार के गीत प्रचलित होने के प्रमाण मिलते हैं।

इस भर्तृहरि को प्रायः गीतों में उज्जयिनीं का शासक बताया गया है। डा. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने दो भर्तृहरि होने की बात कही है, एक भर्तृहरि को वह शतकों के रचियता मानते है तो दूसरे को उज्जयिनि का शासक जो गोरख का शिष्य बना था। भर्तृहरि का यह कथानक भोजपुरी, मालवी पंजाबी तथा कांगड़ी में एक समान रूप से मिलता है।

लोक साहित्य की विद्या "वातां" का भी ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्व है, अनेक बातों से इतिहास के विभिन्न पक्षों का ज्ञान प्राप्त होता है। वांता से तात्पर्य श्रुति पर आधारित वार्ता साहित्य से है। इस दृष्टि से राजस्थानी बातों का भारतीय लोक साहित्य में विशेष महत्व है। यहां पर ऐसी कुछ बातों का उल्लेख किया जा रहा है जो इतिहास की दृष्टि से महत्व रखती हैं।

एक बात "अमीपाल साहरी" है। इस बात के अनुसार दिल्ली शहर में बादशाह अलाउद्दीन राज्य करता था तथा शाह अमीपाल बादशाह का नौकर था तथा उसके पास पांच सौ सवार थे। अमीपाल की ही तरह मालदेव सोनगरा तथा तटवरत भी बादशाह के नौकर थे। इस

बात में तखरत खां और अमीपाल के मध्य युद्ध में दोनों को मृत्यु प्राप्त हुई थी। इसी तरह की एक अन्य कहानी "वातपताई रावल री" है। इस कहानी में यह बताया गया है कि जहां एक ओर राजपूत राजाओं ने बड़ी-बड़ी विशाल वाहिनियों पर विजय पाई थी परन्तु दूसरी ओर वे अपने विश्वासघातियों से स्वयं की रक्षा नहीं कर सके थे। इस कहानी में चांपानेर के प्रताप सिंह चौहान, जो इतिहास में पताई रावल के नाम से प्रसिद्ध हुआ था, के शौर्य का विवरण किया गयाहै।

"वात राजा मान री" भी एक ऐसी ही कहानी है जिसमें जयपुर राज्य के मानसिंह का विवरण दिया गया है। इस कहानी में राजा मानसिंह द्वारा काबुल को जीतने का विवरण दिया गया है।

20.6 सारांश

इस प्रकार से लोक साहित्य की अनेकानेक ऐसी विद्याएं है जो विभिन्न रूपों में हमारे ऐतिहासिक ज्ञान को समृद्ध ही करती है। लोकभाषाओं में रचित यह लोक साहित्य इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त महत्व का है, इस लोक साहित्य के वैज्ञानिक अध्ययन पद्धति से इतिहास के अनेक विलुप्त तन्तुओं को खोजा जा सकता है। जैसा कि पाठकगण जानते है कि भारत एक विविधताओं का देश है, अतः ऐसे विविधतापूर्ण समाज के अध्ययन के लिए आदिम विश्वासों से लेकर अधुनातन वैचारिक और व्यवहारिक आधार पर लोक साहित्य का ऐतिहासिक दृष्टि से मूल्यांकन किया जाए तथा इस अध्ययन में अन्य विषयों जैसे नृविज्ञान, भाषा विज्ञान तथा समाजशास्त्र के विद्वानों की पूर्ण सहायता लेने की आवश्यकता है तभी लोक साहित्य का वस्तुपरक अध्ययन हो सकेगा।

20.7 बोध-प्रश्न

1. लोक साहित्य से आप क्या समझते है? लोक साहित्य के ऐतिहासिक योगदान की उदाहरण सहित व्याख्या कीजिए?
2. लोक साहित्य मानव इतिहास की विकास यात्रा का संवाहक है। इस शीर्षक से निबन्ध लिखिए।

20.8 संदर्भ ग्रंथ

1. पुरूषोत्तम लाल मेनारिया - राजस्थानी साहित्य का इतिहास
2. रामप्रसाद दाधीच - राजस्थानी भाषा साहित्य और संस्कृति
3. स्वर्णलतालोक साहित्य विमर्श
4. रामचन्द्र बोड़ा लोक सांहित्य
5. श्याम परमार लोक साहित्य विमर्श
6. जयसिंह नीरज भगवती लाल शर्मा राजस्थान की सांस्कृतिक परम्परा

इकाई 21

इतिहास में तथ्य

इकाई के उद्देश्य

21.0 उद्देश्य

21.1 प्रस्तावना

21.2 इतिहास में तथ्यों का इतिहास

21.3 ऐतिहासिक तथ्य क्या है

21.3.1 सामान्य तथ्य
21.3.2 मूलभूत तथ्य
21.3.3 विशिष्ट तथ्य

21.4 कार्ल बेकर की अवधारणा

21.5 ई. एच. कार. का विवेचन

21.6 तथ्यों का निर्वचन अथवा निर्धारण

21.7 तथ्यों के स्रोत

21.7.1 वैज्ञानिक स्रोत
21.7.2 अवैज्ञानिक स्रोत
21.7.3 साहित्यिक स्रोत

21.8 तथ्यों की व्याख्या

21.9 तथ्य एवं मूल्यांकन

21.10 वस्तुपरकता एवं तथ्य

21.11 अभ्यासार्थ प्रश्न

21.12 संदर्भ विचार

21.13 संदर्भ ग्रंथ

21.0 उद्देश्य

(i) इतिहास में तथ्यों का महतव समझना।

(ii) तथ्यों के विभिन्न रूपों की व्याख्या करना।

(iii) प्रसिद्ध इतिहासकार कार्ल बेकर एवं ई. एच. कार की तथ्यों संबंधी अवधारणा का विश्लेषण।

(iv) तथ्यों के विभिन्न स्रोतों की व्याख्या करना।

(iv) तथ्यों की व्याख्या, मूल्य एवं वस्तुपरकता को समझना।

21.1 प्रस्तावना :

तथ्य मूलतः वैचारिक-यथार्थ से संबंधित है। जो विचार जितना सत्य के निकट है वह विचार उतना ही तथ्य परक कहलाएगा। प्राकृतिक विज्ञान से संबंधित ज्ञान में तथ्य प्रयोगधर्मी हो सकते हैं किंतु सामाजिक विज्ञान में ज्ञान का क्षेत्र बगैर तर्क प्रमाण के सिद्ध नहीं हो सकता। इतिहास का ज्ञान भी विज्ञान की इसी दूसरी श्रेणी में आता है। अतः इतिहास में तथ्य ऐतिहासिक-प्रक्रियाओं को समझने अथवा जानने के आधारभूत माध्यम हैं।

21.2 इतिहास में तथ्यों का इतिहास :

इतिहास के तथ्यों के बारे में सर्वप्रथम विचार 19 वीं शताब्दी में आरम्भ हुआ। उसके पूर्व इस ओर ध्यान नहीं जाने का मूल कारण था कि इतिहास को शास्त्र श्रेणी में गिना जाता था किंतु इतिहास को विज्ञान के अंतर्गत सम्मिलित करने वाले सामाजिक वैज्ञानिकों ने इतिहास के लेखन में तथ्यात्मक को ही लेखन का शुद्ध पैमाना माना। उन्नीसवीं शती के अधिकांश इतिहासकार ग्राडग्रिंड नामक विद्वान के इस कथन से सहमत थे कि " .... जीवन में हमें तथ्यों की आवश्यकता है .... मुझे (हमें) तथ्य चाहिए। इस प्रकार के इतिहासकार या चिंतकों की धारणा थी कि इतिहासकार का दायित्व इतिहास को उसी रूप में प्रस्तुत करना है। जैसा कि वह वास्तव में है। कैंब्रिज मार्डन हिस्ट्री के प्रथम संस्करण के लेखन का दायित्व स्वीकारते हुए अक्टूबर 1896 में इतिहासकार एक्टन अपनी रिपोर्ट में लिखता है ..... "हम हर पाठक के लिए अंतर्राष्ट्रीय शोध के परिपक्व परिणाम तथा सभी दस्तावेज सुलभ कर सकेंगे।' जर्मन, फ्रांस तथा ब्रिटेन के इतिहासकार अतियथार्थवादी भावना से प्रभावित होकर इतिहास के सत्य लेखन की ओर उन्मुख हुए। ब्रिटेन में अनुभववादी दार्शनिक-विचारधारा के समर्थक जॉन लॉक से बर्ट्रेन्ड रसैल तक यह मानते थे कि जिस प्रकार इन्द्रिय अनुभव मनुष्य के मानस पर प्रभाव डालने वाला बाह्य तत्व है उसी प्रकार तथ्य भी अध्ययन करने वाले पर बाहर से प्रभाव डालने वाले तत्व हैं। अतः ऐसे दार्शनिकों के अनुसार तथ्य मानवीय चेतना से स्वतंत्र यथार्थ प्रस्तुत करने वाले होते हैं। इतिहास को विज्ञान का अंग सिद्ध करने के लिए प्रत्यक्षवादी सम्प्रदाय के इतिहासकारों एवं चिन्तकों ने तथ्य सम्प्रदाय का पुरजोर समर्थन किया। उनका कहना था- पहले तथ्यों को जांचो-परखो, तत्पश्चात् इनसे निष्कर्ष

निकालो। इस तरह 19 वीं शताब्दी में इतहास की उपयोगिता पर प्रश्न चिन्ह लगना आरम्भ हो गया क्योंकि इतिहास की प्रक्रिया मात्र प्रयोगों की उपज नहीं है, अपितु वह तत्कालीन समाज की अवधारणाओं से भी प्रभावित होती है। ब्रिटिश इतिहासकार के इस विश्वास के अनुसार कि 'इतिहास का अर्थ स्पष्ट और स्वतः प्रमाणित होता है' का उत्तर यही हो सकता है कि इतिहास एक जड़ विज्ञान है किन्तु यह सत्य नहीं है। प्रसिद्ध तथ्यवादी विद्वान लियोपाल्ड फॉन रॉके के अनुसार यदि तथ्य इतिहासकार की उपज है तो इतिहास का अर्थ ईश्वर की कृपा पर छोड़ देना चाहिए। ऐसे तथ्यवादी वातावरण में इतिहास-दर्शन पर विचार करना ऐतिहासिकता से परे था। यद्यपि 19 वीं शताब्दी का उदारवादी दृष्टिकोण तथ्यवादी विचारकों से कुछ भिन्न था फिर भी उनके मत में 'प्रत्येक व्यक्ति अपना कार्य अच्छी प्रकार करता चले तो अदृश्य हाथ अवश्य ही विश्व का संतुलन बनाये रखेंगे', का दृष्टिकोण अहस्तक्षेपवादी आर्थिक सिद्धान्त के अनुरूप था। इस प्रकार इतिहास में तथ्य की अवधारणा का श्री गणेश मुख्यतः उन्नीसवीं शताब्दी के विज्ञानवादी विचारधारा की देन है।

21.3 ऐतिहासिक तथ्य क्या है?

सभी तथ्य ऐतिहासिक-तथ्य नहीं होते हैं और न ही इतिहासकार उन्हें तथ्यों के रूप में स्वीकार करता है। अतीत या वर्तमान असंख्य तथ्यों से भरा हुआ है। पर इतिहास की दृष्टि से जिन तथ्यों को महत्वपूर्ण माना जाता है उनकी अलग विशेषताएँ होती हैं। इतिहास में कुछ मूलभूत तथ्य होते हैं जो सभी इतिहासकारों के लिए समान हैं। दूसरे शब्दों में यह 'इतिहास की रीढ़ होते हैं।' इनसे हटकर कई सामान्य तथ्य है जो कि इतिहासकार के लिए कच्चे माल की तरह होते हैं, जिनको इतिहासकार द्वारा स्थापित करने के पश्चात् वह विशिष्ट तथ्य की श्रेणी में आने लगते है। ऐसे विशिष्ट तथ्य व्याख्या, विश्लेषण और व्यवहार की अनवरत प्रक्रिया द्वारा मूलभूत तथ्यों का स्थान ग्रहण कर लेते हैं अर्थात ऐसे तथ्यों का साधारणीकरण हो जाता है। इस प्रकार तथ्यों की तीन श्रेणियाँ निर्धारित की जा सकती है :- (1) सामान्य तथ्य, (2) मूलभूत तथ्य और (3) विशिष्ट तथ्य।

21.3.1 सामान्य तथ्य

इस प्रकार के तथ्य किसी भी प्रकार के सादृश्य घटना, चरित्र, साहित्य, आदि में निहित होते हैं। किन्तु यह सभी तथ्य इतिहासकार के लिये 'मछुआरे की पटिया पर पड़ी मछलियों की तरह होते हैं।' इतिहासकार ई. एच. कार ने ऐसे ही एक तथ्य का उदाहरण देते हुए लिखा है कि स्टैर्ली ब्रिज वेक्स में 1850 ई० में अदरख की रोटी बेचने वाला एक खोमची मामूली सी बात पर क्रुद्ध भीड़ द्वारा पीट-पीट कर मार डाला गया था', जिसे स्वसाक्ष्य (Self evidence) के रूप में लार्ड जार्ज सैंगर द्वारा अपनी संस्मरणात्मक पुस्तक 'सेवेंटी इयर्स अ शोमेन, 1626 द्वि. सं. पृ. 188-189 में उद्धृत किया गया। सत्रहवीं शताब्दी की इस घटना को बीसवीं सदी में

इतिहासकार डॉ० किट्सन क्लार्क द्वारा 'दि मेकिंग ऑफ विक्टोरियन इंग्लैंड' में संदर्भ के रूप में प्रस्तुत किया तो क्या हम इसे ऐतिहासिक तथ्य स्वीकार कर लेंगे? इसका प्रत्युत्तर कार के शब्दों में "यह एक स्थापित ऐतिहासिक तथ्य बन सकता है (और) इसके विपरित ऐसा भी हो सकता है कि कोई इसे (तथ्य को) उठाए ही नहीं और तब यह अतीत की उसी अनैतिहासिक तथ्यों की भीड़ में जा मिले, विस्मृत हो जाए।" इस तरह हम पाते हैं कि प्रत्येक सामान्य तथ्य ऐतिहासिक तथ्य नहीं है जब तक कि इतिहासकार "ऐसी मछलियों को एकत्रित कर, घर ले जाकर, पकाकर अपनी मन पसद की शैली में परोस न दें। यद्यपि कार ने "शैली" को "व्याख्या" के स्वरूप में देखने का प्रयत्न किया है। किन्तु हमारी दृष्टि से सामान्य तथ्य में यदि वर्तमान की उपयोगिता विद्यमान नहीं है तो ऐसा तथ्य मात्र सूचना ही कहलायेगी। और ऐसी इतिहास अनुपयोगी सूचनाएं सामान्य तथ्य के रूप में अनैतिहासिक मानी जाती रहेंगी।

21.3.2 मूलभूत तथ्य

इतिहासकारों में जो तथ्य "सामान्य ज्ञान" के रूप में प्रतिष्ठित हैं उन्हें मूलभूत तथ्य की श्रेणी में रखा जाता है। उदाहरण के रूप में 20 अप्रैल 1526 ई० को भारतीय इतिहास में पानीपत का प्रथम युद्ध हुआ, जिसमें बाबर द्वारा इब्राहिम लोदी को पराजित किया गया, यही घटना का मूलभूत तथ्य है, न कि बाबर के पास 8, 12 या 25 हजार सेना और इब्राहिम के पास एक लाख सेना की भ्रमित सांख्यिकी। जैसाकि हाउसमान ने कहा है 'यथावत होना इतिहास एवं इतिहासकार का दायित्व है, कोई गुण नहीं"। यथातथ्य ही प्रासंगिक मूलभूत तथ्य है, जिनको जानना प्रत्येक इतिहासकार के लिए आवश्यक है। यद्यपि ऐसे तथ्य परम सत्य हो, आवश्यक नहीं क्योंकि "तथ्य बोरे की तरह होते हैं, जब तक उनमें कुछ भरा न जाए वे खड़े नहीं होते", ऐसे बोरे को काल अवधारणा के अनुरूप तर्कयुक्त खाली करने पर मूलभूत तथ्य भी अनैतिहासिक हो सके हैं। इस प्रकार मूलभूत तथ्य इतिहासकारों द्वारा स्थापित तथ्य हैं जिनका इतिहास में सार्वजनीकरण कर दिया गया है। मूलभूत तथ्य के बारे में प्रो. जी. बैरेकलों लिखते हैं कि यह "स्वीकृत फैसलों का एक सिलसिला है" अर्थात् ऐसे तथ्य जो सभी इतिहासकारों को प्रभावित करते हैं। स्वीकृत तथ्यों के रूप में इतिहास प्रतिष्ठित हो जाते हैं।

21.3.3 विशिष्ट तथ्य

मुगल सम्राट हुमायूं एवं शेर खाँ के मध्य हुए 1539 ई० के चौसा युद्ध में मुगल सेना की पराजय के पश्चात् हुमायूं भागने के लिए अपने घोड़े सहित नदी में कूद पड़ा और सम्भव था कि वह नदी की तेज धारा में बह जाता, किन्तु भाग्य से निजाम नामक एक भिश्ती ने अपनी मशक की सहायता से हुमायूं को नदी के दूसरे

छोर पर पहुंचा दिया। यह वर्णन हमें अबुल फजल की पुस्तक अकबर नामा, भाग - एक - के पृ. 159 पर मिलती है। पढ़ने या सुनने में इसकी कोइ महत्ता प्रकट नहीं होती, क्योंकि किसी भी दयावान व्यक्ति द्वारा ऐसे संकट में सहायता करना परमधर्म माना जाता है। किन्तु इतिहासकार के लिये यह तथ्य ऐतिहासिक घटना के रूप में महत्त्वपूर्ण हो गया। अबुल फजल द्वारा किये गये इस वर्णन का उल्लेख उसके परवर्ती कई इतिहाकसरों द्वारा किये जाने के पृष्ठ में उस घटना का भविष्य की घटनाओं पर उसके प्रभाव अथवा परिणाम का औचित्यीकरण था। इस कारण इतिहासकार ई. एच. कार का यह कहना कि "तथ्य तभी बोलते हैं जब इतिहासकार उन्हें बुलाता है" सर्वथा असत्य है। यह सही है कि "किन तथ्यों को इतिहासकार किस क्रम और संदर्भ में मंच पर उतारेगा।" इतिहासकार द्वारा लिखी गई सभी बातें ऐतिहासिक तथ्य नहीं होती बल्कि विश्लेषण और व्याख्या द्वारा विशिष्ट तथ्य ही ऐतिहासिक तथ्य कहलाते हैं। अब हमें यह विचार करना है कि ई. एच. कार के अनुसार "तथ्यों को स्थापित करने की आवश्यकता तथ्यों के भीतर निहित किसी गुण पर आधारित नहीं होती बल्कि इतिहाकार के पूर्व निर्धारित निर्णय में होती है", विशिष्ट तथ्यों के प्रसंग में सही है? सामान्यतया तथ्य का विशिष्ट गुण जांच परख करने के पश्चात् उसी प्रकार लगता है जैसा कि तपने के पश्चात् कुन्दन की क्रान्ति अथवा तथ्य का विशिष्ट गुण ही इतिहासकार के लिये तर्क द्वारा निर्णय बनाता है, न कि "पूर्व निर्धारित निर्णय"। ऐसा निर्णय ही ऐतिहासिक तथ्य को निरन्तर स्थापित करते हुए उसे मूलभूत तथ्य में परिवर्तित कर देता है। यह तथ्य एक प्रकार से मूल्यधारित तथ्य है, जिनका उतार चढ़ाव इतिहासकार द्वारा व्याख्या के माध्यम से किया जा सकता है।

उल्लेखित तथ्यों के प्रकार का अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है कि सभी तथ्य ऐतिहासिक नहीं होते, अपितु विशिष्ट तथ्यों के चयन कार्य-कारण सम्बन्ध, उपयोगिता; विश्लेषण, व्याख्या, संदर्भ निरन्तरता आदि की अनुसंधान विधियों द्वारा इतिहास में स्थान ग्रहण करते हुए मूलभूत तथ्यों की श्रेणी में स्थापित अभिकथन ही ऐतिहासिक तथ्य कहलाते हैं।

21.4 कार्ल बेकर की अवधारणा

प्रसिद्ध अमेरिकन इतिहासकार प्रो. कार्ल बेकर ने ऐतिहासिक तथ्य के बारे में विचार प्रकट किया है कि "कोई कार्य अथवा घटना, कोई भी संवेग जिसकी अभिव्यक्ति हुई है, कोई भी यथार्थ अथवा मिथ्या विचार जो कि अतीत-कालिक मनुष्य से सम्बन्धित है, इतिहासकार के लिए अध्ययन के विषम हैं और वह इनमें रूचि भी रखता है। किन्तु, वह इन वस्तुस्थितियों से साक्षात्कार नहीं करता; अपितु वह केवल घटना के विषय में प्राप्त विवरण का ही प्रत्यक्षीकरण करता है।" इस प्रकार विनष्ट घटना के विद्यमान विवरण ही व्यवहारिक प्रयोजनों के लिए ऐतिहासिक तथ्य बन जाते हैं। बेकर के अनुसार ऐतिहासिक तथ्य

अतीतकालिक घटना नहीं अपितु एक प्रतीक है जो हमें कल्पना द्वारा उसके पुनर्निर्माण में समर्थ बनाती है।

सभी वास्तविक घटना ऐतिहासिक तथ्य हैं? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए बेकर लिखता है कि ऐतिहासिक तथ्य का स्थान व्यक्ति के मस्तिष्क में है; इसकी पुष्टि के लिये कार्ल बेकर द्वारा अमेरिका के राष्ट्रपति अब्राहिम लिंकन की हत्या से संबंधित घटना का उदाहरण दिया गया है - 14 अप्रैल 1865 ई० को वाशिंगटन में फोर्ड नाट्यशाला के अन्दर जब लिंकन की हत्या घटित हुई तब यह एक वास्तविक घटना थी, किन्तु इसका आज पुनः प्रत्यक्षीकरण संभव नहीं है। किन्तु इसका तात्कालीन विवरण, सम-सामयिक समाचार-पत्रों, दैनंदिनियों तथा पत्रों इत्यादि से प्राप्त साक्ष्य इतिहासकार के लिए एक अप्रत्यक्ष चित्र बनाता है; ऐसे धूमिल (अप्रत्यक्ष) चित्र अथवा तथ्य इतिहासकार की कल्पना द्वारा ऐतिहासिक तथ्य के रूप में उभरता है। इस प्रकार ऐतिहासिक तथ्य बेकर के सिद्धान्त में वस्तुतः ही असम्भव है।

इस प्रकार ऐतिहासिक तथ्य के अर्थ को और अधिक स्पष्ट करने के लिये उसने लिखा है कि यह तथ्य शुद्धतः वस्तुनिष्ठ नहीं माने जा सकते क्योंकि :-

(1) इतिहासकार किसी भी घटना को सम्पूर्णतः प्रस्तुत नहीं कर सकता। 19 वीं शताब्दी के तथ्यावादी इतिहासकारों की मान्यता थी कि "इतिहासकार का दायित्व इतिहास को सिर्फ उस रूप में दिखाना है, जैसाकि वह सचमुच था अथवा उनके द्वारा प्रस्तुत तथ्य अपने आप बोलेंगे" - सही नहीं है। इतिहासकार अपनी ओर से केवल मस्तिष्क रूपी संवदेनशील तश्तरी प्रस्तुत करेगा, जिस पर वस्तुनिष्ठात्मक तथ्य अपने अर्थों का चिन्हांकन करते चलेंगे। ऐसा विचार अब भी इतिहासकार की भाषा में होता है। इतिहासकार की समझ से उनके अलग-अलग अर्थ भी हो सकते हैं। इस तरह ऐतिहासिक तथ्य सर्वथा सत्य नहीं हैं।

(2) चूंकि इतिहास शुद्धतः विज्ञान नहीं है, इसलिए इतिहास की घटनाओं का निष्कर्ष परीक्षण सिद्ध नहीं हो सकता। इतिहासकार व्यक्तिगत समीकरण को नहीं हटा सकता, क्योंकि उसका बाह्य जगत के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता। घटनाओं की पुनरावृत्ति इतिहासकारके लिए संभव नहीं। अतः इतिहास की घटना भिन्न-भिन्न व्यक्ति के मस्तिष्क द्वारा भिन्न-भिन्न स्वरूप में प्रकट हो सकती है, इसीलिए प्रत्येक पीढ़ी उसी इतिहास को नए रूप में लिखती है। अतीत विषयक हमारी अवधाणाएं वर्तमान से प्रभावित होती हैं। इस दृष्टि से वर्तमान की आवश्यकताएं और उद्देश्य इस अवधारणा का रूप तय करते हैं। बेकर के इस संदर्भ को हम भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन के अन्तर्गत प्रयुक्त किये जाने वाले दो अर्थों - विद्रोही एवं आन्दोलनकारी, के दृष्टांत से समझ सकते हैं। साम्राज्यवादी इतिहासकारों ने स्वतंत्रता सेनानियों को विद्रोहियों के रूप में इतिहास

का तथ्य बनाया है। इस प्रकार ऐतिहासिक निरन्तरता के सिद्धान्त के अनुसार ऐतिहासिक तथ्य परिवर्तनशील हैं।

(3) ऐतिहासिक तथ्य उन्हीं के लिए महत्त्वपूर्ण है जो इतिहास का ज्ञान रखते हैं। किन्तु कोई भी व्यक्ति ऐतिहासिक ज्ञान से विहीन नहीं है; वास्तव में प्रत्येक व्यक्ति अतीत की घटनाओं का कुछ न कुछ ज्ञान अवश्य रखता है, जो कि उसके वर्तमान के उद्देश्यों के लिए पर्याप्त है। इतिहासकार जनसाधारण में व्याप्त व्यावहारिक तथ्यों को अपनी व्याख्या और विश्लेषण द्वारा ऐतिहासिक तथ्यों के माध्यम से शुद्ध बनाने का प्रयास करता है। ऐसे ऐतिहासिक तथ्यों का चयन भी वह समाज द्वारा सिखाये गये अनुभव व तरीकों से ही करता है। इस माने में ऐतिहासिक तथ्य सत्य और कल्पना के सुविधाजनक सम्मिश्रण हैं।

21.5 ई. एच. कार का विवेचन

कार के अनुसार इतिहास का अध्ययन करते समय केवल यह देखना पर्याप्त नहीं है कि इसकी सूचनएँ तथ्य पूर्ण हैं अथवा नहीं वरन्, यह देखा जाना चाहिए कि इसमें वर्णित तथ्यों के चुनाव की क्या प्रक्रिया थी, जिसके द्वारा असंख्य सामान्य तथ्यों के मध्य से केवल उन्हीं तथ्यों को चुना गया और ऐतिहासिक तथ्यों को स्थान दिया गया। इस रूप में कार इतिहासकार द्वारा प्रस्तुत किसी भी तथ्य को ऐतिहासिक तथ्य स्वीकार करते हुए मानते हैं कि "सुदूर अतीत से सम्बन्ध रखने वाले जिन तथ्यों का वर्णन तत्कालीन इतिहासकारों ने जिस रूप में किया, वही तथ्य हमारे लिए प्रामाणिक है, क्योंकि इन्हें मिथ्या अथवा अपूर्ण सिद्ध करने हेतु हमारे सम्मुख प्रमाण विद्यमान नहीं हैं। अपने मत के समर्थन में कार ने दो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं :-

(1) पांचवी शती ईसा पूर्व के यूनान का इतिहास एथेंस नगर में रहने वाले एक छोटे से दल ने प्रस्तुत किया जो ऐथेंसी दृष्टिकोण लिये हुये हैं। इस इतिहास से स्पार्टा, कोरिंथिया अथवा थिबी नागरिकों की दृष्टि में यूनान की तस्वीर क्या थी; वह भी विदित नहीं होता। अतः हमें इतिहास में उन्हीं तथ्यों का पता लगता है जो जाने-अनजाने एक विशेष दृष्टिकोण वाले लोगों द्वारा प्रस्तुत किये गये, जिसका कि वे समर्थन करते थे और भविष्य के लिए वह जो दृष्टिकोण छोड़ जाना चाहते थे।

(2) मध्यकालीन इतिहास पर आधुनिक ग्रंथों में हम पढ़ते हैं कि मध्य युग के लोग धर्म से गहरे जुड़े हुए थे। कार लिखता है कि "हमें इसका पता कैसे चले कि क्या सच है।" क्योंकि मध्यकालीन इतिहास के तथ्य के रूप में हमें जो कुछ मिलता है, उसका चुनाव इतिहासकारों की ऐसी पीढ़ियों के द्वारा किया गया था, जिनके लिये धर्म का सिद्धान्त और व्यवहार एक पेशा था। उन्होंने जिसे महत्त्वपूर्ण तथ्य माना उसे ऐतिहासिक तथ्य के रूप में लिखा गया और शेष को नष्ट कर दिया अथवा वह नष्ट हो गया।

इस प्रकार प्रो. कार की दृष्टि में कोई भी तथ्य तब ऐतिहासिक तथ्य बनता है, जबकि स्वयं इतिहासकार उनका चयन कर उसे महत्त्व प्रदान करता है।

21.6 तथ्यों का निर्वचन अथवा निर्धारण

यह उल्लेख किया जा चुका है कि तथ्य चयन उसके क्रम और संदर्भ का प्रस्तुतीकरण इतिहासकार के निर्णय पर आधारित होता है। इस प्रकार तथ्यवादी इतिहासविदों की यह उक्ति की "तथ्य बोलते हैं", असंगत लगने लगती है। क्योंकि तथ्य तभी बोलते हैं जबकि उनको अर्थ और स्वर दिया जाता है। यह कार्य इतिहासकार के अतिरिक्त कोई नहीं करता; इस माने में वह तथ्यों का नियामक है। इतिहास-दार्शनिक रसल बी० नेय के अनुसार इतिहासकार केवल तथ्य से ही सम्बन्ध नहीं रखता वरन् अनुभव पर भी विचार करता है; वह तथ्य को जीवन के गुण, प्रवाह स्वभाव और अर्थ में अपनी आन्तरिक दृष्टि के साथ जोड़ देता है। इस प्रकार वह (इतिहासकार) तथ्य का चयन ही नहीं करता अपितु प्रबन्ध और व्याख्या कर उसे इतिहास संगत बनाता है। अल्बर्ट बुशनेल हर्ट लिखता है कि "तथ्य के रूप में तथ्य उसी प्रकार इतिहास नहीं है जैसे कि बटालियन के रूप में भर्ती किये गये जवान; सेना नहीं है।" इन जवानों को प्रशिक्षण के पश्चात् ही सैनिक का दर्जा दिया जाता है। अतः तथ्य का भी ऐसी ही प्रक्रियाओं द्वारा निर्धारिण कर इतिहास में स्थान दिया जाता है। तथ्य का निर्वचन और निर्धारण होता है तो इसकी प्रक्रिया पर प्रश्न उठना स्वाभाविक है। यद्यपि इसके संकेत हम उल्लेखित अवतरणों में कर चुके हैं, किन्तु निर्धारण प्रक्रिया को भली-भांति समझने हेतु विस्तार से अध्ययन करेंगे। इस क्रम में यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि तथ्यवादी विचारधारा में "इतिहासकार के मन्तव्य तथ्य को भ्रष्ट कर देते हैं" जबकि तथ्य उनके अनुसार पवित्र है और पवित्र ही रहने चाहिए। इसीलिये कहा भी जाता है कि "तथ्य अनुभव के वह आंकड़े होते हैं जो निष्कर्ष से भिन्न होते हैं।" अनुभववादी इतिहासकारों के इस कथ्य का समर्थन सर जार्ज क्लार्क ने भी किया है, उसके मत में "तथ्य एक गुठली है जिसके चारों और विवादास्पद व्याख्या का गूदा है। अर्थात् तथ्य का निर्धारण नहीं होता, अपितु व्याख्या का निर्धारण होता है। तो क्या इतिहासकार के मन्तव्य, आकांक्षा, उद्देश्य तथ्यों के निर्धारण में सहयोगी नहीं होते, जबकि व्याख्यावादी इतिहासकार इन्हें इतिहास लेखन की महत्ती भूमिका के रूप में स्वीकार करते हैं।

21.7 तथ्यों के स्रोत

इतिहासकार के पास तथ्य चल कर नहीं आते हैं, बल्कि इतिहासकार को यह तथ्य प्राप्त करने के स्रोत ढूंढ़ने पड़ते हैं। यह स्रोत निम्न प्रकार के हो सकते हैं।

21.7.1 वैज्ञानिक स्रोत

पुरातत्व की सामग्री इतिहासकार के लिए वैज्ञानिक अथवा मूर्त्त स्रोत के रूप में उपलब्ध होती है। प्रो० कार ने ऐसी संग्रहित

सामग्री के स्रोत ग्रन्थों को इतिहास के सहायक विज्ञान के रूप में उल्लेख किया है; यथा - वास्तुकला शास्त्र, शिलालेख, मुद्राशास्त्र, कलाक्रम-विज्ञान आदि। हमने हमारी पुस्तक "राजस्थान के इतिहास के स्रोत" में ऐसे स्रोत को प्रायौगिक स्रोत की श्रृंखला में रखा है। वैज्ञानिक अथवा प्रायौगिक स्रोत के तथ्य भी वैज्ञानिक होते हैं, जिनका निर्धारण करने में प्रशिक्षित इतिहासकार को विवेक की जटिल प्रक्रियाओं का सहारा नहीं लेना पड़ता है।

21.7.2 अवैज्ञानिक स्रोत

पुरालेख, चित्रांकन, प्राचीन इतिहास की पाण्डुलिपि, पुस्तकें आदि अवैज्ञानिक अमूर्त्त स्रोत की श्रेणी में आते हैं। ऐसे स्रोतों से उपलब्ध तथ्यों का अन्य प्राप्त स्रोतों के तथ्यों से तुलनात्मक एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन करना पड़ता है। तब कहीं यह प्रामाणिक स्रोत के रूप में स्थापित होते हैं। इन स्रोतों को प्रामाणिक स्रोत के रूप में स्थापना करने के लिए इतिहासकार का "तर्क-विवेक" निष्पक्ष होना आवश्यक है। अन्यथा साक्ष्य की निर्बलता का परिणाम इतिहासकार को मिथ्या इतिहास को भुगतना पड़ेगा।

21.7.3 साहित्यिक स्रोत

ऐसे साहित्य स्रोत हमारे माने मे ऐतिह्य साहित्य स्रोत भी कहे जा सकते हैं; यथा-रामायण, महाभारत, पुराण अथवा ऐसी ही इतिहास - चरित्र संस्था, समाज आदि को दिग्दर्शित करने वाली साहित्यिक कृतियां। यद्यपि ऐसे स्रोतों में तथ्य कम और कल्पना अधिक होती है, फिर भी स्फुट तथ्यों को ऐतिहासिक दृष्टिकोण से छांट कर उनका तर्क, तुलना एवं क्रम के अनुरूप स्थापित करना ऐसे स्रोतों के तथ्यों को अन्य स्रोतों के पूरक-स्रोत का महत्त्व प्रदान करते हैं। सामाजिक इतिहास की दृष्टि से यह स्रोत तत्कालीन "सामाजिक दर्पण" का वस्तुनिष्ठ प्रतिबिम्ब हमें दिखलाते हैं।

उपरोक्त तीनों प्रकार के स्रोत सम्पूर्ण रूप में ऐतिहासिक तथ्य नहीं होते, बल्कि विवेक युक्त विश्लेषण की क्रिया द्वारा इतिहास संगत विशिष्ट तथ्यों का ही इतिहासकार इनमें ध्यान रखता है। वह प्रत्येक विशिष्ट (Particular) के बारे में उचित और अनुचित का निर्णय करने के पश्चात् तथ्यों की पंक्ति में इन्हें विशिष्टता देता है। यह हो सकता है कि इतिहासकार द्वारा चयनित तथ्य सर्वथा सत्य नहीं हो, किन्तु सत्य के अधिकाधिक निकट है, ऐसा उसे निश्चित हो जाना चाहिए। विशिष्ट तथ्यों की परिभाषा को हमने सामान्य, मूलभूत तथ्य विशिष्ट के क्रम में विवेचित करने का प्रयत्न किया है, जिसके अनुसार तथ्य का विशिष्ट गुण ही उसे इतिहास हेतु मूल्यवान बनाता है। किन्तु काल-क्रम के अनुसार इनके मूल्यों में भी परिवर्तन होता रहता है, जैसे कि जौहर किसी युग में विशिष्ट तथ्य रहा था किन्तु आज वह अपनी उपयोगिता खो चुका है। अतः विशिष्ट तथ्यों में भी इतिहासकार को वर्तमान के अनुरूप 1. सार्थक या मूल्यवान और 2. निरर्थक या अनुपयोगी तथ्यों का भेद ध्यान में रखते हुए तथ्यों का निर्धारण करना पड़ता है।

अब यह प्रश्न उठता है कि तर्क अथवा साक्ष्य द्वारा चयनित तथ्य विवाद से परे होते हैं? इसका उत्तर प्रो० कार के इन कथनों से अधिक स्पष्ट हो जाता है कि "इतिहास के तथ्य जीवित मछलियों की तरह हैं जो एक विशाल तथा अगाध समुद्र में तैर रही हैं। इतिहासकार के हाथ में कौन सी मछलियां आएंगी, यह कुछ तो संयोग पर निर्भर करता है। मगर मुख्यतः इस बात पर निर्भर करता है कि वह समुद्र के किस हिस्से में मछली मारने का इरादा रखता है तथा किस ढंग के काँटों का इस्तेमाल करता है। कुल मिलाकर इतिहासकार जिस प्रकार के तथ्यों की खोज कर रहा है वह उसी प्रकार के तथ्यों को पाएगा।" इससे यह स्पष्ट होता है कि तथ्यों के निर्धारण में इतिहासकार की अपनी भूमिका उल्लेखनीय होती है। वह उन्हीं तथ्यों का चयन करता है जो दृष्टिकोण वह भविष्य में छोड़ जाना चाहता है। इसे हम औरंगज़ेब की धार्मिक नीति द्वारा आसानी से समझ सकते हैं कि जो इतिहासकार उसे कट्टर और धर्मांध बतलाते हैं, उसके तथ्य चयन एवं जो उसे राजनीतिक वातावरण से हटा कर सामाजिक वातावरण के अन्तर्गत उदारवादी के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं, उन इतिहासकारों के चयनित तथ्य में हमें विभिन्नता मिलती है।

इस प्रकार इस तथ्य भिन्नता का प्रत्यक्ष सम्बन्ध तथ्य की व्याख्या से जुड़ जाता है। व्याख्या किसी उद्देश्य से या एक विशेष इतिहास-दर्शन के अनुसार की जाती है। एक वैज्ञानिक प्रकृति-धारक इतिहासकार अपने उद्देश्य तथा इतिहास दर्शन को पाठकों से छिपाता नहीं है, वरन् वह अपनी शैली को स्पष्ट कर देता है। शायद इसी रूप में उसका यह प्रयास अध्ययन की वस्तुपरकता को ही प्रतिष्ठित नहीं करता, वरन् इतिहास की विकास गति को भी आगे बढ़ाता है। ऐतिहासिक तथ्य के रूप में अध्ययन की वस्तुपरकता प्रो. कार के मत में व्याख्या के प्रश्न से संबद्ध रहती है और व्याख्या का यह तत्व इतिहास के हर तथ्य से संलग्न रहता है।

21.8 तथ्यों की व्याख्या

व्याख्या ही ऐतिहासिक तथ्यों का अर्थ प्रदान करती है। इससे अर्थ जहां प्रासंगिक बनता है, उसके आधार पर वस्तुस्थिति स्पष्ट होती है तथा अन्य तथ्यों के साथ उसका अन्तः सम्बन्ध दिखलाई देता है। इस प्रकार इतिहास को समझने के लिए व्याख्या सशक्त माध्यम के रूप में उपयोगी सामग्री प्रदान करती है। प्रो० कार ने इसको स्पष्ट करते हुये लिखा है कि "व्याख्या वस्तुतः इतिहास को जीवन देने वाले रक्त के समान है।" किन्तु कार इतिहास दार्शनिक आर० जी० कॉलिंग वुड ने शुद्धतः व्याख्यावादी विचार से सहमत नहीं है। इतिहासकार के सम्मुख संबंधित विषय के सभी ज्ञात और ज्ञातव्य तथ्य रहने चाहिए, तभी वह व्याख्या को पर्याप्त व्यावहारिक स्वरूप प्रदान कर सकता है।

व्याख्या के स्वरूप और उसकी प्रकृति पर इतिहासकार की मनः स्थिति का भी किसी न किसी तरह निर्णायक प्रभाव रहता है। यथा, - सल्तनतकालीन इतिहासकार जियाउद्दीन बरनी की तारीख-ए-फीरोजशाही

में उसकी धार्मिक भावना का। अतः अध्येता को चाहिए कि वह तथ्यों के अध्ययन करने के पहले इतिहासकार का अध्ययन करें अथवा उसकी लेखन-शैली, उसके इर्द-गिर्द के वातावरण तथा उसकी मानसिकता की जांच-परख करें। प्रो० कार ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि "जब आप इतिहास की कोई पुस्तक पढ़ें तो हमेशा कान लगा कर उसके पीछे की आवाज को सुने। अगर आपको कोई आवाज सुनाई नहीं पड़ती तो आप एकदम बहरे हैं अथवा आपका इतिहासकार एकदम बोदा है।"

प्रसिद्ध इतिहास दार्शनिक बेनेदेत्तों क्रोचे ने अपनी पुस्तक "इतिहास सिद्धांत तथा व्यवहार" में इतिहास को सम-सामयिक इतिहास के धरातल पर अवलोकन करते हुए इतिहास लेखन में विवरण के स्थान पर तथ्यों के मूल्यांकन पर बल दिया हैं। उसके मत में इतिहास का उद्देश्य "वर्तमान की आंखों से तथा वर्तमान की समस्याओं के प्रकाश में अतीत को देखना" अर्थात तथ्यों का आधुनिक आवश्यकता के अनुरूप मूल्यांकन करना है। इस प्रकार क्रोचे के विवरण का स्वरूप तथ्य है वहां मूल्यांकन के मायने व्याख्या है। क्रोचे के वैचारिक शिष्य कालिंगवुड के मत में "इतिहासकार जिस अतीत का अध्ययन करता है वह मृत अतीत नहीं वरन् वर्तमान में जीवित रहता है। क्योंकि विचार का इतिहास होता है।" अतः इतिहासकार जिस इतिहास का अध्ययन करता है। उसके विचारों को वह अपने मन में पुनर्निर्माण करता है। पुनर्निर्माण की यह प्रक्रिया इतिहासकार के द्वारा किये गये तथ्य-निर्वचन और व्याख्या निर्धारित करती हैं। तथ्यों की व्याख्या के महत्त्व को स्वीकार करने वाले कालिंगवुड के अन्य समर्थकों में डिल्थै ओर प्रो० ओकशाट भी हैं। ओकशाट के अनुसार "इतिहास इतिहासकार का अनुभव है; जिसका निर्माण इतिहास लेखन द्वारा वह स्वंय करता है।" इस रूप में इतिहास-लेखन जहां व्याख्या से सम्बन्धित है वहां अनुभव तथ्यपरकता से। अतः इतिहास में तथ्य और व्याख्या एक दूसरे की पूरक प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया के द्वारा ही ऐतिहासिक दृष्टिकोण या उद्देश्य का निर्माण होता है।

21.9 तथ्य एवं मूल्य

इतिहास का प्रयोजन नापने के लिये हमें अध्ययनगत इतिहास का उद्देश्य अथवा उसमें अन्तर्निहित मूल्य को परखना होगा। वैसे तथ्यों के साथ-साथ मूल्य भी प्रतिमान के रूप में परिलक्षित होते हैं, किन्तु कभी विशेष काल एवं देश के परिवेश में मूल्य बदल जाते हैं, तो उनके साथ तथ्य भी अपना अर्थ बदल देते हैं। किन्तु इस अन्तर्क्रिया में व्याख्या की उपस्थिति एवं वर्तमान के आदर्श की प्रमुख भूमिका रहती है। इतिहासशास्त्री प्रो. कार लिखता है कि "हमारे परिवेशगत तथ्यों की हमारी तस्वीर हमारे मूल्यों द्वारा बनती है अर्थात् उन श्रेणियों के द्वारा जिनके माध्यम से हम मूल्यों तक पहुंचते है। और यह तस्वीर एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है" ..... इस प्रकार "मूल्य तथ्यों में प्रवेश कर उनके आवश्यक अंग बन जाते हैं।" दास प्रथा, रंग भेद, बाल श्रम का शोषण आदि किसी समय ऐतिहासिक तथ्य थे, जिन्होंने इन परिस्थितियों को सम्मानजनक बनाया था। किन्तु आधुनिक मूल्य के अनुसार ऐसे तथ्य अनैतिक और अमानवीय दृष्टि से वर्तमान में प्रासंगिक परिवर्तन का स्वरूप धारण कर

वांछित उद्देश्य को स्थापित कर रहे हैं। भारतीय समाज के अतीत के तथ्यों में जाति-प्रथा, सती प्रथा; बाल विवाह आदि उचित माने जाते थे, किन्तु आवश्यकतानुरूप मूल्यों में परिवर्तन के फलस्वरूप ऐसे तथ्यों के अर्थ, यथा- असामाजिक अनुचित, पापयुक्त, शोषण आदि में परिवर्तित हो गए। इस प्रकार तथ्यों के साथ उससे संशलिष्ट मूल्यों का बदल जाना प्रकट करता है कि "तथ्य और मूल्य अन्योन्याश्रित हैं।" ई. एच. कार के अनुसार "मूल्यों तथा तथ्यों की परस्पर निर्भरता एवं किया-प्रतिक्रिया के माध्यम से ही इतिहास में प्रगति की उपलब्धि होती है। वस्तुनिष्ठ इतिहासकार वही है जो इस अन्योन्याश्रित प्रक्रिया में गहरा उतरता है।" तथ्य, व्याख्या और मूल्य के मध्य संतुलन स्थापित रखने वाला इतिहास ही वस्तुपरक इतिहास है। क्योंकि गतिहीन इतिहास में इनका भेदभाव किया जा सकता है, किन्तु ऐसा इतिहास अर्थहीन ही होगा। वस्तुतः इतिहास गति, प्रगति और परिवर्तन में निहित होता है।

इतिहास में मूल्य व्यवस्था का निर्णय भी इतिहासकार के वर्तमान परिवेश से संबद्ध होता है जो कि प्राचीन से वर्तमान के तुलनीय दृष्टिकोण द्वारा नैतिक और मानवीय तथ्यों में व्याख्या द्वारा व्यक्त होता है। यदि किन्हीं विशेष प्रकार के मूल्य से प्रभावित होकर इतिहासकार तथ्यों का अध्ययन करता है तो ऐसा अध्ययन अन्य प्रकार के मूल्यों से प्रभावित होकर किये गये अध्ययन से भिन्न हो जाता है, जैसे कि यूरोप के इतिहास के बारे में भारतीय बौद्ध धर्म से प्रभावित कोई इतिहासकार इतिहास लेखन करता है तो उसका दृष्टिकोण यूरोप के पाठकों को अपरिचित लगेगा, जबकि बौद्ध अनुयायियों को वह मूल्याश्रित। इस स्थिति में पाठक इतिहासकार की मूल्य-धारणा से परिचित होकर ही अपना उद्देश्य पूर्ण कर सकता है। इसी क्रम में स्वीकृत संदर्भ के ज्ञान के अभाव में कोई भी इतिहासकार इतिहास के मूल्य और निर्णय के साथ न्याय नहीं कर सकता है; यदिवह सत्य-असत्य, अच्छा-बुरा, नैतिक-अनैतिक, आदर्श आदि का परिवेशगत अर्थ नहीं जानता तो उसका लेखन इतिहास संगत नहीं है।

किन्तु ऐतिहासिक मूल्य की अवधारणा के अन्तर्गत इतिहासकार मात्र वर्तमान परिवेश के आदर्श पर ही नहीं ठहर जाए इसलिए आवश्यक है कि अतीत के मूल्यों के संदर्भ में वर्तमान के तथ्यों का निरूपण करें। इससे जहां अतीत का मूल्य अतीत की आंखों से देखा जा सकेगा वहां वर्तमान के आदर्श से उसकी वैज्ञानिक व्याख्या संभव हो सकेगी।

21.10 वस्तुपरकता एवं तथ्य

इतिहास में सत्य का वर्णन करने की दृष्टि से आवश्यक है कि इतिहासकार में वस्तुपरक दृष्टिकोण विद्यमान हो। इसके लिये तथ्य ही आवश्यक माध्यम है। अतः इतिहासकार की वस्तुपरकता तथ्यों की वस्तुपरकता कही जा सकती है। किन्तु तथ्यों की वस्तुपरकता ही सत्य है तो समान तथ्यों पर आधारित इतिहास के निष्कर्ष भिन्न-भिन्न अथवा परस्पर विरोधी नहीं दिखने चाहिये, क्योंकि समान तथ्यों की वस्तुपरकता समान ही होगी। इस प्रकार समान तथ्यों के होते ऐतिहासिक अध्ययन

का वस्तुपरक नहीं होना बतलाता है कि तथ्यों की व्याख्या ही वस्तुनिष्ठ होती है। तथ्यों की व्याख्या करते समय इतिहासकार अतीत, वर्तमान और भविष्य के सम्बन्धों में वस्तुपरकता का ध्यान रखकर ही ऐतिहासिक अध्ययन को वस्तुनिष्ठ बनाता है। इस मायने में प्रो. कार का यह कथन उपयुक्त है कि "इतिहास की वस्तुपरकता तथ्यों की वस्तुपरकता नहीं है अपितु तथ्यों तथा उनकी व्याख्या के अनन्तर अतीत, वर्तमान एवं भविष्य के संबंधों की वस्तुपरकता है।"

21.11 अभ्यासार्थ प्रश्न

1. तथ्य क्या है? इनका ऐतिहासिक तथ्य से अन्तर स्पष्ट कीजिए।
2. ऐतिहासिक तथ्य किस प्रकार बनते हैं?
3. विशिष्ट तथ्य एवं मूलभूत तथ्य की व्याख्या कीजिए।
4. ऐतिहासिक तथ्यों के बारे में कार्ल बेकर के विचार का वर्णन करिए।
5. इतिहास की वस्तुपरकता मुख्य रूप से तथ्यों पर आधारित नहीं होती। क्या आप इससे सहमत हैं?
6. "तथ्य कभी नहीं बोलते" से आप क्या समझते हैं? व्याख्या के संदर्भ में इसका विवेचन कीजिए।
7. ऐतिहासिक तथ्यों के मूल्य काल-क्रम के अनुसार किस प्रकार परिवर्तन कर लेते हैं? सोदाहरण समझाइये।
8. स्रोत कितने प्रकार के होते हैं तथा उनका तथ्य निर्माण में क्या महत्व है, लिखिये?

21.12 संदर्भ विचार

(1) "तथ्य मछुआरे की पटिया पर पड़ी मछलियों की तरह होते हैं"

(2) "व्याख्या, तथ्यों की गुठली के चारों ओर लिपटा विवादास्पद गूदा है"

(3) "तथ्य अनुभव के आंकड़े होते हैं जो निष्कर्ष से भिन्न होते हैं"

(4) "तथ्यों का भाग्य विधाता इतिहासकार है"।

(5) "व्याख्या इतिहास के जीवन का रक्त है"।

21.13 संदर्भ ग्रंन्थ

(1) कार, ई. एच. - इतिहास क्या है? मेकमिलन, दिल्ली (1979 संस्करण)

(2) कॉलिंगवुड, आर. जी - द आइडिया ऑफ हिस्ट्री, आक्सफोर्ड (1978 संस्करण)

(3) वाल्श, डब्ल्यू. एच. - इन्ट्रोडक्शन टू फिलासफी ऑफ हिस्ट्री लन्दन (1967)

(4) राउज, ए.एल - द यूज ऑफ हिस्ट्री, पेलिकन बुक्स (1971)

(5) ड्रे - फिलासफी ऑफ हिस्टरी, प्रेंटिस हाल (1964)

(6) डेबिड डब्ल्यू. नोबल - हिस्टोरियन्स अगेन्सट हिस्टरी, मिनेसोटा प्रेस (1965)

(7) पाण्डे, जी.सी. - इतिहास स्वरूप एवं सिद्धान्त, राज. हिन्दी ग्रंथ अकादमी (1973)

(8) पॉचाल, एच.सी. - इतिहास का अर्थ एवं पद्धति, रिसर्च पब्लिकेशन दिल्ली।

(9) शेक अली, बी. - हिस्टरी इट्स थ्योरी एण्ड मेथड, मेकमिलन, दिल्ली

इकाई - 22

इतिहास में वस्तुनिष्ठता

22.0 उद्देश्य

22.1 प्रस्तावना

22.2 इतिहास में वस्तुपरकता की अभिधारणा

22.3 इतिहास में वस्तुनिष्ठता

22.3.1 वस्तुनिष्ठ तथ्यता

22.3.2 वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण

22.3.3 वस्तुपरक व्याख्या

22.4 मूल्य एवं उद्देश्य

22.5 अभ्यासार्थ प्रश्न

22.6 संदर्भ विचार

22.7 संदर्भ ग्रन्थ

22.0 **उद्देश्य:**

इस इकाई के अध्ययनोपरांत आप जान पायेंगे कि -

(i) इतिहास में वस्तुपरकता की अभिधारणा क्या है?

(ii) इतिहास में वस्तुनिष्ठता किस प्रकार संभव है?

(iii) वस्तुनिष्ठता का मूल्य एवं उद्देश्य क्या है?

22.1 **प्रस्तावना:**

वस्तु या पदार्थ (Object) का प्रत्यक्ष अनुभव या आभास करना ही वस्तुपरकता (Objectivity) है। इतिहास में वस्तुपरकता का विवेचन करने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि इतिहास का सम्बन्ध मानव की क्रियाओं अथवा प्रतिक्रियाओं से संबंधित है, जो अनुभवशील या आभासित तो हो सकती है, किन्तु प्रत्यक्ष नहीं। इस रूप में क्या इतिहास में वस्तुपरकता संभव है? इस प्रश्न पर विचार करने के पूर्व हमें उन मतों का अवलोकन करना होगा जहां से प्रत्यक्षीकरण और वस्तुपरकता का इतिहास में प्रयोग करने का प्रयास आरम्भ हुआ था।

22.2 **इतिहास में वस्तुपरकता की अभिधारणा :**

सत्रहवीं शताब्दी में आधुनिक विज्ञान के उदय ने अनुभववादी विचारधारा में मिमांसित ज्ञान के तत्व अनुभव तथा आभार के स्थान पर साक्ष्य तथा प्रत्यक्ष अनुभव मात्र को ज्ञान के प्रमाणित आधार के रूप में प्रतिष्ठित किया। इतिहास में भी इसी के फलस्वरूप अनम्य और अपरिवर्तनीय तथ्यों का निरूपण करने हेतु समीक्षात्मक रीति-विज्ञान को विकसित किया गया। अट्ठारहवीं शताब्दी तक इतिहासकार इसी विचार धारा से प्रेरित होकर अपने लेखन कार्य में संलग्न रहे। इसके समानान्तर इतिहास के चिन्तनशील विद्वानों ने प्रकृति के ज्ञान तथा इतिहास के ज्ञान के मध्य स्पष्ट अन्तर बतलाते हुए इतिहास में तर्क द्वारा यथार्थ प्रस्तुत करने इतिहास की घटनाओं में सामान्यीकरण करने के स्थान पर विशिष्टिकरण की खोज को ही इतिहासकार का लक्ष्य निश्चित किया। किन्तु शुद्ध विज्ञानवादी दार्शनिकों ने तर्क शैली द्वारा यह प्रश्न खड़ा कर दिया कि सामान्यीकरण को अस्वीकार करने पर तथा किसी बाह्य प्रतिमाह का व्यवहार असंभव मानने पर भी "किसी समय-विशेष में किसी विशेष मानव समाज ने एक विशेष प्रकार का विश्वास रखा और एक विशेष रूप में कार्य किया "जो कि बिना सामान्यीकरण के कैसे संभव है? हर्डर नामक जर्मन दार्शनिक ने मनुष्य अर्थात् इतिहासकार को मात्र तर्कशील ही नहीं माना अपितु उसे निश्चयशील एवं अनुभव करने वाला प्राणी भी बतलाया है। उसके अनुसार मनुष्य को इतिहास की सम्पूर्णता समझने के लिए तर्क की अपेक्षा कुछ और अधिक की आवश्यकता होती है। मानव अतीत को समझने के लिऐ हर्डर ने स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण अपनाते हुए समझाया कि "इतिहासकार को अतीत के अन्दर जा कर उसकी वास्तविकता का अनुभव करना चाहिये"। अर्थात् तर्क तथा अनुभव का संतुलित पुनर्स्थापन ही अतीत का यथार्थ एवं विशिष्ट स्वरूप बनाता

है। इस प्रकार हर्ड ने इतिहास लेखन या अनुसंधान के लिए इतिहासकार में अन्तदृष्टि के तत्व को प्रमुखता प्रदान की, किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के क्रान्तिकालीन युग में इतिहास का उक्त स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण फीका पड़ने लगा तथा शनैः शनैः इतिहास को इतिवृत के स्थान पर सामाजिक विज्ञान के रूप में करने की अभिलाषा ने इतिहासविदों को वैज्ञानिक चिंतन की ओर अग्रसर किया।

वैज्ञानिक-चिंतन का प्रथम इतिहासविद् लियोपोल्द रान्के (1795-1885 ई) था। रोमन और जर्मन जातियों का इतिहास नामक अपनी कृति की भूमिका में रान्के ने लिखा - "एस बिल ब्लोस त्साइगन बी एस आइगेन्तलिश गेवेजन इस्त" जिसका अभिप्रायः है कि "इतिहासकार का कर्त्तव्य है कि जैसा भी भूतकाल में हुआ है उसका वैसा ही वर्णन करें"। इससे इतिहास की भ्रान्तियों का निवारण आसानी से होता है। विश्व-इतिहास नामक इतिहास-ग्रंथ में रान्के ने कुछ मान्यताओं पर प्रकाश डाला, जिनके अनुसार इतिहास के नेता और अभिनेता दैवी शक्तियों के वाहन होते हैं। व्यक्ति और जातियां विश्व प्रगति के उपकरण हैं। दैवी शक्तियों का आभास विचारों द्वारा मिलता है। इन विचारों की अन्तःप्रक्रिया में इतिहास का रहस्य छिपा हुआ है। इस प्रकार रान्के के व्यवहारवादी इतिहास-चिन्तन में मौलिक सामग्री के अन्वेषण तथा विश्लेषण के प्रति जागरूकता तथा तथ्य प्रतिपादन के लिये लिखित सामग्री का साक्ष्य अनिवार्य था। बेनेदेत्तो क्रोंचे नामक इटालियन इतिहासकार ने रान्के के द्रष्टिकोण की आलोचना करते हुए भी यह स्वीकार किया है कि "रान्के की आलोचना में वैज्ञानिकता, उसकी शैली में कलात्मकता और चरित्र-चित्रण में सर्वांगीणता विद्यमान थी"। रान्के के पश्चात् मामसेन ने भी ऐतिहासिक स्रोतों की वैज्ञानिकता पर बल दिया। वहीं पीएर गुययाम गीजों (1787-1874 ई०) ने तथ्यों की खोज तथा उनका निरूपण इनके पारस्परिक संबंधों की गवेषणा एवं इनके रूप व गति को सजीवता प्रदान करना इतिहासकार का कर्त्तव्य बतलाते हुए तथ्यवादी इतिहास को सच्चा इतिहास माना। गीजों के शिष्य विक्टर घुरूई (1811-1894 ई०) के विचार में वैज्ञानिक इतिहास का अर्थ घटनाओं को कार्य-कारण श्रृंखला से स्पष्ट करना अर्थात् व्याख्यायित करना होता है, जबकि तथ्यवाद के प्रबल समर्थक लार्ड एक्टन (1834-1902 ई०) ने केम्ब्रिज विश्वविद्यालय के रेजीयस चेयर" के प्राध्यापक पद पर रहते हुए कैम्ब्रिज माडर्न हिस्ट्री की योजना में इतिहास के प्रत्यक्ष 'अनुभव के अन्तर्गत केवल तथ्य पर ही बल दिया था। शुद्ध विज्ञानवादी विचारधारा के इतिवृतात्मक दिशा वाले इतिहासविदों के साथ-साथ समाज-विज्ञान धारा के प्रवृति मूलक दिशा में तथ्यों के संबंध और उनमें निहित नियमों की गवेषणा का लक्ष्य मानने वाले इतिहासकारों में आगस्त काम्ते ने सामाजिक भौतिक विज्ञान की अवधारणा में ऐतिहासिक तथ्यों के वस्तुनिष्ठ विवेचन द्वारा आन्तरिक नियमों की स्थापना को स्वीकार करते हुए बतलाया है कि इन नियमों द्वारा भावी गति-विधि का आभास हमें मिल सकता है। इस प्रकार बीसवीं शताब्दी तक वैज्ञानिक अवधारणा के अन्तर्गत वस्तुपरक इतिहास को सच्चा इतिहास माना जाने लगा। विज्ञान के सामान्यीकरण, कमबद्धता, प्रयोग तथा भविष्य वाणी की तरह इतिहास में घटनाओं के

तथ्य, कार्यकारण, व्याख्या और विश्लेषण द्वारा प्रस्तुत किये जाने की प्रवृति का प्रचलन हुआ।

22.3-इतिहास में वस्तुनिष्ठता

यह तो स्पष्ट है कि इतिहास में वस्तुनिष्ठता इतिहासकार द्वारा निर्मित होती है। इसके लिये इतिहासकार में घटनाओं से प्रत्यक्षीकरण, घटनाओं का तथ्यीकरण, घटनाओं की वैज्ञानिक व्याख्या और इनके परस्पर अन्तः सम्बन्धों से उपार्जित भविष्य वाणी या विश्लेषण करने वाला ज्ञान विद्यमान होना चाहिये। इस प्रकार के ज्ञान को आर०जी० कालिंगवुड़ ने ऐतिहासिक ज्ञान के रूप में उद्‌बोधित किया है। वर्तमान में अतीत का सत्यापन करना ही ऐतिहासिक ज्ञान है। यह सत्यापन इतिहासकार के मन द्वारा मन में वस्तुगत हो सकते हैं। अर्थात् यह अनुभूति से अनुभव की ओर ले जाने वाली ऐसी प्रक्रिया है जो वर्तमान के प्रत्यक्ष साक्ष्य द्वारा सम्पूर्ण अतीत को जानने का चिन्तन है। ऐसे साक्ष्य हमें तत्कालीन लिखित अलिखित स्रोतों और स्मृतियों द्वारा प्राप्त होते हैं। इस प्रकार साक्ष्य ही एतिहासिक तथ्य का निर्माण करते हैं। क्या इतिहास में तथ्य की वस्तुनिष्ठता सम्भव है?

22.3.1 वस्तुनिष्ठ तथ्यता :

इतिहास में वस्तुनिष्ठता के लिए आवश्यक है कि इतिहासकार के लेखन में वस्तुपरक दृष्टिकोण विद्यमान हो। ऐसा दृष्टिकोण डोनाल्ड वी० गोरोन्सी के मत में "व्यक्तिगत पक्षपात ओर पूर्वाग्रह से मुक्त हो" तो इतिहासकार के द्वारा चयन किये गए ऐतिहासिक तथ्यों की वस्तुपरकता स्वतः प्रकट हो जाएगी। किन्तु इतिहासकार एक व्यक्ति ही होता है और यह पूर्णतः सम्भव नहीं कि वह तथ्य-निर्धारण में निरपेक्ष रहते हुए इनका प्रयोग कर सके। यदि ऐसा हो सकता तो एक ही प्रकार के तथ्य भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त नहीं किये जा सकते थे। 1857 ईस्वी की भारतीय प्रतिक्रिया की घटना एक तथ्य होते हुए भी कुछ इतिहासकारों की दृष्टि में विद्रोह तो कुछ की नजर में क्रान्ति थी। इसलिए एक्टन समर्थक तथ्यवादी विद्वानों को तथ्यों की वस्तुनिष्ठता में व्याख्या की वस्तुपरकता को स्वीकार करना पड़ा था। ई०एच०कार तथ्य एवं व्याख्या के मध्य संबंधों की वस्तुपरकता को महत्व देता है। कार के अनुसार तथ्य कभी भी शुद्ध रूप में नहीं मिलते हैं, वे हमेशा इतिहासकार के मस्तिष्क से प्रभावित होकर इतिहास में आते है। प्रत्येक इतिहासविद् अपने मानसिक स्तर तथा अपनी कल्पनात्मक समझ के आधार पर तथ्यों का अंकन करता है। अतः तथ्यात्मक इतिहास की वस्तुपरकता इतिहासकार की तत्सम्बन्धी योग्यता से प्रभावित होती है, जो एक जैसी नहीं हो सकती। पर सत्य अन्वेषी इतिहासकार संतुलित विवेक द्वारा वैयक्तिक आग्रह या पक्षपात से दूर रहने का प्रयत्न अवश्य करता है, जो उसकी वस्तुनिष्ठ दृष्टि को बनाने में प्रबल कारक है। कांट के अनुसार विज्ञान भी पूर्णतः वस्तुनिष्ठ नहीं होकर प्रतिभासानिष्ठ होता है। अतः ज्ञान विभिन्न

कल्पनाओं के अनुसार प्रतीतियां की योजना होता है, जो प्रमाण एवं साक्ष्य द्वारा विषय को प्रमाणित बनाता है या यथार्थपरक बनाता है। इतिहास में तथ्यों का चयन "ऐतिहासिक न्याय" प्रणाली द्वारा होता है, जिसमें इतिहासकार एक न्यायाधीश के रूप में इतिहास के साक्ष्यों का परीक्षात्मक एवं प्रमाणात्मक विधि से अपने निर्णयों को "ऐतिहासिक-ज्ञान" के माध्यम से अप्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष में देखते हुए तथ्यात्मक निर्णयों को प्रकट करता है। यह तथ्य सर्वथा सत्य नहीं है किन्तु विश्वस्त सत्य है।

तथ्यों की वस्तुनिष्ठता पर संशयग्रस्त होने का आरोप लगाया जाता है कि इतिहासकार वर्तमान में प्राप्त तथ्यों द्वारा अतीत को देखते हुए काल-चेतना (Time Sense) को गौण कर देता है। प्रत्येक युग की अपनी-अपनी ध्वनि होती है। यदि इतिहासकार वर्तमान की ध्वनि को अतीत में आरोपित करेगा तो वह इतिहास में वस्तुपरक-लेखन से हट जाएगा। इतिहासविद् कार्लबेकर, ईसाइयां बर्लिन, बुशमेकर, हेजलिट आदि ने वस्तुनिष्ठ तथ्यता की सम्भावना तक को अपने मत में अस्वीकार किया है। इनके अनुसार भाषा का प्रयोग, तथ्यों के चयन की प्रणाली, व्याख्या आदि इतिहासकार के देश, वातावरण, (जिसे वर्लिन ने अभिप्राय (Opinion) का वातावरण कहा है) रूचि, रूढ़ि, परम्परा, राजनीतिक स्थिति तथा व्यक्तिगत स्वभाव से अवश्य प्रभावित होगी। अतः इतिहास में तथ्य कभी भी वस्तुनिष्ठ नहीं हो सकते और इसलिये इतिहास में वस्तुनिष्ठता संदिग्ध होती है। क्रोच के कथनों में इतिहास समसामयिक विचारों का इतिहास होता है जिसका अर्थ हुआ कि इतिहासकार वर्तमान की दृष्टि से व्यतीत का मूल्यांकन करता है। इस रू में इसका संबंध वर्तमान की आवश्यकता से संबंधित हो जाता है और इतिहासकार विषयपरक दृष्टिकोण अपनाने लगता है। यदि वह इस पद्धति को नहीं अपनाता है तो उसके लिए हिटलर, गांधी, नीरो तथा अशोक में भेद करना कठिन हो जाऐगा।

तथ्यात्मक वस्तुनिष्ठता विज्ञान के प्रयोगों की तरह वस्तुपरक नहीं हो सकती, क्योंकि मानव बुद्धि द्वारा उपार्जित होने के कारण इसमें दोष उत्पन्न होने स्वाभाविक हैं। किन्तु ऐसे दोष विज्ञान में भी विद्यमान होते हैं। यदि ऐसा नहीं होता तो विज्ञान का एक आविष्कार परिष्कृत आविष्कारों का स्वरूप ग्रहण नहीं कर सकता था और विज्ञान जड़ ज्ञान के रूप में स्थिर हो जाता। अतः दोषों का परिष्कार करते हुए इतिहास की निरन्तरता को स्थापित रखना अथवा इतिहास की प्रगतिमूलक अभिधारणा को ध्यान में रखते हुए विवेक के प्रयोग द्वारा ऐतिहासिक वस्तुपरकता को स्पष्ट करना ही तथ्यों की वस्तुनिष्ठता है।

22.3.2 वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण:

इतिहासकार की भूमिका वस्तुपरक इतिहास की मुख्य बाधा है। यदि कोई इतिहासकार "इतिहास की भावना" या दृष्टिकोण को प्रस्तुत करता है तो मूलतः वह स्वयं की भावना की प्रस्तुति कर

रहा होता है। प्रसिद्ध इतिहास दार्शनिक आर० कॉलिगवुड ने "दी आइडिया ऑफ हिस्ट्री" में लिखा है कि "सन्त आगस्तीन आदिकालीन ईसाइयत, टिलमाण्ट सत्रहवीं शताब्दी के फ्रांसीसी, गीबन अठारहवीं सदी के अंग्रेज तथा मामसेन उन्नीसवें शतक की दृष्टि से इतिहास को देखते थे। इनमें से प्रत्येक का दृष्टिकोण उसके लिए एकमात्र सम्भव दृष्टिकोण था"। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक फ्रायड ने भी दृष्टिकोण की वस्तुपरकता पर संशय किया है, क्योंकि इतिहास मात्र तथ्यों का संकलन ही नहीं अपितु इसमें मानव-मस्तिष्क की महत्वपूर्ण भूमिका भी सम्मिलित होती है। इसी सन्दर्भ में एक्टन के उत्तराधिकारी सर जार्ज क्लार्क ने वस्तुपरक ऐतिहासिक-सत्य जैसी स्थिति से इन्कार करते हुए लिखा था कि "इतिहास का कोई अर्थ नहीं वरन् असंख्य अर्थ होते हैं और उनमें से कोई भी एक दूसरे से ज्यादा सही नहीं होता। "अर्थात् प्रत्येक दृष्टिकोण विषयनिष्ठ होता है।

किन्तु इतिहास में वस्तुपरकता जैसी स्थिती नहीं होती तो क्या कारण है कि एक एतिहासकार की वस्तुनिष्ठता की प्रशंसा की जाती है या एक को दूसरे इतिहासज्ञ की तुलना में अधिक विश्वसनीय माना जाता है। शायद इसका कारण इतिहासकार द्वारा तथ्यों के महत्व के निर्धारण में सही या वस्तुनिष्ठ मानकों का प्रयोग करना है। ई०एच०कार ने वस्तुनिष्ठता के दो आशय बतलाये हैं।- (1) इतिहासकार में इतिहास और समाज में निर्धारित उसके अपने सीमित दायरे के दृष्टिकोण से ऊपर उठने की क्षमता है और (2) इतिहासकार में अपनी दृष्टि को भविष्य में इस प्रकार प्रक्षेपित करने की क्षमता है कि उसे अतीत के बारे में अन्य इतिहासकारों में कहीं गहरी और अपेक्षाकृत स्थायी अन्तदृष्टि प्राप्त हो सकी है। इस प्रकार जो इतिहास इन विशेषताओं से युक्त होता है वह अन्य की अपेक्षा अधिक वस्तुनिष्ठ होता है। पर कार्लबेकर ने लिखा है कि "इतिहास हमेशा इतिहास का पुर्नलेखन होता है"। इस प्रकार इतिहास की पुर्नरचना प्रत्येक इतिहासकार की आन्तरिक भावनाओं के अनुकूल हो जाती है। इसे हम औरंगजेब की धार्मिक नीति के बारे में लिखे गए सर यदुनाथ सरकार तथा डा० फारूकी के दो भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण के उदाहरण या अकबर के बारे में उसके समकालीन इतिहासकार अबुल फजल तथा अबदुल कादिर बदायूंनी के अलग-अलग दृष्टिकोण द्वारा देख सकते हैं। किन्तु यह दो दृष्टिकोण इतिहासकार के लिए विषयनिष्ठ होते हुए भी सत्य अन्वेषण के लिए वस्तुपरक हैं। एक ही प्रकार के साक्ष्य से कभी भी विवेकपूर्ण निर्णय प्राप्त नहीं हो सकता। अतः ऐसे निर्णय के लिए या इतिहास को वैज्ञानिक बनाने के लिए भिन्न-भिन्न दृष्टि कोण ही पूर्ण सत्य की ओर ले जाने का मार्ग है। यद्यपि दृष्टिकोण विषयपरक होता है, किन्तु इसके द्वारा इतिहासकार की दृष्टि मात्र तथ्यनिष्ठ ही नहीं रहती, बल्कि वह सत्यनिष्ठ होने लगती हैं। इसीलिए ई०एच०कार० के मत में इतिहास तभी अर्थ और वस्तुनिष्ठता प्राप्त कर सकता है जब वह अतीत ओर भविष्य के

मध्य एक स्पष्ट संवाद स्थापित कर ले जो कि तथ्य और व्याख्या के घनिष्ट सम्बन्ध से ही सम्भव है। इसमें विवेकपूर्ण दृष्टिकोण ही सम्बन्ध को संतुलित रखता है।

2.3.3 वस्तुपरक व्याख्या:

व्याख्या इतिहास को जीवन प्रदान करने वाला रक्त है। बगैर रक्त के इतिहास मृत-इतिहास कहलायेगा। इतिहासविद् ई०एच० कार के अनुसार "मात्र तथ्यों के आधार पर अर्थहीन या महत्वहीन इतिहास लिखा जायगा। मात्र व्याख्या के सहारे प्रचार या ऐतिहासिक उपन्यास का निर्माण होगा, इतिहास का नहीं।" अतः तथ्यों के महत्व को प्रत्यक्ष करने वाला विचार ही व्याख्या है। प्रसिद्ध इतिहासशास्त्री ईसाइयां बरलिन ने अपनी पुस्तक "हिस्टोरिकल इनवाइटेबीलीटी" में लिखा है कि "इतिहासकार के रूप में हमारा कार्य विवरण देना तथा व्याख्या करना है, निर्णय देना नहीं"। किन्तु तथ्यों के महत्व को व्याख्या द्वारा प्रतिपादित करते हुए सवाल उठता है कि इसकी उपयोगिता आज के सन्दर्भ में क्या है, अर्थात इसका मूल्य क्या है? बेनेदेत्तो क्रोचे ने "हिस्ट्री एज दी स्टोरी आफ लिबर्टी" नामक अपनी पुस्तक में बतलाया है कि प्रत्येक विशुद्ध इतिहास समसामयिक होता है। किसी भी अतीतकालिक घटना व्यापार का इतिहास केवल इसके विवरण के रूप में हमारे लिये कोई विशेष महत्व नहीं रखता, उदाहरणार्थ- पेलोपोनेशियन युद्ध, मैक्सिको की कला अथवा अरबी दर्शन का विवरण प्रदान करने वाले इतिहास में वर्तमान की क्या अभिरूचि हो सकती है? इस प्रकार वर्तमानकालिक जीवन में अभिरूचि ही किसी को अतीत का अन्वेषण करने की ओर प्रेरित कर सकती है। पर इन अभिरूचियों की भूमिका और भी महत्वपूर्ण होती है, जो अतीत के अंशों की व्याख्याओं का भी निर्धारण करती है। यह भूमिका निर्धारण के अतिरिक्त घटनाओं के भविष्य पर प्रभाव की दृष्टि से नैतिक निर्णय जो कार के शब्दों में "मूल्य निर्धारण" है, का निर्वाह भी करती है। आर. जी. कॉलिंगवुड ने "सभी इतिहास विचार का इतिहास" नामक अभिधारणा द्वारा बतलाया है कि "इतिहास अतीत का पुर्नलेखन करते हुए इसकी समीक्षा करता है और इसके मूल्य के प्रति निर्णय बताता है तथा इसमें दिखलाई पड़ने वाली त्रुटियों का शोधन भी करता है। अतः वर्तमान में अतीत का सातत्य मूल्यांकन द्वारा सम्भव होता है, जबकि विवेक द्वारा व्याख्या की वस्तुनिष्ठता को प्रतिष्ठित किया जाता है। ई०एच०कार ने इसी सन्दर्भ में लिखा है कि "इतिहासकार का मुख्य कार्य विवरण देना नहीं बल्कि मूल्यांकन करना होता है क्योंकि वह मूल्यांकन न करे तो उसे कैसे पता चलेगा कि क्या लिखना है।"

घटना कैसे घटित हुई? घटना क्यों हुई? इसका समाज तथा व्यक्ति पर क्या प्रभाव पड़ा? आदि प्रश्न कुछ अथवा कई कारण लिये हुए होते हैं। इतिहासकार सत्य को प्राप्त करने हैतु इन कारणों का विश्लेषण करते हुए कारणों का सामान्यीकरण करता है। अर्थात् विशिष्ट कारणात्मक व्याख्या से सरल कारणात्मक व्याख्या को क्रमबद्ध

करने का प्रयत्न ही इतिहास का सत्य है। यही व्याख्या की क्रमबद्धता एवं सरलीकरण व्याख्या की वस्तुनिष्ठता या वैज्ञानिकता है। यद्यपि चार्ल्स किंग्सले, कार्ल रेमण्ड पोपर एवं ईसाइया बर्लिन इस वैज्ञानिकता के प्रति असहमत है, किन्तु अतीत, वर्तमान तथा भविष्य की ऐतिहासिक-क्रमबद्धता बगैर आधुनिक अर्थात् वर्तमान के महत्व के विशिष्ट बन कर रह जाऐगी, जिसका प्रभाव या प्रयोग उद्देश्यहीन हो जाएगा। इस रूप में महत्व ही सरलीकृत एवं सामान्य हो जाएगा। उदाहरणार्थ - भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन का सही मूल्यांकन करने के लिए इतिहासकार तत्कालीन ब्रिटिश उपनिवेशवाद एवं भारतीय राष्ट्रीयवाद के मूल अन्तर्विरोधात्मक तथ्य को केन्द्र में रखते हुए इनकी व्याख्या के रूप में दोनों ही प्रवृतियों के विकास, इनमें निहित विभिन्न घटकों का द्वन्द्व - सम्बन्ध, इनकी पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया आदि के साथ-साथ वह ब्रिटेन की भारत के प्रति नीति की तथा भारत की बढ़ती चेतना की, मुक्ति संग्राम में सक्रिय विभिन्न वर्गों की नीतियों को स्थानीय और परस्पर सन्दर्भों में ही नहीं बल्कि अन्तरर्राष्ट्रीय विकास क्रम के बीच भी रख कर मूल्यांकन करेगा। इतिहासकार राष्ट्रीय आन्दोलन को एक समरूप और रेखीय विकास की तरह नहीं, अपितु विभिन्न तत्वों के कभी निकट आते या कभी परस्पर विरोधी होते हित-पूर्ति के प्रयत्नों एवं उन पर एक साथ और अलग-अलग प्रभाव डालते बाह्य-हितों की भूमिका के बीच मुक्ति की आकांक्षा के बढ़ते आधार के रूप में प्रस्तुत करेगा। इस प्रकार वह इतिहास की व्याख्यात्मक वस्तुनिष्ठता सन् सैंतालिस में प्राप्त स्वतन्त्रता के जीत-हार और परिणतियों के प्रारम्भ के रूप में नहीं देखेगा। इससे यह स्पष्ट होता है कि इतिहासकार को क्रमबद्धता, सरलीकरण एवं कारण की बहुविधता के मध्य कार्य करना पड़ता है, जो कि बाह्य एवं आन्तरिक रूप में परस्पर विवाद, वाद एवं संवाद की निरन्तर गतिशील इतिहास के विकास की प्रक्रिया है। किन्तु इसमें सत्य का उद्घाटना परिष्कृत रूप में अनुभूत होता है। कार ने भी व्याख्या के वस्तुपरक स्वरूप के बारे में लिखा है कि "चूंकि भिन्न-भिन्न कोणों से एक पहाड़ की शक्ल भिन्न-भिन्न दिखलाई देती है। इसलिए इसका कोई वास्तविक रूप नहीं है या इसके अनन्त रूप हैं। इसी प्रकार इतिहास के तथ्यों को स्थापित करने के लिए व्याख्या चूंकि एक आवश्यक भूमिका अदा करती है। और चूंकि कोई भी वर्तमान व्याख्या पूर्णतया वस्तुपरक नहीं है, एक व्याख्या दूसरी जैसी है तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि सिद्धांत रूप में ऐतिहासिक तथ्यों की वस्तुपरक व्याख्या असम्भव है। जैन-दर्शन में स्यादवाद वस्तुपरक दृष्टि का मौलिक चिन्तन है, जो कि इतिहास में प्रयुक्त किये जाने पर व्याख्या की वस्तुपरकता को सार्थक सिद्ध करता है। प्रसिद्ध अमेरिकन दार्शनिक आर्थर ओ० लवज्वाय ने भी घटना के कार्य-कारण को समझने के लिए बहुपक्षवाद (प्लूरलिज़्म) सिद्धांत के अन्तर्गत व्याख्या और निर्णय को इतिहास में वस्तुपरकता का एक मानदण्ड स्वीकार किया है। इस प्रकार सम्यक् - व्याख्या ही वस्तुपरक व्याख्या का प्रतिदर्श कहा जा सकता है।

22.4 मूल्य एवं उद्देश्य:

आधुनिक सन्दर्भ में अतीत का अवलोकन किस प्रयोजन से किया जाता है? अथवा आज की दृष्टि में कल की प्रासंगिकता का क्या औचित्य है? आदि प्रश्न इतिहास के उद्देश्य और मूल्य द्वारा स्पष्ट किये जा सकते हैं। ईसाइया बरलिन के अनुसार इतिहास का अध्ययन-विषय ही मूल्य-संपृक्त हैं। लीओ स्ट्रास लिखता है कि "इतिहासकार किसी वस्तु के विषय में इसके स्वरूप को जाने बिना नहीं लिख सकता तथा बिना मूल्यारोपण किए वह अध्ययन के एतद्रूप विषयों को कैसे जान सकता है? अतः इतिहासकार के विचार मूल्यपरक होते हैं, जो कि इतिहासकार की वर्तमान संस्कृति से निर्धारित होते हैं"। इसीलिए एम०मेडलबाम के अनुसार इतिहासकार की व्याख्या पर परवर्तित मूल्यों का प्रभाव रहता है, जिससे वह वर्तमान की उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए अतीत के उद्देश्य के प्रति न्याय नहीं करता है। उदाहरण के तौर पर जौहर, दास प्रथा, सती-प्रथा आदि का उस युग में महत्व इतिहासकार के द्वारा आज के संदर्भ में राजनीतिक या सामाजिक आर्थिक मूल्यों की दृष्टि से उद्देश्यहीन हो जाएगा। अतः इतिहास का लक्ष्य अतीत के यथार्थ से आधुनिक मूल्य पर आर्दशवादी होने के फलस्वरूप विषयनिष्ठ होगा, जबकि होना यह चाहिए कि उस युग का मूल्यांकन उस युग के मापक से ही हो तथा आधुनिक व्याख्या के मूल्यांकन का उस युग के मूल्यांकन से तुलनात्मक विश्लेषण द्वारा उद्देश्य का चयन हो। इतिहासकार अथवा कोई भी मूल्यांकनकर्ता यह नहीं कह सकता कि अच्छा क्या है और बुरा क्या है? सत्य एवं असत्य में भेद भी वह तब तक व्यक्त नहीं कर सकता, जब तक कि उसके पास इसका कोई पैमाना नहीं हो। इस माप का अथवा मूल्यांकन का पैमाना क्या है? इसका स्पष्ट उत्तर यही है कि वस्तु का जैसा स्वरूप रहा है तथा आज की आवश्यकता के अनुरूप उसे दोनों ही रूपों में सम्मुख रखते हुए अपने विचारों को अलग से व्यक्त करना ही मूल्यांकन की वस्तुनिष्ठ-पद्धति है, जिसके द्वारा सार्थक उद्देश्य एवं मूल्य का भविष्य हेतु उपयोग किया जा सकता है। क्रिस्टोफर बलेक ने इतिहास में वस्तुनिष्ठता पर विचार करते हुए दो प्रश्न खड़े किये - (1) इतिहासकार से किस प्रकार की वस्तुपरकता की अपेक्षा की जा सकती है? तथा (2) इतने इतिहासकारों या इतिहास दार्शनिकों को वस्तुपरकता के विषय में समस्या क्यों दिखलाई देती है? इन प्रश्नों पर विचार करते हुए ब्लेक ने सुझाव दिए कि ऐतिहासिक व्यवहार के अनुसार इतिहासकार प्राप्त अभिलेखों में उपलब्ध समग्र सूचना में से कुछ चयन करने के लिए बाध्य होता है। यह निर्वचन व्यक्तिगत कारक से प्रभावित रहता है फिर भी इतिहासकार यही दावा करता है कि उसके निष्कर्ष तथ्यगत और अध्ययन वस्तुपरक है। प्रो० बटरफील्ड ने सामान्य इतिहास एवं ऐतिहासिक शोध के मध्य अन्तर बतलाते हुए स्पष्ट किया है कि सामान्य इतिहास में ऐतिहासिक संगठन और अनुमान की कुछ प्रविधियां प्रयुक्त होती हैं ताकि इस दार्शनिक चुनौती का सामना किया जा सके कि, शोधकर्ता किस प्रकार वस्तुपरक चयन कर सकता है। इसके अनुसार क्लार्क एवं ऑकशाट ने अपने मत से तथ्य के स्थान पर व्याख्या द्वारा इतिहास का प्रारम्भ माना है, जिसे इतिहास में पुनर्व्याख्यायित् किया

जाता है। इस दृष्टि से अधिकांश विद्वान लिखित इतिहास की वस्तुपरकता से असहमत होते हुए उसे विद्यमान युग से मानसिक परिवेश तथा इतिहास लेखक के व्यक्तिगत पक्षपात का प्रतिफल मानते हैं। किन्तु इनके मत के विपरीत कहा जा सकता है कि इतिहास की अनेक बातों के विषय में हमें आम सहमति प्राप्त होती हैं। अतः मात्र व्यक्तिगत पक्षपात का दर्शनारोप तर्क के आधार पर निर्मूल हो जाता है, क्योंकि एक ओर तो वह मानते हैं कि इतिहास में वस्तुपरकता नहीं होती तथा दूसरी ओर इतिहास की सामान्य विषयवस्तु पर वह सहमत हो जाते हैं। इसका महज उत्तर यही है कि दार्शनिकों की नजर में जिस प्रकार की वस्तुनिष्ठता इतिहास में होनी चाहिये, वह किसी भी प्रकार दिखाई नहीं दे सकती। इतिहास जड़-जगत का आंकलन नहीं है, अपितु चेतन-जगत में मानव प्रक्रियाओं का अवलोकन है। अतः मानव स्वभाव मानसिक परिवेश से पूर्णतः मुक्त इतिहास कभी लिखा ही नहीं जा सकता। इतिहास एक गतिशील विषय है, जिसमें बार-बार अनुसंधान द्वारा ऐतिहासिक अवधारणाओं में परिवर्तन होता रहता है। इसी कारण इतिहास में अवैयक्तिक और मौलिक विचार जड़ नहीं हो सकते, अपितु चेतना के विकास के साथ-साथ दृष्टिकोण द्वारा अभिव्यक्त होते रहते हैं।

वस्तुपकरता की समस्या के बारे में विचार करते हुए ब्लेक ने सुझाया कि वस्तुपरकता का मतलब प्रसंग के अनुसार अलग-अलग होता है। इसे मात्र विषयपरक के विलोम अर्थ में प्रयोग करने से इसकी व्यापकता सीमित हो जाती है। जैसे एक पत्रकार की सही रिपोर्टिंग, उसका तटस्थ भाव तथा उसकी अभिव्यक्ति की तर्कशील प्राणियों द्वारा स्वीकृति ही वस्तुनिष्ठ पत्रकारिता है। इतिहास में भी वस्तुपरकता का आशय उद्देश्य की सार्थकता है, जिसमें लेखक विवेकाधारित निष्पक्षता, इतिहासकारों के समाज में लेखन की प्रतिष्ठा, समीक्षक की नजर में पूर्ण तर्कयुक्त तथा शिक्षक के अध्यापन में प्रासंगिक इतिहास वस्तुनिष्ठता के निकट होता है। विज्ञान में वस्तुनिष्ठता मूल्यनिरपेक्ष होती है, वहीं इतिहास में वस्तुपरकता सत्यनिष्ठ एवं मूल्ययुक्त होती है।

डा० गोविन्द चंद्र पाण्डे ने इतिहास तथा प्राकृतिक विज्ञानों की वस्तुनिष्ठता का अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "इतिहास में विज्ञान की विशिष्ट प्रयोगात्मक सत्यापन की विधि का कोई स्थान नहीं है। इतिहासकार का उद्देश्य इतिहास लिखना होता है न कि इतिहास बनाना। फिर इतिहास में गणितसिद्ध तर्क-प्रक्रिया का भी कोई स्थान नहीं है। इतिहास वर्णनात्मक विद्या है न कि निगमनात्मक या प्रयोगात्मक। वैज्ञानिक के समान तटस्थ होकर अध्ययन की प्रवृति के बारे में पाण्डे ने उद्धृत किया है कि तटस्थता का अर्थ पक्षपात शून्यता और सत्य में आग्रह है, वहां तक तो ठीक है, क्योंकि इतिहासकार की दृष्टि न सिर्फ तथ्यनिष्ठ होती है, बल्कि सत्यनिष्ठ भी होती है। वह वस्तु के साथ मूल्य का अनुभव करता है, तर्क के साथ विवेक का उपयोग करता है और विवेक का यह प्रयोग इतिहास में इतिहासकार की बौद्धिकता को वैज्ञानिक से अधिक जागरूक कर देता है। इतिहासज्ञ तथा वैज्ञानिक दोनों ही यथार्थग्राही होते है। अतः ज्ञान को समझने की प्रक्रिया में दोनों ही यथार्थग्राही

होते हैं। अतः ज्ञान को समझने की प्रक्रिया में दोनों ही निर्णय के लिए प्रमाणश्रयी होते हैं। पर प्रमाण-प्रयोग में जहां वैज्ञानिक सामान्यीकरण एवं नियम की ओर उन्मुख होता है वहां इतिहासकार प्रमाणाश्रित परीक्षा द्वारा आलोचना के सन्दर्भ में सम्भावनात्मक अनुमान करता है, जो कि शुद्ध पद्धति है।

इतिहास व प्रकृति विज्ञानों की वस्तुपरकता प्रमाणाश्रित होने के फलस्वरूप समान होते हुए भी इतिहासकार भी निर्णय-बुद्धि के कारण भिन्न हो जाती है। इसीलिए कार ने इतिहास की वस्तुनिष्ठता को तथ्यों की वस्तुनिष्ठता न मानकर उसे सम्बन्धों की वस्तुनिष्ठता बतलाया है। यह सम्बन्ध डॉ. पाण्डे के मत में अनुभवमूलक सम्भावना और अन्तर्दृष्टिवत् परख या विवेक बुद्धि के द्वारा निर्णयन है। कार ने इतिहास में विषय (Subject) और वस्तु (Object) को इतिहासकार अर्थात् द्ष्टा (Objerver) से भिन्न नहीं माना है। वह लिखता है कि "इतिहास का एक आवश्यक दायित्व है - अतीत की विकासात्मक व्याख्या। यह प्रचलित अवधारणा कि परिवर्तन की व्याख्या किसी स्थिर और अपरिवर्तनीय मानदण्डों के आधार पर हो सकती है, इतिहासकार के अनुभव के विपरीत है। केवल भविष्य ही अतीत की व्याख्या के यन्त्र दे सकता है और केवल इसी अर्थ में हम इतिहास में पूर्ण वस्तुनिष्ठता की बात कर सकते हैं। अतीत भविष्य पर प्रकाश डालता है और भविष्य अतीत पर, यह तथ्य एक साथ इतिहास की व्याख्या भी है और इतिहास का औचित्य भी निर्धारित करता है।

जी.एम.टेवेल्यान ने इतिहास में वस्तुपरकता और विषयपरकता का संतुलित औचित्य बतलाते हुए लिखा कि "इतिहासकार को तथ्य संग्रहण में वैज्ञानिक, उनके वर्गीकरण में वैचारिक तथा प्रस्तुतीकरण में साहित्यिक दृष्टिकोण अपना चाहिये, तभी वह भविष्य में नई मानसिकता एवं अतीत के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न कर सकता है। इसके बिना इतिहास का कोई मूल्य नहीं है। अतः इतिहास का महत्व उसकी शैक्षिक महत्ता में है।" ट्रेवेल्यान की इस उक्ति से स्पष्ट होता है कि इतिहास में वस्तुनिष्ठता और विषयपरकता दोनों की गुण विद्यमान होने चाहिये। प्रो० बी० शैक अली के अनुसार "पूर्ण वस्तुनिष्ठता अलभ्य है जबकि विषयपरकता का कुछ अनुपात अनिवार्य न होकर वांछित है। किन्तु इनकी मात्रा खाने में नमक के समान होनी चाहिये, अन्यथा किसी की भी अधिकता शोरबे का स्वाद नष्ट कर देगी।" प्रो. एन. सुब्रहमनीयन ने अपनी पुस्तक "हिस्टोग्राफी" में फराडे के विचार को संयोजित करते हुए बतलाया है कि "वैज्ञानिक कुछ नहीं ग्रहण करता, किन्तु सब कुछ अवलोकन करता है। किन्तु इतिहासकार मात्र अवलोकन ही नहीं करता, अपितु मन्तव्य भी देता है। अतः वह विषयपरकता से अछूता नहीं होता"। अतः इतिहास में वस्तुनिष्ठता तथ्य्, व्याख्या, दृष्टिकोण, मूल्य तथा उद्देश्य का विवेकपूर्ण सामंजस्य का स्वरूप है, जिसके लिए इतिहासकार न्यायाधीश की तरह अपने मन्तव्य भले ही प्रकट करें न कि एक वकील की तरह अपना पक्ष प्रस्तुत करने में इतिहास को विवादपूर्ण या वस्तुपरक दृष्टि से वंचित

कर मात्र विवेचना का साधन बना दे, जिसमें विश्लेषण, सौन्दर्यपरक अनुभूति लिए साहित्य की विद्या या ज्ञान को प्रतिष्ठित करें।

22.5 अभ्यासार्थ प्रश्न:

(1) इतिहास में वस्तुपरक की अभिधारणा का आरम्भ किस प्रकार हुआ? समझाइये।

(2) तथ्य की वस्तुनिष्ठता से क्या आशय है? इतिहास में इसका महत्व बतलाइये।

(3) इतिहास में विश्वसनीयता का मापदण्ड क्या हो सकता है?

(4) "इतिहासकार का मुख्य कार्य विवरण देना नहीं, बल्कि मूल्यांकन करना होता है" - कार के इस कथन से वस्तुपरकता का क्या अभिप्राय है?

(5) जैन-दर्शन का स्यादवाद वस्तुपरक दृष्टिकोण का अच्छा उदारहण है, क्यों? लिखिये।

(6) वस्तुपरकता की समस्या पर क्रिस्टोफर ब्लैक के विचार लिखिये।

(7) "इतिहास में सत्य प्रस्तुत करने के लिए विषयपरकता की आवश्यकता भी होती है" इस विचार से आप कहां तक सहमत हैं।

(8) "इतिहासकार का उद्देश्य इतिहास लिखना होता है न कि इतिहास बनाना।" स्पष्ट करिये।

22.6 संदर्भ - विचार :

(1) "वस्तुपरकता का अर्थ बिना व्यक्तिगत, पक्षपात या पूर्वाग्रह के ऐतिहासिक तथ्यों का प्रयोग करना है।

(2) "इतिहास की व्याख्या हमेशा वर्तमान द्वारा होती है।

(3) "इतिहास इतिहासकार का अनुभव है"।

(4) "इतिहासकार की दृष्टि न सिर्फ तथ्यनिष्ठ होती है, अपितु सत्यनिष्ठ भी होती है"

(5) "इतिहास का एक आवश्यक दायित्व है, अतीत की विकासात्मक व्याख्या।

(6) "इतिहासकार को मानवीय कर्मों के सदसत का निर्णय भी करना चाहिये।"

22.7 सन्दर्भ ग्रन्थ:

(1) कार, ई.एच. - इतिहास क्या है? मैकेमिलन, दिल्ली, 1979.

(2) कालिंगवुड, आर.जी. - द आइडिया आफ हिस्ट्री, आक्सफोर्ड 1978.

(3) वाल्श, ड्ब्लू. एच. - इन्ट्रोडक्शन टू फिलासफी आफ हिस्ट्री, लन्द 1967.

(4) राउन, ए.एल. - द यूज आफ हिस्ट्री, पैलीकन बुक्स, 1971.

(5) सुब्रमनीयन, एन. हिस्टोग्राफी, कुदाल पब्लीशर्स, तमिलनाडू सन् 1978.

(6) वर्मा, लाल बहादुर - इतिहास के बारे में, दिल्ली 1984.

(7) शैक अली, बी. - हिस्ट्री इट्स थ्योरी एण्ड मैथड, मैकमिलन, दिल्ली।

(8) पाण्डे, जी.सी. - इतिहास : स्वरूप एवं सिद्धांत, जयपुर, 1973

(9) पांचाल, एच.सी. - इतिहास के सिद्धांत एवं पद्धतियां, जयपुर, 1989.

इकाई 23

इतिहास में कारण की अवधारणा

23.0 उद्देश्य

23.1 प्रस्तावना

23.2 कारण और व्याख्या

23.3 कारण और इतिहासकार

23.4 कारण तथा परिस्थितियाँ

23.5 वास्तविक तथा आधारभूत कारण

23.6 मूल्य सम्पृक्त व्याख्या

23.7 व्यक्तिगत दृष्टिकोण

23.8 निहित भविष्य

23.9 इतिहास में संयोग

23.9.1 इतिहास में संयोग - आलोचना

23.10 इतिहास में नियतिवाद

23.11 अभ्यासार्थ प्रश्न

23.12 संदर्भ ग्रन्थ

23.0 **उद्देश्य:**

(i) इतिहास में घटनाओं के कारणों की व्याख्या करना।

(ii) कारणों के विभिन्न प्रकार व रूपों को समझना।

(iii) व्यक्तिगत दृष्टिकोण एवं कारण के बीच संबंध को इंगित करना।

(iv) इतिहास में संयोग व नियतिवाद का विश्लेषण करना।

23.1 **प्रस्तावना**

प्रत्येक घटित होने वाली घटना का कारण या अनेक कारण होते हैं। एक समय था जब लोग इन घटित होने वाली घटनाओं के कारणों की तह में जाना ईश्वरीय योजनाओं में हस्तक्षेप मानते थे। परन्तु आज यह माना जाता है कि इन कारणों का पता लगाया जा सकता है और ये भविष्य की योजनाओं हेतु उपयोगी हो सकते हैं। किन्तु, प्रायः ये कारण इतने विविध और जटिल होते हैं कि इनकी व्याख्या या विश्लेषण करना कठिन हो जाता है।

लेकिन यह सत्य है कि कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है। कारण के विषय में अंग्रेज विद्वान माइकेल जे. ओकशॉट की मान्यता थी कि कारण इतिहास के शब्दकोष का अंग नहीं हैं। यह तर्क संगत प्रतीत नहीं होता इसके विपरीत प्रो. आर. जी. कलिंगवुड की मान्यता थी कि कारण वह प्रमुख तत्व हैं जो मनुष्य को कार्य करने के लिए प्रेरणा, प्रोत्साहन एवं विवश करता है। अतः इतिहासकार के लिये आवश्यक है कि वह मनुष्य को कार्य करने को विवश करने वाले तत्वों का अध्ययन कारण के रूप में करें। वह अतीत के विभिन्न तथ्यों के मध्य सम्बन्ध स्थापित करें। इन्हीं तथ्यों के आधार पर प्रो. ई. एच. कार की मान्यता है कि इतिहास का अध्ययन कारणों का अध्ययन है। वर्तमान का निर्माण अतीत की पीठिका पर होता है अर्थात् वर्तमान अतीत का परिणाम है और अतीत वर्तमान का कारण। कारणों के अभाव में परिणाम को खोजना इतिहास के उद्देश्यों की उपेक्षा करना है। प्रो. हाल्फोन का कहना है कि अनेक सरकारी अभिलेख जैसे - बिक्री, दान, विनिमय, न्यायालय में न्याय, प्रशासनिक अध्यादेश आदि सभी के पीछे कुछ कारण निहित थे। तथ्यों के संग्रह, परीक्षण और व्याख्या करते समय इतिहास इनमें अन्तर्निहित कारणों को खोजने के लिये प्रयत्नशील और सजग रहता है। अर्थात् कारण कार्य-सिद्धांत में यह बात निहित रहती है कि प्रत्येक कार्य का कोई कारण होता है और प्रत्येक कारण कार्य रूप में प्रतिफलित होता है। कारण वह है जो कार्य को उत्पन्न करे। मानवीय अनुभव की श्रृंखला परस्पर गुथी हुई है क्योंकि एक कार्य अन्य कार्यों के लिये कारण बन जाता है।

इतिहास में कारण की अवधारणा का आरम्भ अरस्तु द्वारा किया गया। उसने प्रतिपादित किया कि कारण के अभाव में किसी घटना अथवा कार्य का होना असम्भव है। इतिहास के जनक हेरोडोल्स ने अपनी कृति के आरम्भ में अपने इतिहास लेखन के उद्देश्य को परिभाषित करते हुए

लिखा था कि ग्रीक जाति बर्बर जातियों के कारनामों को सुरक्षित रखने के लिये और इन सभी चीजों के अतिरिक्त विशेष तौर से उनके पारस्परिक मुद्दों को बताने के लिये ही इतिहास की रचना की। लेकिन दूसरा यूनानी इतिहासकार थ्यूसीडाइडीज कारण की अवधारणा से पूर्णतया अपरिचित था। इस प्रकार का आरोप उस पर लगाया गया है। लेकिन कारण की अवधारणा का सही अर्थों में आरम्भ 18वीं सदी के उत्तरार्द्ध में हुआ जब आधुनिक इतिहास लेखन की नींव पड़ी। फ्रांसीसी विद्वान मान्टेरक्यू ने अपनी कृति के आरम्भ में स्वीकार किया कि प्रत्येक राजवंश के उत्थान, राजस्वकाल और पतन के पार्श्व में कुछ नैतिक था भौतिक अर्थात् सामान्य कारण होते हैं और जो कुछ घटित होता है इन्हीं कारणों के अन्तर्गत होता है। अपनी इस अवधारणा को उसने अपनी पुस्तक "एस्परी दे लुआ" में विकसित किया और इसे सामान्य सिद्धांत का रूप दिया इसके बाद दो शताब्दियों तक इतिहासकार एवं इतिहास दार्शनिक प्रयास करते रहे कि मानव जाति के विगत अनुभवों को क्रमबद्ध करके ऐतिहासिक घटनाओं के कारणों का पता लगाया जाए और उनको निर्देशित करने वाले नियमों का आविष्कार किया जाए। इन कारणों और नियमों को कभी मशीनी तो कभी जैविक, कभी अधोभौतिक कभी आर्थिक तो कभी मनोवैज्ञानिक शब्दावली में सोचा गया। किन्तु यह सर्वमान्य सिद्धान्त था कि अतीत की घटनाओं को क्रमबद्धता देकर कारण और प्रभाव के क्रम में रखना ही इतिहास है। कारण सिद्धान्त का प्रमुख उद्देश्य किसी तर्क युक्त योजना के कारण और परिणाम सम्बन्धों को क्रम बद्ध तरीके से प्रस्तुत करना है। कलिंग युद्ध के अनुसार इतिहास अतीत के मानवीय कार्यों का अध्ययन है। मानवीय कार्य अथवा घटना के कारणों को जानने का उद्देश्य किसी तर्क युक्त योजना का ज्ञान प्राप्त करना है।

यह सर्वविदित है कि इतिहास में कारण एक घटना या क्रिया होती है। लेकिन इतिहास में वैज्ञानिक अवधारणाओं के समान कारणों में एक मत नहीं होता और न ही किसी भी कार्य के लिए एक कारण निर्धारित किया जाता है। इतिहास में कारणों में मतैक्य न होने से अनेक समस्याएँ सामने आ जाती हैं। वाल्श के अनुसार - कारणों की व्याख्या में इतिहासकारों में मतैक्य न होने से इतिहास के वैज्ञानिक स्वरूप पर जबरदस्त आघात पहुँचा है। जर्मन सम्राट विलियम कैसर का व्यक्तित्व-उग्रराष्ट्रवाद का उदय, शक्ति सम्पन्न राष्ट्रों के बीच आर्थिक प्रतिस्पर्धा इत्यादि प्रथम विश्व युद्ध के कारणों के रूप में सामने आते हैं। यहीं आकर इतिहासकारों के विचारों में मत बदल जाते हैं और प्रश्न उत्पन्न होता है किस तथ्य को प्रथम विश्व युद्ध का मूल कारण स्वीकार किया जाए? कारण एक्य की समस्या इसलिए भी सामने आती है कि इतिहासकारों की कारण व्याख्या पर उनकी राष्ट्रीयता जाति धर्म एवं व्यक्तिगत दृष्टिकोण आदि का प्रभाव पड़ता है, साथ ही यह भी सत्य है कि प्रत्येक कारण किसी विशेष परिस्थितयों की ही उपज होता है। उपर्युक्त तथ्य का समर्थन कॉलिंग वुड करते हैं। उनके शब्दों में - "इतिहासकार परिस्थितियों से उत्पन्न कारणों की व्याख्या में अपने सिद्धान्त तथा व्यक्तिगत दृष्टिकोण से प्रभावित होता है।" कॉलिंग वुड के इन विचारों को पूर्णतया सत्य नहीं माना जा सकता है कि प्रत्येक घटना

मनुष्य की प्रक्रिया का परिणाम है क्योंकि कुछ घटनाएँ ऐसी भी होती हैं जिसमें मानवीय प्रक्रिया के स्थान पर प्राकृतिक कारण प्रधान होते हैं। उदाहरणार्थ - भूकम्प, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, हिमपात आदि प्राकृतिक प्रकोप मानवीय इच्छा के प्रतिकूल परिणाम देते हैं। इसी प्रकार नेपालियन बोनापार्ट के रूसी आक्रमण की विफलता का कारण हिमपात था। मुहम्मद तुगलक द्वारा अरब में कर वृद्धि की योजना भी अकाल व अनावृष्टि के परिणामस्वरूप असफल हुई। अतः इतिहासकारों को अपने ऐतिहासिक शोध में किसी भी घटना को प्रभावित करने वाले संभावित सभी कारणों की व्याख्या करनी चाहिए।

कोई भी ऐतिहासिक घटना केवल एक कारण का परिणाम कदापि नहीं होती वरन् उसके लिए एक से अधिक कारण उत्तरदायी होते हैं। रेनियर के अनुसार इतिहास में कोई घटना एक नहीं अपितु अनेकानेक कारणों का प्रतिफल होती है। इस विषय में प्रसिद्ध अर्थशास्त्री मार्शल का कथन सर्वाधिक सार्थक सिद्ध होता है कि बिना अन्य कारणों पर ध्यान दिए किसी एक कारण के प्रभाव पर केन्द्रित होने से लोगों को सावधान करने के लिए हर संभव उपाय करने चाहिए क्योंकि प्रभाव में अन्य कारणों का भी हाथ होता है जो मुख्य कारणों के साथ मिले होते हैं। उदाहरणार्थ - हम भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन के कार्य पर दृष्टिपात करें हमें कुछ महत्वपूर्ण तथा कुछ कम महत्वपूर्ण अनेक कारण मिल जाएँगे। इस सम्बन्ध में ई. एच. कार ने अपना मत इस प्रकार किया है - "जब घटनाओं का कारण प्रदान करने की स्थिति समक्ष होती है तब इतिहास एक ही ऐतिहासिक घटना के कई कारण सामने रखता है।" जैसे वोल्शैविक क्रान्ति पर विचार करते समय इतिहासकार रूस की लगातार सैनिक पराजयों-अस्वस्थ आर्थिक स्थिति, वोल्शैविकों के प्रभावी प्रचार, जार, शासन की विफलता, गरीब व शोषित मजदूरों का समूहीकरण जैसे आर्थिक, राजनैतिक, सैद्धान्तिक और व्यक्तिगत कारणों को प्रस्तुत करेगा। ई. एच. कार. एक सच्चा इतिहासकार उसी को मानता है जो इन कारणों को क्रमबद्ध और व्यवस्थित करते हुए उनके महत्वानुसार श्रेणीबद्ध भी करे। मात्र किसी घटना के विभिन्न कारणों को प्रस्तुत करना ही ऐतिहासिक शोध का उद्देश्य कदापि नहीं हो सकता। बल्कि तदुपरान्त इतिहासकार यह जानने का प्रयास करे कि उक्त घटना के उल्लेखित कारणों में सर्वाधिक प्रमुख व निकटतम कारण कौन सा है। साथ ही कारणों को क्रमशः करते समय प्रमुख कारण व सहायक कारणों की व्याख्या करता हो। जिन कारणों को एक इतिहासकार मान्यता देता है उन्हीं से वह जाना जाता है। इतिहास का प्रत्येक तर्क कारणों की प्राथमिकता से सम्बन्ध रखता है। ज्ञान के विकास के साथ-साथ ऐतिहासिक घटनाओं के कारण विविधता और जटिलता से मुक्त हो गए हैं। आज गिबन और उन्नीसवीं शताब्दी के ब्रिटिश इतिहासकार पुराने प्रतीत होते हैं क्योंकि उन्होंने आर्थिक कारणों की उपेक्षा की थी। इसके विपरीत आधुनिक इतिहासकार इस पर सर्वप्रथम स्थान देते हैं। वैसे गिबन ने रोमन साम्राज्य के ह्रास और पतन का कारण बर्बरता और धर्म की विजय बताया था। इसी प्रकार उन्नीसवीं सदी के हिंग इतिहासकारों ने ब्रिटिश शक्ति के उत्कर्ष का श्रेय उन संस्थाओं के विकास को दिया जो संवैधानिक स्वतंत्रता

पर आधारित थी। सारांश के तौर पर यह उचित प्रतीत होता है कि इतिहास से सम्बन्धित प्रत्येक तर्क उनके कारणों की प्राथमिकता के प्रश्न के इर्द-गिर्द घूमता रहता है।

23.2 कारण और व्याख्या

यह निःसन्देह सत्य है कि किसी भी घटना के पार्श्व में एक से अधिक कारण निहित होते हैं। यह इतिहासकार के स्वविवेक पर निर्भर करता है कि वह उन कारणों की क्रमबद्धता में किस कारण को मुख्य व शेष अन्य को गौण या सहायक रूप से महत्व दे। प्रत्येक इतिहासकार का अपना व्यक्तिगत दृष्टिकोण होता है और उसी के अनुरूप वह कारणों को महत्व भी प्रदान करता है। प्रत्येक इतिहासकार किसी सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक परिवेश के सान्निध्य में रहकर ही इतिहास की रचना करता है। जीवन और परिवेश की उसकी समझदारी होती है। यह निर्विवाद सत्य है कि प्रत्येक इतिहासकार की अपनी एक अस्मिता होती है। जो निश्चित तौर पर उसके लेखन पर भी प्रभाव डालती है। उसका व्यक्तित्व कितना ही सुदृढ़ क्यों न हो लेकिन वह अपने सामाजिक परिवेश से कदापि बच नहीं सकता। वह जो कुछ लिखता है वह उसके स्वयं के परिवेश, शिक्षा और मूल्य संरचना की उपज लिखता है। उसकी व्याख्याएँ उसके व्यक्तिगत विश्वासों तथा जीवन के प्रति उसके दृष्टिकोण का परिणाम होती हैं।

23.3 कारण और इतिहासकारः-

कार्य कारण ही एक ऐसा सुगम साधन है जिसके सहारे इतिहास के प्रारम्भिक स्वरूप का अवलोकन आसानी से किया जा सकता है। ई. एच. कार के अनुसार - "इतिहास वहाँ से शुरू होता है जहाँ से इतिहासकार पहले तथ्यों का चुनाव करता है और फिर उन्हें महत्वता के अनुरूप क्रमबद्ध करता है। परिणामस्वरूप वे सामान्य तथ्य बाद में ऐतिहासिक तथ्यों का रूप धारण कर लेते हैं।" यह सर्वविदित है कि सभी तथ्य ऐतिहासिक तथ्य नहीं होते। यह भी उल्लेखनीय है कि ऐतिहासिक और अनैतिहासिक तथ्यों का अंतर स्थायी और जड़ नहीं होता अर्थात्, कोई भी तथ्य जिसका संदर्भ और महत्व मिल जाए ऐतिहासिक तथ्य की श्रेणी में आ सकता है। तथ्यों के समरूप कारणों के साथ इतिहासकार का रुख कार्यरत है। दूसरे शब्दों में कारणों के साथ इतिहासकार का संबंध ठीक वैसा ही दोहरा और अन्योन्याश्रित है जिस प्रकार तथ्यों के साथ। इतिहासकार की व्याख्या ही कारणों के चयन तथा क्रमबद्धता का निर्धारण करती है। इतिहासकार अपने अध्ययन में इतिहास के अपने चुने गए क्षेत्र या पक्ष में सम्बन्धित केवल उन तथ्यों को अंकित कर सकता है जो कारणों को सुदृढ़ बनाने में प्राथमिक रूप से महत्वशील हो अर्थात् सम्बन्धित तथ्यों के छोटे अंश से ज्यादा सम्मिलित नहीं कर सकता। यदि हम इतिहासकारं की तुलना एक वैज्ञानिक से करें तो निष्कर्ष यही रहेगा कि वैज्ञानिक की दुनिया की भाँति इतिहासकार की अपनी दुनिया वास्तविक जगत की फोटो आकृति नहीं होती बल्कि एक ऐसा ढाँचा या मॉडल होता है जिसके आधार पर अपनी

दुनिया को अपेक्षाकृत सरलता से समझने एवं उस पर दक्षता हासिल करने की स्तरानुसार प्रभावपूर्ण तरीके से कोशिश करता है। इतिहासकार अतीत के उन अनुभवों को जिन तक वह सरलता से पहुँच सकता है और जो उसे अनुसंधान एवं तर्क पूर्ण व्याख्या के सुयोग्य लगते हैं सारे एवं तत्व ग्रहण करता है। तत्पश्चात् इन्हीं से वह निष्कर्ष निकालता है जो उसका निर्देशन करते हैं एक सच्चा इतिहासकार किसी घटना के कारणों की न केवल सूची बनाता है वरन् उन्हें व्यवस्थित और क्रमबद्ध भी करता है। और कारणों को उनके महत्वानुसार श्रेणीबद्ध करता है। एल. पाल नें तो मानव मस्तिष्क को कम्प्यूटर के समरूप मान लिया है। दी एन्नीहिलेशन ऑफ मैन" जो स्वयं उनकी कृति है में मानव मस्तिष्क की कार्य प्रणाली का चित्र प्रस्तुत करते हुए बताया कि - "कूड़े की बोरी में से" अवलोकिक तथ्यों को चुनता है उन्हें एक-एक कर सामने रखता हुआ सम्बन्ध अवलोकिक तथ्यों का क्रम भी देता रहता है। तथा उन समस्त असंबद्ध तथ्यों को किनारों पर फेंकता चलता है और इस प्रक्रिया को उस बिन्दु तक गतिशील रखता है जब तक कि वह "ज्ञान" की एक तकपूर्ण और युक्तियुक्त रजाई सिलकर तैयार नहीं कर लेता।" प्रो. ई. एच. कार हालांकि उक्त कथन से पूर्णतया सहमत नहीं हैं तथापि एक निश्चित दायरे में इसे स्वीकार करते हैं। कार के अनुसार - एल. पाल. का कथन इतिहास की मानसिक प्रक्रिया की तस्वीर है बशर्ते कि अनावश्यक व्यक्तिगत परकता के खतरे को एक सीमा तक स्वीकार किया जाए।"

इस प्रकार इतिहास तथ्यों एवं कारणों के चयन की ऐसी प्रक्रिया है जो ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण (तथ्यों एवं कारणों) चुनाव में सम्बन्ध रखती है। इस बात का समर्थन करते हुए हेलकार पार्सल ने भी अपने ेचार इस प्रकार व्यक्त किए हैं - "इतिहास एक चुनने की प्रक्रिया है।" इतिहासकार यथार्थ या वास्तविक कारणों को बोधगम्य एवं अनुभव-गम्य बनाता है। जिस प्रकार इतिहासकार तथ्यों के अथाह महासागार से केवल उन तथ्यों को चुनता है जो उसके लिए महत्वपूर्ण सिद्ध हो सकते हैं ठीक उसी प्रकार वह कारण और कार्य या प्रभाव की व्यवस्थित श्रृखलाओं में से केवल उनका चुनाव करता है जो ऐतिहासिक दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण होते हैं। कारणों की क्रमबद्धता ही किसी इतिहासकार की सफलता का माप-दण्ड होती है चूँकि कारणों की क्रमबद्धता ही हमें घटनाक्रम एवं समय का बोध करवाएगी तथा समस्त असम्बन्धित कारणों के परित्याग में सेहायक सिद्ध होंगी।

23.4 कारण तथा परिस्थिति:-

कार्य की उत्पत्ति तभी सम्भव है जबकि कोई कारण उसके पीछे निहित हो अर्थात् कार्य कारण का घनिष्ठ संबंध होता है। संक्षेप में कार्य कारण से संबंध का अर्थ विभिन्न घटनाओं के मध्य सामंजस्य स्थापित करना है। प्रश्न यह उठता है कि घटना क्या है? प्रत्युत्तर में यही कहा जा सकता है घटना वह है जिसके परिणामस्वरूप आर्थिक सामाजिक, धार्मिक एवं राजनैतिक उथल-पुथल होती है। कुछ घटनाएँ परिस्थितियोंवश उत्पन्न हो जाती है जिन्हें सहायक घटनाएँ कहा जा सकता है। मैडेलबाम

ने इन घटनाओं को इस प्रकार स्पष्ट किया है। मैडेलबाम के अनुसार :- "प्रथम" को कारण तथा द्वितीय को परिस्थिति की संज्ञा दी जाती है।" इतिहास की कोई भी घटना एक घटना का परिणाम न होकर अनेक घटनाओं का सामूहिक परिणाम होती हैं। दूसरे शब्दों में कोई भी घटित होने वाली घटना अनेक कारणों का परिणाम होती है। उदाहरणार्थ - प्रथम विश्व युद्ध (1914-18) के क्या कारण थे? स्पष्ट है इसके पार्श्व में एक से अधिक कारण निहित थे। सर्वाधिक प्रभावपूर्ण या निर्णायक कारण का ज्ञान तभी संभव है जबकि तत्कालीन परिस्थितियों के सन्दर्भ में उसके प्रभाव का गहराई से अध्ययन कर उसे ढूँढा जाए। भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना के मूल कारणों में भारतीयों की आपसी फूट ही नहीं बल्कि तत्कालीन परिस्थितियाँ भी उतनी ही उत्तरदायी थी। इसी भाँति जर्मनी में नाजीवाद के उत्कर्ष के क्या कारण थे? समझने के लिए हमें वर्साय संधि 1929-30 के आर्थिक संकट एवं जर्मन जातिय परम्परा का ज्ञान होना अति आवश्यक है। अतः यह अति आवश्यक है कि एक इतिहासकार उस समय जबकि वह कारणों को क्रमबद्धता में संजोये कारण एवं परिस्थिति के अन्तर को भी पूर्णतया स्पष्ट करे। जब तक हम कारणों की परिस्थितियों का गहनता से अवलोकन नहीं करेंगे, कारण के निर्णायक प्रभाव अध्ययन असंभव है। इसका समर्थन करते हुए आंकशाट का कहना है - "परिस्थितयों की व्याख्या में ही कारण के स्पष्ट प्रभाव को ढूँढा जा सकता है।

23.5 वास्तविक तथा आधारभूत कारण:-

रेनियर इस सिद्धान्त के पक्षधर हैं कि कोई भी घटना एक से अधिक कारणों के परिणाम स्वरूप घटित होती है। लेकिन यह बिन्दु भी कम महत्वपूर्ण नहीं कि उक्त घटना के पार्श्व में एक आधारभूत एवं मूल कारण भी होता है। इतिहासकार का कर्त्तव्य किसी घटना के कारणों की व्याख्या के समय वास्तविक कारण के सन्दर्भ में मूल कारण के विस्तृत प्रभाव की व्याख्या करना है। इतिहासकार अपनी व्याख्या में घटना के वास्तविक कारण मूल कारण, सहायक कारण, आकस्मिक कारण तथा अंतिम कारण को महत्वानुसार क्रमबद्ध करता है। परन्तु प्रो. वाल्श का मानना है कि घटित होने वाली प्रत्येक घटना के कारणों के अन्तर्गत अंतिम कारण होना अनिवार्य नहीं है। प्रो. वाल्श के अनुसार - सभी कारणो के ऊपर कोई अंतिम कारण नहीं होता बल्कि सभी कुछ परिस्थितियों पर निर्भर करता है। प्रो. ई. एच. कार ने उदाहरण देकर इसे स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। उदाहरण इस प्रकार है - जोन्स नाम का एक व्यक्ति जिसने अपनी क्षमता से अधिक शराब पी रखी थी, किसी पार्टी से कार चलाता हुआ घर लौट रहा था। कार की ब्रेक काम नहीं कर रही थी एक मोड़ पर जोन्स, रॉबिन्सन नामक एक व्यक्ति कोनुक्कड़ की दुकान से सिगरेट खरीदने के लिए सड़क पार कर रहा होता है, कुचलकर मार देता है प्रश्न यह उठता है इस दुर्घटना के क्या कारण हो सकते हैं (1) क्या इसका कारण दोषपूर्ण ब्रेक थे, वैसी हालत में उस गैरेज के मालिक के विरूद्ध कार्यवाही होनी चाहिए जिसने सप्ताहभर पहले उस कार की ओवरहालिंग की थी। (2) क्या चालक

का शराब के नशे में कार चलाना इस दुर्घटना का कारण था? इस स्थिति में उसके विरूद्ध कार्यवाही की जानी चाहिए। (3) या इस दुर्घटना का कारण सड़क का तेज मोड़ था अतः सड़क विभाग के कर्मचारियों को दोषी ठहराया जाए। (4) या फिर रॉबिन्सन को दोषी ठहराया जाए जो सिगरेट पीता था। (5) यातायात नियन्त्रित करने वाले पुलिस के न होने के लिए पुलिस विभाग दोषी था।

निष्कर्ष के तौर पर हम यही कह सकते हैं कि कारणों की व्याख्या में कुछ वास्तविक तथा तर्कयुक्त और कुछ दुर्घटना से सम्बन्धित एवं अतार्किक कारण होते हैं। यदि कार द्वारा प्रस्तुत उदाहरण से सम्बन्धित दुर्घटना के कारणों को युक्तियुक्त ढंग से सुधारा जाए दुर्घटना पर रोक लगाई जाए तब ये कारण तार्किक होंगे लेकिन यदि यह कहा जाए कि सिगरेट पीने वालों पर प्रतिबन्ध लगाया जाए तो यह कारण अतार्किक जा जाएगा उक्त परिस्थितियों के सम्बन्ध में इतिहासकारों के भिन्न-भिन्न मत हैं। कार के अनुसार-"उन कारणों को हम तार्किक कहेंगे जो दूसरे देशों दूसरे युगों तथा विभिन्न परिस्थितियों में लागू किया जा सके और जिनका प्रभाव निष्कर्षकयी हो। इस आधार पर सामान्यीकरण के माध्यम से कुछ नियमों का प्रतिपाद किया जा सके। लेकिन यहाँ यह बात ध्यान रखने योग्य है कि विशेष दुर्घटनात्मक कारणों का सामान्यीकरण सम्भव नहीं है अतः सामान्य नियम नहीं बनाया जा सकता।

23.6 मूल्य सम्पृक्त व्याख्या

मूल्य सम्पृक्त व्याख्या के सम्बन्ध में प्रो. ई. एच. कार ने बताया है कि कारण कार्य के सम्बन्ध में इतिहासकार द्वारा की गई व्याख्या मूल्य सम्पृक्त एवं उद्देश्य परक होती है। अर्थात् इतिहास की व्याख्या के साथ मूल्यों के आधार पर गुण दोष विवेचन भी सम्मिलित रहता है। मूल्य सम्पृक्त व्याख्या विवेचन भी सम्मिलित रहता है। मूल्य सम्पृक्त व्याख्या के सम्बन्ध में भी इतिहासकारों के विचार भिन्न-भिन्न हैं। मैनिक के अनुसार- "इतिहास में कार्य कारण सम्बन्धी की खोज मूल्यों के संदर्भ के बिना असम्भव हैं ..... कारणों की खोज के पीछे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से मूल्यों की खोज अत्यंत आवश्यक होती है।" प्रो. ई. एच. कार ने अपने विचार इस प्रकार रखे हैं - "इतिहास का कार्य व्यापार दोहरा और अन्य पर आश्रित होता है। वह वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में अतीत के बारे में हमारे ज्ञान को विस्तृत करता है और अतीत के परिप्रेक्ष्य में वर्तमान के बारे में। प्रो. वाल्श ने भी मूल्य सम्पृक्त व्याख्या को स्वीकृत किया है। कार्ल मार्क्स इस विचारधारा का कट्टर समर्थक है। उदाहरणार्थ- रोमन साम्राज्य के पतन के कारणों की व्याख्या में गिबन ने नैतिक एवं धार्मिक कारणों पर विशेष रूप से ज़ोर दिया। यद्यपि प्रो. बाल्श मूल्य सम्पृक्त व्याख्या को स्वीकार करता है तथापि उसका मत इस प्रकार है - "इतिहासकार की व्याख्या साक्ष्य प्रधान होनी चाहिए न कि मूल्य संपृक्त। दूसरे शब्दों में इसे इस तरह और स्पष्ट किया जा सकता है कि इतिहास लेखन में साक्ष्यों को प्रधानता देने का अर्थ मूल्यों को सहायक के स्थान पर रखना है। यह निःसन्देह सत्य है कि प्रत्येक इतिहासकार अपना लेखन कार्य साक्ष्यों की परिधि में रहकर ही करता है। फिर भी इतिहासकार

की अपनी रूचि पर निर्भर करता है कि वह कारणों की क्रमबद्धता में सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक एवं नैतिक मूल्यों में किस प्रकार वरीयता क्रम निश्चित करें। उसका दृष्टिकोण मूल्य संम्पृक्त होता है।

23.7 व्यक्तिगत दृष्टिकोण

यह कहावत अत्यधिक प्रचलित हैं कि जितने मुंह उतनी बातें। अर्थात् घटित होने वाली किसी भी घटना के कारणें की व्याख्या में घटना को प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने दृष्टिकोण से देखता हे। प्रत्येक व्यक्ति के विचार कुछ भिन्न हो सकते हैं। लेकिन यह बात सत्य है कि उनकी व्याख्या में यर्थाथता होती है। उदाहरणार्थ -अ एक व्यक्ति होता है। जिसकी क और ख व्यक्ति गोली मार कर हत्या कर देते हैं। उक्त घटना के सम्बन्ध में एक साधारण व्यक्ति के दृष्टिकोण में हत्यारों के द्वारा गोली से अ की हत्या कर दी गई। इसी घटना के सम्बन्ध में यदि किसी चिकित्सक से पूछा जाएगा तो वह यही कहेगा कि गोली लगने से अ के शरीर में गम्भीर घाव लग गए थे परिणामस्वरूप अधिक खून बहने से उसकी मृत्यु हो हुई। कुछ लोगों का दृष्टिकोण होगा कि यह बदले की भावना थी। अर्थात! सभी ने गोली लगने से मृत्यु को स्वीकार किया फिर भी उनके सोचने का ढंग कुछ भिन्न था। उन्होंने अ की मृत्यु के कारणों को भिन्न-भिन्न रूप में प्रकट किया। इतिहास मृत्यु का कारण कुछ गहराई में जाकर ढूंढता है अर्थात वह मृत्यु के कारण आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक परिस्थितियों के परिवेश में ढूंढता है। यहां सभी लोगों के व्यक्तिगत दृष्टिकोण का पारस्परिक सम्बन्ध है।

मानव व्यक्तित्व का प्रस्तुतीकरण ही इतिहास का उद्देश्य होता है। इतिहासकार का अपना अनुभव परिकल्पनात्मक एवं अनुमानित होता है। अतः वह सभी साक्ष्यों का अध्ययन करने के उपरान्त भी निष्कर्ष नहीं देता। चूंकि निष्कर्ष के अन्तर्गत कल्पना एवं अनुमान की व्याख्या को विश्वसनीय नहीं माना जाता है। उसका निष्कर्ष किसी भी व्यक्ति अथवा घटना के सम्बन्ध में साक्ष्यों के आधार पर व्यक्तिगत न्याय माना जाता है। और व्यक्तिगत दृष्टिकोण के जरिए उसके द्वारा निकाले गए निष्कर्ष का प्रभावित होना परम्परागत एवं न्यायपूर्ण है।

23.8 निहित भविष्य

इतिहास के अध्ययन में कार्य-कारण से सम्बन्धित अध्ययन के तहत वर्तमान कोई महव नहीं होता। अर्थात् अतीत और भविष्य का सम्बन्ध घनिष्ठ होता है और उसमें वर्तमान की दरार मात्र होती है। कार के अनुसारः- "अतीत और भविष्य के बीच एक काल्पनिक विभाजन रेखा के अतिरिक्त वर्तमान का कोई अस्तित्व नहीं होता। ..... यह दिखाना अत्यंत सरल होगा कि अतीत में रूचि लेने के साथ भविष्य में रूचि लेना जुड़ा है चूंकि अतीत और भविष्य एक ही समय विस्तार के दो हिस्से हैं।" अतीत ज्ञान का भण्डार है और उसकी परम्पराओं को भविष्य में भी अपनाना चाहिए ताकि हमारा भविष्य सुरक्षित रहे। यहाँ यह तथ्य अत्यंत महत्वपूर्ण हैं कि जब लोग अपने वर्तमान में नहीं जीते और अपने भविष्य एवं वर्तमान के सम्बन्ध में रूचित लेते हैं तो ऐसी,

स्थिति में हम प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक विभाजन की रेखा को भी पार कर देते हैं। इतिहास का यह मुख्य उद्देश्य होता है कि उसमें निहित परम्पराओं को आगे बढ़ाया जाए यहां परम्परा का अर्थ होता है अतीत की आदतें एवं सबक को भविष्य में सागर में ले जाना। चूंकि अतीत के अभिलेख में भविष्य में आने वाली पीढ़ियों के लिए सुरक्षित रखते हैं। सभी इतिहासकार इस बात का समर्थन करते हैं कि इतिहास के अन्तर्गत कार्य कारण सम्बन्ध में भविष्य निहित होता है अत्यंत महत्वपूर्ण होता है। डेनमार्क का इतिहासकार इस सम्बन्ध में लिखता है - ऐतिहासिक चिंतन हमेशा उद्देश्य वादी होता है।" सर चार्ल्स ने रदरफोर्ड के विषय में लिखा है कि -"सभी वैज्ञानिकों की भांति ..... उनकी हड्डियों में भविष्य निहित था, लेकिन वे कभी नहीं सोचते थे कि इसका अर्थ क्या है? इसी का समर्थन करते हुए कार ने लिखा है कि "अच्छे इतिहासकारों की हड्डियों में भविष्य होता है - चाहे वे इसके सम्बन्ध में सोचे या न सोचे।" इतिहास के अन्तर्गत अक्सर यह पूछा जाता है "क्यों" लेकिन कभी-कभी इसके अलावा इतिहासकार एक और प्रश्न 'किधर-किधर" भी पूछ लेते हैं।

23.9 इतिहास में संयोग

इतिहास की अनेक महत्वपूर्ण घटनाएं किन्हीं कारणों की **श्रृंखला** से जन्म नहीं लेती, बल्कि अचानक संयोग से उपस्थित किसी **कारण** का परिणाम होती हैं। हीगल और मार्क्स की नियमिवाद की **अनेक** विचारकों ने आलोचना इसलिए की थी क्योंकि उन्होंने इतिहास में **संयोग** की भूमिका को स्वीकार नहीं किया था। ई. एच. कार के अनुसार "इतिहास कमोबेश संयोग का एक अध्ययन है। घटनाओं का एक ऐसा क्रम है जिसका निर्णय संयोग करते है। और उनके कारण भी अपेक्षाकृत सामान्य होते हैं। छोटे-छोटे संयोग इतिहास के घटना क्रम पर इतना प्रभाव डालते हैं कि उसे पूर्णतः बदल देते हैं। प्रो. ई. एच. कार ने कुछ रोचक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। ऐक्टिअम के युद्ध का फल क्लिओपेट्रा के प्रति ऐन्टैनी के आकर्षण पर आधारित था। गठियाग्रस्त होने के कारण बजाजेट मध्य यूरोप पर आक्रमण करने में असमर्थ रहा। जब 1920 में यूनान के राजा अलेक्जेण्डर की उसके पालतू बन्दर के काटने से मृत्यु हो गई तो उसके बाद घटनाओं का एक क्रम सा चला दिया जिसके सम्बन्ध में विस्टन चर्चिल ने लिखा था कि - इस बन्दर के काटने से विश्व युद्ध सा छिड़ गया और करीब ढ़ाई लाख लोग मारे गए। 1923 की शरद ऋतु में बत्तखों का शिकार करते हुए ज्वर ग्रस्त होने के कारण ट्राट्स्वी अपने विरोधी स्टॉलिन और जिनोविएव कामनेव के साथ छिड़े संघर्ष में बाध्य निष्क्रिय हो गया। इन सब घटनाओं के पार्श्व में कोई कारण न होकर संयोग मात्र होता है।

इतिहास में संयोग की भूमिका को प्रथम अभिव्यक्ति पोलिनियम ने दी जो एक रोमन इतिहासकार था। टेसिटेस दूसरा प्राचीन इतिहासकार था जिसने संयोग पर विस्तृत विचार प्रकट किए। गिबन ने भी रोमन साम्राज्य के उदय को संयोग का ही परिणाम माना है। इस सम्बन्ध में गिबन ने लिखा है - यूनानियों ने अपने राज्य को सिकुडकर एक

जिले में सीमित हो जाने पर रोम की विजय को उनकी श्रेष्ठता के आधार पर न मानकर गणराज्य को भाग्य के साथ जोड़कर देखा। कार के अनुसार- "इतिहास में संयोग तत्त्व के महत्त्व पर बल देने की प्रवृत्ति का पुनरारंभ ब्रिटिश इतिहासकारों में अनिश्चय तथा आशंका का मनः स्थिति के विकास से होता है जो वर्तमान शताब्दी के साथ उदय हुई और लगभग 1914 ई. के बाद स्पष्ट रूप से प्रतीत होने लगी। ब्रिटिश इतिहासकार करी ने एक लम्बे समय बाद 1909 में इस प्रवृत्ति का स्वर दिया उसके लेख जिसका शीर्षक "डार्विनिज्म इन हिस्ट्री" था में संयोग के सम्बन्ध में लिखा कि - "संयोग संघटन के तत्व सामाजिक विकास की घटनाओं को निर्धारित करने में सहायता करते हैं।" करी ने बाद में अर्थात् 1916 में इस विषय पर "क्लिओपेट्राज नोज" शीर्षक नाम का एक और निबन्ध भी लिखा। इतिहास में संयोग विषय के सम्बन्ध में एच.ए.एल. फिशर ने अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया - हमें इतिहास में असम्भावित और अदृश्य की सक्रियता को पहचानना चाहिए। इतिहास दुर्घटनाओं का एक अध्याय होता है।" फ्रांसीसी दार्शनिक की एक शाखा ने इस सिद्धान्त की लोकप्रियता को बढ़ा दिया है। जिसके अनुसार अस्तित्व का न कोई कारण होता है न कोई तर्क और न ही कोई आवश्यकता। जर्मनी का एक अनुभवी इतिहासकार भी अन्ततः इस सिद्धान्त अर्थात् इतिहास में संयोग से अत्यधिक प्रभावित हुआ जबकि शुरू में आलोचक था। बाद में उसने रांके नाक इतिहासकार की आलोचना भी की और प्रथम विश्व युद्ध के उपरांत राष्ट्रीय संकटों का उत्तरदायित्व दुर्घटनाओं के एक सिलसिले पर डाला था। इन दुर्घटनाओं में प्रमुख कैसर का अहंकार - हिटलर का सम्मोहन, वाइमर, गणतन्त्र के अध्यस्थ पद पर हिडेन वर्ग का चुनाव इत्यादि थी। शुरूआत में इस प्रश्न पर मार्क्सवादियों को भी दिक्कतें हुई थी। मार्क्स ने इस सम्बन्ध में लिखा कि - "यदि विश्व इतिहास में संयोग के लिए कोई स्थान नहीं होता तो इसका चरित्र बड़ा ही रहस्यवादी होता। यह संयोग अपने आप में स्वाभाविक रूप से विकास की सामान्य प्रवृत्ति का हिस्सा बन जाता और अन्य प्रकार के संयोगों द्वारा प्रतिफलित होता है। जिनमें उन लोगों के संयोग चरित्र भी सम्मिलित होते हैं। जो आरम्भ में एक आन्दोलन का नेतृत्व करते है।" ट्रादस्की ने अपनी पुस्तक माई लाईफ 1930 के अंतर्गत एक नई तुलना देकर इस सिद्धांत को बताया है। उसके अनुसार दुर्घटनाएं किसी कमी को पूरा करती है और खुद को ही रद्द करती है। ट्रस्टुस्की ने लिखा है कि - "संपूर्ण ऐतिहासिक प्रक्रिया दुर्घटनात्मक के माध्यम से ऐतिहासिक नियमों का परावर्तन हैं। जैविकी की भाषा में कह सकते हैं कि दुर्घटनाओं के स्वाभाविक चुनाव के माध्यम से ऐतिहासिक नियमों को समझा जा सकता है।"

23.9.1 इतिहास में संयोग - आलोचना :

कतिपय इतिहासकार दुर्घटना का संयोग के विषय में अपना मत यह भी प्रस्तुत करते हैं कि इतिहास में संयोग को किसी घटना का मूल समझना हमारे अज्ञानता का प्रतीक है। अर्थात् जिसे हम समझ नहीं पाते दुर्घटना मान लेते हैं। वाल्श के अनुसार - "इतिहास में न तो

कोई दुर्घटना होती है और न कोई हस्तक्षेप करता है। इसी प्रकार ओकशाट ने लिखा है कि - "इतिहास में किसी अदृश्य शक्ति के हस्तक्षेप को स्वीकार करने का अर्थ इतिहास को अनैतिहासिक स्वरूप प्रदान करना होगा। और इतिहास के संयोग का अर्थ हैं दो स्वतंत्र कारणों के टकराव से उत्पन्न किसी तीसरे कारण की उत्पत्ति। इतिहासकार ई. एच. कार ने आलोचना की मस्तिष्क का दिवालियापन हैं। तृतीय श्रेणी के विद्यार्थियों के बीच यह दृष्टिकोण कि परीक्षा एक लाटरी हैं, हमेशा लोकप्रिय होगा।"

टोल्सटोय ने इतिहास में संयोग की आलोचना करते हुए लिखा है कि - "हम असंगत घटनाओं अर्थात ऐसी घटनाओं की जिनकी संगति हमारे समझ में नही आती व्यवस्था के लिए भाग्यवाद का सहारा लेने को बाध्य हो जाते हैं। टोल्सटोय के उपर्युक्त विचारों के संबंध में ई. एच. कार ने लिखा हैं - "यह दृष्टिकोण कि इतिहास में दुर्घटना हमारे अज्ञान की मापक हैं। यानि जिसे हम समझ नहीं पाते केवल उसे दिया गया नाम है। जो अपूर्ण हैं। इसमें संदेह नहीं कि कभी-कभी ऐसा होता हैं जब नक्षत्रों की नियमित गति के विषय में लोग नहीं जानते थे। और वे मानते थे कि वे आकाश में निरूद्देश्य भाव से चक्कर लगाते हैं तो उन्हे नाम दिया गया जिसका अर्थ होता हैं, घुमक्कड।

संयोग के विषय में यह मत है कि हमारे अज्ञान का प्रतीक हैं प्रो. कार इसे अपूर्ण मानते हैं। इस प्रवृत्ति की आलोचना करते हुए उन्होंने बड़े सुन्दर शब्दों में कहा हैं कि "किसी चीज को गलत संयोग मानना उसके कारण की खोज करने के परिश्रम से बच निकलने का एक सस्ता नुस्खा हैं और जब कभी कोई मुझ से कहता हैं कि इतिहास दुर्घटनाओं का एक अध्याय हैं जो मुझे शक होने लगता हैं कि वह बौद्धिक रूप से काहिल तथा अक्षम हैं।" इस अर्थ में दुर्घटनात्मक कुछ भी नहीं होती हैं। जिसे दुर्घटना कहा जाता है उसकी भी तर्कसंगत रूप से व्याख्या की जाती हैं। घटनाओं के व्यापक स्वरूप के साथ उसकी संगति भी खोजी जा सकती हैं।

इतिहास में संयोग तथा दुर्घटना के महत्व के विषय में इसके समर्थकों ने जो तर्क रखे वे बिल्कुल सच और एकदम अकाव्य प्रतीत होते हैं - फिर भी इससे यह प्रमाणित नहीं हो जाता कि वे वास्तविक और मान्य हैं। यद्यपि इनमें कारण और कार्य की श्रृंखला रहती हैं। लेकिन ऐतिहासिक दृष्टि से यह श्रृंखला संदर्भहीन होती हैं। इतिहासकार के यहाँ इनका महत्व नहीं होता क्योंकि इनकी कोई तार्किक व्याख्या नहीं होती और अतीत एवं वर्तमान के लिए इनका कोई अर्थ नहीं होता। यह पूर्णतः स्पष्ट एवं सत्य हैं कि किलओपेट्रा की नाक, बजाजेट का गठिया, अलेक्जेण्डर को बन्दर का काटना, ट्राटस्की का ज्वर आदि इसके स्पष्ट परिणाम हैं। किन्तु इससे यह सामान्य ऐतिहासिक नियम नहीं बनता कि महान सेनापति युद्ध इसलिए हार जाते है कि वे सुन्दरियों के प्रति आसक्त हो जाते हैं या कि युद्ध इसलिए होते हैं कि राजा लोग बन्दर पालते हैं या कि लोग सड़कों या गाडियों के नीचे कुचलकर इसलिए मरते हैं कि उन्हें धुम्रपान की लत हैं आदि :- इसलिए संयोग अथवा दुर्घटना को ऐतिहासिक कारण नहीं माना जा सकता है। कार के अनुसार

कारण स्पष्ट हैं कि "दुर्घटनात्मक कारणों का संयोगों का सामान्यीकरण नहीं किया जा सकता, अर्थात उनसे सामान्य नियम नहीं बनाये जा सकते क्योंकि वे पूर्णतया विशिष्ट होते हैं। अतः न तो उनसे कोई सबक सीखा जा सकता है और न उनसे कोई निष्कर्ष ही निकाले जा सकते हैं।

23.10 इतिहास में नियतिवाद

इतिहास का दर्शन क्या है? प्रत्युत्तर में यही कहा जाएगा कि एक विशेष लक्ष्य की ओर नियोजनानुसार प्रक्रिया के रूप में इतिहास का वर्णन ही इतिहास का दर्शन है। और जब इसे कारणात्मक रूप से निर्धारित योजना मान लिया जाए तो यह नियतिवाद हो जाएगा। इस प्रकार नियतिवाद एक विश्वास हैं कि जो कुछ भी घटित होता हैं उसके एक या अनेक कारण होते हैं और जब एक कारणों में परिवर्तन नहीं होता वह भिन्न तरीके से घटित भी नहीं होते हैं। क्रोचे ने "आइडल जीनीसस एण्ड डिसोल्यूसन ऑफ द फिलोसोफी ऑफ हिस्ट्री" में उपर्युक्त दोनों सिद्धांतों पर प्रकाश डाला है। दोनों सिद्धांतों में त्रुटि बताते हुए लिखा है कि इतिहास के तथ्यों को प्राकृतिक रूप से देखा हैं। ऐतिहासिक घटनाओं की व्याख्या मानवीय दृष्टिकोण, उद्देश्य, लक्ष्य और हित इत्यादि को अभिव्यक्ति के रूप में करने में असमर्थ रहे हैं। इनको केवल इतिहासकार की अन्तदृष्टि तथा समझ द्वारा ही ग्रहण किया जा सकता है।

अलैक्जेण्डर के मतानुसार "नियतिवाद का अर्थ यह है कि यदि आंकडे सही हैं तो जो कुछ होता हैं निश्चित होता हैं और कुछ और नहीं हो सकता।" यह मानना हैं कि यह तभी भिन्न हो सकता है जब आंकडे भिन्न होते हैं। नियतिवाद की समस्या इतिहास मात्र की समस्या न होकर सम्पूर्ण मानव जाति की समस्या है। यह स्पष्ट हैं कि कोई भी व्यक्ति किसी कारण से कार्य करता हैं। बिना कारण के कार्य करने वाला व्यक्ति अमूर्त होता हैं जो समाज के बाहर उपलब्ध हो सकता हैं। प्रो. ई. एच. कार ने पॉपर के इस कथन का खण्डन किया हैं कि माननीय कार्य व्यापार में कुछ भी सम्भव हैं। कार की मान्यता हैं कि यह व्यक्तव्य या तो अर्थहीन हैं अथवा मिथ्या हैं। सामान्यतः जीवन में इस वक्तव्य पर कोई भी विश्वास नहीं कर सकता।

ऐतिहासिक नियतिवाद एक ऐसा मत हैं जो यह प्रदर्शित करता हैं कि ऐतिहासिक प्रक्रिया जैसे :- इसकी समग्रता पूर्व में ही निश्चित होती हैं। यद्यपि कोई व्यक्ति अपने विचारणीय क्षमता पर कितना ही गर्व महसूस करे लेकिन अंततः उसे पूर्व निर्धारित घटनाक्रम के अनुसार ही कार्य करना पड़ता है। इस प्रकार ऐतिहासिक नियतिवाद का प्रश्न इतिहास के घटनाक्रम के पूर्व निर्धारिता को स्वीकार करने या न करने से है। कुछ इसे स्वीकार करते हैं और कुछ नहीं भी जबकि अन्य कुछ ऐसे भी होते हैं जो दोनों स्थितियों में तटस्थ रहते हैं। यदि नियतिवाद का संपूर्ण विचार संक्षेप में एक शब्द के रूप में प्रकृत करे तो उसके लिए "अपरिहार्यता" शब्द का उपयोग किया जा सकता है जिसकी उत्पत्ति नियतिवादी संकल्पना के कारण ही हुयी। हीगेल और मार्क्स की इतिहास संकल्पना नियतिवादी हैं। यद्यपि इतिहास में भविष्वाणी करना मुश्किल

एवं एवं असम्भव हैं तथापि एक बार घटित हो जाने वाली घटना पर स्वीकार्य व्याख्यायें सम्भव हैं। उदाहरणार्थ यदि किसी जासूसी, उपन्यास का हम अंत नहीं लेकिन परंतु एक बार जान जाए तो समझ जाते हैं कि यह इस प्रकार ही होगा न कि किसी अन्य प्रकार से। समस्त व्याख्यायें अतीतकालीन होती हैं, भविष्य कथन आने वाले समय के लिए होते हैं एवं नियतिवाद की अपरिहार्यता भविष्यवाणी तुलना में व्याख्यात्मक ही होती हैं। इसलिए यदि भविष्य के विकल्पों में चयन की स्वतंत्रता प्रदान कर दी जाए तो भी प्रत्येक घटना के कारणों की परस्पर प्रतिस्पर्धा नहीं होती है। इसको स्वीकार करते हुए इतिहासकार स्करीवन कहता है – "इतिहासकार यह खोजने के लिए अपने मस्तिष्क दौड़ा चूके हैं कि भविष्य भविष्वाणियों से भिन्न होता यदि प्रारम्भिक बिंदु पर मौका मिलता।" इतिहास में कई कल्पनाशील बातें इतिहासकारों का ध्यान आकर्षित कर चुकी हैं। जैसे – "यदि ऐसा होता तो क्या होता। उदाहरणार्थ – अगर नेपोलियन वाटरलू का युद्ध जीत लेता? यहां यह ध्यान रखने योग्य है कि इतिहासकारों का कार्य भविष्य बताना नहीं होता। इतिहासकार केवल अपने रिक्त समय में अग्रदूत हैं।

ऐतिहासिक नियतिवाद की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घोषणा असर्थिक नियतिवाद हैं। इस सिद्धांत को एजिल्स ने अपनी कृति "एन्टी डुहरिंग" में अच्छी तरह समझाते हुए लिखा है कि "समस्त अतीतकालीन इतिहास सिवाय पुरातत्व काल के वर्ग-संघर्ष का इतिहास था। समाज के ये संघर्षरत वर्ग सदैव उत्पादन के साधनों के परिवर्तन और तरिकों के परिणाम हैं।" हीगल और मार्क्स इतिहास के द्वन्द्वात्मक सिद्धांत में विश्वास रखते हैं। "लियोनाई और किंगर कहते हैं कि मार्क्स और एजिल्स वर्ग को एक आर्थिक घटक के रूप में अलग करते हैं वर्ग से जिसके बारे में इसके सदस्य जागृत होते हैं और इसे झूठी चेतना के सिद्धांत द्वारा स्पष्ट करते हैं। वे निष्कर्ष निकालते हैं कि लिखित इतिहास झूठी चेतना का इतिहाससत्र हैं और यह हैं कि ऐतिहासिक घटनाओं को समझने की सच्ची कुंजी इतिहास नहीं होकर द्वन्द्वात्मक सिद्धांत है। हीगल की मान्यता थी कि विश्वात्मा इतिहास के माध्यम से कार्य करती है। इतिहास दर्शन इतिहास का विवेकपूर्ण विचार ही है।" जबकि मार्क्स की मान्यता है कि – "मनुष्य की चेतना उसके अस्तित्व का निश्चय नहीं करती वरन् व्यक्ति का सामाजिक अस्तित्व उसकी चेतना का निश्चय करता है।" लेकिन गारदिनर, हीगल और मार्क्स के नियतिवाद में अंतर स्पष्ट करता है। यद्यपि दोनों ही नियतिवाद की व्याख्या करते हैं लेकिन हीगल अधिभौतिकी की अवधारणा की दुनिया में और मार्क्स जीवन और अनुभवों के कठिन और ठोस तथ्यों पर आधारित था। पोपर मार्क्स की इस विचारधारा को स्वीकार नहीं करता है वैज्ञानिक विधि इतिहास के लिए उपयोगी हैं और किसी प्रकार के नियतिवाद को स्वीकार नहीं करता।

नियतिवादी अवधारणा एक ऐसी अवधारणा हैं जिसके तहत इतिहासकार सर्व प्रथम तथ्यों को एकत्रित करता है तदुपरांत उन तथ्यों का कारणात्मक रूप से संबंध करता है। यद्यपि तथ्य अपने आप में निर्बुद्ध एवं वास्तविक होते हैं तथापि वे विज्ञान के प्रकाश में नहीं चमकते और

न ही उन्हें बौद्धिकृत किया जा सकता है। इन्हें बुद्धिपूर्ण बनाना तभी सम्भव है जबकि कारणों के रूप में अन्य तथ्यों के साथ इनका समन्वय किया जाए। यह सर्वविदित है कि जब तथ्यों को आपस में जोड़ा जाता है तो वह एक श्रृंखला सी बना लेते हैं और फिर यह श्रृंखला अविरल सी चलती रहती है लेकिन ऐसा कोई अंतिम कारण नहीं होता जिसके द्वारा उस श्रृंखला को पूरा किया जा सके। इस दिशा में कुछ इतिहासकारों ने प्रयास किया भी है उदाहरणार्थ हेने ने युग और प्रजाति को एक जैसा माना है लेकिन उनका यह मत सर्वमान्य न बन सका। मिश्र के ममी भी कोई तथ्य नहीं है। यद्यपि वे हजारों वर्षों तक रहेगी फिर भी समाप्त तो होना ही है। अर्थात उसमें थोडा बहुत परिवर्तन अवश्यभावी है। आवातीत लक्ष्य की खोज इतिहास का दर्शन है। और इस इतिहास के दर्शन का जन्म भी नियतिवाद अवधारण से होता है।

सामान्य व्यक्ति और इतिहासकार दोनों ही कारणों की अनविार्यता को स्वीकार करते है। स्पष्ट है कि मानवीय कार्य-व्यापार के पीछे कारण नीहित होते हैं और इन्हे स्पष्ट किया जा सकता है। यदि हम इस मान्यता को स्वीकार नहीं करते हैं तो दैनिक जीवन की भांति इतिहास भी असम्भव हो जाएगा। प्रो. ई.एच. कार की स्पष्ट मान्यता है कि - "इतिहास में कुछ भी अनिवार्य नहीं होता, सिवाय एक-एक ओपचारिक अर्थ में कि अगर यह घटना किसी और तरह घटित होती तो उसके कारणों को निश्चय ही भिन्न होना चाहिए। एक इतिहासकार के रूप में मेरा काम अनिवार्य, अपरिहार्य, अटल और अपरिहार्य तक बिना भी चल सकता है।

प्लेसनोग उच्च शिक्षा प्राप्त रूसी समाजवादी आन्दोलन का सम्मानीय सदस्य था। उसने लेनिन के अनुसार इतिहास में व्यक्ति की भूमिका पर लेखा लिखा। और सहमत हुए कि "महान व्यक्ति इतिहास में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है लेकिन इसका प्रभाव इस युग की सामाजिक व्यवस्था और कार्य करने वाली सामाजिक ताकतों पर निर्भर करता है। लेकिन वह स्पष्ट हो सकता है कि महान व्यक्ति आखिर में अस्तित्व में क्यों आता है। वह मात्र इतना कहता है कि युग विशेष की सामाजिक ताकतें महान आदमी उत्पन्न करती है। वह दो दृष्टिकोणों नियतिवाद और उन्मुक्तता में सामंजस्य स्थापित करता है। उसका मानना है कि मानवीय इच्छा की भौतिकवादी अवधारणा कुछ अनिवार्यता को स्वीकार करती है। अर्थात यह नहीं लेकिन यह संघर्ष समाप्ति का मार्ग नहीं है।

प्रसिद्ध लेखक बकल जिसे "हिस्ट्री ऑफ सिविलाजेशन इन इंग्लैण्ड" लिखी कहता हैं कि - "यह स्वीकार करना आवश्यक है कि जब हम कोई कार्य करते हैं तो हम इसे किसी प्रेरणा के परिणामस्वरूप ही करते हैं और ये प्रेरणाएं कुछ पूर्वाकालीन घटनाओं का परिणाम है और यह इसलिए अगर हम समस्त पूर्वकालीन घटनाओं और गतिक्रम के समस्त नियमों से परिचित होते तो हम स्थिति में बिना गलती किये उनके समस्त परिणामों भी भविष्यवाणी कर देते।

कोसे ने ऐतिहासिक नियतिवाद को कुछ अलग दृष्टिकोण से ही व्यक्त किया है। उसने बताया है कि यह उन्नीसवीं सदी के इतिहासकारों

की इस कहावत का सारांश है "अपेरेटरी कलेक्शन डेस ला रिचर्सेचे डेस कांजेज जिसका तात्पर्य है पहले तथ्यों को इकट्ठा करो फिर उन्हें कारणों के अनुसार जोडो। डोसे का मानना है कि हम उन कारणों को ढूंढने में कभी सफल नहीं होंगे जो अन्तिम रूप से श्रृंखला को जोड़ा जा सके। अतः पिछली घटनाओं के कारणों को ढूंढने की असम्भाव्यता न केवल कारणों की बहुगुणता है बल्कि उनमें से कई की अदृश्यता भी है। अतएव कारणात्मक श्रृंखला बनाने की हमारी अयोग्यता जो घटनाओं को निश्चित कर सके, नियतिवाद सिद्धांत अस्वीकार्य है।

ऐतिहासिक नियतिवाद आधुनिक युग की ही उपज है। यह माना जाता है कि धार्मिक लोगों में सभी जगह भाग्यवाद विचारधारा प्रचलित थी। लेकिन यह ईश्वरीय कृपा से पूर्णतया प्रभावित थी। प्राचीन यूनानी शुरू में तो नियतिवाद की अवधारणा को स्वीकार नहीं करते थे। लेकिन बाद में समर्थक बन गए। इतिहास को मात्र मानव की मूर्खता एवं अपराधों की कहानी बताने वाले वाल्तेयर और गिब्बन जैसे बुद्धिवादी भी इतिहास के नियतिवादी दृष्टिकोण से सहमत नहीं है। मार्क्स ने नियतिवाद को उसके अनुयायियों और अनुकृतिकारों में स्थापित सत्य माना है। मार्क्स ने भौतिकवादी विवेचन और द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया का विचार हिगल से प्राप्त किया और उसे अपने उद्देश्यात्मक परिवर्तित कर उसका कट्टर समर्थक बन बया। ओसवाल्ड स्पेग्लर ने अपने शास्त्र "डाक्टराईन ऑफ द वेस्ट" में ऐतिहासिक नियतिवाद को बड़े ही दिलचस्प एवं सशक्त रूप से प्रतिपादित किया है। पोपर नियतिवाद पर विस्तृत रूप से विचार प्रकट करता हुआ सुझाव देता है कि समस्त मर्यादित समाज तथा निरकुंश एवं सिद्धांतवादी एक बार तो नियतिवादी होते है और एक प्रवचनपूर्ण सिद्धांत पर चलते है।" पोपर ने अपनी पुस्तक "ओपन सोसायटी एण्ड इटस एनेमिज" में इस दर्शन को जो सैनिक समाज की विचारधारा पर शासन करता है अप्रासंगित बताते हुए बुरी तरह लताड़ा है। संदर्भ के रूप में मार्क्स को लिया है और सकारात्मकतावादी के रूप में प्लोटों से टायम्बी तक को प्रस्तुत करता है। जो एक आदर्शवादी अथवा कठोर सामाजिक विभाजन के वर्गीकृर्ता हैं तथा एक या अन्य प्रकार के भविष्यवक्ता है। मार्क्स ने स्पेग्लर को एक विद्वान लेखा नहीं माना। इसी भांति वह टायम्बी को एक नियतिवादी मानता था लेकिन टायम्बी स्वयं के कथानुसार ऐसा नहीं है। गै का कहना है कि - इतिहास के प्रति टायम्बी के विचार दुःख उत्पन्न करते हैं। इधर टायम्बी स्वयं भी स्पेगलर की आलोचना करता हुआ लिखता है कि वह अज्ञानी सिद्धांतवादी और नियतिवादी है। टाल्सटाय जो कि एक प्रसिद्ध इतिहासकार है ने नियतिवाद पर अपने विचार प्रकट करते हुए कहा कि - "इतिहास की विषय-वस्तु मनुष्य की इच्छा नहीं है। जिसने इन विरोधाभासो का संयोजन जिन्हे स्वेच्छा और अपरिहार्यता कहा जाता है पहले ही स्थित हैं।"

ऐतिहासिक नियतिवाद के प्रश्न को सर्वाधिक उचित प्रकाश में लाने का श्रेय सम्भवतः बर्लिन को जाता है। उसने अपने लेख "हिस्टोरिकल इनवेटिबिलीटी" में ऐतिहासिक नियतिवाद को परिभाषित करते हुए बताया है कि - "यह एक ऐसा प्रस्ताव हैं जिसे हम कहते हैं या भुगतते हैं एक

निश्चित प्रारूप का हिस्सा है। उसका कहना हैं कि हमारे पास खुला विकल्प स्वतंत्र चयन एवं नियतिवाद है। अगर इस आधार पर चयन किया जाता है तो उसे पूर्णतः कारणात्मक व्याख्या द्वारा दर्शाया नहीं जा सकता। यह केवल जीव या भौतिक विज्ञान में स्वीकार्य योग्य है। बर्लिन यह स्वीकार करता है कि स्वेच्छा एवं नियतिवाद के मध्य उत्पन्न विवाद अन्य के लिए उपयुक्त विषय हो सकता है। लेकिन इतिहासकारों को जिनका संबंध आनुभविक मामलों से होता है कभी दुखी नहीं होना चाहिए।

स्वेच्छा के सम्बन्ध में यदि हम गहराई से सोचे तो पायेंगे कि मनुष्य उतना स्वतन्त्र नहीं है जितना वह अक्सर सोच लेता है या होना चाहता है। चूंकि वह समाज में अनेक व्यक्तियों से जुडा रहता है। जहां उनकी ईच्छाओं को एक दूसरे पर थोपा जाता है। इस प्रकार स्वेच्छा की परिधि आवश्यकतानुसार सीमित ही रहती है। और परिचितों, सम्प्रदायों एवं नागरिकों की व्यत्क्रमानुपाती होती है। यहां यह ध्यान देने योग्य है कि यदि कोई व्यक्ति उपर्युक्त संदर्भ के बिना कोई कार्य करता है तो वहां उसकी इच्छा सर्वशक्तिमान होती है लेकिन यह प्रश्न बडे प्रश्न की ओट में छिप जाता है कि क्या ऐतिहासिक प्रक्रिया नियत है।

इतिहास की नियतीवादी अवधारणा तथाकथित इतिहास के दर्शन की अवधारणा का खण्डन करती है। जो न केवल निरीक्षण से बल्कि तार्किक रूप से भी प्रमाणित होती है। कारण स्पष्ट हैं कि इतिहास का दर्शन केवल यथार्थ को भावातीत अवधारणा का प्रतिनिधित्व करता हैं। जबकि नियतिवादी अवधारणा सर्वव्यापी का। यह निश्चित रूप से लेकिन अपर्याप्त तथा झूठे रूप में सर्वव्यापी हैं। चूंकि नियतिवादी सर्वव्यापी होना चाहता है। लेकिन हो नही पाता जबकि विपरीत पर्याय कितने ही प्रबल क्यों न हो यह भावातोतता में परिवर्तित हो जाता है। इतिहास का दर्शन भावातीत होता है एवं इतिहास की नियतिवादी एवं प्रकृतिवादी अवधारणा असत्य एवं सर्वव्यापी के रूप में होती है।

नियतिवादी अवधारणा की भांति इतिहास का दर्शन भी उतना ही विरोधी है। दोनों के संबंध में एक बात महत्वपूर्ण हैं कि दोनों ही निर्बुद तथ्यों को जोड़ने को प्रणाली को स्वीकार करते है और तथ्य उपलब्ध न होने पर उसे छोड देते हैं। जब कभी तर्कपूर्ण विचार उपलब्ध नहीं होता तो उस रिक्त स्थान की पूर्ति भावना के विकास से होती है। उक्त भावना काव्य के रूप में होती। इतिहास का दर्शन काव्यात्मक प्रकृति का स्पष्ट प्रमाण हैं। प्राचीन इतिहास में हमें सुर तथा असुरों के अध्ययन का उचित मार्गदर्शन मिलता है। अर्थात वेदों में देवताओं और असुरों के युद्धों का वर्णन है। इनमें देवताओं को प्रसन्न रखने के लिए अनेक मंत्रों का उल्लेख किया गया है। वास्तव में कविता किसी भी तथ्य की वास्वविक प्रतिलिपि न होकर कल्पना की उडान मात्र है। जिन्हें प्रमाणित करने की आवश्यकता महसूस नहीं होती। लेकिन इतिहास की दृष्टि से ये कल्पनाएं व मान्यताएं विचार-विज्ञान और मिथ के रूप में प्रस्तुत हुए हैं। इस प्रकार इतिहास की नियतिवादी अवधारणा पहले इतिहास दर्शन को जन्म देते हैं तदुपरान्त उसकी प्रबल विरोधी बन जाती है। यह उद्देश्यों की अपेक्षा कारणात्मक सम्पर्कों कल्पना की अपेक्षा पर्यवेक्षण

आर मिथ का अपक्षा तथ्य पर जार दता ह। नियातेवाद और इतिहास दर्शन के मध्य उत्पन्न विवाद को दूर करने या बचने के सुझाव दिया जाता है। कि विचारों को दार्शनिकों के लिए तथा निर्बुद्ध तथ्यों को इतिहासकारों के लिए छोड़ दिया जाना चाहिए। तथ्य को वास्तविक तभी माना जाए जब यह स्पष्ट हो जाए कि तथ्य क्या हैं और कैसा है?

23.11 अभ्यासार्थ प्रश्न

(i) कारण और इतिहासकार के संबंधों की व्याख्या कीजिये।

(ii) परिस्थितियां कारणों को जन्म देती है, व्याख्या करो।

(iii) वास्तविक तथा आधारभूत कारण क्या है।

(iv) इतिहास में संयोग क्या है? आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

(v) इतिहास में नियतिवाद की व्याख्या कीजिये।

23.12 संदर्भ ग्रंथ

1. आर. जी. कालिंग वुड : द आइडिया ऑफ हिस्ट्री (अंग्रेजी) आक्सफोर्ड यूनिवर्सटी प्रेस 1956
2. ई. एच. कार : व्हाट इज हिस्ट्री (अंग्रेजी) पेन गूइन बुक्स 1972
3. ई. एच. डान्स : इतिहास एक प्रवचना, पूर्वाग्रह परीक्षण (हिन्दी) हिन्दी समिति सूचना विभाग, लखनऊ
4. लार्ड एक्टन : लैक्चर ऑन मार्डन हिस्ट्र 1960 लन्दन
5. आई. बर्लिन : हिस्टोरिकल इन एविटबिलिटी (अंग्रेजी) आक्सफोर्ड (1954)
6. जी. जे. रेनियर : हिस्ट्री, इट्स परपज एण्ड मैथड (अंग्रेजी) बोस्टन (1950)
7. डब्लू. एच. वाल्श : एन इन्टोडक्सन टू. द. फ्लिासोफी ऑफ हिस्ट्री - लन्दन 1951
8. आरनोल्ड जे. टायम्बी : ए. स्टेडीज ऑफ हिस्ट्री
9. एफ. स्टर्न : द वेराइटीज ऑफ हिस्ट्री फ्रोम वाल्टेयर टू. द. प्रजेन्ट न्यूयार्क (1956)
10. लाल बहादुर शर्मा : इतिहास के बारे में, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली (1988)
11. बुद्ध प्रकाश : इतिहास दर्शन, हिन्दी समिति, लखनऊ (1968)
12. गोविन्द चन्द पाण्डे : इतिहास स्वरूप एवं सिद्धांत राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर (1986)

NOTES